



नाट्यशास्त्र का इतिहास



डॉ. पारसनाथ द्विवेदी



नाट्य शास्त्र का इतिहास

डॉ पारसनाथ द्विवेदी

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

२६५

नाट्यशास्त्र का इतिहास

लेखक

डॉ० पारसनाथ द्विवेदी

एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०

व्याकरण-साहित्याचार्यः

साहित्य-संस्कृति-संकायाध्यक्षचरः

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

प्रकाशक

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ३३३४३१

प्रथम संस्करण १९९५ ई०

मूल्य २००–००

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ यू. ए., बंगलो रोड, जवाहरनगर

पो० बा० नं० २११३

दिल्ली ११०००७

दूरभाष : २३६३९१

प्रधान वितरक

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ३२०४०४

मुद्रक

फूल प्रिण्टर्स

वाराणसी

संस्कृत के तपोधन, संस्कृत-सेवा के महाव्रती,
संस्कृत रक्षा के प्रहरी
ऋषियों, मुनियों, मनीषियों, आचार्यों
तथा
नटराजराज परमशिव शिव
को
सादर समर्पित

*

आङ्गिकं भुवनं यस्य वाचिकं सर्ववाङ्मयम् ।
आहार्यं चन्द्रतारादि तं नुमः सात्त्विकं शिवम् ।।

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला ।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ।।

पुरोवाक्

संस्कृत-वाङ्मय सतत प्रवहमान एक अमृतनद है और नाट्यकला कलकल निनाद करती हुई सुधारस को प्रवाहित करने वाली त्रिपथगा मन्दाकिनी; जिसकी पुनीत धारा में अवगाहन करने पर शब्द एवं भाव रत्नों की अपूर्व मणिराशि प्राप्त होती है। सहस्रों वर्षों के कालखण्डों में इस पुनीत मन्दाकिनी की सञ्जीवनी धारा कहीं-कहीं अज्ञेय प्रखण्डों में खोई हुई प्रतीत होती है, किन्तु शीघ्र ही अधिक अन्वेषित क्षेत्रों के सुरम्य स्थलों में उस अमृतवाहिनी का प्रभाव विस्तृत, अबाध एवं सुप्रकाशित दिखाई देता है। इस प्रव्रज्या की दीर्घ यात्रा में ऐसा कोई स्थल दृष्टिगोचर नहीं होता, जहाँ पर इसकी कमनीयता, हृदय-ग्राह्यता और पावनता का आभास न मिलता हो। सदियों पूर्व से ही प्रवहमान जन-जीवन की सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम यह नाट्यकला ही रही है।

इतिहास-पुराण, नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों एवं अन्य साहित्यिक रचनाओं तथा ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारत में ईसा से कई सदियों पूर्व नाट्यकला विकसित हो चुकी थी। इसके विकास में आदिम जातियों—यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, नट, नर्तक, चारण, मागध, सूत, कथक, ग्रन्थिक, कुशीलव आदि जातियों का महत्त्वपूर्ण अवदान रहा है। उन्होंने गायन, वादन, नर्तन, कर्तव्य-प्रदर्शन, कथा-वाचन तथा आख्यानोपाख्यानों के नाटकीय प्रस्तुतीकरण के द्वारा इस कला को पीढ़ी-दर-पीढ़ी संजोये रखा। बाद में ऋषियों-मुनियों एवं आचार्यों ने इस कला को अपनी असाधारण प्रतिभा, अनुपम मनीषा और विवेचना-कौशल से मण्डित कर प्रौढ़, लोकप्रिय एवं व्यापक बनाने का विपुल प्रयास किया है और भरत ने उसे शास्त्र का सुव्यवस्थित एवं वैज्ञानिक रूप प्रदान किया है।

नाट्यशास्त्र को केवल नाट्यकला का ही नहीं बल्कि समस्त भारतीय कलाओं का विश्वकोष कहा गया है। ऐसा कोई ज्ञान, विज्ञान, शिल्प, कला, विद्या, योग और कर्म नहीं है, जो इस नाट्यशास्त्र में समाहित न हो[1]। काव्य, नाट्य, अभिनय, नृत्य, गीत, वाद्य, वास्तु, मूर्ति, चित्र, पुस्त-विधि आदि न जाने कितनी कलाओं का परिनिष्ठित एवं व्यापक विवेचन इस ग्रन्थ में हुआ है। भरत का यह नाट्यशास्त्र ही नाट्यपरम्परा और कला-चिन्तन का केन्द्रबिन्दु रहा है। भरत ने तो इसे सार्ववर्णिक पञ्चम वेद कहा है।

---

१. न तच्छास्त्रं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न तत्कर्म न योगोऽसौ नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ॥

(ना० शा० १।११६)

अमरसिंह ने अमरकोश में नाटचोन्मेष एवं नाटचचिन्तन के विकास की तीन परम्पराओं का उल्लेख किया है। प्रथम शिलालि द्वारा नटसूत्र की रचना और जायाजीवों (नटों) द्वारा उसका प्रयोग। द्वितीय कृशाश्व द्वारा नाटच-शास्त्रविषयक ग्रन्थ की रचना और नटों द्वारा उसका प्रयोग। तृतीय भरत के नाट्यशास्त्र की रचना और उनके वंशज भरतों द्वारा उसका प्रयोग। इनमें प्रथम दो शिलालि एवं कृशाश्व नामक नटसूत्र (नाट्यशास्त्र) के निर्माता आचार्यों का उल्लेख पाणिनि की अष्टाध्यायी में मिलता है। उनके अनुसार जो शिलालि द्वारा प्रोक्त नटसूत्र का अध्ययन करते थे, वे शैलालिन् कहलाते थे और जो कृशाश्व की परम्परा में दीक्षित होते थे वे कृशाश्विन् कहलाते थे। इससे ज्ञात होता है कि ये दोनों आचार्य नाट्यशास्त्र के पूर्व विख्यात हो चुके थे। हो सकता है कि शिलालि और कृशाश्व की परम्परा में दीक्षित आचार्य भरत के मार्गदर्शक रहे हों।

तृतीय परम्परा भरत की रही है। इस परम्परा के अनुसार ब्रह्मा ने चतुर्वेद-सम्भूत नाट्य को प्रयोग के लिए भरत को दिया था। एक अन्य परम्परा के अनुसार नटराज शिव ने नाट्यवेद को नन्दिकेश्वर को देकर उसे ब्रह्मा को सिखाने का आदेश दिया। उनसे सीखकर ब्रह्मा ने ऋषियों से उसके प्रयोग का अनुरोध किया, वे ऋषि ही 'भरत' कहलाये। भरत ने नटसूत्र की रचना की थी, किन्तु अमरकोश में भरत के नटसूत्र की चर्चा नहीं है। भवभूति ने उनका तौर्यत्रिक सूत्रकार के रूप में उल्लेख किया है। उनके अनुसार भरत का मूलग्रन्थ सूत्रबद्ध था। नान्यदेव ने भी भरत को 'सूत्रकृत्' कहा है। सम्भवतः ये सूत्रकार 'भरतनाट्यशास्त्र' के संग्रहकार भरत से भिन्न रहे हों और ये सम्भवतः 'आदिभरत' ही रहे हों, जिनके कुछ सूत्र नाट्यशास्त्र में आनुवंश्य के रूप में उद्धृत हैं। अभिनवभारतीकार ने भरतनाट्यशास्त्र को भरतसूत्र के नाम से अभिहित किया है (**भरतसूत्रमिदं विवृण्वन्**)। सम्भव है कि अभिनव के सामने भरत का वह नटसूत्र विद्यमान रहा हो और नाट्यशास्त्र की रचना हो जाने पर उसका उसमें अन्तर्भाव हो गया हो।

इसके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र में आनुवंश्य श्लोक, सूत्रानुविद्ध आर्यायें और आर्यायें भी प्राप्त होती हैं। आनुवंश्य का अर्थ है वंशपरम्परागत तथा गुरुशिष्य परम्परा से प्राप्त। वे आनुवंश्य श्लोक भरत को वंशपरम्परा से प्राप्त हुए थे, जिनका उल्लेख नाट्यशास्त्र में किया गया है। इन आनुवंश्य श्लोकों के अतिरिक्त सूत्रानुविद्ध आर्यायें भी हैं, जो सूत्र से सम्बद्ध अर्थ को विस्फारित करती हैं। ये आर्यायें भी परम्परा से गृहीत हैं। अभिनव ने इन आर्याओं को भी प्राचीन आचार्यों का उद्धरण माना है। उनका कथन है कि ये आर्यायें नाट्यशास्त्र के पूर्ववर्ती किसी आचार्य की रचनाएँ हैं, जिन्हें भरतमुनि ने यथा-स्थान सन्निविष्ट कर दिया है। आनुवंश्य और अनुविद्ध ये दोनों शब्द दो

पृथक्-पृथक् स्रोतों से लिये गये प्रतीत होते हैं। क्योंकि इनमें कुछ अनुष्टुप् छन्द में हैं और कुछ आर्या में हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि भरत के पूर्व नाट्य की अन्य परम्पराएँ भी विद्यमान रही हैं।

नाट्यशास्त्र के अध्ययन से ज्ञात होता है कि भरत के पूर्व भरतों की परम्परा रही है और उस परम्परा में अनेक भरत हुए हैं। शारदातनय के भावप्रकाशन के अनुसार नाट्यप्रयोग के लिए एक मुनि पाँच शिष्यों के साथ ब्रह्मा के पास उपस्थित हुए, तब ब्रह्मा ने उनसे कहा—'नाट्यवेदं भरत', इसलिए वे भरत कहलाये और उन्हीं भरतों के नाम से नाट्यवेद 'भरतनाट्यशास्त्र' के नाम से विख्यात हुआ। ये पाँच भरत कौन थे, उसका उल्लेख भावप्रकाशन में नहीं मिलता। सम्भवतः ये पाँच भरत—वृद्धभरत (आदिभरत), नन्दिभरत, कोहलभरत, दत्तिलभरत और मतङ्गभरत रहे होंगे। इसीलिए नाट्यशास्त्र को भरतों का शास्त्र शासन का उपायभूत ग्रन्थ कहा गया है। (भरतनाट्यशास्त्रम्—'भरतानां वृद्धभरत-नन्दिभरत-कोहलभरत-दत्तिलभरत-मतङ्गभरतादीनां शास्त्रं शासनोपायं ग्रन्थम्'—नाट्यशास्त्रम्)। शारदातनय को 'पञ्चभारतीयम्' नामक एक ग्रन्थ के अस्तित्व का पता का। सम्भवतः यह वही ग्रन्थ होगा, जिसमें वृद्धभरत (आदिभरत), नन्दिभरत, कोहलभरत, दत्तिलभरत और मतङ्गभरत के सिद्धान्तों का समवेत सम्पादन किया गया होगा। इन पाँचों ने नाट्यवेद का भरण किया था, इसलिए वे भरत कहलाये। इन पाँचों भरतों का उल्लेख नाट्यशास्त्र एवं अन्य नाट्यकृतियों में भी मिलता है।

इनमें **वृद्धभरत** का उल्लेख शारदातनय ने किया है। उनके अनुसार नाट्यवेद की रचना आदिभरत या वृद्धभरत ने की थी (**तथा भरतवृद्धेन कथितं गद्यमीदृशम्**)। उन्होंने भावप्रकाशन में वृद्धभरत के नाम से कुछ गद्य भी उद्धृत किये हैं। राघवभट्ट ने आदिभरत का बार-बार उल्लेख किया है। **नन्दिभरत** एक प्रसिद्ध नाट्याचार्य, सङ्गीतशास्त्रकार, नृत्योपदेष्टा एवं रसशास्त्र के विद्वान् थे। राजशेखर ने भरत को रूपक का विशेषज्ञ और नन्दिकेश्वर को रस का अधिकारी विद्वान् बताया है। नाट्यशास्त्र के काव्यमाला संस्करण के अन्त में पुष्पिकालेख में 'नन्दिभरत' का उल्लेख है (**समाप्तश्चायं (ग्रन्थः) नन्दिभरतसङ्गीतपुस्तकम्**)। मैसूर और कुर्म के हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची में 'नन्दिभरत' नामक कृति का उल्लेख है, जो नन्दिभरत की रचना प्रतीत होती है। एक परम्परा के अनुसार एक बार असुरों ने देवताओं को एक नृत्य-प्रतियोगिता में भाग लेने की चुनौती दी थी। तब इन्द्र की प्रार्थना पर नन्दिकेश्वर ने असुरों की उस चुनौती को स्वीकार कर लिया। तब नन्दिकेश्वर ने इन्द्र के निर्देश पर चार हजार श्लोकों में भरतार्णव की रचना कर सुमति को शिक्षा दी। इसीलिए भरतार्णव को 'सुमतिबोधक' कहा गया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'नाट्यार्णव' की रचना की थी।

कोहलभरत नाट्यशास्त्र एवं सङ्गीतशास्त्र के आचार्य थे। भरत ने स्वयं नाट्यशास्त्र में कोहल का नाट्याचार्य के रूप में उल्लेख किया है (**शेषमुत्तरतन्त्रेण कोहलः कथयिष्यति**)। एक परम्परा के अनुसार कोहल उपरूपकों के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त अभिनव ने अभिनवभारती में कोहल के मतों का उल्लेख किया है। कोहल के साथ **दत्तिल** का भी नाट्यशास्त्रप्रणेता के रूप में उल्लेख है। नाट्यशास्त्र में भरतपुत्रों की सूची में दत्तिल (दन्तिल) का उल्लेख है। उन्हें कहीं दत्तिल, कहीं दन्तिल, कहीं धूर्त्तिल कहा गया है। एक परम्परा उन्हें 'दत्तक' नाम से अभिहित करती है और भरतपुत्र **'सुमति'** से साम्यता स्थापित करती है। उसके अनुसार सुमति ही दत्तक या दन्तिल था। शिङ्गभूपाल ने नाट्यशास्त्रकार के रूप में इनका उल्लेख किया है। अभिनव-भारती के अनुसार **'मतङ्ग'** एक मुनि थे। भरत-परम्परा में भरतमुनि के साथ मतङ्गमुनि का भी उल्लेख मिलता है। मतङ्ग के मत का प्रतिपादक 'मतङ्ग-भरत' नामक एक कृति के अस्तित्व का पता चलता है। मतङ्गमुनि का 'बृहद्देशी' नामक एक ग्रन्थ प्रकाशित है।

इनके अतिरिक्त तमिल भाषा में 'पञ्चभरतम्' नामक एक रचना मिलती है, जिसमें भरत से सम्बन्धित पाँच नाम आये हैं—आदिभरत, नन्दिभरत, मतङ्गभरत, हनुमद्भरत और अर्जुनभरत। इनमें अन्तिम दो नाम उपर्युक्त पञ्च-भरतों से भिन्न हैं। शारदातनय, शाङ्र्गदेव आदि आचार्यों ने हनुन्मत का उल्लेख किया है। सरस्वती महल, पुस्तकालय की ग्रन्थ-सूची में 'हनुमद्भरत' नामक एक कृति का उल्लेख है। हो सकता है यह हनुमद्भरत की रचना हो। 'अर्जुनभरत' विश्वावसु के शिष्य थे। शाङ्र्गदेव ने अर्जुन का उल्लेख किया है। अर्जुनभरत के मत का प्रतिपादक ग्रन्थ 'अर्जुनभरतम्' उपलब्ध है, जो अर्जुन के मत का संग्रह-ग्रन्थ प्रतीत होता है।

ये सभी भरत नाट्य और सङ्गीत के प्रामाणिक आचार्य माने जाते हैं। इसी परम्परा के किसी आचार्य ने उन सभी भरतों के मतों का सार लेकर सुव्यवस्थित रूप में संग्रह-ग्रन्थ का सम्पादन किया, जो नाट्यशास्त्र कहलाया और भरत द्वारा सम्पादित होने के कारण उसे भरतकृत मान लिया गया और 'भरतनाट्यशास्त्र' के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

नाट्यशास्त्र एवं अन्य साहित्यिक कृतियों में विभिन्न प्रसङ्गों में और भी बहुत से नाट्याचार्यों का उल्लेख प्राप्त होता है, जिनका नाट्य के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। नाट्यशास्त्र में नाट्योत्पत्ति एवं नाट्यप्रयोग के प्रसङ्ग में ब्रह्मा, शिव, पार्वती, स्वाति, नारद, तुम्बुरु, कोहल, वात्स्य, शाण्डिल्य, धूर्तिल, तण्डु, नन्दि, कश्यप, बृहस्पति, नखकुट्ट, अश्मकुट्ट, बादरायण, स्वाति, शातकर्णी आदि आचार्यों का नाट्यशास्त्रप्रणेता एवं नाट्यप्रयोक्ता के रूप में उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार शाङ्र्गदेव ने नाट्यपरम्परा के आचार्यों में

सदाशिव, शिव, ब्रह्मा, भरत, कश्यप, मतङ्ग, याष्टिक, दुर्गा, शक्ति, शार्दूल, कोहल, विशाखिल, दत्तिल, कम्बल, अश्वतर, वायु, विश्वावसु, रम्भा, अर्जुन, नारद, तुम्बुरु, आञ्जनेय, मातृगुप्त, रावण, नन्दिकेश्वर, स्वाति, राहुल, क्षेत्रराज, रुद्रट आदि आचार्यों का उल्लेख किया है और नाट्यशास्त्र के व्याख्याकारों में उद्भट, लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, भट्टतौत, अभिनवगुप्त आदि आचार्यों का उल्लेख किया है। किन्तु इनमें कई आचार्यों के नाट्याचार्य होने का संकेत प्राप्त नहीं होता और कई नाट्याचार्यों की रचनाएँ और मान्यताएँ अतीत के कालखण्डों में समा गईं हैं; और कुछ आचार्यों के सम्बन्ध में नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों एवं अन्य साहित्यिक रचनाओं में यत्र-तत्र बिखरे हुए कुछ उद्धरण अवश्य प्राप्त होते हैं, जिनके आधार पर उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व के सम्बन्ध में कुछ जानकारी प्राप्त की जा सकती है। किन्तु इन आचार्यों के नाट्यशास्त्र में योगदान सम्बन्धी विवरण क्रमबद्ध रूप में कहीं भी उपलब्ध नहीं होते।

आज आवश्यकता है उन आचार्यों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के सम्बन्ध में अनुसन्धान एवं अन्वेषण करने की और नाट्यशास्त्र के पूर्ववर्ती नाट्यपरम्परा तथा नाट्यशास्त्रोत्तर चिन्तनपरम्परा को व्यवस्थित करने तथा समझने की। इसी दृष्टि से मैंने उन आचार्यों के व्यक्तित्व, कृतित्व एवं मान्यता सम्बन्धी विवरणों की खोज की और जहाँ कहीं भी उनके सम्बन्ध में बिखरी हुई सामग्री मिली उन सबका संग्रह किया तथा उपलब्ध समस्त सामग्री का नाट्यकला के सन्दर्भ में अनुसन्धान, अध्ययन एवं मनन किया और अध्ययन एवं मनन करने के पश्चात् ऐतिहासिक दृष्टि से उसे सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया।

आश्चर्य है कि अभी तक साहित्य की इस महत्त्वपूर्ण विधा नाट्यकला या नाट्यशास्त्र पर क्रमबद्ध रूप में इतिहास लिखने का स्वतंत्र प्रयास नहीं किया जा सका है। म० म० काणे, डा० एस० के० डे आदि विद्वानों ने 'काव्यशास्त्र का इतिहास' लिखकर काव्यशास्त्र के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, किन्तु नाट्यशास्त्र के इतिहास पर स्वतंत्र रूप से कुछ नहीं लिखा। हाँ, उन्होंने अपने ग्रन्थों में नाट्यशास्त्र के कुछ प्राचीन आचार्यों का परिचयात्मक विवरण अवश्य दिया है। सम्भवतः उनका उद्देश्य काव्यशास्त्र के इतिहास के निरूपण पर अधिक रहा हो। इसीलिए उन्होंने अपने को संस्कृत काव्यशास्त्र तक ही सीमित रखा हो; और नाट्यशास्त्र के उन्हीं आचार्यों का संक्षिप्त परिचयात्मक विवरण दिया होगा जिनका सम्बन्ध काव्यशास्त्र से रहा होगा।

मैंने इस कमी को दूर करने की दृष्टि से यथासम्भव समस्त उपलब्ध स्रोतों एवं साक्ष्यों के आधार पर नाट्यपरम्परा के उन सभी आचार्यों और उनकी रचनाओं एवं सिद्धान्तों की ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचना करते हुए 'नाट्यशास्त्र का इतिहास' लिखने का दुष्कर प्रयास किया है।

प्रस्तुत पुस्तक दो खण्डों में विभाजित है। प्रथम खण्ड में कालक्रमानुसार नाटच-परम्परा के आचार्यों, उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व के साथ उनकी नाटच-शास्त्रीय मान्यताओं की ऐतिहासिक दृष्टि से क्रमबद्ध विवेचना की गई है। द्वितीय खण्ड में नाटचकला के उद्गम एवं विकास से विभिन्न चरणों पर विचार करते हुए नाटच के सिद्धान्त तथा प्रयोग-विज्ञान का वैज्ञानिक पद्धति से तुलनात्मक समीक्षा के साथ सुव्यवस्थित प्रतिपादन किया गया है। अन्त में परिशिष्ट के अन्तर्गत शब्दानुक्रमणिका एवं सहायक ग्रन्थों की सूची भी दी गई है।

प्रस्तुत पुस्तक लिखते समय मेरा प्रयास नाटचशास्त्र के अध्येताओं के लिए नाटच की विषयवस्तु को सुगम, आकर्षक एवं अधिकाधिक उपयोगी बनाने की ओर रहा है। जहाँ तक सम्भव हो सका है, नाटचशास्त्र पर हुए अब तक के नवीनतम अनुसन्धानों के फलों का भी समावेश कर लिया गया है। यथाशक्ति नाटचशास्त्र से सम्बद्ध विभिन्न विषयों का ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचन करने का प्रयास किया गया है। मैंने अपने प्रतिपाद्य विषय को संस्कृत नाटचशास्त्र तक ही सीमित रखा है और नाटचशास्त्र से सम्बद्ध विषयों पर अन्य भाषा में लिखे गये अनेकानेक ग्रन्थों पर विचार नहीं किया है। उसके पृथक् निरूपण के लिए एक बृहत्काय ग्रन्थ अपेक्षित होगा। प्रस्तुत ग्रन्थ में अनेक प्राचीन और नवीन नाटचाचार्यों का विवेचनात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है, जिनके सम्बन्ध में लोगों को कम जानकारी थी या जानकारी नहीं थी या विद्वानों की दृष्टि से ओझल रहे हैं या उपेक्षित रहे हैं।

सर्वप्रथम महाकालेश्वर नटराजराज परमशिव शिव के चरणों में मेरा शतशः प्रणाम, जिनके प्रसाद से मेरा यह महान् माङ्गलिक अनुष्ठान पूरा हुआ। अब उन सभी आचार्यों एवं विद्वान् लेखकों के प्रति वन्दनापूर्वक आभार प्रदर्शित करना अपना परमकर्तव्य समझता हूँ, जिनके ग्रन्थों, रचनाओं एवं लेखों से सहायता ली गई है। विशेषरूप से म० म० काणे, डा० एस० के० डे, डा० कीथ, डा० सुरेन्द्रनाथ दीक्षित, डा० एम० एम० घोष, डा० पराञ्जपे एवं आचार्य बृहस्पति आदि विद्वानों का अत्यन्त आभारी हूँ, जिनके ग्रन्थों को मैंने बार-बार देखा और उनका उपयोग किया। जिसका निर्देश सर्वत्र तो सम्भव न हो सका फिर भी यथास्थान निर्देश करने का प्रयास किया है। एतदर्थ मैं उन सभी विद्वानों की अधमर्णता स्वीकार करता हूँ और कृतज्ञता-पूर्वक आभार प्रदर्शित करता हूँ।

इनके अतिरिक्त नाटचशास्त्र के उन सभी प्राचीन आचार्यों, ग्रन्थकारों एवं समालोचकों के प्रति भी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिनके ग्रन्थों से मैंने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सहायता प्राप्त की है।

मेरे आत्मज डा० देवकृष्ण द्विवेदी ने प्रस्तुत पुस्तक के लिखने में अनेक

प्रकार से सहायता की है। अतः उन्हें मेरा शुभाशीः। अपने दो पौत्रों गुपुल और विपुल को आशीर्वाद देता हूँ, जो बीच-बीच में अपनी चुलबुली बोलियों से मेरा मनोरंजन करते रहे हैं।

अन्त में इस ग्रन्थ के मुद्रण एवं प्रकाशन के लिए चौखम्बा सुरभारती के सञ्चालक बन्धुओं के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिन्होंने बड़ी लगन एवं उत्साह के साथ इस पुस्तक को प्रकाश में लाने का भार उठाया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ को यथासम्भव शुद्ध बनाने का प्रयास किया गया है, फिर भी मानव-सुलभ त्रुटियों एवं न्यूनताओं का रह जाना स्वाभाविक है। अतः उसके लिए क्षमा-याचना करते हुए माननीय विद्वानों से विनम्र निवेदन है कि उन्हें जहाँ कहीं भी त्रुटि एवं कमी का अनुभव हो, उसे तुरन्त सूचित करने की कृपा कर अनुगृहीत करेंगे, जिससे अगले संस्करण में उनका परिमार्जन किया जा सके। प्रस्तुत पुस्तक को अधिक पूर्ण एवं उपयोगी बनाने की दिशा में जो भी सुझाव मिलेंगे, उनका मैं हृदय से स्वागत करूँगा। लेखक का अल्प अध्ययन एवं सीमित सामर्थ्य से एक गुरुतर, गम्भीर एवं जटिल विषय पर किया गया इस प्रकार का यह प्रथम लघु प्रयास सुधीजनों के समक्ष प्रस्तुत है। इसकी सफलता-असफलता का निकष वस्तुतः उन्हीं का परितोष है, जैसा कि महाकवि कालिदास ने कहा है—

आपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।

विनयावनत
पारसनाथ द्विवेदी

रक्षाबन्धन
वि० सं० २०५२
वाराणसी

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

अध्याय : एक

विषय-प्रवेश

अध्याय : दो

नाट्यशास्त्रकार

अध्याय : तीन

भरत तथा पञ्चभरत

अध्याय : चार

नाट्यशास्त्र, अग्निपुराण एवं विष्णुधर्मोत्तरपुराण

द्वितीय खण्ड

अध्याय : एक

नाट्य का उद्गम और विकास

अध्याय : दो
नाटच का स्वरूप एवं प्रकार

अध्याय : तीन
इतिवृत्त-विधान

अध्याय : चार

पात्र-योजना

अध्याय : पाँच

वृत्ति-प्रवृत्ति-रीतिविचार

अध्याय : छः

रस-विमर्श

अध्याय : सात

नाट्य का प्रस्तुतीकरण

अध्याय : आठ

नाट्यप्रयोग-विज्ञान

अध्याय : नव

नृत्य, गीत एवं वाद्य

अध्याय : दस

नाटचमण्डप एवं रङ्गमञ्च

परिशिष्ट

प्रथम खण्ड

*

नाट्य-परम्परा के आचार्य

एक :

विषय-प्रवेश

नाट्य और नाट्यशास्त्र

'नाटच' शब्द नृत्य, गीत और वाद्य के समुदाय रूप अर्थ को प्रकट करता है। कोशकारों ने नृत्य, गीत और वाद्य की सह-प्रस्तुति को 'नाटच' कहा है और उसे 'तौर्यत्रिक' की संज्ञा दी है[१]। नाटचशास्त्र के टीकाकार हर्ष ने तौर्यत्रिक को रङ्ग का पर्याय माना है[२]। आदिभरत के अनुसार 'ताण्डव' और 'लास्य' भी नाटच के ही रूप हैं। अमरकोशकार अमरसिंह ताण्डव, लास्य, नटन, नर्तन, नृत्य और नृत्त को 'नाटच' का पर्याय मानते हैं[३]। भरत ने नाटच को एक सार्ववर्णिक वेद कहा है,[४] जिसमें समस्त ज्ञान, कर्म, शिल्प, विद्याएँ और कलाएँ समाहित हैं[५]। इस प्रकार नृत्य, गीत, वाद्य और अभिनय का समुदाय रूप अर्थ 'नाटच' है।

'नाटच' और 'नटन' ये दोनों शब्द 'नट्' धातु से निष्पन्न होते हैं, जिसका अर्थ होता है—नर्तन, नृत्य या नृत्त। नर्तन और नृत्य शब्द 'नृत्' धातु से बनते हैं, जिसका अर्थ होता है—गात्र-विक्षेपण या अङ्ग-सञ्चालन। गात्रविक्षेपण की यह क्रिया एक सामान्य तत्त्व है, जो नाटच, नर्तन एवं नृत्य की समस्त विधाओं में पाया जाता है। इनमें कुछ गात्र-विक्षेपण ऐसे भी होते हैं, जिनमें न अर्थ की अपेक्षा होती है और न भावों का अनुसरण ही होता है। केवल ताल और लय पर आश्रित रहते हैं, उसे 'नृत्त' कहते हैं (**गात्रविक्षेपमात्रं**

---

१. (क) तौर्यत्रिकं नृत्तगीतवाद्यं नाटचमिदं त्रयम्।
(अमरकोश १।७।३०)

(ख) तौर्यत्रिकं नृत्तगीतवाद्यं नाटचं च तत्त्रयम्॥
(शब्दरत्नाकर १८९०)

(ग) नाटचं नृत्तगीतवाद्यं तौर्यत्रिकम्। (हलायुध पृ० ३८६)

(घ) नाटचं तौर्यत्रिके लास्ये। (मेदिनी-कोश २६।३४)

२. अभिनवभारती भाग १, पृष्ठ २०९।

३. ताण्डवं नटनं नाटचं लास्यं नृत्यं च नर्तने। (अमरकोश १।७।१०)

४. नाटचाख्यं पञ्चमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम्। (नाटचशास्त्र १।१५)

५. न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाटचेऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥
(नाटचशास्त्र १।११६)

नृत्तम्)। इसमें भाव-प्रदर्शन के लिए कोई स्थान नहीं होता,[१] केवल विविध अङ्ग-भङ्गिमाओं के साथ नर्तन होता है। इसमें रस और भाव की अपेक्षा अङ्ग-सञ्चालन के चमत्कार पर अधिक ध्यान दिया जाता है। शार्ङ्गदेव ने भी समस्त प्रकार के अभिनयों से रहित अङ्गसञ्चालनमात्र को 'नृत्त' कहा है[२]।

नटन या नर्तन की दूसरी विधा 'नृत्य' है। इसमें भाव-प्रदर्शन के साथ अङ्ग-सञ्चालन होता है अर्थात् इसमें अङ्गसञ्चालन के द्वारा भाव-विशेष प्रदर्शित किये जाते हैं और पदार्थों का अभिनय किया जाता है (**पदार्थाभिनयो नृत्तम्**)। नन्दिकेश्वर के अनुसार रस, भाव और व्यञ्जना से युक्त जो अभिनय किया जाता है उसे 'नृत्य' कहते हैं[३]। अन्य आचार्यों ने इसे 'नाट्य' का स्वरूप बतलाया है।

भाव यह है कि 'नृत्त' एक वह सामान्य नर्त्तन है, जिसमें भाव का प्रदर्शन बिलकुल नहीं होता; केवल ताल और लय के सहारे विविध प्रकार की अङ्ग-भङ्गिमाओं के साथ अङ्ग-सञ्चालन (गात्र-विक्षेपण) किया जाता है और नृत्य में भाव-व्यञ्जनादि के साथ अङ्ग-सञ्चालन अर्थात् नर्तन किया जाता है। इसमें अनेक प्रकार के हाव-भावों के प्रदर्शन के साथ नर्तन के द्वारा दर्शकों का मनोरञ्जन किया जाता है। आङ्गिक अभिनय के साथ कभी-कभी आहार्य अभिनय का भी समावेश होता है, किन्तु वाचिक और सात्त्विक अभिनय का समावेश नहीं होता।

नटन या नर्तन की तीसरी विधा 'नाट्य' है। इसमें सम्पूर्ण अभिनय होता है और रस की पूरी सामग्री प्रस्तुत की जाती है। भरत के अनुसार इसमें सम्पूर्ण वाक्यार्थ को अभिनय के द्वारा प्रदर्शित करके सहृदय के हृदय में रस का सञ्चार किया जाता है (**वाक्यार्थाभिनयरसाश्रयं नाट्यम्**)। नन्दिकेश्वर ने प्राचीन कथा पर आश्रित तथा लोकपूजित अभिनय को 'नाट्य' कहा है[४]। नन्दिकेश्वर की इस परिभाषा में एक बात विशेष उल्लेखनीय है कि उन्होंने पूर्वकथाश्रित अभिनय के साथ लोकरुचि या लोकस्वभाव पर भी बल दिया है। भरत ने भी आङ्गिक आदि अभिनयों से युक्त सुख-दुःखादि से समन्वित लोकस्वभाव को 'नाट्य' कहा है[५]।

---

१. भावाभिनयहीनन्तु नृत्तमित्यभिधीयते। (अभिनयदर्पण १५)

२. गात्रविक्षेपमात्रं तु सर्वाभिनयवर्जितम्।
आङ्गिकोक्तप्रकारेण नृत्तं नृत्यविदो विदुः॥ (संगीतरत्नाकर ४।२७)

३. रसभावव्यञ्जनायुक्तं नृत्यमित्यभिधीयते। (अभिनयदर्पण १६)

४. नाट्यं तन्नाटकं चैव पूज्यं पूर्वकथायुतम्। (अभिनयदर्पण १५)

५. योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते॥ (नाट्यशास्त्र १।१२२)

इस प्रकार गात्र-विक्षेप-मात्र नर्तन को 'नृत्त' और भावप्रदर्शन के साथ पदार्थाभिनय को 'नृत्य' तथा वाक्यार्थाभिनय को 'नाटच' कहा जाता है[१]। इस प्रकार नृत्त, नृत्य और नाटच के अर्थ में किञ्चित् अन्तर होते हुए भी उनके मूल में गात्र-विक्षेपण रूप एक ही तत्त्व विद्यमान है। यह गात्रविक्षेप नटन या नर्तन की तीनों विधाओं में पाया जाता है।

नृत्त नाटचरूप है अथवा नाटच से भिन्न है? इस विषय पर नाटचशास्त्र के चतुर्थ अध्याय में पर्याप्त रूप से विचार किया गया है और दोनों मतों के पक्ष-विपक्ष में पर्याप्त तर्क प्रस्तुत किये गये हैं। अभिनवगुप्त पूर्वपक्ष का उपस्थापन करते हुए कहते हैं कि नृत्त और नाटच दोनों में ही गात्रविक्षेप होता है और वे दोनों समानार्थक हैं तथा दोनों का स्वभाव और प्रयोजन भी एक है। अतः नृत्त नाटचरूप है तथा नृत्य भी नाटच रूप ही है। इस पर कहते हैं कि रेचक और अङ्गहार रूप नृत्त गात्रविक्षेपण रूप होता है। वह किसी अर्थ की अपेक्षा नहीं करता और 'नाटच' साक्षात्कारकल्प अनुव्यवसायात्मक ज्ञान रूप है,[२] वह वाक्यार्थ रूप होता है। इस प्रकार नृत्त नाट्य से भिन्न है। नृत्त में रस और भाव की अप्रधानता होती है और नाटच में रस और भाव की प्रधानता होती है। वार्त्तिककार हर्ष का कथन है कि नृत्त और नाटच दोनों में रस, भाव, दृष्टि, हस्त आदि-आदि अङ्गों का पूर्ण अथवा अपूर्ण रूप में अनुकरण किया जाता है, तो दोनों में तुल्य अनुकरण होने से नृत्त नाटच से भिन्न कैसे होगा?[३] भट्टयन्त्र का कथन है कि शिक्षा की प्राप्ति के लिए अथवा स्वेच्छा से अभिनीत कुछ नाटचाङ्गों से सम्पादित 'नृत्त' अभ्यास का फल है[४]। भट्टलोल्लट के अनुसार नृत्त मङ्गल के अवसर पर किया जाने वाला समयाचार है[५]। कीर्तिधराचार्य का मत है कि अभिनेय, दृश्य आदि शब्दों का प्रयोग नाटच की तरह नृत्त में भी होता है, अतः नृत्त भी नाटच ही है[६]। किन्तु भरत ने नृत्त को नाटच का अंग स्वीकार किया है।

---

१. नट् नृत्तौ। इत्थमेव पूर्वमपि पठितम्। तत्रायं विवेकः—पूर्वं पठितस्य नाटचमर्थः। यत्कारिषु नटव्यपदेशः। वाक्यार्थाभिनयो नाटचम्। घटादौ तु नृत्यं नृत्तं चार्थः। यत्कारिषु नर्त्तकव्यपदेशः। पदार्थाभिनयो नृत्यम्। विक्षेपणमात्रं नृत्तम्। (सिद्धान्तकौमुदी पृ० ३७५-३७६)

२. नृत्तं च रेचकाङ्गहारात्मकम्। साक्षात्कारकल्पानुव्यवसायगोचरकार्यत्वं च नाटचस्य लक्षणम्। (अभिनवभारती प्रथम भाग, पृ० १७५)

३. अभिनवभारती भाग १, पृ० २०६।

४. अभिनवभारती भाग १, पृ० २०६।

५. वही।

६. वही।

भरत ने नाटच के स्वरूप का विवेचन करने के लिए अनुकरण (अनुकृति), अनुकीर्त्तन और अनुदर्शन शब्दों का प्रयोग किया है[१]। सामान्य रूप से लोगों के द्वारा किये गये कार्यों के अनुकरण को 'नाटच' कहा जाता है। दशरूपककार धनञ्जय ने भी लोक की विभिन्न अवस्थाओं की अनुकृति को 'नाटच' कहा है (अवस्थानुकृतिर्नाटचम्)। किन्तु अभिनवगुप्त अनुकरण या अनुकृति मात्र को 'नाटच' नहीं मानते। उनका कहना है कि नाटच अनुकरण रूप नहीं होता है। अनुकरण तो केवल उपहासरूप होता है। उससे केवल हँसी आ सकती है, नाटचानुभूति नहीं हो सकती। नाटचानुभूति तो अनुव्यवसाय रूप अनुकीर्त्तन से होती है। अतः नाटच अनुकीर्त्तन रूप है, त्रिलोकी के भावों का अनुकीर्त्तन है। इस प्रकार अभिनवगुप्त के अनुसार नाटच विकल्पज्ञान से सम्पृक्त अनुव्यवसायात्मक कीर्त्तन रूप है अर्थात् विकल्प से संपृक्त प्रत्यक्षज्ञान 'नाटच' है। अब प्रश्न यह होता है कि यदि नाटच अनुकरण रूप नहीं है तो जो 'लोकवृत्तानुकरणं नाटचम्', 'सप्तद्वीपानुकरणं नाटचम्' इत्यादि वाक्यों में नाटच को अनुकरण रूप कहा गया है, वह सार्थक कैसे होगा? इस पर कहते हैं कि अनुव्यवसाय लौकिक करण का अनुसरण करते हुए प्रवृत्त होता है, अतः नाटच को अनुकरण कहने में कोई दोष नहीं है[२]। इसी दृष्टि से भरत ने उसे अनुकरण कहा है।

---

१. धर्म्यमर्थ्यं यशस्यं च सोपदेश्यं ससङ्ग्रहम्।
भविष्यतश्च लोकस्य **सर्वकर्मानुदर्शकम्**॥ (ना० शा० १।१५)
नैकान्ततोऽत्र भवतां देवानाञ्चानुभावनम्।
त्रैलोक्यस्यात्र सर्वस्य नाटचं **भावानुकीर्त्तनम्**॥ (ना० शा० १।१०८)
नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाटचमेतन्मया कृतम्॥ (ना० शा० १।११३)
सप्तद्वीपानुकरणं नाटचमेतद् भविष्यति। (ना० शा० १।१२०)
येनानुकरणं ह्येतन्नाटचमेतन्मया कृतम्।
देवानामसुराणां च राज्ञामथ कुटुम्बिनाम्।
ब्रह्मर्षीणां च विज्ञेयं नाटचं **वृत्तान्तदर्शकम्**॥ (ना० शा० १।१२१)
तस्मिन् समवकारे तु प्रयुक्ते देवदानवाः।
हृष्टा समभवन् सर्वे **कर्मभावानुदर्शनात्**॥ (ना० शा० ४।४)
ततो भूतगणा हृष्टाः **कर्मभावानुदर्शनात्**।
महादेवश्च सुप्रीतः पितामहमथाब्रवीत्॥ (ना० शा० ४।११)

२. तस्मादनुव्यवसायकमनुकीर्त्तनं रूषितविकल्पसंवेदनं नाटचम्''''न तदनुकरणरूपम्। यदि त्वेवं मुख्यलौकिककरणानुसारितयाऽनुकरणमित्युच्यते तन्न कश्चिद्दोषः'। (अभिनवभारती भाग १, पृ० ३७)

अभिनवगुप्त के अनुसार 'नट' के द्वारा प्रस्तुत अभिनय के प्रभाव से प्रत्यक्ष के समान प्रतीयमान, एकाग्र मन की निश्चलता से अनुभवनीय नाटक और काव्य-विशेष प्रकाश्य अर्थ 'नाट्य' है। और वह यद्यपि अनन्तविभावादि रूप है किन्तु समस्त जड़ पदार्थों के ज्ञान में पर्यवसित होने तथा उस ज्ञान का भोक्ता में और भोक्ताओं का प्रधान भोक्ता में पर्यवसान होने से नायक की रत्यादिरूप स्थायीभावात्मक चित्तवृत्ति रूप अर्थ भी 'नाटच' है[1] और स्वगत-परगत भेद से रहित वह चित्तवृत्ति आस्वाद्यमान होने से 'रस' है। चूंकि नाटच की पूर्णतः अनुभूति रस में ही होती है, अतः रस ही नाटच है; जिसकी अनुभूति ही नाटच का फल है, परिणाम है[2]। अतः जिस नाटचरस की अनुभूति होती है वह मुख्यभूत महारस है। इसमें अन्य महारसों की स्थिति गौण होती है और वे प्रधान रस का ज्ञान समुदाय रूप में करवाते हैं। यह रस नाट्यसमुदाय से समुद्भूत होता है, अतः नाट्य-समुदाय ही रस है अथवा रस-समुदाय ही नाटच है अथवा नाटच ही रस है और काव्य में भी नाटचरूप ही रस होता है[3]। इस प्रकार अभिनव के अनुसार समुदायरूप अर्थ नाटच है और नाटच ही रस है तथा रस ही नाटच है।

भरत नाटच का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं कि यह लोक सुख-दुःख स्वभाव वाला है। लोक का यह सुखदुःखात्मक स्वभाव जब अंगादि अभिनयों से अभिनीत होता है तो 'नाटच' कहलाता है—

'योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाटचमित्यभिधीयते' ॥

(नाटचशास्त्र १।१२२)

इस प्रकार सुख-दुःखसमन्वित लोकस्वभाव अङ्गादि अभिनयोपेत होने पर 'नाटच' कहलाता है। यहाँ अङ्गादि पद से आङ्गिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक आदि अभिनयों का ग्रहण है। इस प्रकार अङ्गादि चतुर्विध अभिनयों

---

१. तत्र नाट्यं नाम नटगताभिनयप्रभावसाक्षात्कारायमाणैकघनमानस-निश्चलाध्यवसेयः समस्तनाटकाद्यन्यतमकाव्यविशेषाच्च द्योतनीयोऽर्थः। स च यद्यप्यनन्तविभावाद्यात्मा तथापि सर्वेषां जडानां संविदि तस्याश्च भोक्तरि भोक्तृवर्गस्य च प्रधाने भोक्तरि पर्यवसानान्नायकाभिधानभोक्तृविशेषस्थायिचित्त-वृत्तिस्वभावः।

(अभिनवभारती भाग १, पृ० २६६)

२. तेन रस एव नाटचम्। यस्य व्युत्पत्तिः फलमित्युच्युते।

(अभिनवभारती भाग १, पृ० २६७)

३. नाटचात् समुदायरूपाद्रसाः। यदि वा नाटचमेव रसाः। रससमुदायो हि नाटचम्। नाटच एव च रसाः। काव्येऽपि नाटचायमान एव रसः।

(अभिनवभारती भाग १, पृ० २९०)

से उपेत (युक्त) लोक का सुख-दुःखात्मक स्वभाव 'नाट्य' है अथवा अङ्ग पद से शाखा, नृत्त और अंकुर का ग्रहण होता है[१]। शाखा का अर्थ आङ्गिक अभिनय है और अंकुर का अर्थ सूचना है। इस प्रकार आङ्गिक अभिनय, नृत्त एवं अंकुर आदि अङ्गों से युक्त लोकस्वभाव 'नाटच' है अथवा अङ्ग पद से विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव रूप अङ्गों का ग्रहण होता है। इस प्रकार विभावादि रूप अङ्गादि अभिनयों से संविद् दर्पण में प्रतिबिम्बित अर्थ 'नाटच' है। इस प्रकार रसाश्रयभूत चतुर्विध अङ्गादि अभिनय-प्रधान प्राचीन इतिवृत्त का आश्रय लेकर नर्तन द्वारा जनमानस में अनुकूल रस का सञ्चार करना 'नाटच' है। इस प्रकार यह 'नाटच' लोकवृत्त का ही अनुकरण नहीं अपितु त्रिलोकी के भावों का अनुकीर्त्तन है,[२] अनुदर्शन है, अनुव्याहरण है तथा अनुभावन है।

नाटच का स्वरूप निर्धारण करने में संग्रह का महत्त्वपूर्ण स्थान है। संग्रह क्या है? अभिनव कहते हैं कि जिससे प्रतिपाद्य वस्तु का सम्यक् रूप से ग्रहण हो, उसका परिगणन उस वस्तु का संग्रह है। संग्रह का ज्ञान हो जाने पर उस वस्तु की प्रतीति के लिए फिर किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रहती और वह ज्ञान साक्षात्काररूप ही होता है[3]। भरत के अनुसार सूत्र (लक्षण) और भाष्य (परीक्षा) में विस्तार से कहे जाने वाले अर्थों का संक्षेप रूप में कथन करना 'संग्रह' है[४]। इस प्रकार संक्षेप में किसी वस्तु का स्वरूप बतलाना संग्रह है।

भरत के अनुसार आङ्गिक, वाचिक और आहार्य तीन प्रकार के अभिनय तथा गान और वाद्य—ये सब मिलकर नाटच के पाँच अङ्ग होते हैं। ये पाँच अङ्ग ही भरत को अभिमत है। किन्तु नाटचशास्त्र के षष्ठ अध्याय में कोहल के मतानुसार ग्यारह अङ्गों का वर्णन है—रस, भाव, अभिनय, धर्मी, वृत्ति, प्रवृत्ति, सिद्धि, स्वर, आतोद्य, ज्ञान तथा रङ्ग—ये ग्यारह संग्रह हैं[५]। अभिनव गुप्त का कथन है कि यह भरत का मत नहीं है। भरत ने तो कोहल के द्वारा

---

१. अस्य शाखा च नृत्तं च तथैवाङ्कुर एव च। (नाटचशास्त्र ८।१४)

२. त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाटचं भावानुकीर्त्तनम्।
(नाटचशास्त्र १।१०८)

३. सम्यग्ग्रहणं सङ्ग्रहः। यतः परं निर्विशङ्कप्रतीत्यर्थं प्रमाणान्तरं नाभ्यर्थ्यते। तच्च साक्षात्काररूपमेव। (अभिनवभारती भाग १, पृ० १३)

४. विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां सूत्रभाष्ययोः।
निबन्धो यः समासेन सङ्ग्रहं तं विदुर्बुधाः॥ (नाटचशास्त्र ६।९)

५. रसा भावा ह्यभिनया धर्मीवृत्तिप्रवृत्तयः।
सिद्धिः स्वरास्तथातोद्यं गानं रङ्गश्च सङ्ग्रहः॥ (नाटचशास्त्र ६।१०)

संगृहीत अङ्गों का यहाँ पुनः कथन किया है। हाँ भरत ने उनका व्यतिक्रम कर परिगणन किया है अर्थात् भरत ने क्रम का परिवर्त्तन कर दिया है। इनमें प्रथम तत्त्व रस है। रस नाटच का सूक्ष्म महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, अतः उसका सर्व-प्रथम कथन किया है। रस की निष्पत्ति भावों से होती है, अतः रस के बाद भावों का निरूपण किया गया है। भावों की निष्पत्ति अभिनय से होती है, अतः भावों के बाद अभिनय का कथन किया गया है। अभिनय के बाद प्रयोजनभूत धर्मी, वृत्ति और प्रवृत्ति का परिगणन है। संग्रह के ये छः तत्त्व नाटच के आभ्यन्तर एवं अविभाज्य अङ्ग हैं। उसके बाद सिद्धि, स्वर, आतोद्य, गान और रङ्ग—ये पाँच अङ्ग परिगणित हैं। ये बाह्य अङ्ग हैं। इस प्रकार नाटच के ग्यारह अङ्ग वर्णित हैं[1]।

भट्टोद्भट का कथन है कि यहाँ कोहल के मत से उद्धृत नाटच के ग्यारह अङ्गों में क्रम का परिवर्त्तन कर दिया गया है। उनके अनुसार तत्त्वों का क्रम—रङ्ग, गान, आतोद्य, स्वर, सिद्धि, प्रवृत्ति, वृत्ति, धर्मी, अभिनय, भाव और रस; इस प्रकार होना चाहिए। किन्तु भट्टलोल्लट इससे सहमत नहीं है। उनका कहना है कि यहाँ क्रम विवक्षित न होने से और उनकी निष्पत्ति का क्रम बतलाने में ग्रन्थकार का तात्पर्य न होने के कारण यह क्रम-परिवर्त्तन किया गया है, अतः यहाँ क्रमभङ्ग दोष नहीं है।

अभिनवगुप्त कहते हैं कि रस ही नाटच है जिसकी अनुभूति रस में है, क्योंकि इसके बिना नाटच में कोई अर्थ प्रवृत्त नहीं होता (**नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्त्तते**)। इसलिए नाटच में जिस रस की अनुभूति होती है वह मुख्यभूत महारस है, अन्य रस इसी महारस के अंशभूत हैं। इसी महारस से अन्य रस प्रसृत होते हैं। वे अन्य रस वैयाकरणों के स्फोटसिद्धान्त के अनुसार असत्य हैं अथवा अन्विताभिधानवाद के समान उपायभूत सत्य के समान हैं अथवा अभिहितान्वयवाद के अनुसार मुख्य रस के समुदाय रूप हैं अर्थात् वे समुदाय रूप में मुख्यभूत महारस का ज्ञान कराते हैं[2]। इस प्रकार नाटच-समुदायरूप रस है अथवा नाटच ही रस है और रससमुदाय ही नाटच है। इसलिए नाटचसंग्रह में एकादशाङ्ग का पृथक् कोई अस्तित्व नहीं है। ये नाट्य में ही अन्तर्हित हैं। इसीलिए समुदाय रूप अर्थ को 'नाटच' कहा है।

शाङ्गर्देव के अनुसार नाट्य का मुख्य अर्थ 'रस' है और लक्षणा से उसका अर्थ नर्तन होता है। उन्होंने चार प्रकार के अभिनयों से युक्त रसाभिव्यक्ति के कारण नर्तन को 'नाट्य' कहा है। इस प्रकार शाङ्गर्देव के अनुसार नर्तन ही

---

१. अभिनयत्रयं गीतातोद्ये चेति पञ्चाङ्गं नाटचम्। अनेन तु श्लोकेन कोहलमते एकादशाङ्गत्वमुच्यते, न तु भरते।

(अभिनवभारती भाग १, पृ० २६४)

२. नाट्यशास्त्र (डॉ० पारसनाथ द्विवेदी) भूमिका पृ० ५१

नाट्य है और वह रसानुभूति का कारण है। इस प्रकार नर्तन और नाट्य एक ही तत्त्व है। उसे नर्तन कहें अथवा नटन कहें या नाट्य कहें।

उस नाट्य का शास्त्र अर्थात् नाट्यवृत्त के शासन के उपायभूत ग्रन्थ का नाम 'नाट्यशास्त्र' है। भाव यह है कि नाट्यशास्त्र नाट्य के स्वरूप को अच्छी तरह समझने का उपायभूत है। अभिनवगुप्त के अनुसार नाट्य लौकिक पदार्थों से भिन्न अनुकरण, प्रतिबिम्ब, सादृश्य, आरोप, अध्यवसाय, उत्प्रेक्षा, स्वप्न तथा इन्द्रजाल आदि लौकिक प्रतीतियों से विलक्षण, आस्वादन रूप साक्षात्कारात्मक ज्ञान से वेद्य अलौकिक रसात्मक वस्तु है। उस अलौकिक रसात्मक नाट्य का शास्त्र (शासन) नाट्यशास्त्र है।

अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र को नाट्यवेद का पर्याय माना है। अभिनवगुप्त नाट्यवेद में 'नाट्य का वेद अर्थात् शास्त्र' (नाट्यस्य वेदः शास्त्रमिति) इस प्रकार षष्ठी समास मानकर नाट्यवेद शब्द से नाट्यशास्त्र का ग्रहण करते हैं। इस प्रकार नाट्य का शास्त्र नाट्यशास्त्र है।

अन्य आचार्य नाट्यवेद शब्द से नटनीय अर्थात् अनुकरणीय नाट्य के आश्रयभूत दश रूपकों को ग्रहण करते हैं। उनके अनुसार नाट्य का यह शास्त्र नाट्यशास्त्र है। दूसरे आचार्य नटनीय अनुकरणरूप दश रूपकों को ही 'नाट्य' कहते हैं और उसके शास्त्र को नाट्यशास्त्र कहते हैं अर्थात् जिस शास्त्र में दश रूपकों का निरूपण हो उसे नाट्यशास्त्र कहते हैं। इस प्रकार दश रूपकों का प्रतिपादक ग्रन्थ नाट्यशास्त्र है।

वस्तुतः नाट्य अर्थात् अभिनय से सम्बन्धित सभी विषयों का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र नाट्यशास्त्र है। भाव यह है कि नट को नाट्यकला सम्बन्धी सभी प्रकार के विषयों में अनुशासित करने वाला शास्त्र नाट्यशास्त्र है। इस नाट्यशास्त्र के निर्माण में अनेक देवों, ऋषियों, मुनियों एवं आचार्यों का योगदान रहा है, जिनका परिचय अगले अध्याय में दिया जा रहा है।

दो :

नाट्यशास्त्रकार

नाटचशास्त्रीय ग्रन्थों में प्राप्त उल्लेखों से ज्ञात होता है कि भरत के पूर्व भी नाटचाचार्यों की एक परम्परा विद्यमान रही है। भरत ने स्वयं नाटचशास्त्र में विभिन्न प्रसङ्गों में अनेक नाटचाचार्यों का उल्लेख किया है। नाट्यशास्त्र में नाट्योत्पत्ति एवं नाट्यप्रयोग के प्रसङ्ग में ब्रह्मा, शिव, पार्वती, स्वाति, नारद, कोहल, वात्स्य, शाण्डिल्य, धूर्त्तिल (दत्तिल), करणों एवं अङ्गहारों के निरूपण के प्रसंग में तण्डु एवं नन्दी तथा अन्य प्रसंगों में कश्यप, बृहस्पति, नखकुट्ट-अश्मकुट्ट, वादरायण, शातिकर्णी आदि आचार्यों का नाट्य-शास्त्रप्रणेता एवं नाट्याचार्य के रूप में उल्लेख किया है। नाट्यशास्त्र में कुछ आनुवंश्य श्लोक एवं आर्याएँ भी प्राप्त हैं। आनुवंश्य का अर्थ है—वंश-परम्परा से प्राप्त। इसके अतिरिक्त कुछ सूत्रानुविद्ध आर्याएँ भी परम्परा से गृहीत हैं। अभिनवगुप्त ने इन आनुवंश्य श्लोकों एवं आर्याओं को वंश-परम्परा से गृहीत माना है। 'सूत्रानुविद्ध' में सूत्र शब्द से यहाँ श्लोक और कारिका का ग्रहण होता है। आनुवंश्य श्लोक संक्षेप में सूत्रार्थ का प्रकाशन करते हैं। इस प्रकार सूत्र, श्लोक तथा कारिका पर्यायवाची सिद्ध होते हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी से ज्ञात होता है कि भरत के पूर्व कृशाश्व और शिलालि नामक नाट्याचार्यों की दो परम्पराएँ विद्यमान रही हैं। इनमें शिलालि द्वारा प्रोक्त नटसूत्र का अध्ययन करने वाले नट शैलालिन् कहलाते थे। वे शिलालि-परम्परा के नट थे। दूसरे कृशाश्व की परम्परा में जो दीक्षित होते थे, वे 'कृशाश्विन्' कहलाते थे। हो सकता है कि इन शिलालि एवं कृशाश्व की परम्परा में दीक्षित नाट्याचार्य भरत के मार्गदर्शक रहे हों और इन्हीं के ग्रन्थों से आनुवंश्य श्लोकों को उन्होंने गृहीत किया हो।

इसके अतिरिक्त शाङ्र्गदेव ने सङ्गीतरत्नाकर में नाट्याचार्यों की परम्परा का उल्लेख किया है। तदनुसार सदाशिव, शिव, ब्रह्मा, भरत, कश्यप, मतंग, याष्टिक, दुर्गा, शक्ति, शार्दूल, कोहल, विशाखिल, दत्तिल, कम्बल, अश्वतर, वायु, विश्वावसु, रम्भा, अर्जुन, नारद, तुम्बुरु, आञ्जनेय, मातृगुप्त, नन्दिकेश्वर, स्वाति, राहुल, बिन्दुराज, क्षेत्रराज, रुद्रट आदि आचार्य इस परम्परा के नाट्याचार्य थे। इनके अतिरिक्त उद्भट, लोल्लट, शङ्कुक, भट्टतौत, अभिनव-गुप्त, कीर्त्तिधर, मातृगुप्त, हर्ष, भट्टयन्त्र, राहुल, नान्यदेव आदि आचार्य नाट्य-शास्त्र के व्याख्याकार हुए हैं।

नाट्यशास्त्र के प्राचीन आचार्य

ब्रह्मा एवं पद्मभू

नाट्यशास्त्र के आविष्कर्त्ता स्वयम्भू ब्रह्मा माने जाते हैं। उन्हें पद्मभू एवं द्रुहिण भी कहा गया है। शारदातनय ने उन्हें नन्दिकेश्वर का शिष्य बतलाया है। नाट्यशास्त्र में उन्हें नाट्यशास्त्र का स्रष्टा कहा गया है। नाट्यशास्त्र के अनुसार ब्रह्मा ने देवताओं के अनुरोध पर ऋग्वेद से पाठ्य, यजुर्वेद से अभिनय, सामवेद से गीत तथा अथर्ववेद से रसों को ग्रहण कर 'नाट्यवेद' नामक पञ्चम वेद की रचना की थी[१]। अभिनवगुप्त ने ब्रह्ममतप्रतिपादक नाट्यशास्त्र-विषयक एक ग्रन्थ का निर्देश किया है, जिसके कुछ अंश नाट्यशास्त्र में संगृहीत हैं[२]। दत्तिल ने ब्रह्मा को गान्धर्व का प्रवक्ता कहा है[३]। शाङ्र्गदेव ने उन्हें मद्रकादि सप्तगीतों का प्रवर्त्तक बतलाया है[४]। ब्रह्मा ने नारद को गीत, स्वाति को वाद्य और भरत को नाट्यवेद की शिक्षा देकर उन्हें नाट्यकर्म में नियोजित किया था। शारदातनय के अनुसार ब्रह्मा भरतमुनि के शिक्षक रहे हैं। उनकी वीणा का नाम 'ब्रह्मवीणा' था। उसे आदिवीणा तथा घोषवती भी कहते हैं। यह एकतन्त्री वीणा थी। एकतन्त्री वीणा में एकतार होता है, जिसमें समस्त श्रुतियाँ, ग्राम एवं मूर्च्छनाएँ उपस्थित रहती हैं[५]। इसे ही समस्त वीणाओं की जननी कहा जाता है। ब्रह्मा के अनुसार नाट्य में आठ रस होते हैं[६]। नाट्य-शास्त्र से ज्ञात होता है कि ब्रह्माजी ने 'अमृतमन्थन' नामक समवकार की रचना की थी[७]। भरतार्णव के अनुसार ब्रह्मा ब्राह्म स्थानक के जनक थे[८]।

शिव एवं सदाशिव

शारदातनय के अनुसार नाट्यवेद के आविष्कर्त्ता शिव हैं, ब्रह्मा नहीं। शिव ने नाट्य का सृजन कर तण्डु (नन्दिकेश्वर) को शिक्षा दी थी[९]।

---

१. नाट्यशास्त्र (चौखम्बा) १।१६-१८ तथा अभिनयदर्पण ८।

२. एतेन सदाशिवब्रह्मभरतमतत्रयविवेचनेन ब्रह्ममतसारताप्रतिपादनाय···। (अभिनवभारती भाग १, पृ० ९)

३. दत्तिलम् पृ० २।

४. संगीतरत्नाकर भाग ३, पृष्ठ २९।

५. श्रुतयोऽथ स्वरा मूर्च्छास्तास्ता नानाविधास्तथा।
एकतन्त्रीवीणायां सर्वमेतत्प्रतिष्ठितम्॥ (भरतभाष्य; नान्यदेव)

६. तस्मान्नाट्यस्य रसा अष्टाविति पद्मभुवो मतम्। (भावप्रकाशन पृ० ४७)

७. नाट्यशास्त्र (गायकवाड़) पृ० ८५-८६।

८. भरतार्णव ६८८।

९. भावप्रकाशन पृ० ५५-५७।

भरतार्णव के अनुसार शिव शुद्धनाट्य के जनक थे[1]। शुद्धनाट्य के अन्तर्गत सात प्रकार के ताण्डव सम्मिलित हैं। नन्दिकेश्वरकाशिका के अनुसार शिव के डमरू से चौदह सूत्र निकले हैं। इनमें निर्दिष्ट स्वर ही सांगीतिक स्वरों के आधार हैं। इन्हीं परमशिव के प्रसन्नता भरे नृत्यों से नृत्यकला का आविर्भाव हुआ है[2]। ताण्डव नृत्त के जनक शिव माने जाते हैं[3]। मालविकाग्निमित्र में कहा गया है कि अर्द्धनारीश्वर शिव ने उमा से विवाह करके अपने ही अंग को 'ताण्डव' और 'लास्य' दो रूपों में विभक्त कर दिया था[4]। नाट्यशास्त्र के अनुसार शिव ने करणों एवं अंगहारों से युक्त नृत्य की रचना कर तण्डु को सिखाया था[5]। तण्डु के द्वारा उपदिष्ट वह नृत्त ताण्डव कहलाया। इस प्रकार नाट्य एवं नृत्त के विकास में शिव 'नटराज' के रूप में विश्रुत रहे हैं। इसलिए उन्हें 'नटराजराज' कहा जाता है। नन्दिकेश्वर ने शिव को नाट्य रूप बतलाया है। उनका कहना है कि यह समस्त भुवन शिव का आङ्गिक अभिनय है, समस्त वाङ्मय वाचिक अभिनय है तथा चन्द्र, तारा आदि आहार्य अभिनय है और स्वयं शिव सात्त्विक रूप हैं[6]। शिवमत का प्रतिपादक 'औमापतम्' नामक एक ग्रन्थ उपलब्ध है, जिसमें स्वर, मूर्च्छना, जाति, प्रबन्ध, राग आदि का विवरण मिलता है[7]। किन्तु यह भरत-सम्प्रदाय से भिन्न प्रतीत होता है। सम्भव है कि इस ग्रन्थ की रचना शिवमत की रक्षा के लिए किसी परवर्ती आचार्य ने की हो। शिव की वीणा का नाम अनालम्बी है। सदा मण्डलकारी होने के कारण इन्हें 'सदाशिव' तथा 'परमशिव' भी कहते हैं। अभिनव ने अभिनवभारती में ब्रह्ममत के साथ शिवमत का भी उल्लेख किया है[8]। शारदातनय[9] ने रसस्वरूप के प्रसंग में सदाशिव के मत का उल्लेख किया है। धनञ्जय और अभिनवगुप्त ने 'सदाशिव' के मत का उल्लेख किया है और उन्हें 'नाट्याचार्य' कहा है।

पार्वती एवं गौरी

नाट्यशास्त्र और अभिनयदर्पण के अनुसार भगवती पार्वती ने 'लास्य'

---

१. भरतार्णव (शुद्धनाट्यं शिवश्चक्रे) पृ० ७६३।
२. नाट्यशास्त्र-भूमिका (डॉ० पारसनाथ द्विवेदी द्वारा लिखित) पृ० ३८
३. नाट्यशास्त्र (गायकवाड़) पृ० १९१।
४. रुद्रेणेदमुमाव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा।
५. नाट्यशास्त्र भाग १, पृ० ८७-८८।
६. अभिनयदर्पण १।
७. नाट्यशास्त्र की भूमिका (डॉ० पारसनाथ द्विवेदी कृत) पृ० ३८।
८. अभिनवभारती भाग १, पृष्ठ ९।
९. भावप्रकाशन, पृ० १५२।

का आविष्कार किया था। भरतार्णव में उन्हें देशी नाट्य की सर्जिका कहा गया है। उन्होंने लास्य की शिक्षा बाणासुर की पुत्री उषा को दी थी। उषा ने द्वारका की स्त्रियों तक पहुँचाया तथा वहाँ से लोक में प्रचलित हुआ। लास्य नृत्य का सम्बन्ध पार्वती की सुकुमार भाव-भङ्गिमाओं से माना जाता है। नन्दिकेश्वर ने भरतार्णव में पार्वती के ग्रन्थ का नाम 'भरतार्थचन्द्रिका' बतलाया है[1]। जिसमें हस्ताभिनय का विस्तृत विवेचन किया गया होगा और जिसका संक्षिप्त विवरण भरतार्णव में प्रतिपादित है। ऐसा प्रतीत होता है कि भरतार्थचन्द्रिका में पार्वती के द्वारा प्रतिपादित नाट्य एवं नृत्य के सभी रूपों पर विचार किया गया होगा। किन्तु यह ग्रन्थ आज अनुपलब्ध है, केवल उद्धरणमात्र से उसकी सत्ता जानी जाती है।

याज्ञवल्क्य

याज्ञवल्क्य वैदिककालीन ऋषि हैं। उन्होंने शुक्लयजुर्वेद का सम्पादन किया था। उपनिषदों में भी इनकी चर्चा है, किन्तु वहाँ वे एक अध्यात्मवेत्ता के रूप में चर्चित हैं। उनका यजुर्वेद से सम्बन्धित 'याज्ञवल्क्य-शिक्षा' शिक्षाशास्त्र का प्रमुख ग्रन्थ है। इसमें वैदिक स्वरों के विवेचन के साथ सांगीतिक स्वरों का भी विवेचन है। याज्ञवल्क्य ने गान्धर्ववेदोक्त सात स्वरों का सम्बन्ध उदात्त, अनुदात्त और स्वरित से बतलाया है। उनका 'याज्ञवल्क्य-स्मृति' नामक एक स्मृतिग्रन्थ भी प्राप्त है, जिसमें बतलाया गया है कि सामगीतों के गायन के साथ मद्रक, अपरान्तक, प्रकरी, सरोविन्दु, ओवेणक, उल्लोप्यक और उत्तर नामक सात प्रकार के गीतों का भी उल्लेख किया है। नाट्यशास्त्र में भी किञ्चित् परिवर्तन के साथ इनका उल्लेख है, किन्तु नाट्यशास्त्र में 'सरोविन्दु' के स्थान पर 'रोविन्दक' और मद्रक के स्थान पर 'मन्द्रक' पाठ पाया जाता है।

नन्दिकेश्वर ने याज्ञवल्क्य का नाट्यविशेषज्ञ के रूप में उल्लेख किया है[2]। भरतार्णव में याज्ञवल्क्य के 'भरतार्णवलक्षण' नामक ग्रन्थ का उल्लेख है, जिसमें नाट्य सम्बन्धी विचारों का प्रतिपादन किया गया होगा और उसके किसी अध्याय में ताण्डवों एवं गतियों में नाट्य शब्दों की योजना का क्रम भी प्रतिपादित किया गया होगा[3]। भरतार्णव से ज्ञात होता है कि नन्दिकेश्वर

---

१. भरतार्थचन्द्रिकायां भूधरराजदुहितृरचितायाम्।
नानार्थहस्तमुद्रासुमते बहुधास्ति तत्र सङ्क्षिप्तम्॥
(भरतार्णव १०।६३६)

२. आचार्याः बहवस्सन्ति भरतार्थविचक्षणाः।
तेषु नाट्यविशेषज्ञो याज्ञवल्क्यो महामुनिः॥ (वही ७१०-७११)

३. भरतार्णव ७६५-७६६।

को याज्ञवल्क्य के 'भरतार्णवलक्षण' नामक ग्रन्थ की जानकारी थी। तभी तो उनके सिद्धान्तों का उपदेश सुमति को दिया होगा। इससे ज्ञात होता है कि याज्ञवल्क्य नाट्यशास्त्र एवं संगीतशास्त्र के प्रख्यात आचार्य थे।

बृहस्पति

नन्दिकेश्वर ने भरतार्णव में बृहस्पति के मतानुसार सत्ताईस हस्तविनियोगों का निरूपण किया है[1]। नाट्यशास्त्र में भी बृहस्पति के मत का उल्लेख है। इससे प्रतीत होता है कि बृहस्पति ने नाट्यशास्त्र पर कोई ग्रन्थ अवश्य लिखा होगा, किन्तु आज वह उपलब्ध नहीं है। शार्ङ्गदेव ने 'षड्ज' नामक राग का देवता 'बृहस्पति' बतलाया है। अभिनयभूषण में बृहस्पति का संगीताचार्य के रूप में उल्लेख है। कहा जाता है कि बृहस्पति ने स्वर-साधन किया था। स्वर-साधन के लिए प्राणतत्त्व की महती आवश्यकता होती है। जब गायक की श्वासोच्छ्वास की विधा में पूर्ण नियमन होता है तभी वह स्वरों को दीर्घ श्वास में गा सकता है। बृहस्पति को स्वर-साधना थी। सम्भव है कि संगीत विषय पर उनका कोई ग्रन्थ रहा हो जो कालकवलित हो गया हो। कौटिल्य और वात्स्यायन ने उन्हें अर्थशास्त्र का प्रणेता बतलाया है। बृहस्पति के मत का प्रतिपादक ग्रन्थ 'बार्हस्पत्य-अर्थशास्त्र' प्रकाशित हुआ है, किन्तु वह बृहस्पति की रचना नहीं प्रतीत होती।

नारद

नारद ब्रह्मा के शिष्य एवं गान्धर्व के प्रतिपादक आचार्य थे। ब्रह्मा ने नाट्यवेद का निर्माण कर नारद को नाट्य-प्रयोग में नियुक्त किया था[2]। महाभारत में नारद को 'गान्धर्ववेद' का प्रवर्त्तक कहा है[3]। नाट्यशास्त्र के अनुसार भरत ने नारद-निरूपित सिद्धान्तों के आधार पर 'गान्धर्व' का प्रतिपादन किया है[4]। दत्तिल के अनुसार भूतल पर गान्धर्व के प्रचार का श्रेय नारद को है[5]। नाट्यशास्त्र के अनुसार नारद ने ऋचा, गाथा, पाणिका गीतों और वीणा आदि वाद्यों का निरूपण गान्धर्व के अन्तर्गत किया है[6]। शारदा-

---

१. भरतार्णव ४।१३९-२०५।

२. नारदाद्याश्च गन्धर्वा नाट्ययोगे नियोजिताः।
(नाट्यशास्त्र; काशी संस्करण)

३. महाभारत-शान्तिपर्व १६८।५८।

४. गान्धर्वमेतत्कथितं मया हि पूर्वं यदुक्तं त्विह नारदेन।
(नाट्यशास्त्र : काशी संस्करण ३२।४८४)

५. दत्तिलम्, पृ० २।

६. नाट्यशास्त्र (गायकवाड़) ३२।१; ३४।२।

तनय ने रस के प्रसंग में नारद के मत का उल्लेख किया है[१]। नारद के दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं—'पञ्चमसारसंहिता' और 'नारदीय शिक्षा'। नारद के अनुसार ग्रामरागों का प्रयोग लोक में न होकर स्तुतियों एवं यज्ञ के अवसर पर करना चाहिए। नारद निर्गीत अर्थात् बहिर्गीत के आविष्कारक कहे जाते हैं। नारद की वीणा का नाम महती है। इनकी वीणा में इक्कीस तार थे, जिनमें तीनों सप्तक मिले रहते थे और तीनों ग्राम तथा इक्कीस मूर्च्छनाएँ स्पष्ट होती थी[२]। नारद को गान्धार ग्राम का उपदेष्टा कहा गया है और भरतार्णव में उन्हें चतुरस्र एवं पार्ष्णिपीड स्थानकों का निर्माता कहा गया है। नारद के सिद्धान्तों का प्रतिपादक 'संगीतमकरन्द' नामक एक ग्रन्थ प्राप्त हुआ है, किन्तु यह नारद की रचना नहीं प्रतीत होती; बल्कि नारदमतानुयायी किसी अन्य की रचना प्रतीत होती है।

तुम्बुरु

नाट्यशास्त्र के अनुसार तुम्बुरु नारद के समकालिक आचार्य थे। वाल्मीकिरामायण में तुम्बुरु का उल्लेख अप्सराओं के गानशिक्षक के रूप में हुआ है[३]। संगीतरत्नाकर में अवनद्धवाद्य के आचार्य के रूप में इनका उल्लेख है[४]। अभिनवगुप्त के अनुसार तुम्बुरु का नाट्यविषयक कोई ग्रन्थ अवश्य रहा है, क्योंकि उन्होंने अभिनवभारती में रेचकों के प्रसंग में तुम्बुरु का मत उद्धृत किया है[५]। नान्यदेव ने तीन ग्रामों की विभिन्न तानों के लिए 'तुम्बुरु' को प्रमाणभूत माना है[६]। शुभंकर ने संगीतदामोदर में तुम्बुरु के 'तुम्बुरु नाटक' नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है[७]। रघुनाथ भूपाल ने 'संगीतसुधा' में तानों के विवरण में 'तुम्बुरु' का उल्लेख किया है। तुम्बुरु की वीणा का नाम 'कलावती' है (**तुम्बुरोस्तु कलावती**)[८]। प्राचीन तमिल-साहित्य के अनुसार तुम्बुरु की वीणा में नौ तार थे। बृहद्देशी में तुम्बरु की स्वर-द्रष्टा के रूप में गणना है। उन्हें ही 'धैवत' और 'निषाद' स्वरों का दर्शन हुआ

---

१. भावप्रकाशन पृ० ४७-४८।

२. भरतभाष्य (नान्यदेव)।

३. वाल्मीकिरामायण २।९।१८।

४. संगीतरत्नाकर ६।१९।

५. 'तुम्बुरेणेदमुक्तम्—अङ्गहाराभिधानात्तु करणैः रेचकान् विदुः'।
(अभिनवभारती भाग १, पृ० १६३)

६. भरतभाष्य (नान्यदेव) पृ० १५।

७. संगीतदामोदर (शुभंकर)।

८. अभिधानचिन्तामणि (देवकाण्ड २८९)।

था[1]। किन्तु इनका सम्प्रदाय भरत-सम्प्रदाय से सर्वथा भिन्न है। इनके मतानुसार मूर्च्छना का तात्पर्य श्रुति-मार्दव लिया जाता है[2]। भरतार्णव के अनुसार तुम्बुरु समपादस्थान के जनक थे[3]। इस प्रकार तुम्बुरु नारद के समकालिक रहे हैं, क्योंकि नारद के साथ तुम्बुरु का नामोल्लेख भी मिलता है और अभिनवगुप्त जैसे आचार्यों ने उनका प्रमाणभूत आचार्य के रूप में उल्लेख किया है। पुराणों में तुम्बुरु को नारद से श्रेष्ठ बतलाया गया है।

स्वाति

नाट्यशास्त्र के अनुसार ब्रह्मा ने स्वाति को नाट्य-प्रयोग में वाद्यवादन के लिए नियुक्त किया था। वे संगीतशास्त्र के एक प्रामाणिक आचार्य माने जाते हैं। भरत ने आतोद्य वाद्यों के वादन-विधि के प्रतिपादन के अवसर पर स्वाति के मत का अनुसरण किया है[4]। स्वाति अवनद्ध वाद्य के आविष्कारक हैं। इन्होंने पुष्कर-कमल के पत्ते पर वर्षा की बूँदों के गिरने से उत्पन्न मधुर ध्वनि के अनुकरण पर अनेक प्रकार के पुष्कर-वाद्यों का आविष्कार किया है। इन्होंने विश्वकर्मा की सहायता से मृदंग, दुन्दुभि आदि वाद्यों की रचना की है[5]। स्वाति विपञ्ची वीणा के वादक थे। विपञ्ची वीणा के नौ तार होते हैं, जिन पर क्रमशः षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद और काकली एवं आन्तर स्वरों का गायन होता था[6]। इस प्रकार स्वाति भाण्डवाद्य के आचार्य और पुष्करवाद्यों के उद्भावक थे। आज उनका वाद्य-विषयक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, किन्तु नाट्यशास्त्रकार भरत के सम्मुख उनका लक्षण-ग्रन्थ अवश्य विद्यमान था।

शिलालि एवं कृशाश्व

नाट्यशास्त्र एवं अन्य ग्रन्थों के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि नाट्यशास्त्र के पूर्व नाट्य एवं संगीत के आचार्यों की एक परम्परा रही है। उनमें शिलालिन् एवं कृशाश्व नामक नटसूत्रों के निर्माता दो आचार्यों का उल्लेख

---

१. धैवतश्च निषादश्च गीतौ तुम्बुरुणा स्वरौ।
(बृहद्देशी-स्वरनिर्णय पृ० ८३)

२. श्रुतिमार्दवमेव स्यान्मूर्च्छनेत्याह तुम्बुरुः।
(हरपाल, भारतीय साहित्य पृ० ६५)

३. भरतार्णव पृ० ६८५।

४. नाट्यशास्त्र (गायकवाड़) अध्याय ३४।

५. नाट्यशास्त्र (गायकवाड़) अध्याय ३४।२-९।

६. विपञ्च्यां नवतन्त्रीषु स्वराः सप्त तथा पराः।
काकल्यान्तरसंज्ञौ च द्वौ स्वरावित्यभानि च॥
(भरतभाष्य — नान्यदेव)

पाणिनि की अष्टाध्यायी में मिलता है'[१] । वेबर, कोनो, सिल्वाँ लेवी, हिडब्राण्ड प्रभृति विद्वानों का मानना है कि वे नटसूत्र नाट्य (अभिनय) एवं नृत्य कला के प्रतिपादक मौलिक ग्रन्थ रहे होंगे और कालान्तर में उनका लोप हो गया होगा अथवा नाट्यशास्त्र बन जाने पर उनमें उनका अन्तर्भाव हो गया होगा[२] । पाणिनि के समय 'शिलालि' से सम्बद्ध एक वैदिक शाखा थी, जिसके अनुयायी 'शैलाल' कहे जाते थे[३] । इनसे पार्थक्य दिखलाने के लिए सम्भवतः पाणिनि ने शिलालिन् एवं कृशाश्व द्वारा रचित नटसूत्रों का निर्देश किया होगा, जिन्हें आम्नायवत् प्रतिष्ठा प्राप्त थी[४] । पाणिनि के अनुसार शिलालि शब्द से णिनि (इन्) प्रत्यय होकर 'शैलालिन्' और कृशाश्व शब्द से 'इन्' प्रत्यय होकर 'कृशाश्विन्' शब्द बनते हैं । इनमें जो शिलालि के द्वारा प्रोक्त नटसूत्र का अध्ययन करते थे, वे 'शैलालिन्' और जो कृशाश्व की परम्परा में दीक्षित होते थे, वे 'कृशाश्विन्' कहलाते थे[५] । इससे प्रतीत होता है कि पाणिनि के समय शैलालिन् और कृशाश्विन् सम्प्रदाय के नटों की दो विभिन्न परम्पराएँ विद्यमान रही हैं और नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों का निर्माण होने लगा था । डॉ० दासगुप्त के अनुसार 'शैलालिन्' और 'कृशाश्विन्' ये दोनों नाट्य और नृत्य की दो संस्थाएँ थीं । शिलालि की संस्था में नाट्य की शिक्षा दी जाती थी और कृशाश्व की संस्था में नृत्य में दीक्षित किया जाता था[६] । इनमें शिक्षा देनेवाले को 'शौभिक' कहा जाता था ।

कश्यप या काश्यप

अग्निपुराणकार ने कश्यप का छन्दःशास्त्रकार के रूप में उल्लेख किया है[७] । काव्यादर्श की टीका हृदयङ्गमा में काश्यप को अलङ्कारशास्त्र का प्रणेता बतलाया गया है[८] । अभिनवगुप्त ने कश्यप का नाट्यशास्त्रप्रणेता एवं संगीता-

---

१. (क) 'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः' (४।३।१२०) ।
(ख) 'कर्मन्दकृशाश्वादिनिः' (४।३।१११) ।

२. आचार्य नन्दिकेश्वर और उनका नाट्य-साहित्य (डॉ० पारसनाथ द्विवेदी पृ० ८६-८७) ।

३. आपस्तम्ब एण्ड बाह्वृच ब्राह्मण (कीथ) पृ० ४९८ ।

४. भिक्षुनटसूत्रयोः छन्दस्त्वम् (काशिकावृत्ति) ।

५. शिलालिना प्रोक्तं नटसूत्रमधीयते शैलालिनो नटाः । कृशाश्वेन प्रोक्तं नटसूत्रमधीयते कृशाश्विनो नटाः । (सिद्धान्तकौमुदी पृ० २६४)

६. संस्कृत साहित्य का इतिहास (दासगुप्त) पृ० ६३७ ।

७. अग्निपुराण ३३६।२२ ।

८. पूर्वेषां काश्यपवररुचिप्रभृतीनामाचार्याणां लक्षणशास्त्राणि संहृत्य पर्यालोच्य···।। (काव्यादर्श, हृदयङ्गमा १।२ तथा ११।७)

चार्य के रूप में उल्लेख किया है। संगीतरत्नाकर में शाङ्‌र्गदेव ने काश्यप का नामोल्लेख प्राचीन संगीताचार्य के रूप में किया है[1]। नान्यदेव ने भरतभाष्य में कश्यप का मत उद्धृत किया है[2]। अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में रागों के विनियोग-निरूपण के अवसर पर कश्यप के नाम से पचहत्तर रत्नों को उद्धृत किया है; यथा—

"अत्र टीकाकारः शङ्कते। योऽयं जात्यंशकानां विनियोग उक्तः सः कश्यपमुनिमतङ्गादिर्भिविरुद्धयते। तथा हि तैरुक्तम्—

'सम्भोगे चैव शृङ्गारे प्रेङ्खोलितक्रमेण च।
कामभूतेषु सर्वेषु कुर्यान्मालवकैशिकम्॥
भिन्नषड्जो मानदैन्ये चैकान्ताजीवितस्य च'॥

इत्यादि। न च ते रसजातय एतेषु मतेषु। रसेषु विनियुक्ताः। येन विरोधः स्यात्।

अत्राहुः—काश्यपाद्यैस्तावन्मालवकैशिकादीनां तत्तच्चित्तवृत्त्या जीवनौचित्यं दृष्ट्वा विनियोग उक्तः।"

(अभिनवभारती भाग ४, पृ० ६९)

इसके बाद अभिवगुप्त रागविनियोग-विषयक श्लोकों को उद्धृत करने के उपक्रम में कहते हैं—

"तत्तल्लक्ष्यप्रबन्धगानोपयोगि कश्यपाद्युद्दिष्टं विनियोगजातं कथ्यते"।

फिर पचहत्तर श्लोकों कोउद्धृत करने के पश्चात् अन्तिम पंक्ति में कहते हैं—

"इत्येष कश्यपाद्युक्तो विनियोगो निरूपितः।"

(अभिनवभारती भाग ४, पृ० ७२-७८)

इस प्रकार अभिनवगुप्त के अनुसार नाट्यशास्त्र का रागविनियोग-विषयक मत कश्यप के सिद्धान्त पर आधारित है। उसके अतिरिक्त अभिनव ने कश्यप के आधार पर राग और रस में मतैक्य स्थापित किया है। उनका कहना है कि भरत ने इन्हीं के आधार पर रागों का विवेचन किया है। अभिनव ने कश्यप को 'कौशिक' राग का जनक बतलाया है। कश्यप के अनुसार ग्रामराग अंश, न्यास, अल्पत्व, बहुत्व आदि दश लक्षणों से लक्षित होता है। कश्यप के इस मत को मतङ्ग ने बृहद्देशी में उद्धृत किया है—

'यथा चाह कश्यपः—

क्वचिदंशः क्वचिन्न्यासः षाडवौडुविते क्वचित्।
अल्पत्वं च बहुत्वं च ग्रहापन्यासंयुतम्॥

---

१. संगीतरत्नाकर, प्रथम स्वरगताध्याय।

२. भरतभाष्य (नान्यदेव)।

मन्द्रतारौ च ज्ञात्वा योजनीयं मनीषिभिः ।
ग्रामरागाः प्रयोक्तव्या विधिवद् दशरूपके ।।
(बृहद्देशी पृ० १०३-१०४)

भरत ने कश्यप द्वारा प्रतिपादित दस लक्षणों को जाति का विशिष्ट लक्षण बतलाया है। कश्यप 'कैशिक' राग के उद्भावक माने जाते हैं। इस प्रकार कश्यप काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र, संगीतशास्त्र और छन्दःशास्त्र के आचार्य के रूप में विश्रुत रहे हैं और भरत के पूर्ववर्त्ती रहे हैं। कश्यप के 'काश्यपसंहिता' नामक ग्रन्थ का पता चला है, किन्तु वह उपलब्ध नहीं है।

विशाखिल

विशाखिल भरत के पूर्ववर्त्ती एक प्रसिद्ध आचार्य थे। भरत ने ताल और सुषिर वाद्यों में अंगुलिस्थापन के सम्बन्ध में विशाखिल का मत उद्धृत किया है। भरत के अनुसार विशाखिल के मत में वंश पर आरोहावरोह शारीर वीणा के अनुसार किया जाना चाहिए[१]। अभिनवगुप्त 'धातूँश्चैव निबोधत' में प्रयुक्त 'एव' शब्द का तात्पर्य बतलाते हुए कहते हैं कि चतुष्प्रहरण, त्रिप्रहरण, अंगुलि-विभाग, दो वृत्तियाँ समालेखा और चित्रलेखा इत्यादि विशाखिलाचार्य के द्वारा कथित बहुत-सी बातों को मैंने नहीं कहा है[२]। इससे ज्ञात होता है कि भरत विशाखिल से परिचित थे। अभिनवगुप्त के अनुसार भरत ने विशाखिल की बहुत-सी मान्यताओं को स्वीकार किया है। भरत ने लास्याङ्गों के विवेचन में विशाखिल के मत का अनुसरण किया है[३]। विशाखिल ने स्वर, पद तथा ताल के समवाय को गान्धर्व कहा है[४]। तदनुसार भरत ने भी स्वर, पद एवं ताल के समवाय को 'गान्धर्व' कहा है[५]। शाङ्गर्देव ने विशाखिल की गणना कोहल, कश्यप, दत्तिल आदि आचार्यों के साथ की है। नान्यदेव ने विशाखिल के आधार पर तीनों ग्रामों के तानों का निरूपण किया है। नान्यदेव के अनुसार

---

१. शारीरवद्वंश्यानामारोहणमवरोहणं चेति विशाखिलाचार्यः ।
(अभिनवभारती भाग ४, पृ० १४३)

२. एवकारेण चतुष्प्रहरणं त्रिप्रहरणमङ्गुलीनां विभागो द्वे वृत्ती समलेखा-चित्रलेखेत्यादिकं विशाखिलाचार्यप्रोक्तं सर्वथैव ध्रुवागानवैकल्योपयोगान्मया नोक्तमिति । (अभिनवभारती भाग ४, पृ० ९४-९५)

३. विशाखिलादिलक्षितं सर्वमेव लास्यगानं स्वीकृतमुपलक्षितं च ।
(अभिनवभारती भाग ४, पृ० २७०)

४. तथा च विशाखिलाचार्यः—'स्वरपदतालसमवाये तु गान्धर्वम्' इति ।
(अभिनवभारती भाग ४, पृ० ७)

५. गान्धर्वं त्रिविधं विद्यात्स्वरतालपदात्मकम् ।
(नाट्यशास्त्र, गायकवाड़ २८।११)

विशाखिल ने तीनों ग्रामों के तानों का जैसा विवेचन किया है वैसा भरत के नाट्यशास्त्र में नहीं है[1]। काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति और कुट्टनीमत में विशाखिल को कलाशास्त्रकार के रूप में उद्धृत किया गया है[2]। किन्तु विशाखिल का कोई ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है।

वासुकि

नाट्यशास्त्र में वासुकि अथवा महानाग का उल्लेख देवताओं के साथ हुआ है। शारदातनय ने भावप्रकाशन में रसोत्पत्ति के प्रसंग में वासुकि का मत उद्धृत किया है। उनका कहना है कि जिस प्रकार नाना प्रकार के द्रव्य, औषधि तथा पाक से व्यञ्जनों की भावना (अभिव्यक्ति या संस्कार) होती है, उसी प्रकार भाव अभिनयों के साथ मिलकर रसों को भावित करते हैं, निष्पन्न करते हैं, अभिव्यक्ति करते हैं। इस प्रकार भावों से रस की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार वासुकि ने कहा है कि भावों से रस निष्पन्न होते हैं—

'नानाद्रव्यौषधैः पाकैर्व्यञ्जनं भाव्यते यथा।
एवं भावा भावयन्ति रसानभिनयैः सह॥
इति वासुकिनाप्युक्तो भावेभ्यो रससम्भवः'।

(भावप्रकाशन, गायकवाड़ पृ० ३७)

इस प्रकार का लेख नाट्यशास्त्र के षष्ठ अध्याय में भी मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि नाट्यशास्त्र में यह लेख वासुकि के ग्रन्थ से उद्धृत किया गया होगा।

'नानाद्रव्यैर्बहुविधैर्व्यञ्जनं भाव्यते यथा।
एवं भावा भावयन्ति रसानभिनयैः सह'॥

(नाट्यशास्त्र ६।३६)

वासुकि ने जो रसों की उत्पत्ति कही थी, उसी को नारद ने दूसरे प्रकार से कल्पित किया है। शारदातनय के अनुसार वासुकि का प्रभाव नारद पर परिलक्षित होता है। नारद ने वासुकि के अनुसार रस की व्याख्या की है। इस प्रकार भावों से रस की उत्पत्ति होती है, यह वासुकि का मत है। इसी को नारद, भरत आदि प्रकारान्तर से व्याख्यात करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वासुकि का कोई रसशास्त्र-विषयक ग्रन्थ रहा होगा जो आज अनुपलब्ध है।

याष्टिक

याष्टिक मुनि कदली वन में रहते थे। एक समय वे दक्ष आदि शिष्यों को शिक्षा दे रहे थे तो शिष्यों ने उनसे प्रश्न किया कि सात शुद्ध स्वर और बारह

---

१. भरतभाष्य(नान्यदेव)सन्दर्भ—भारतीय संगीत का इतिहास पृ० ४६९।

२. (क) काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति (वामन) १।३।७।
(ख) कुट्टनीमत (गाथा १२३)।

विकृत स्वरों में एक स्वर की अधिक-से-अधिक चार श्रुतियाँ और कम-से-कम दो श्रुतियाँ होती हैं; किन्तु देशी रागों में पाँच, छः, सात श्रुतियाँ भी मिलती हैं। इस प्रकार शास्त्र-विरोध है, किन्तु इनके परित्याग से रागलाभ नहीं होता है। याष्टिक मुनि ने विरोध का परिहार इस प्रकार कर दिया कि शास्त्र-विरोध भी न रहा और रागप्राप्ति भी हो गई। इस प्रकार याष्टिक ने लक्ष्याविरोधी सिद्धान्त का प्रवर्त्तन किया[१]। रघुनाथ के अनुसार याष्टिक मुनि ने आञ्जनेय (हनुमान्) को संगीतशास्त्र का उपदेश दिया था।

शार्ङ्गदेव ने संगीतरत्नाकर में याष्टिक का संगीताचार्य के रूप में उल्लेख किया है[२]। रत्नाकर के टीकाकारों ने राग-प्रकरण में अनेक स्थानों पर याष्टिक के मतों की सादर चर्चा की है[३]। मतंग मुनि ने बृहद्देशी में याष्टिक का ससम्मान उल्लेख करते हुएउनके मतों को भी उद्धृत किया है। मतंग ने भाषा-रागों के लक्षण और गीतिभेद आदि याष्टिक के मतानुसार वर्णित किये हैं[४]। याष्टिक के मत का प्रतिपादक ग्रन्थ **'याष्टिक-संहिता'** है। यह ग्रन्थ आज अनुपलब्ध है। मतंग ने बृहद्देशी में 'याष्टिक-संहिता' से अनेक श्लोक उद्धृत किये हैं।

मतंग का समय ईसा का प्रथम शतक माना जाता है। अतः याष्टिक मुनि का समय इनसे कुछ पूर्व अर्थात् ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी मानना चाहिए।

याष्टिक मुनि ने दो ग्रामों का उल्लेख किया है। उनके मतानुसार ग्राम से ग्रामराग उत्पन्न होते हैं। उन्होंने ग्रामराग से भाषा, भाषा से विभाषा और विभाषा से अन्तरभाषा की उत्पत्ति बतायी है। उन्होंने ग्रामराग को देशीराग कहा है और देशीराग के तीन भेद बताये हैं—भाषा, विभाषा और अन्तरभाषा।

आञ्जनेय (हनुमद्भरत) और याष्टिक

जीवनवृत्त—आञ्जनेय हनुमन्मत के प्रवर्त्तक आचार्य हैं। आञ्जनेय के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में कुछ विशेष जानकारी नहीं मिलती। भारतीय परम्परा के अनुसार वे अञ्जना और मरुत् (वायु) के पुत्र थे। अञ्जना के पुत्र होने के कारण उन्हें 'आञ्जनेय' और मरुत् का पुत्र होने से 'मारुति' कहा जाता है। भावप्रकाशन के रचयिता शारदातनय ने 'आञ्जनेय' और 'मारुति' दोनों का उल्लेख किया है[५]। इन्हीं का अपर नाम 'हनुमान्' भी है। शार्ङ्गदेव

---

१. भरत का संगीत सिद्धान्त, पृ० २९६।

२. संगीतरत्नाकर, प्रथम भाग, श्लोक १५-१७।

३. वही, द्वितीय भाग, पृ० ५-८, ३०-३३।

४. बृहद्देशी पृ० ८२, १०५, ११३, ११७, १२५, १२८।

५. भावप्रकाशन, पृ० ११४, २५१।

आदि आचार्यों ने हनुमन्मत का उल्लेख किया है। तमिल भाषा में प्राप्त 'पञ्च-भारतीयम्' नामक ग्रन्थ में पाँच भरतों के मतों का उल्लेख प्राप्त होता है। उनमें 'हनुमद्भरत' का उल्लेख भी प्राप्त होता है। 'हनुमद्भरत' नामक ग्रन्थ का निर्देश सरस्वती महल पुस्तकालय की सूची में क्रम संख्या १–४ पर प्राप्त होता है। सम्भव है कि यह आञ्जनेय की रचना हो, क्योंकि इससे हनुमन्मतानुसार सङ्गीत और नृत्य पर विचार किया गया है[१]। इस प्रकार हनुमान् (आञ्जनेय) एक भरत प्रतीत होते हैं, जिन्होंने स्वर, ग्राम, मूर्च्छना, राग-रागिनियों पर विचार किया है।

सङ्गीतसुधा के रचयिता रघुनाथ के अनुसार एक बार आञ्जनेय भ्रमण करते हुए कदली वन पहुँचे। वहाँ याष्टिक मुनि दक्ष आदि शिष्यों को शिक्षा दे रहे थे। उस समय याष्टिक मुनि के उपदेश (व्याख्यान) में देशी रागों और उनके स्वरों की श्रुतियों में विरोध देखकर दक्ष आदि शिष्यों ने याष्टिक मुनि से पूछा कि सात शुद्ध और बारह विकृत स्वरों में एक स्वर की अधिक से अधिक चार और कम से कम दो श्रुतियाँ होती हैं, किन्तु देशी रागों में पाँच, छः, सात श्रुतियाँ भी मिलती हैं। इस प्रकार शास्त्र-विरोध है, किन्तु इनके परित्याग से रागलाभ नहीं होता। याष्टिक मुनि ने विरोध-सम्बन्धी शंका का परिहार इस प्रकार कर दिया कि शास्त्र-विरोध भी न रहा और राग-प्राप्ति भी हो गई। याष्टिक मुनि द्वारा उपदिष्ट गायन-शैली और उनके शिष्यों की गान-शैली को ध्यान में रख कर आञ्जनेय ने लक्ष्याविरोधी शास्त्र की रचना की[२]।

इनके अतिरिक्त सङ्गीत-रत्नाकर के टीकाकार कल्लिनाथ ने आञ्जनेय के मत की चर्चा की है। दामोदर पण्डित ने सङ्गीत-दर्पण में हनुमन्मतानुसार राग-रागिनियों का विवेचन किया है[३]। लोचन ने रागतरङ्गिणी में हनुमान् (आञ्जनेय) का सादर उल्लेख किया है और उनके मतों का उपयोग किया है। उन्होंने राग-रागिनी का निरूपण हनुमन्मत की पृष्ठभूमि में किया है। इससे ज्ञात होता है कि आञ्जनेय सङ्गीतशास्त्र के एक प्रतिष्ठित आचार्य थे। भारतीय सङ्गीत के आचार्यों ने उनका तथा उनके मतों का सादर उल्लेख किया है।

प्रो० रामकृष्ण कवि ने वेङ्कटमंखी को हनुमन्मत का अनुयायी बताया है। उनके अनुसार वेङ्कटमंखी ने हनुमन्मत के आधार पर राग का विवेचन किया है। उनका मत हनुमन्मत ही कहा जाता है[४]।

---

१. भारतीय-साहित्य : सङ्गीतपरम्परा और भरतार्णव, पृ० ६९।

२. भरत का सङ्गीत सिद्धान्त, पृ० २९६।

३. संगीतदर्पण, २।३१-३७।

४. भरतकोष, पृ० १८९।

आञ्जनेय का समय—मतङ्ग ने बृहद्देशी में याष्टिक मुनि का उल्लेख किया है और आञ्जनेय ने याष्टिक मुनि के द्वारा उपदिष्ट गायन-शैली को ध्यान में रखकर लक्ष्याविरोधी शास्त्र की रचना की थी; अतः आञ्जनेय याष्टिक मुनि के समकालीन प्रतीत होते हैं। मतङ्ग ने याष्टिक मुनि के सिद्धान्तों को उद्धृत किया है[1]। इससे ज्ञात होता है कि याष्टिक मुनि उस समय तक ख्यातिप्राप्त आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। मतङ्ग का समय ईसवी प्रथम शताब्दी माना जाता है। अतः आञ्जनेय का समय इससे कुछ पूर्व अर्थात् ईसापूर्व प्रथम शताब्दी मानना चाहिए।

आञ्जनेय की रचनाएँ—आञ्जनेय ने याष्टिक मुनि तथा इनके शिष्यों की गान-शैली को ध्यान में रखकर जिस लक्ष्याविरोधी शास्त्र की रचना की थी वह 'आञ्जनेय-संहिता' कहलायी। उसे ही 'हनुमत्संहिता' भी कहते हैं। इसी रचना का एक नाम 'भरतरत्नाकर' भी है[2]। किन्तु यह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। 'आञ्जनेय-संहिता' में संगीत के शास्त्रीय एवं क्रियात्मक दोनों पक्षों पर विचार किया गया है। तमिलभाषा के 'पञ्चभारतीयम्' नामक ग्रन्थ में 'हनुद्भरत' का उल्लेख है। 'हनुद्भरत' नामक ग्रन्थ का निर्देश सरस्वती महल पुस्तकालय की सूची में क्रम संख्या १ से ४ पर हुआ है, जिसमें सङ्गीत तथा नृत्य पर विचार किया गया है।

शारदातनय ने भावप्रकाशन में आञ्जनेय के नाट्य-विषयक विचारों को उद्धृत किया है। इससे ज्ञात होता है कि आञ्जनेय ने नाट्यशास्त्र पर भी ग्रन्थ लिखा होगा, जो आज अप्राप्य है।

आञ्जनेय के सिद्धान्त—आञ्जनेय ने याष्टिक मुनि से प्रेरणा पाकर श्रुति-संख्या नियम को छोड़कर किन्हीं स्वरों का पञ्चश्रुतिकत्व, षट्श्रुतिकत्व एवं सप्तश्रुतिकत्व यथेच्छ रूप से ग्रहण कर लौकिक विनोद के लिए अनेक प्रकार के देशी रागों की सृष्टि की थी[1]। इनके सिद्धान्त का प्रतिपादक ग्रन्थ 'आञ्जनेय संहिता' है। इसे ही 'हनुमत्संहिता' कहते हैं और इसी का अपर नाम 'भरत-रत्नाकर' भी है। आञ्जनेय के अनुसार जिन रागों में श्रुति, स्वर, ग्राम, जाति आदि का नियम नहीं होता और जिन पर विभिन्न स्थानों की प्रादेशिक छाया होती है, उसे देशी राग कहते हैं; यथा—

येषां श्रुतिस्वरग्रामजात्यादिनियमो नहि।
नानादेशगतिच्छाया देशीरागास्तु ते स्मृताः॥

(भरतकोष, पृ० ५१८)

अर्वाचीन गायकों ने हनुमन्मत का आश्रय लेकर और इच्छानुसार विदेशीय

१. बृहद्देशी, भाषालक्षण-प्रकरण।
२. भरतकोष, पृ० ४३०।

गान-शैली की छाया का भी आश्रय लेकर अनेक रागों का प्रवर्त्तन किया है। उनका मुख्य कारण यह है कि नारद, मतङ्ग आदि की वीणाओं पर तीनों स्थानों की सभी श्रुतियों के वादन करने योग्य वीणा को लेकर प्रत्येक राग के अनुसार श्रुति-स्थान का सारिकाओं द्वारा स्थापन करके, कोण अथवा नाखूनों द्वारा वादन करके विविध प्रकार के ठायों (ठाठों) और गीतों का प्रवर्त्तन होता है[1]।

ईसा की सोलहवीं शती के मध्य में हनुमन्मत का आश्रय लेकर सम्प्रदाय में प्रवर्त्तित रागों के वादन-सौकर्य के लिए उन-उन श्रुति-स्थानों में अचल सारि-काओं का निर्माण करके स्वरों के अनुमन्द्र, मन्द्र, मध्य, तार, तारोत्तर स्थानों का निश्चय कर विद्वान् गायकों ने अनेक प्रकार की वीणाओं का प्रवर्त्तन किया। उस समय अनुभव-सिद्ध रागों के श्रुतिभेद का आश्रय लेकर समान स्वरश्रुति रागों का विभाजन एक-एक मेल में इकट्ठा करके सभी प्रवर्त्तक रागों को नियत मेलों में विभाजित कर दिया गया[2]। इस प्रकार हनुमन्मत उस समय पूर्ण प्रतिष्ठा को प्राप्त हो चुका था। विस्तार के भय से यहाँ अधिक विवरण नहीं दिया जा रहा है। विशेष अध्ययन के लिए भरत-कोष देखिये।

प्रोफेसर रामकृष्णकवि का कहना है कि हनुमन्मत में श्रुति-संख्या का नियम नहीं है। यह नियम तो जातिराग में ही दिखायी देता है। आञ्जनेय ने एकश्रुति स्वर से लेकर षट्श्रुति स्वर तक को श्रुतित्व कहा है। उनके मत में संवादित्व (संवादादि) की उपलब्धि न होने से ग्राम-विभाग नहीं होता है। है। देशीरागों में स्वरों की श्रुति-संख्या का नियम नहीं है।

हनुमन्मतानुसार ज्ञात शुद्ध स्वर और पाँच विकृत स्वर तीन सप्तकों के भेद से छत्तीस स्वर होते हैं। इन छत्तीस स्वरों के द्वारा छः राग और सात रागिनियाँ उत्पन्न होती हैं। हनुमन्मत में अठारह श्रुतियों का निर्देश है।

विश्वावसु और अर्जुन

विश्वावसु संगीतशास्त्र के प्रमुख आचार्य थे। ये वीणावादन में अत्यन्त प्रवीण थे। इनकी वीणा का नाम 'बृहती' था। विश्वावसु गन्धर्व थे। वे वीणा पर गान्धर्व-गान गाया करते थे। मतंग ने बृहद्देशी में विश्वावसु का प्रामाणिक आचार्य के रूप में उल्लेख किया है और उनके मत को भी उद्धृत किया है। मतंग का समय ईसा का प्रथम शतक माना जाता है। अतः विश्वावसु का समय इनके पूर्व ईसापूर्व प्रथम या द्वितीय शताब्दी होना चाहिए।

विश्वावसु के अनुसार श्रवणेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य ध्वनि श्रुति कहलाती है। उनके अनुसार श्रुति एक होते हुए भी दो प्रकार की होती है—

---

१. भरतकोष, पृ० ५१८-१९।

२. वही।

श्रवणेन्द्रियग्राह्यत्वाद् ध्वनिरेव श्रुतिर्भवेत् ।
सा चैकाऽपि द्विधा ज्ञेया स्वरान्तरविभागतः ॥ (विश्वावसु)

अर्जुन विश्वावसु के शिष्य थे। शार्ङ्गदेव ने संगीतरत्नाकर में अर्जुन का उल्लेख किया है। रामकृष्णकवि के अनुसार ये 'सप्ततालदीपिका' के रचयिता माने जाते हैं। मुडुम्बरिनरसिंहाचार्य कृत 'अर्जुनभरतम्' नामक एक ग्रन्थ उपलब्ध है जो अर्जुन के मत का संग्रह-ग्रन्थ प्रतीत होता है।

नखकुट्ट और अश्मकुट्ट

नखकुट्ट और अश्मकुट्ट ये दोनों ही भरत के समकालीन नाट्यशास्त्र के प्राचीन आचार्य हैं। नाट्यशास्त्र में भरत के पुत्रों में उनका उल्लेख है[१]। विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में नखकुट्ट का उद्धरण दिया है[२]। सागरनन्दी ने नाटकलक्षणरत्नकोश में अश्मकुट्ट का चार बार और नखकुट्ट का दो बार उल्लेख किया है[३]। इससे ज्ञात होता है कि इनका नाट्यशास्त्र-विषयक कोई ग्रन्थ रहा होगा, जिससे उनके मतों को विश्वनाथ और सागरनन्दी ने अपने-अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है।

बादरायण और व्यास

बादरायण नाट्यशास्त्र के आचार्य थे। नाट्यशास्त्र में भरत-पुत्रों की सूची में बादरायण का उल्लेख है[४]। सागरनन्दी ने 'नाटकलक्षणरत्नकोश' में तीन स्थलों पर बादरायण या बादरि का उद्धरण प्रस्तुत किया है[५]। इससे प्रतीत होता है कि बादरायण नाट्यशास्त्र के आचार्य थे और उन्होंने नाट्यशास्त्र पर कोई ग्रन्थ लिखा था, जिसके उद्धरण नाटकलक्षणरत्नकोश में मिलते हैं। बादरायण भरत के समकालीन थे।

शारदातनय ने रसोत्पत्ति के प्रसंग में व्यास का मत उद्धृत किया है[६]। दशरूपककार धनञ्जय ने भी व्यास के मत की चर्चा की है। ये व्यास बादरायण से भिन्न प्रतीत होते हैं। इन्होंने नाट्यशास्त्र पर ग्रन्थ लिखा था, किन्तु आज वह उपलब्ध नहीं है।

शातकर्णी

शातिकर्णी का एक नाम शातकर्णी भी उपलब्ध होता है। महाकवि

---

१. नाट्यशास्त्र (गायकवाड़) १।३३।
२. साहित्यदर्पण (चौखम्बा) पृ० ३९२।
३. नाटकलक्षणरत्नकोश, पृ० १०, ४५, २६२, २६७, ३०६।
४. नाट्यशास्त्र (गायकवाड़) १।३२।
५. नाटकलक्षणरत्नकोश, पृ० १०९, २६२, ३०६।
६. भावप्रकाशन, पृ० ५५, २५१।

कालिदास ने रघुवंश में शातकर्णी का मुनि के रूप में उल्लेख किया है। तदनुसार एक बार वे इन्द्र के द्वारा प्रेषित अप्सराओं के मोहजाल में फँस गये थे। रामचन्द्रजी रावण का वध कर लङ्का से जब अयोध्या लौट रहे थे तो रास्ते में शातकर्णी मुनि का आश्रम दिखायी दिया था[१]। भरत के नाटचशास्त्र में भरत-पुत्रों में शालिकर्णी का उल्लेख है[२]। सम्भव है कि ये शालिकर्णी और शातकर्णी एक ही व्यक्ति हों।

सागरनन्दी ने नाटकलक्षणरत्नकोश में नाटचशास्त्र के लेखक के रूप में शातकर्णी का उल्लेख किया है[३]। अनर्घराघव की टीका में शातकर्णी का उल्लेख मिलता है[४]। इसके अतिरिक्त 'सिलेक्टेड इन्सक्रिप्शन्स' के अनुसार विक्रमपूर्व प्रथम शताब्दी से विक्रम की प्रथम शताब्दी के मध्य के शिलालेखों में शातकर्णी का नामोल्लेख मिलता है[५]। इससे ज्ञात होता है कि शातकर्णी ने नाटचशास्त्र पर कोई ग्रन्थ लिखा होगा। इनका समय ईसापूर्व प्रथम शताब्दी निर्धारित किया जा सकता है।

वात्स्य, शाण्डिल्य और धूर्त्तिल

नाटचशास्त्र के अन्तिम अध्याय में कोहल के साथ वात्स्य, शाण्डिल्य एवं धूर्त्तिल का उल्लेख हुआ है[६]। इससे ज्ञात होता है कि ये तीनों आचार्य भरत के समकालीन पूर्ववर्त्ती आचार्य रहे हैं। भरत ने नाटच-प्रयोग का श्रेय कोहल के साथ वात्स्य, शाण्डिल्य और धूर्त्तिल को भी दिया है। रसार्णवसुधाकर के रचयिता शिङ्गभूपाल ने नाटचशास्त्रकार के रूप में शाण्डिल्य का उल्लेख किया है[७]। इससे ज्ञात होता है कि शाण्डिल्य नाटचशास्त्र के लेखक रहे हैं, किन्तु उनका ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है।

शार्दूल

शार्दूल अभिनयशास्त्र के प्रामाणिक आचार्य माने जाते हैं। अभिनय पर इनका 'हस्ताभिनय' नामक एक ग्रन्थ का पता चला है, जिसमें हस्ताभिनय के सोलह भेद बताये गये हैं, किन्तु यह ग्रन्थ आज अनुपलब्ध है। ऐसा प्रतीत होता है कि अभिनय पर इन्होंने कोई ग्रन्थ लिखा होगा, किन्तु वह काल-

---

१. रघुवंश १३।३८-४०।

२. नाटचशास्त्र १।२८।

३. नाटकलक्षणरत्नकोष पृ० १०९, २६३, ३०६।

४. अनर्घराघव पृ० ७।

5. Selected Inscriptions. pp. 191–207

६. कोहलादिभिर्भरतैर्वा वात्स्यशाण्डिल्यधूर्त्तिलैः। (नाटचशास्त्र ३६।५७)

७. रसार्णवसुधाकर, १।५१।

कवलित हो गया होगा और हस्ताभिनय नामक प्रमाण मिला होगा, जिसे उनका ग्रन्थ मान लिया गया होगा। प्रो० रामकृष्ण कवि ने शार्दूल का समय चतुर्थ या पञ्चम शताब्दी माना है[1]। मतंग ने शार्दूल के मतानुसार भाषा-लक्षण का विवेचन किया है। मतंग का समय प्रथम शताब्दी माना जाता है। अतः शार्दूल का समय इसके पूर्व होना चाहिए। इनके अतिरिक्त रघुनाथ एवं शाङ्र्गदेव ने शार्दूल के मतानुसार श्रुति-जातियों का विवेचन किया है। इससे ज्ञात होता है कि शार्दूल ने संगीतशास्त्र पर कोई ग्रन्थ लिखा होगा जो आज अनुपलब्ध है।

स्कन्द और शुक्र

स्कन्द के सम्बन्ध में विशेष विवरण प्राप्त नहीं होता। एक द्रविड़ ग्रन्थ के अनुसार इन्होंने अगस्त्य को नाट्यशास्त्र की शिक्षा दी थी[2]। इससे ज्ञात होता है कि ये नाट्यशास्त्र के आचार्य रहे हैं। स्कन्द नटराज शिव के पुत्र थे। इनका अपर नाम 'कार्त्तिकेय' था। शिव को नटराज कहा गया है। अतः स्कन्द भी नाट्यशास्त्र के आचार्य रहे होंगे। भरतकोष में स्कन्द के मतानुसार देशीताल का लक्षण उल्लिखित है[3]।

शारदातनय आदि आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में शुकमत की चर्चा की है। अभिनयभूषण से अनुसार शुक्राचार्य की कृति का नाम 'शुकमतम्' था। किन्तु यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

अगस्त्य

अगस्त्य स्कन्द के शिष्य थे। इन्होंने स्कन्द से नाट्यशास्त्र की शिक्षा ग्रहण की थी। नाट्यशास्त्र के काशी संस्करण में नाट्यशास्त्र के श्रोताओं में अगस्त्य का उल्लेख है। द्रविड़ भाषा के एक ग्रन्थ के आधार पर इन्हें 'ताल-समुद्रम्' का रचयिता कहा गया है, जिसमें ताल के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन है। अगस्त्य का अपर नाम कुम्भोद्भव था। शारदातनय ने भावप्रकाशन में इनका उल्लेख किया है[4]।

---

१. भरतकोष, भूमिका पृ० ३।
२. भरतकोष, पृ० ७४५।
३. वही।
४. भावप्रकाशन, पृ० २।

तीन :

भरत एवं पञ्चभरत

भरत

प्राचीन भारतीय साहित्य में 'भरत' शब्द जातिवाचक रहा है। वैदिक काल में भरतों की वंश-परम्परा विद्यमान थी। सम्भव है इसी वंश-परम्परा में भरत नामक कोई व्यक्ति रहा हो, जिसका नाट्य से सम्बन्ध रहा हो और जिसने नटसूत्रों की रचना की हो। अमरकोश में भरत को नट का पर्याय माना गया है[1]। क्षीरस्वामी ने भरत शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए कहा है— 'भरतस्यापत्यं विद्याद्यञि बहुत्वे लुक्' अर्थात् 'भरतस्यापत्यम्'। इस विग्रह में भरत शब्द से 'अनृष्यानन्तर्ये विदादिभ्योऽञ्' सूत्र से 'अञ्' प्रत्यय तथा 'यञञोश्च' सूत्र से 'अञ्' का लुक् होकर 'भरताः' शब्द बनता है, जो 'नट' का वाचक है। अभिनवगुप्त के अनुसार 'भरत' शब्द नटमात्र का वाचक है, जो एक वंश-परम्परा का बोधक है; उस वंश-परम्परा से प्राप्त नाम 'भरत' है। भरत की सन्तान होने के कारण वे 'भरत' कहलाये[2]। नाटचशास्त्र में भी भरतों के वंश का उल्लेख है[3]। याज्ञवल्क्य स्मृति में भरत शब्द का प्रयोग नाटचप्रयोक्ता के अर्थ में हुआ है[4]। याज्ञवल्क्य ने भरत और अभिनेता को पर्यायवाची माना है। भरत ने स्वयं नाटचशास्त्र में भी नटन करने वाले अभिनेताओं (नटों) तथा उनके सहायकों को 'भरत' कहा है[5]। नाटचशास्त्र में भरत शब्द की व्याख्या करने हुए बताया गया है कि नाना प्रकार की भूमिकाओं को धारण (भरण) करने के कारण अभिनेताओं को 'भरत' कहा जाता था[6]। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय जो अभिनय का कार्य करता था, उसे 'भरत' कहते थे। वे ही 'नट' कहलाते थे।

---

१. शैलालिनस्तु शैलूषा जायाजीवा कृशाश्विनः।
भरता इत्यपि नटाश्चारणास्तु कुशीलवाः॥ (अमरकोष)

२. भरतैरिति नटैः स्वतो वंशकरे नामधेयं येषां तैः (भरतैः) भरत-सन्तानत्वात्तद्धिते भरतः। (अभिनवभारती, भाग ३, पृ० ९१)

३. भरतानां च वंशोऽयं भविष्यं च। (नाटचशास्त्र ३७।२३)

४. यथा हि भरतो वर्णैर्वर्णयत्यात्मनस्तनुम्।
नानारूपाणि कुर्वाणस्तथात्मा कर्मजास्तनूः॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति, ३।१६२)

५. नाटचशास्त्र १३।६६; ३५।२१-२२।

६. वही, ३५।२३।

इसके अतिरिक्त नाटचशास्त्र में भरतैः,[१] भरतानाम्,[२] भरताः[३] आदि बहुवचनान्त शब्दों का प्रयोग भरतों की परम्परा को संकेतिक करती है। जो अभिनय एवं नर्तन का कार्य करती थी। बाद में यह भरत-जाति के रूप में परिणत हो गयी और अभिनय एवं नर्तन का कार्य करने वाले 'भरत' कहलाने लगे। नाटचशास्त्र में उपलब्ध आनुवंश्य श्लोक, सूत्रानुविद्ध आर्याओं और परम्परागत आर्याओं से ज्ञात होता है कि उसके पूर्व भी भरतों की परम्परा विद्यमान रही है जो नाट्य-सम्बन्धी ग्रन्थों की रचनाएँ करने लगी थीं।

नन्दिकेश्वर के ग्रन्थ अभिनयदर्पण एवं भरतार्णव में **'भरतागमकोविदैः, भरतागमवेदिभिः, भरतागमदर्शिभिः, भरतवेदिभिः, भरतोत्तमैः'** आदि शब्दों के प्रयोग से ज्ञात होता है कि वहाँ भरत शब्द नाट्य एवं नट के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार नन्दिकेश्वर के पूर्व भी भरतों के विद्यमान होने का संकेत मिलता है।

शारदातनय ने भावप्रकाशन में भरत शब्द का प्रयोग जातिपरक अर्थ में किया है। उनके अनुसार भरत एक जाति थी, जो नटन एवं नर्तन का कार्य करती थी। इसी परम्परा के कोई भरत पाँच शिष्यों के साथ ब्रह्मा के समक्ष नाट्य-प्रयोग के लिए उपस्थित होते हैं। ब्रह्मा उन्हें आदेश देते हैं कि 'नाट्यवेदं भरत' अर्थात् नाट्यवेद को धारण (भरण) करो। इसलिए वे भरत कहलाये[४]। भरतों ने नाट्यवेद से तत्त्व लेकर दो संहिताएँ तैयार कीं, जिनमें एक में बारह हजार श्लोक और दूसरी में छः हजार श्लोक थे। दूसरी संहिता का नाम भरतों के नाम पर पड़ गया[५]। एक अन्य व्याख्या के अनुसार जो भाषा, वर्ण, उपकरण, नाना प्रकृति से सम्भव वेष, वय, कर्म, चेष्टा को धारण करने के कारण अभिनेताओं (नटों) को भरत कहा जाता था[६]। इस प्रकार शारदातनय के अनुसार नटन करने वाले वर्ग के लिए 'भरत' शब्द का प्रयोग किया जाता था।

इस प्रकार नाट्शास्त्रीय एवं अन्य ग्रन्थों में प्राप्त भरत सम्बन्धी विवरणों से ज्ञात होता है कि वैदिक काल से ही भरतों की परम्परा विद्यमान रही है। इस परम्परा में अनेक भरत हुए जो नाट्य एवं नृत्य के आचार्य थे। इसमें कुछ नटसूत्रों के निर्माता भी रहे हैं और कुछ नाट्यप्रयोक्ता भी। दूसरे, नाट्य-

---

१. अभिनवभारती, भाग ३ पृ० ९१।

२. नाट्यशास्त्र ३५।२१; ३७।२३।

३. वही, १।२,६ तथा ६।१,४।

४. तानब्रवीन्नाट्यवेदं भरतेति पितामहः। (भावप्रकाशन)

५. भरतैर्नामतस्तेषां प्रख्याता भरताह्वयः (भावप्रकाशन)

६. भाषावर्णोपकरणैर्नानाप्रकृतिसम्भवम्।
वेषं वयः कर्म चेष्टां बिभ्रद्भरत उच्यते ॥ (वही)

शास्त्र एवं अन्य नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में भरत के बहुवचनान्त प्रयोग से भी यह सिद्ध होता है कि भरत एक नहीं अनेक थे। इसीलिए नाट्यशास्त्र को भरतों (नटों) के शासन का उपायभूत ग्रन्थ कहा गया है (**भरतानां नटानां शासनोपायं ग्रन्थम्**)। इस प्रकार नाट्यशास्त्र अनेक भरतों के मतों एवं विचारों का संग्रह-ग्रन्थ है और संग्राहक ने भरत के नाम से उसे प्रचारित कर दिया।

अब प्रश्न यह उठता है कि वे भरत थे कौन ? भागवतपुराण के अनुसार ब्रह्मावर्त में प्रियव्रत के वंश में ऋषभदेव राजा हुए। भरत उन्हीं के पुत्र थे। वे ब्रह्मावर्त से वैशाली क्षेत्र के पुलहाश्रम में चले गये थे[१]। उनके पाँच पुत्र थे[२]। उनमें सुमति नाट्यशास्त्र का विद्वान् था। भरत ने उसे शिक्षा ग्रहण करने के लिए नन्दिकेश्वर के पास भेजा था। नन्दिकेश्वर ने सुमति के लिए भरतार्णव की रचना कर उसे दीक्षित किया था। इसीलिए उसे 'सुमति बोधक' भी कहा जाता है। वह ग्रन्थ अपूर्ण रूप में प्राप्त है। एक अन्य परम्परा के अनुसार भरत के वंश में सोमदत्त हुआ। सोमदत्त की कोई सन्तान नहीं थी। उन्होंने भरत-पुत्र सुमति को गोद लिया था, अतः सुमति दत्तक पुत्र था। इसीलिए उसका नाम 'दत्तक' या 'दत्तिल' पड़ गया[3]। भावप्रकाशन के अनुसार नाट्य प्रयोग के लिए एक मुनि पाँच शिष्यों के साथ ब्रह्मा के सम्मुख उपस्थित हुए। तब ब्रह्मा ने उनसे कहा कि 'नाट्यवेदं भरत' अर्थात् नाट्यवेद को भरण (धारण) करो, इसीलिए वे भरत कहलाये और इन्हीं भरतों के नाम से नाट्यवेद भरतनाट्यशास्त्र नाम से विख्यात हुआ[४]। ये पाँच भरत कौन थे ? इस सम्बन्ध में भावप्रकाशन में कोई उल्लेख नहीं मिलता। सम्भवतः वे पाँच भरत वृद्धभरत, नन्दिभरत, कोहलभरत, दत्तिलभरत और मतङ्ग भरत रहे होंगे[५] और जिनके सिद्धान्तों का समवेत सम्पादन नाट्यशास्त्र होगा तथा नाट्यवेद का भरण करने के कारण वे 'भरत' कहलाये होंगे। तमिल भाषा में 'पञ्चभरतम्' नामक एक रचना मिलती है, जिसमें भरत से सम्बन्धित पाँच नाम आये हैं--आदिभरत (वृद्धभरत), नन्दिभरत, मतङ्गभरत, हनुमद्भरत और अर्जुनभरत। ये सभी नाट्य एवं संगीत के आचार्य थे और नाट्य एवं संगीत पर ग्रन्थों की रचना भी की थी। इन आचार्यों की रचनाएँ भरत-परम्परा की अनुयायिनी रही हैं, ऐसा प्रतीत होता है।

---

१. ···स्वयं सकलसम्पन्निकेतनात्स्वनिकेतनात्पुलहाश्रमं प्रवव्राज। (भागवत ५।७।८)

२. वही ५।७।३

३. आचार्य नन्दिकेश्वर और उनका नाट्य साहित्य पृ० २२-२३।

४. भावप्रकाशन पृ० २८५, २८७।

५. भरतानां वृद्धभरत-नन्दिभरत-कोहलभरत-दत्तिलभरत-मतङ्गभरतादीनां शास्त्रं नाट्यशास्त्रम्। (नाट्यशास्त्र की भूमिका पृ० १८)।

आदिभरत या वृद्धभरत

भारतीय नाट्य-परम्परा में आदिभरत का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नाट्य-शास्त्र के अनुसार ब्रह्मा ने नाट्यवेद की रचना कर भरत को नाट्य की शिक्षा देकर उन्हें नाट्य-प्रयोग के लिए निर्देश दिया था। भागवत एवं विष्णुपुराण के अनुसार भरत मनुवंशीय राजा ऋषभदेव के पुत्र थे। वे ब्रह्मावर्त्त से वैशाली पुलहाश्रम में चले गये थे और वहाँ से दक्षिण कर्णाटक चले गये थे[1]। वहीं पर उन्होंने नाट्यशास्त्र की रचना की थी। इसीलिए आज भी कर्णाटक नृत्य 'भरतनाट्यम्' के नाम से प्रसिद्ध है। वे भरतों के आदि (प्रथम) पुरुष थे। इसलिए वे आदिभरत या वृद्धभरत कहलाये। अभिनवगुप्त के अनुसार नाट्यशास्त्र का प्रथम प्रणयन सदाशिव, ब्रह्मा तथा अन्त में भरत ने किया था[2]। प्रो० रामकृष्ण कवि का कहना है कि वे सदाशिव भरत ही आदिभरत थे[3]।

शारदातनय ने भरत का उल्लेख 'भरत' और 'आदिभरत' इन दो रूपों में किया है। भावप्रकाशन के अनुसार भरतों ने नाट्यवेद से सार को ग्रहण कर दो संस्करण तैयार किये गये—एक बृहद् और दूसरा लघु। बृहत् संस्करण में बारह हजार श्लोक थे, जिसे 'द्वादशसाहस्रीसंहिता' कहते हैं। दूसरा संस्करण उससे आधा अर्थात् छः हजार श्लोकों का था, जिसे 'षट्साहस्रीसंहिता' कहा गया। शारदातनय के अनुसार 'द्वादशसाहस्रीसंहिता' का कथन आदिभरत (वृद्धभरत) ने गद्य में किया था[4]। शारदातनय ने वृद्धभरत के कुछ गद्यांश भी उद्धृत किये हैं। प्रो० रामकृष्ण कवि का कहना है कि वृद्धभरत ने बारह हजार श्लोकों वाले एक ग्रन्थ की रचना की थी, जिसका कुछ ही अंश अब प्राप्य है[5]। अभिज्ञानशाकुन्तल के टीकाकार राघवभट्ट ने अभिज्ञानशाकुन्तल की अर्थद्योतनिका टीका में 'भरत' और 'आदिभरत' दोनों को उद्धृत किया है। इससे ज्ञात होता है कि राघवभट्ट के समय दोनों ग्रन्थ अलग-अलग विद्यमान

---

१. (क)···स्वयंसकलसम्पन्निकेतनात्स्वनिकेतनात्पुलहाश्रमं प्रवव्राज।
(भागवत ५।७।८)

(ख)···दक्षिणकर्णाटकान्देशान् यदृच्छयोपगतः। (वही)

२. एतेन सदाशिवब्रह्मभरतमतत्रयविवेचनेन ब्रह्ममतसारताप्रतिपादनाय मतत्रयीसारासारविवेचनं तद्ग्रन्थखण्डप्रक्षेपेण विहितमिदं शास्त्रम्।
(अभिनवभारती भाग १)

३. भाण्डारकर प्राच्यविद्या पत्रिका १३ पृ० ९२-९३।

४. एवं हि नाट्यवेदेऽस्मिन् भरतेनोच्यते रसः।
तथा भरतवृद्धेन कथितं गद्यमीदृशम्॥ (भावप्रकाशन पृ० ३६)

५. जर्नल आफ द आन्ध्र हिस्टोरिकल रिसर्च सोसाइटी भाग ३ पृ० ४५३।

थे[१]। उनमें वृद्धभरत या आदिभरत की रचना 'आदिभरत' नाम से विख्यात रही होगी। राघवभट्ट ने नान्दी के प्रसंग में मूल भरत का उल्लेख किया है[२]। मूल भरत आदिभरत ही रहे होंगे। बहुरूप मिश्र ने द्वादशसाहस्रीकार और षट्साहस्रीकार इन दो अलग-अलग आचार्यों का उल्लेख किया है[3]। इनमें द्वादशसाहस्रीकार पद आदिभरत को संकेतित करता है।

भवभूति ने भरत को 'तौर्यत्रिकसूत्रकार' के रूप में उल्लेख किया है[४]। नान्यदेव ने भी उन्हें 'सूत्रकृत्' कहा है। भवभूति ने (अष्टम शताब्दी का पूर्वार्द्ध) जिस सूत्रकार भरत का उल्लेख किया है, वे नाट्यशास्त्र के संग्रहकार भरत से भिन्न प्रतीत होते हैं। क्योंकि उसी समय के (आठवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध) परवर्ती आचार्य उद्भट ने भरत को कारिकाकार के रूप में उल्लेख कर उनकी कारिकाओं का भी उल्लेख किया है। इससे यही प्रतीत होता है कि सूत्रकार भरत और कारिकाकार भरत अलग-अलग थे। सूत्रकार भरत सम्भवतः आदिभरत रहे होंगे, जिनके कुछ सूत्र नाट्यशास्त्र में आनुवंश्य रूप में उद्धृत हैं। अभिनव के अनुसार सूत्र का अर्थ परिभाषा या लक्षण है और उस सूत्र का स्पष्टीकरण रूप व्याख्यान भाष्य या परीक्षा है (**सूत्रं लक्षणं भाष्यं तद्व्यक्तीकरणरूपा परीक्षा**)। उनके अनुसार सूत्र पद से कारिका का भी ग्रहण हो जाता है और उसे ही श्लोक भी कहते हैं (**सूत्रतः सूत्रणेन सूत्रमपि कारिका**)। इस प्रकार अभिनव के अनुसार सूत्र, कारिका, श्लोक ये पर्याय हैं। इस सूत्र का व्याख्यान भाष्य, निरुक्त या परीक्षा है। नाट्यशास्त्र में सूत्र, कारिका, श्लोक, निरुक्त, भाष्य इन सभी का उपयोग हुआ है।

इनके अतिरिक्त आनुवंश्य श्लोक, सूत्रानुबिद्ध आर्याएँ और आर्याएँ भी उद्धृत हैं। आनुवंश्य का अर्थ है—वंश-परम्परा और गुरुशिष्य-परम्परा से प्राप्त श्लोक। ये आनुवंश्य श्लोक सूत्रार्थ का ही संक्षेप में प्रकाशन करते हैं, अतः ये कारिका शब्द से भी अभिहित किये जाते हैं[५]। ये आनुवंश्य श्लोक भरत को वंशपरम्परा से प्राप्त हुए थे, जिनका उल्लेख नाट्यशास्त्र में किया गया है। महाभारत में भी आनुवंश्य श्लोकों की परम्परा का उल्लेख मिलता है[६]।

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तल की टीका अर्थद्योतनिका (राघवभट्ट) पृ० ६-७, ९, १२, १५।

२. वही, पृ० ६।

३. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (काणे) पृ० ३३।

४. उत्तररामचरित (भवभूति) चतुर्थ अङ्क।

५. अत्रेति भाष्ये। अनुवंशभवौ शिष्याचार्यपरम्परासु वर्तमानौ श्लोकाख्यौ वृत्तिविशेषौ सूत्रार्थसङ्क्षेपप्रकटीकरणेन कारिकाशब्दवाच्यौ भवतः।

(अभिनवभारती, भाग १ पृ० २९०)

६. यत्रानुवंशं भगवान् जामदग्न्यस्तथा जगौ। (महाभारत, वनपर्व ८७।१६)

'महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ ने आनुवंश्य श्लोकों को परम्परागत आख्यान कहा है (**परम्परागतमाख्यानं श्लोकम्**)। मत्स्यपुराण में भी आनुवंश्य श्लोक का उल्लेख मिलता है[१]। इन आनुवंश्य श्लोकों के अतिरिक्त सूत्रानुविद्ध आर्याएँ भी हैं, जो सूत्र से सम्बद्ध अर्थ को विस्फारित करती हैं। ये आर्याएँ भी परम्परा से गृहीत हैं। इनके अतिरिक्त 'अत्रार्याः' 'अत्रार्ये भवतः' आदि उद्धरण भी नाट्यशास्त्र में प्राप्त हैं। अभिनव ने इन आर्याओं को भी प्राचीन आचार्यों का उद्धरण स्वीकार किया है। उनका कहना है कि ये आर्याएँ नाट्यशास्त्र के पूर्ववर्त्ती किसी आचार्य की रचनाएँ हैं; भरत ने उन्हें यथास्थान निवेशित कर लिया है[२]। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये आर्याएँ किसी प्राचीन आचार्य की रचनाएँ हैं, भरत की रचना नहीं है। भरत ने तो अपने मत के समर्थन में प्राचीन आचार्यों के मतों को संगृहीत किया है और कहीं-कहीं मतभेद भी प्रदर्शित किया है।

इस प्रकार नाट्यशास्त्र में सूत्र, श्लोक, कारिका, निरुक्त, भाष्य, संग्रह, आर्याएँ, आनुवंश्य लोक और सूत्रानुबिद्ध आर्याएँ—सभी का उपयोग हुआ है। इससे स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्र के पूर्व ये सूत्र, आर्याएँ, आनुवंश्य श्लोक एवं सूत्रानुबिद्ध आर्याएँ विद्यमान थीं, जिनका संग्रह भरत ने नाट्यशास्त्र में किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि आदिभरत ही नाट्यवेद के प्राचीनतम आचार्य रहे होंगे, जिन्होंने सूत्र, श्लोक, कारिका एवं आर्या के रूप में नाट्यवेद की रचना की होगी और वहीं से भरत ने इनका संग्रह किया होगा। क्योंकि वृद्धभरत द्वारा रचित 'आदिभरत' नामक एक हस्तलिखित ग्रन्थ आन्ध्रलिपि में प्राप्त है, जो नाट्यशास्त्र का प्रतिरूप प्रतीत होता है[3]। भाण्डारकर प्राच्यविद्या मन्दिर में संगृहीत हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची में 'नाट्यसर्वस्वदीपिका' नामक एक कृति प्राप्त है,[४] जिसे आदिभरत पर टीका बतलायी गयी है।

'आदिभरत' शिव-पार्वती के संवाद के रूप में लिखा गया एक नाट्य ग्रन्थ है। इसके लेखक वृद्धभरत या आदिभरत हैं। उन्हीं के नाम पर ग्रन्थ का नाम भी 'आदिभरत' पड़ा। ये आदिभरत भरत से भिन्न रहे हैं। इसके बाद भरतों की एक परम्परा चली, जिस परम्परा में अनेक भरत हुए। उन भरतों से पार्थक्य स्थापित करने के लिए इनका नाम आदिभरत पड़ा, क्योंकि ये

---

१. मत्स्यपुराण २७१।१५

२. 'ता ह्येता आर्या एव प्रघट्टकतया पूर्वाचार्यैर्लक्षणत्वेन पठिताः'। मुनिना तु सुखसङ्ग्रहाय यथास्थानं निवेशिताः।

(अभिनवभारती, भाग १ पृ० ३२७)

३. भाण्डारकर प्राच्यविद्या पत्रिका, भाग १२, पृ० १६७-१६९।

४. भाण्डारकर प्राच्यविद्या पत्रिका, भाग ७, पृ० ४५३।

भरतों में आदि थे। इस प्रकार आदिभरत या वृद्धभरत ही प्रथम नाट्यशास्त्रकार थे और वे नाट्यशास्त्र-प्रणेता कहे जाने वाले भरत से भिन्न थे।

नन्दिभरत, नन्दिकेश्वर एवं तण्डु

नाट्यशास्त्र के काव्यमाला संस्करण के अन्तिम अध्याय के अन्त में पुष्पिका लेख में 'नन्दिभरत' नाम आया है (**समाप्तश्चायं ग्रन्थः नन्दिभरतसङ्गीतपुस्तकम्**)। इससे ज्ञात होता है कि नन्दिभरत ने संगीतशास्त्र पर कोई ग्रन्थ लिखा था। सम्भव है कि नाट्यशास्त्र के संगीत भाग के लेखक नन्दिभरत रहे हों; और यह भी सम्भव है कि उनकी कृति का नाम भी 'नन्दिभरत' रहा हो, क्योंकि मैसूर और कुर्ग की हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची में 'नन्दिभरत' नामक एक कृति का उल्लेख है,[१] जो 'नन्दिभरत' की रचना प्रतीत होती है। राइस ने 'नन्दिभरत' नामक संगीत विषयक ग्रन्थ का उल्लेख किया है[२]। मद्रास की हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची में नन्दिभरत के नाम से एक हस्तलिखित ग्रन्थ उपलब्ध है, जिसके एक अध्याय का नाम 'नन्दिभरतोक्त संकरहस्ताध्याय' है[३]। इसमें संगीत और अभिनय सम्बन्धी मुद्राओं का विवरण प्राप्त होता है। यह नन्दिभरत की कृति प्रतीत होती है। भरतार्णव में नन्दिभरत को सप्तलास्य का प्रवक्ता कहा गया है[४]। तमिल भाषा में उपलब्ध 'पञ्चभरतम्' नामक कृति में जिन पाँच भरतों का उल्लेख है, उनमें नन्दिभरत प्रमुख थे। उपर्युक्त विवरणों से ज्ञात होता है कि नन्दिभरत संगीत एवं नाट्य के आचार्य थे और उनकी कृति का नाम उन्हीं के नाम पर 'नन्दिभरत' था। यह भी कहा जा सकता है कि नाट्यशास्त्र के उत्तरभाग, जिसका एक अंश संगीत-विषयक है, का सम्पादन नन्दिभरत ने किया हो और वह भाग नन्दिभरत की कृति कही जाने लगी होगी, इसीलिए ग्रन्थ के अन्त में 'नन्दिभरतसंगीतपुस्तकम्' लिख दिया गया होगा।

अभिनवगुप्त नन्दिभरत को एक व्यक्ति न मानकर नन्दि और भरत दो व्यक्ति मानते हैं। इनके अनुसार नन्दिभरत शब्द में द्वन्द्व समास है (नन्दिश्च भरतश्च नन्दिभरतौ)। अतः नन्दि और भरत अलग-अलग व्यक्ति हैं और इनका अपर नाम तण्डु और मुनि है (**तण्डुमुनिशब्दौ नन्दिभरतयोरपरनामनी**)[५]। इस प्रकार नाट्यशास्त्र और संगीतशास्त्र के निर्माण में इन दोनों का योगदान

---

१. मैसूर एवं कुर्ग कैटलाग, पृष्ठ २९२।

२. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (दे) पृ० १९।

३. मद्रास कैटलाग ७।१३०००९ (संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास) पृ० १९।

४. नन्दिना भरतेनोक्तं सप्तलास्यस्य लक्षणम् (भरतार्णव पृ० ७५२)।

५. अभिनवभारती भाग १ पृ० ८८।

रहा है और यह नाट्यशास्त्र दोनों की संयुक्त रचना हो सकती है। तभी तो नाट्यशास्त्र के अन्त में पुष्पिका में 'समाप्तश्चायं ग्रन्थः नन्दिभरतसङ्गीतपुस्तकम्' लेख मिलता है। किन्तु अधिकांश संस्करणों में यह उल्लेख नहीं मिलता, अतः इसकी प्रामाणिकता पर सन्देह है।

कन्हैयालाल पोद्दार 'नन्दिभरत' का अर्थ 'नन्दि-शिष्य भरत' अनुमानित करते हैं[१]। उनके अनुसार भरत नन्दि के शिष्य थे। इस प्रकार पुष्पिका लेख का अर्थ 'इस प्रकार नन्दि के शिष्य भरत का यह ग्रन्थ समाप्त हुआ' संगत प्रतीत होता है। अभिनवगुप्त ने भी नन्दि को भरत का नृत्य-शिक्षक बतलाया है और उनका अपर नाम 'तण्डु' बतलाया है। उनके अनुसार नन्दि ने भरत को नृत्याभिनवों की शिक्षा दी थी[२]। 'अभिनवगुप्त' को नन्दि के 'नन्दिमत' नामक एक ग्रन्थ का पता था जिससे उन्होंने रेचित नामक अङ्गहार विषयक एक श्लोक उद्धृत किया है[३]। अभिनव ने 'नन्दिमत' का अर्थ 'तण्डुमत' किया है। उनके विचार से नन्दि और तण्डु एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं[४]।

तण्डु और नन्दि—नाट्यशास्त्र में तण्डु को अङ्गहारों का व्याख्याता और ताण्डव नृत्य का उपदेष्टा कहा गया है। नाट्यशास्त्र के अनुसार तण्डु एक नाट्याचार्य और करण, अङ्गहार, रेचक आदि नृत्याभिनयों के प्रथम प्रवक्ता थे। तण्डु शिव का गण था और उसका दूसरा नाम नन्दि था। अभिनवगुप्त ने दोनों को एक ही व्यक्ति माना है। प्रो० रामकृष्ण कवि ने भी तण्डु और नन्दि को एक ही व्यक्ति माना है[५]। शब्दकल्पद्रुम के अनुसार तण्डु और नन्दि एक ही व्यक्ति थे और वे शिव के पार्षद एवं ताण्डव नृत्य के प्रयोक्ता थे[६]। कल्पद्रुम कोष में नन्दि का ही दूसरा नाम 'तण्डु' बतलाया गया है[७]। हेमचन्द्र ने तण्डु और नन्दि को एक ही व्यक्ति स्वीकार किया है[८]। नान्यदेव

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास (पोद्दार) पृ० २६।

२. नाट्शास्त्र ४।१७-१८।

३. तथा च नन्दिमते उक्तम्—

रेचिताख्योऽङ्गहारो यो द्विधा तेन ह्यशेषतः।
तुष्यन्ति देवतास्तेन ताण्डवे तां नियोजयेत्॥

(अभिनवभारती भाग १ पृ० १६२)

४. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (दे) पृ० २०।

५. द क्वार्टर्ली जर्नल् आफ द आन्ध्र हिस्टोरिकल रिसर्च सोसाइटी। (भाग १ पृ० २५-२६)

६. शब्दकल्पद्रुम, द्वितीय काण्ड पृ० ८२४।

७. कल्पद्रुमकोष (गायकवाड) पृ० ३९२।

८. शब्दकल्पद्रुम, द्वितीय काण्ड पृ० ८२४।

ने संगीतशास्त्रकार के रूप में नन्दि का स्मरण किया है और पुष्करवाद्यों में उनके मत को प्रमाणभूत माना है[१]। इस प्रकार उपर्युक्त विवरणों से ज्ञात होता है कि तण्डु और नन्दि एक ही व्यक्ति थे।

नाट्यशास्त्र में 'ताण्डिन्'[२] एवं 'ताण्ड्य'[३] नाम भी मिलते हैं। ताण्ड्य एक ऋषि थे, जिन्होंने नृत्यशास्त्र की रचना की थी। ताण्ड्य द्वारा रचित शास्त्र ताण्डि है, जो नृत्यशास्त्र का ग्रन्थ है[४]। नाट्यशास्त्र के अनुसार 'ताण्डिन्' एक मुनि थे, उन्होंने ताण्डव नृत्त की सर्जना की थी। अभिनवगुप्त का कहना है कि 'ताण्डिन्' और 'ताण्ड्य' पाठ ठीक नहीं है। सभी जगह सभी पाठों में तण्डु शब्द का पाठ ही ठीक है। ताण्डव शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर (**तण्डुना प्रोक्तं कृतं वा ताण्डवम्**) 'तण्डु' शब्द का प्रयोग ही उचित है[५]। 'इस प्रकार तण्डु के द्वारा प्रयुक्त शास्त्र ताण्डव है। तण्डु का ही अपर नाम नन्दी या नन्दिकेश्वर था।

नन्दिकेश्वर—भारतीय साहित्य में नन्दिकेश्वर को अनेक नामों से अभिहित किया गया है। नाट्शास्त्र[६] 'और अभिनवभारती[७] में उन्हें नन्दिम्, नन्दि, नन्दीश्वर और नन्दिकेश्वर नामों से अभिहित किया गया है। वात्स्यायन[८] के कामसूत्र में 'नन्दी' नाम का उल्लेख है। 'रतिरहस्य' और 'पञ्चसायक' में नन्दिकेश्वर नाम का ही उल्लेख है[९]। 'मतंग'[१०] ने बृहद्देशी में, राजशेखर[११] ने काव्यमीमांसा में, शिङ्गभूपाल[१२] ने रसार्णवसुधाकर में तथा शार्ङ्गदेव[१३] ने सङ्गीतरत्नाकर में नन्दिकेश्वर नाम का प्रयोग किया है।

---

१. भरतभाष्य (नान्यदेव) पृ० २०२।
२. नाट्शास्त्र (चौखम्बा) ४।२५७।
३. वही ४।२६६।
४. ताण्ड्येन मुनिना प्रोक्तम्······ताण्डि, नृत्यशास्त्रम्।
(द नम्बर आफ रसाज्—राघवन, पृ० ७)
५. सर्वत्र पाठे तण्डुशब्द एव युक्तः, ताण्डवशब्दव्युत्पत्तिवशात्।
(अभिनवभारती, भाग १ पृ० ८८)
६. नाट्यशास्त्र (चौखम्बा) ३।३, ३१, ५९, ६०।
७. अभिनवभारती प्रथम भाग पृ० १६४-१६५, १६८, १६९ तथा चतुर्थ भाग पृ० १२०, १२२, ४१४, ४२०।
८. कामसूत्र (वात्स्यायन) १।१।८।
९. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (दे) पृ० १९।
१०. बृहद्देशी (मतंग) पृ० ३२।
११. काव्यमीमांसा (राजशेखर) १।१।
१२. रसार्णवसुधाकर (शिङ्गभूपाल)।
१३. सङ्गीतरत्नाकर (शार्ङ्गदेव) १।१७।

नान्ददेव[1] ने भरतभाष्य में उन्हें 'नन्दी' कहा है। नाट्यशास्त्र[2] के काव्यमाला संस्करण के अन्त में पुष्पिका में तथा भरतार्णव[3] में 'नन्दिभरत' नाम का उल्लेख है। नाट्यशास्त्र[4] और अभिनयदर्पण[5] में नन्दिकेश्वर के लिए तण्डु शब्द का प्रयोग किया गया है। भरतार्णव[6] में नन्दिकेश्वर नन्दिकेशान, नन्दिकेश तथा शैलादि नाम प्रयुक्त हुए हैं। पुराणों[7] में नन्दिकेश्वर, नन्दीश्वर, नन्दीश, नन्दी (नन्दिन्) नन्दि एवं शैलादि नाम प्राप्त होते हैं। हरिवंशपुराण[8] में नन्दि को नन्दिकेश्वर कहा गया है। कोष ग्रन्थों[9] में नन्दिकेश्वर का दूसरा नाम नन्दि, नन्दीश्वर, शालंकायन, ताण्डवतालिक एवं तण्डु बताया गया है। इस प्रकार ये सभी पर्यायवाची शब्द हैं और नन्दिकेश्वर के लिए व्यवहृत होते रहे हैं।

इस प्रकार नाट्यशास्त्र, सङ्गीतशास्त्र, पुराण तथा सम्बद्ध अन्य ग्रन्थों के विवरणों के विश्लेषण से आचार्य नन्दिकेश्वर के सम्बन्ध से जो जानकारी प्राप्त हुई है, तदनुसार नन्दिकेश्वर शिव के अनन्य भक्त, अन्तेवासी एवं उनके प्रमुख गण थे। उनका अपर नाम नन्दी था। उन्होंने शिव की आज्ञा से भरत को दीक्षित किया था। नाट्शास्त्र एवं सङ्गीतशास्त्र के प्रणयन एवं प्रयोग में उनका विशेष योगदान रहा है। वे नाट्यशास्त्र-प्रणेता, सङ्गीतशास्त्रकार, एवं नृत्यकला के प्रवर्त्तक आचार्य थे।

नन्दिकेश्वर का जीवनवृत्त

संस्कृत नाट्यशास्त्र के इतिहास में नन्दिकेश्वर का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न आचार्य थे। नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों एवं अन्य ग्रन्थों में नन्दिकेश्वर के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में जो बिखरी हुई सामग्री प्राप्त होती है, तदनुसार उनका व्यक्तित्व कुछ पौराणिक-सा लगता है। वहाँ वे ब्रह्मा, शिव, पार्वती, इन्द्र आदि देवताओं के समकालीन कहे गये हैं और वहाँ उन्हें

१. भरतभाष्य (नान्यदेव) १।१७।
२. नन्दिभरतसङ्गीतपुस्तकम् (नाट्यशास्त्र-काव्यमाला)।
३. भरतार्णव ७५२।
४. नाट्यशास्त्र, चतुर्थ अध्याय।
५. अभिनयदर्पण ४-५।
६. भरतार्णव १३७, १९३, ६३८, ६६०, ६६६, ७०५, ७६४, ७६५, ७७१, ७७४, ७८६, ८८९, ८९८, ९२३, ९७४।
७. कूर्मपुराण, (उत्तरार्द्ध) अध्याय ४३, लिङ्गपुराण (पूर्वार्द्ध) अध्याय ४२–४४; वाराहपुराण तथा हरिवंशपुराण १८२।८६।
८. हरिवंशपुराण १८२।८६।
९. शब्दकल्पद्रुमकोष, द्वितीय काण्ड ८२४ तथा कल्पद्रुमकोष पृ० २९२।

शिव का पार्षद कहा गया है। पुराणों के अनुसार वे शिलाद ऋषि के पुत्र थे। उनका पैतृक नाम शैलादि था। शिव ने उन्हें पुत्र के रूप में स्वीकार कर नन्दीश्वर (नन्दिकेश्वर) नाम रखा और अपने गणों में प्रमुख स्थान दिया। इस प्रकार नन्दिकेश्वर शिव के प्रमुख गण थे।

डा० मनमोहन घोष का मत है कि नन्दिकेश्वर दाक्षिणात्य थे[१]। क्योंकि दक्षिण भारत में नन्दिकेश्वर की देवता के रूप में पूजा की जाती है। बेल्लूर के शिवमन्दिर में नन्दिकेश्वर की एक कांस्यमूर्त्ति प्राप्त हुई है, जिसके चार हाथ हैं, पीछे के हाथ में परशु है। पीछे का हाथ अभय मुद्रा में उठा हुआ है और आगे का हाथ अञ्जलिमुद्रा में है। शिर पर जटामुकुट है और चन्द्रमा एवं गङ्गा से सुशोभित है तथा वे पद्मासन पर स्थित हैं[२]। इसके अतिरिक्त अभिनयदर्पण एवं भरतार्णव की जो पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हुई हैं, वे सब दक्षिण भारत में और तेलगु भाषा में प्राप्त हुई हैं। इससे प्रतीत होता है कि नन्दिकेश्वर दक्षिण भारत के थे; क्योंकि दक्षिण भारत में विशिष्ट देवताओं के नाम पर व्यक्तियों के नाम रखने की प्रथा है। किन्तु अभिनयदर्पण एवं नाट्यशास्त्र में उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर कहा जाता है कि नन्दिकेश्वर शिव के प्रमुख गण एवं अन्तेवासी थे। शिव का निवास कैलासपर्वत पर माना जाता है, अतः नन्दिकेश्वर भी कैलासपर्वत पर रहते होंगे।

आनन्दकुमार स्वामी के अनुसार नन्दिकेश्वर तन्त्र, योग, मीमांसा एवं शैव दर्शन के आचार्य थे। वे शिव के अवतार माने जाते थे और कैलास पर्वत पर रहते थे। वहीं पर इन्द्र के साथ इनका वार्तालाप हुआ था। कहा जाता है कि एक बार शुक्राचार्य से विद्या प्राप्त करने वाले असुरों ने देवताओं को एक नृत्य-प्रतियोगिता में भाग लेने की चुनौती दी थी। तब इन्द्र ने नन्दिकेश्वर के पास आकर प्रार्थना की कि वे इन्हें अभिनयकला की शिक्षा दें, जिससे वे असुरों पर विजय प्राप्त कर सकें। तब नन्दिकेश्वर ने चार हजार श्लोकों वाले भरतार्णव की रचना कर इन्द्र को उसका अध्ययन करने के लिए कहा[3]। उसके बाद इन्द्र के आदेश से नन्दिकेश्वर ने भरतपुत्र सुमति को भरतार्णव की शिक्षा दी। नागेशभट्ट ने अपने शब्देन्दुशेखर नामक ग्रन्थ में नन्दिकेश्वर को शिवसूत्रों के व्याख्याकार के रूप में उल्लेख किया है[४]। नन्दिकेश्वर ने शिवसूत्रों के रहस्य को स्फुट करने के लिए प्रथम २६ कारिकाओं में शैवदर्शन की दृष्टि से व्याख्या की और शैवमतप्रतिपादक 'नन्दिकेश्वरकाशिका' नामक एक ग्रन्थ की रचना की। साथ ही उन्हीं माहेश्वरसूत्रों के आधार पर संगीतकला की

१. अभिनयदर्पण-भूमिका (घोष) पृ० ६७।

२. वही।

३. सङ्गीत-परम्परा और भरतार्णव (भारतीय साहित्य, पृ० ६८)

४. लघुशब्देन्दुशेखर (नागेशभट्ट) पृ० ७।

दृष्टि से भी व्याख्या की और 'रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण' नामक संगीत विषयक ग्रन्थ की रचना की[१]।

अभिनयदर्पण के अनुसार नन्दिकेश्वर भरत के शिक्षक, ताण्डवनृत्य के प्रयोक्ता एवं प्रवक्ता थे। भरतार्णव में नन्दिकेश्वर का शिव के गण, नाट्य-प्रयोक्ता, नाट्यशास्त्र-प्रणेता, नृत्याचार्य एवं सङ्गीतशास्त्रकार के रूप में उल्लेख है। नाट्यशास्त्र के अनुसार नाट्यवेद के प्रथम प्रवक्ता ब्रह्मा हैं। उन्होंने नाट्य-प्रदर्शन के लिए भरत को चुना और नृत्य के प्रवर्त्तक शिव हैं। उन्होंने नृत्य का उपदेश तण्डु (नन्दि) को दिया और तण्डु ने नृत्य को नाट्य के साथ जोड़ दिया। इसीलिए नाट्यशास्त्र में ब्रह्मा और शिव की एक साथ वन्दना की गयी है—**'प्रणम्य शिरसा देवौ पितामहमहेश्वरौ'**[२]। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि नाट्य के देवता ब्रह्मा हैं और नृत्य के देवता शिव हैं तथा तण्डु (नन्दि) दोनों के बीच की कड़ी हैं। अभिनवगुप्त ने भी नाट्य का प्रवर्तक ब्रह्मा और नृत्य का प्रवर्त्तक शिव को स्वीकार किया है।

अभिनवगुप्त के अनुसार तण्डु और नन्दि एक ही व्यक्ति माने जाते हैं। शिव ने रेचकों, अङ्गहारों एवं पिण्डीबन्धों की सर्जना कर तण्डु को सिखाया था। दक्षयज्ञ-विध्वंस के अनन्तर सन्ध्या के समय जब शिव ने ताल, लय एवं अङ्गहारों से युक्त नर्तन (नृत्य) किया था और पार्वती ने सुकुमार नृत्य, प्रदशित किया था तो उस पिण्डीबन्ध नृत्य में नन्दिकेश्वर ने मृदङ्ग पर संगत की थी[३]। तव नन्दी तथा वीरभद्र प्रमुख गणों ने पिण्डीबन्धों को देखकर उनके नाम रख दिये। उनमें नन्दी के पिण्डीवन्ध का नाम 'पट्टसी' था[४]।

नाट्यशास्त्र के पञ्चम अध्याय में 'पुनश्चित्र' यहाँ से लेकर अध्याय के अन्त तक ध्रुवानिरूपण नाट्यशास्त्र के अनेक संस्करणों में प्राप्त नहीं होता। अतएव अभिनवगुप्त ने इस पर टीका नहीं लिखी है, ऐसा विद्वानों का कथन है। किन्तु नाट्यशास्त्र के प्रथम सम्पादक ने इस भाग पर कोई पारिभाषिक पद टीका लिखी है। इस सम्बन्ध में अभिनवगुप्त का कथन है कि यह रचना नन्दिकेश्वर की है; क्योंकि नाट्यशास्त्र के अधिकारी विद्वान् कीर्त्तिधर ने नन्दि-केश्वर से मतानुसार चित्रपूर्वरङ्गविधि का निरूपण किया है[५]। इस कथन से इस बात की पुष्टि होती है कि नन्दिकेश्वर का चित्रपूर्वरङ्ग के विधान में

---

१. रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण (भूमिका पृ० १)

२. नाट्यशास्त्र १।१।

३. नन्दिकेश्वरनियतस्थानं मृदङ्गः (अभिनवभारती भाग १ पृ० १६५)

४. नन्दिनश्चापि पट्टसी (नाट्यशास्त्र ४।२५३)।

५. यत्कीर्त्तिधारेण नन्दिकेश्वरमतागामित्वेन दर्शितं तदस्माभिः साक्षान्न दृष्टं तत्प्रत्ययात्तु लिख्यते सङ्क्षेपतः।.........इत्येवं नन्दिकेश्वरमतानुसारेण चित्रपूर्वरङ्गविधिर्निबद्धः। (अभिनवभारती, भाग ४ पृ० १२०, १२२)

योगदान रहा है और ये नन्दिकेश्वर वही हो सकते हैं, जिन्हें शिव ने रेचकों, करणों एवं अङ्गहारों से युक्त नृत्य की शिक्षा देकर उसे पूर्वरङ्गविधि में समायोजित करने के लिए कहा था।

शारदातनय के अनुसार नाट्यवेद के आविष्कर्त्ता शिव हैं। शिव ने नाट्यवेद की शिक्षा नन्दिकेश्वर को दी और नन्दिकेश्वर ने शिव के आदेश से ब्रह्मा को नाट्यवेद की शिक्षा दी और ब्रह्मा ने भरत को सिखाया[1]। इस प्रकार शारदातनय के अनुसार नन्दिकेश्वर शिव के शिष्य और ब्रह्मा के गुरु रहे हैं। मतङ्ग ने बृहद्देशी में नन्दिकेश्वर का संगीताचार्य के रूप में उल्लेख किया है। उनकी दृष्टि में नन्दिकेश्वर का द्वादशस्वरमूर्च्छनावाद रागसिद्धि के लिए आवश्यक है[2]। नान्यदेव ने संगीतशास्त्रकार के रूप में नन्दि का स्मरण किया है और पुष्करवाद्यों को नन्दिका मत भरत के समान प्रमाणभूत माना है[3]। शार्ङ्गदेव ने संगीतरत्नाकर में नन्दिकेश्वर के मतों का विवेचन किया है[4] और कई स्थलों पर दोनों में समानता भी पायी जाती है। संगीत-रत्नाकर के टीकाकार शिङ्गभूपाल ने नन्दिकेश्वर के मत की चर्चा की है और उनकी रचना का नाम 'नन्दिकेश्वरसंहिता' बताया है,[5] किन्तु यह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। काव्यमीमांसा में नन्दिकेश्वर को रसशास्त्र का आधिकारिक विद्वान् बताया गया है[6]। वात्स्यायन के कामसूत्र में उन्हें कामशास्त्र का लेखक बताया गया है[7]। उन्होंने अपने स्वामी के गृहद्वार पर बैठकर एक हजार अध्यायों में स्वतन्त्र कामशास्त्र की रचना की थी।

प्रो० रामकृष्ण कवि ने नन्दिकेश्वर और तण्डु को एक ही व्यक्ति माना है। उनके अनुसार नन्दिकेश्वर ने 'नन्दिकेश्वरसंहिता' की रचना की थी। जिसका अधिकतर भाग नष्ट हो गया, अतशिष्ट अंश सम्भवतः अभिनयदर्पण है[8]। आनन्दकुमार स्वामी के अनुसार नन्दिकेश्वर तन्त्र, योग, पूर्वमीमांसा, एवं लिङ्गायत शैवदर्शन के आचार्य थे। वे शिव के अवतार थे और कैलास पर्वत पर रहते थे। श्रीकृष्णमाचारी ने नन्दिकेश्वर को शिव का अवतार बताया

---

१. बृहद्देशी (मतंग), पृ० ३२।

२. भावप्रकाशन (शारदातनय) पृ० २८५।

३. भरतभाष्य (नान्यदेव) पृ० २०२, २०४।

४. संगीतरत्नाकर १।१६-१७।

५. रसार्णवसुधाकर (शिंगभूपाल) भारतीय साहित्य पृ० ६८।

६. काव्गमीमांसा, प्रथम अध्याय।

७. कामसूत्र १।१।६-१४।

८. द क्वार्टर्ली जर्नल् आफ द आन्ध्र हिस्टोरिकल रिसर्च सोसाइटी। (भाग ३ पृ० २५-२६)

है और उन्होंने पुष्करादि वाद्यों के सम्बन्ध में उनके मत का उल्लेख भी किया है[१]।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरणों के अनुशीलन के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि नन्दिकेश्वर योग, तन्त्र, मीमांसा, दर्शन, कामसूत्र, रसशास्त्र, नाट्यशास्त्र और संगीत के विद्वान् थे। उन्हें शिव का अवतार भी कहा गया है। वे शिव के प्रमुख गण और भरत के शिक्षक थे।

नन्दिकेश्वर का व्यक्तित्व

भारतीय नाटच-परम्परा में नन्दिकेश्वर का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न आचार्य थे। उन्होंने नाटच की महत्त्वपूर्ण विधा अभिनय की उदात्त परम्परा की स्थापना की है जो लोक एवं शास्त्र के नये दृष्टिकोण एवं नयी अभिरुचि के द्वारा नाटचाभिनय मानव की चित्तवृत्तियों को संयमित एवं आनन्दित करता है। कहा जाता है कि जब मानव लोक-चिन्ताओं से घिर जाता है, मन खिन्न हो जाता है तो मन की खिन्नता एवं थकावट को दूर करने के लिए और अपने को प्रसन्न रखने के भाव से रङ्गमञ्च पर जीवन की विभिन्न प्रक्रियाओं का साकार रूप अभिनय देखता है। उस समय वह अभिनेताओं से तादात्म्य स्थापित कर इतना प्रभावित हो जाता है कि उसका चित्त शान्त हो जाता है, उसकी चिन्ताएँ दूर हो जाती हैं और वह आनन्दविभोर हो उठता है। इस प्रकार नाटचाभिनय लोकानुरञ्जन के साथ उपदेशप्रद एवं शान्तिप्रद बन जाता है। इस सदुद्देश्य को दृष्टि में रखकर नन्दिकेश्वर नाटच को चारों वेदों का सारतत्त्व बतलाते हुए कहते हैं कि ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठच, यजुर्वेद से अभिनय, सामवेद से गीत और अथर्ववेद से रसों का संग्रह करके धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष को देने वाला नाटचशास्त्र बनाया है। इससे कीर्त्ति, वाक्चातुर्य, सौभाग्य एवं पाण्डित्य की वृद्धि होती है और व्यक्ति में उदारता, स्थिरता, धैर्य एवं विलास उत्पन्न होता है। इससे दुःख, पीड़ा, शोक, नैराश्य और खेद के भाव मिट जाते है। इसके बाद ब्रह्मानन्द से भी बढ़कर आनन्द की प्राप्ति होती है। यदि ऐसा न होता तो नारद मुनि जैसे विरक्त सन्तों को यह नाटच कैसे मोहित कर लेता[२]? इस प्रकार नन्दिकेश्वर ने लोक और शास्त्र दोनों दृष्टियों से अभिनय की परिकल्पना कर नाटचशास्त्र को एक नवीन दिशा प्रदान की है। इस ललितकला का प्रयोग दुःख एवं शोक से संतप्त मानव के दुःखों एवं तापों को दग्ध कर जीवन में सुख-शान्ति एवं आनन्द की शीतल वर्षा करता है। इस प्रकार नन्दिकेश्वर के द्वारा यह अभिनयकला उसकी अक्षय एवं उज्ज्वल कीर्ति को प्रतिभासित करती है।

---

१. मिरर आफ़ जेश्चर, पृ० ३१।

२. अभिनयदर्पण ७-११।

भारतीय नाटच-परम्परा में संगीत की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। संगीत अभिनय का जीवनाधायक तत्त्व है। नाटच में संगीत का महत्त्व सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है। केवल भारतीय विद्वान् ही नहीं, बल्कि पाश्चात्य विद्वान् भी संगीत का महत्त्व स्वीकार करते हैं। इसी दृष्टि से नन्दिकेश्वर ने भी नाटच के साथ संगीत पर भी विचार किया है। संगीत का प्रमुख तत्त्व नृत्य है। नृत्य के बिना संगीत अधूरा रहता है। नृत्य के साथ प्रयुक्त गीत लोकचित्र को अधिक मनोरञ्जन प्रदान करता है। नन्दिकेश्वर ने भगवान् शिव से नृत्य की शिक्षा ग्रहण कर लोक में प्रसारित किया था। उनके ग्रन्थों के समीकरण से यह ज्ञात होता है कि लोक-जीवन को सुसंस्कृत, परिष्कृत एवं विकसित बनाने के उद्देश्य से ही उन्होंने संगीतशास्त्र का प्रणयन किया था। उनके द्वारा प्रवर्तित नृत्यकला नाटचकला का पूरक है।

इस प्रकार नन्दिकेश्वर नाटचशास्त्र-प्रणेता, संगीतशास्त्रकार, कामशास्त्र-निर्माता एवं नृत्यशास्त्रकार थे। अभिनयकला के मर्मज्ञ तो थे ही; साथ ही योग, तन्त्र एवं दर्शन के भी ज्ञाता थे। वे लोकहित का ध्यान रखने वाले एक क्रियात्मक पुरुष थे। अभिनय एवं नृत्यकला के सृजन में तो उनकी प्रतिभा अलौकिक थी। उन्होंने नाटचप्रयोग हेतु शिव की आज्ञा से भरत को दीक्षित किया था। उन्होंने ही नृत्य-प्रतियोगिता में असुरों की चुनौती को स्वीकार कर भरतार्णव की रचना की थी और उसका उपदेश सुमति को दिया था। उन्हें शिव का गण, ताण्डवनृत्य का उपदेष्टा तथा मृदङ्गवादक भी कहा गया है। वे नाटच, नृत्य, संगीत, कामशास्त्र, योग, तन्त्र, दर्शन एवं रसशास्त्र के आचार्य के रूप में विश्रुत रहे हैं। इस प्रकार नन्दिकेश्वर का बहु आयामी व्यक्तित्व स्पष्ट परिलक्षित होता है।

नन्दिकेश्वर का समय

संस्कृत वाङ्मय के प्राचीन आचार्यों, लेखकों एवं कवियों की यह धारणा रही है कि वे अपनी रचनाओं में अथवा अन्यत्र अपने जीवनवृत्त एवं काल के विषय में कुछ भी परिचय देने में प्रायः उदासीन रहा करते थे। इसी कारण इनके समय आदि का निश्चय करने में लेखकों को बड़ी कठिनाई होती है। नन्दिकेश्वर के स्थितिकाल के सम्बन्ध में भी यही स्थिति रही है। उन्होंने अपने ग्रन्थों में अपने जीवन-परिचय एवं जन्म के सम्बन्ध में कुछ उल्लेख किया है। यहाँ हम आभ्यन्तर एवं बाह्य साक्ष्यों के आधार पर उनका स्थितिकाल-निर्धारण करने का प्रयास करेंगे।

अन्तःसाक्ष्य

नन्दिकेश्वर ने अपने ग्रन्थों में विविध विषयों की विवेचना के सन्दर्भ में प्राचीनकाल के अनेक आचार्यों एवं ग्रन्थों का उल्लेख किया है। नाटचोत्पत्ति

के प्रसंग में भरत,[१] हस्ताभिनय के सम्बन्ध में बृहस्पति,[२] नानार्थहस्तप्रकरण में पार्वती,[३] ताण्डवनृत्य एवं शृङ्गनाटच के सन्दर्भ में शिव,[४] पुष्पाञ्जलि विधान के प्रकरण में सदाशिव,[५] नारद,[६] तुम्बुरु,[७] सप्तलास्य प्रकरण में याज्ञवल्क्य[८] एवं नन्दिभरत,[९] अनेक स्थलों पर सुमति[१०] तथा नानार्थहस्त-प्रकरण में भरतार्थचन्द्रिका[११] एवं उद्घट्टित पाद के निरूपण में भरतागम का उल्लेख हुआ है। इन प्राचीन आचार्यों एवं ग्रन्थों के नामोल्लेख से इतना तो निश्चित है कि ये सब आचार्य नन्दिकेश्वर के पूर्व रहे या उनके समकालीन रहे हैं। इससे इन प्राचीन आचार्यों के साथ-साथ नन्दिकेश्वर के प्राचीन होने का स्पष्ट संकेत मिलता है।

नन्दिकेश्वर ने अभिनयदर्पण एवं भरतार्णव में भरत का उल्लेख किया है, जिसके आधार पर कहा जाता है कि नन्दिकेश्वर भरत के बाद हुए हैं। मेरे विचार से नामोल्लेख मात्र से यह कल्पना कर लेना कि भरत नन्दिकेश्वर के पूर्ववर्त्ती हैं, तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता; क्योंकि एक ग्रन्थ में दूसरे ग्रन्थकारों के नामोल्लेख की यह परम्परा पुराणकाल से ही प्रचलित रही है। यही कारण है कि हरेक पुराणों में दूसरे पुराणों एवं उनके प्रवक्ताओं का नामोल्लेख मिलता है। एक और भी बात है कि स्वयं भरत ने नाट्यशास्त्र में वृत्तियों के निरूपण के प्रसंग में भरत का नामोल्लेख किया है[१२]। इसके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र के प्रथम एवं षष्ठ अध्याय में भी 'भरता:'[१३] शब्द का उल्लेख है। इससे समस्या और उलझ जाती है कि क्या भरत से पहले भी कोई 'भरत' था ? ऐसा प्रतीत होता है कि इनके पहले भी कोई भरत हो चुके हैं, जिसका

---

१. अभिनयदर्पण, १।
२. भरतार्णव, ४।१३७।
३. वही १०।५८४-६३८।
४. वही १४।७८७।
५. वही १५।९६२।
६. वही १५।९५५ तथा अभिनयदर्पण, १।
७. वही १५।९५५।
८. वही १३।७०६, ७६२, ७६५।
९. वही ७५२।
१०. वही ४२९, ४९४, ५८४, ७३६-३८, ७०५, ७५९, ७६३, ७६७, ७८७।
११. वही १०।६३६।
१२. स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः।
(नाटचशास्त्र २०।२५)
१३. वही १।२, ६ तथा ६।१, ४

दोनों आचार्यों ने उल्लेख किया होगा और वे आदिभरत हो सकते हैं। अभिनवगुप्त का कथन है कि वृत्तियों के निरूपण के प्रसंग में जो 'भरत' शब्द आया है वह सामान्य जाति (नटमात्र) का बोधक है[1]। शारदातनय के भावप्रकाशन में 'भरत' शब्द का प्रयोग नट जाति के लिए किया गया प्रतीत होता है[2]। अभिनयदर्पण में नाट्योत्पत्ति प्रसंग के अतिरिक्त जहाँ कहीं भी 'भरत' शब्द का प्रयोग हुआ है, सर्वत्र 'नट' या 'नाट्य' के पर्याय के रूप में हुआ है। इनके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र में रङ्गपूजा तथा पिण्डीबन्धों के निरूपण के प्रसंग में नन्दीश्वर और नन्दी (नन्दिन्) नाम आया है[3]। इसके अतिरिक्त भरत ने नन्दिकेश्वर के बहुत से सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं किया है। केवल उन्हीं को स्वीकार किया है, जो मानव के सामान्य जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी थे; और जो रङ्गमञ्च की दृष्टि से उपयोगी थे, उन्हें भी लिया है। इन विवरणों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि नन्दी (नन्दिभरत) या नन्दिकेश्वर भरत के पूर्ववर्त्ती थे। भरत का समय ईसापूर्व पञ्चम शताब्दी माना जाता है,[4] अतः नन्दिकेश्वर का समय इसके पूर्व षष्ठ शताब्दी ईसापूर्व मानना चाहिए।

भरतार्णव में बृहस्पति के मतानुसार हस्तविनियोग का निरूपण है। बृहस्पति का ग्रन्थ अभी तक प्रकाश में नहीं आया है, किन्तु नाट्यशास्त्र और कौटलीय अर्थशास्त्र,[5] वात्स्यायन के कामसूत्र[6] में बृहस्पति का आचार्य के रूप में उल्लेख है। नाट्यशास्त्र और अर्थशास्त्र का समय ईसापूर्व पञ्चम शताब्दी के आस-पास माना जाता है, अतः बृहस्पति का समय उनके पूर्व होना निश्चित है। यदि यह बृहस्पति अर्थशास्त्रकार बृहस्पति से भिन्न नहीं हैं तो निश्चय ही नन्दिकेश्वर के समकालिक या उनसे पूर्ववर्त्ती रहे होंगे।

भरतार्णव में याज्ञवल्क्य का महामुनि के रूप में उल्लेख है। याज्ञवल्क्य का श्वेतकेतु से शास्त्रार्थ हुआ था, जिसमें श्वेतकेतु पराजित हो गया था। श्वेतकेतु ने नन्दी (नन्दिकेश्वर) के कामसूत्र का संक्षेपण किया था। इससे स्पष्ट है कि नन्दिकेश्वर श्वेतकेतु के पहिले हुए हैं, किन्तु याज्ञवल्क्य के परवर्ती या पूर्वसमकालिक हैं।

भरतार्णव के अध्यायों के अन्त में तथा अन्यत्र अनेक स्थलों पर 'सुमति'

---

१. भरतैरिति नटैः स्वतो वंशकरे नामधेयं येषां (ते) भरतसन्तानत्वात्तद्धिते भरताः। (अभिनवभारती भाग २ पृ० ९१)

२. भावप्रकाशन पृ० २८६।

३. नाट्यशास्त्र ३।५९; ४।२५३-२५४।

४. नाट्यशास्त्र की भूमिका (डा० पारसनाथ द्विवेदी) पृ० २६-२७।

५. अर्थशास्त्र १।२।

६. कामसूत्र १।१।७।

का नाम आया है। विष्णु एवं भागवत पुराण के अनुसार सुमति भरत का पुत्र था[१]। भरत ब्रह्मावर्त्त से वैशाली आये थे और वहीं से दक्षिण कर्णाटक चले गये थे[२]। वहीं पर उन्होंने नाट्यशास्त्र की रचना की थी। इसीलिए आज भी कर्णाटक नृत्य 'भरत-नृत्यम्' के नाम से प्रसिद्ध है। भरत ने अपने पुत्र 'सुमति' को नाट्यवेद की शिक्षा ग्रहण करने के लिए नन्दिकेश्वर के पास भेजा था। भरत ने भरतार्णव की रचना कर सुमति को शिक्षित किया था। अब प्रश्न यह उठता है कि नाट्यशास्त्र में भरतपुत्रों की सूची में 'सुमति' का नामोल्लेख नहीं है, अतः उपरोक्त बात पर विश्वास नहीं किया जा सकता। इसका समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि भरत के नाट्यशास्त्र में जिन सौ पुत्रों का नामोल्लेख हुआ है, उनमें भरत के पाँच पुत्रों में किसी का नामोल्लेख नहीं है। अतः यह भरत सम्भवतः आदिभरत रहे होंगे, जो नन्दिकेश्वर के समकालिक आचार्य रहे होंगे और उन्होंने अपने पुत्र सुमति को नन्दिकेश्वर के पास शिक्षा ग्रहण करने के लिए भेजा होगा। इस प्रकार नन्दिकेश्वर आदिभरत के समकालिक सिद्ध होते हैं।

इसके अतिरिक्त भरत के सौ पुत्र होने की बात भी विश्वसनीय नहीं प्रतीत होती। क्योंकि इन शत पुत्रों की सूची में बहुत से नाम प्राचीन हैं जो भरत से बहुत पहले हो चुके हैं; कुछ विभिन्न कालों के मुनि हैं और कुछ कल्पित नाम हैं। यह वर्णन तो ऐसा लगता है कि जिस प्रकार भोजप्रबन्ध में ईसापूर्व प्रथम शताब्दी से लेकर दशम शताब्दी तक के कालिदास, बाण, भवभूति आदि समस्त कवियों को भोज के दरबार में लाकर बैठा दिया था, उसी प्रकार नाटचशास्त्र में प्राचीन-नवीन सभी प्रकार के मुनियों, ऋषियों, आचार्यों, जिनका नाटच से छुआ-छिटका कुछ भी सम्बन्ध रहा है, भरत पुत्रों में सम्मिलित कर दिया गया। कहाँ तो वरतन्तु के शिष्य कौत्स, कहाँ पाणिनि के अनुज पिङ्गल, कहाँ सांख्याचार्य पञ्चशिख, कहाँ न्यायसूत्रकर्त्ता गौतम, कहाँ शाण्डिल्य एवं माठर, कहाँ पुराण एवं वेदान्तसूत्र के रचयिता बादरायण (व्यास), कहाँ वात्स्य, कोहल, दत्तिल एवं शालिकर्ण और कहाँ ताण्डच एवं शालङ्कायन आदि। क्या ये सभी भरतपुत्र थे? यदि यह कहा जाय कि ये भरतपुत्र वरतन्तु-शिष्य कौत्स, छन्दःशास्त्रकार, पिङ्गल, सांख्याचार्य पञ्चशिख, न्यायशास्त्रकार गौतम, पुराणकर्त्ता बादरायण, वैदिक ऋषि ताण्डच, शालङ्कायन से भिन्न थे, तो यह भी कहा जा सकता है कि ये भरत भी प्राचीन नाटचवेद-स्रष्टा भरत से भिन्न थे। इसके अतिरिक्त भरतपुत्रों में पादुक, उपानह,

---

१. विष्णुपुराण २।१।२६-३३। भागवतपुराण ५।७।३।
तथा (भरतस्यात्मजं सुमतिर्नामाभिहितः—भागवतपुराण ५।१५।१)

२. ······स्वयं सकलसम्पन्निकेतनात् स्वनिकेतनात्पुलहाश्रमं प्रबव्राज······ दक्षिणकर्णाटकान् देशान् यदृच्छयोपगतः। (भागवत० ५।७।८)

भयानक, बीभत्स, रौद्र, वीर, चाषस्वर, विद्युत्, षष्ढ, शठ आदि कुछ विचित्र नाम भी आये हैं, जिनके भरतपुत्र होने की सम्भावना भी नहीं की जा सकती। इस प्रकार भरत के शतपुत्रों को कल्पित ही कहा जा सकता है। अतः ये भरतपुत्र नन्दिकेश्वर के काल-निर्धारण या ऐतिहासिक विवेचन में सहायक नहीं हो सकते।

अभिनयदर्पण में दशावतारों के हस्त-संकेतों का वर्णन करते हुए उनके लक्षण एवं विनियोग बताये गये हैं, किन्तु बुद्धावतार को छोड़ दिया गया है[1]। उनके स्थान पर बलराम का नाम जोड़ा गया है। अग्नि, मत्स्य, भागवत आदि पुराणों में दशावतारों में बुद्ध का उल्लेख है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय बुद्ध की अवतारों में गणना नहीं हो पायी थी। यदि बुद्ध या महाबीर की अवतारों में गणना होने लगी होती तो नन्दिकेश्वर उनकी हस्तमुद्राओं का उल्लेख अवश्य करते। इससे ज्ञात होता है कि अभिनयदर्पण की रचना बुद्धावतार के पहिले हो चुकी होगी। बुद्धावतार का समय ईसापूर्व पञ्चम शताब्दी माना जाता है, अतः नन्दिकेश्वर का समय ईसापूर्व छठी शताब्दी माना जा सकता है।

ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में 'हड्डिडोमौ' और 'बागदी' नामक जातियों का उल्लेख है[2]। 'हाँडी, डोम तथा बागदी जातियाँ बंगाल की बहुत प्रसिद्ध जातियाँ थीं। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के अनुसार म्लेच्छ से कुविन्द-कन्या के संयोग से 'जोला' (जुलाहा) जाति की उत्पत्ति हुई है[3]। कुविन्द 'ताती' जाति की थी, जो बुनाई एवं चुनाई का काम करती थी। अभिनयदर्पण और भरतार्णव में इन जातियों का उल्लेख नहीं है। इससे स्पष्ट है कि पुराणों की रचना के पहिले अभिनयदर्पण एवं भरतार्णव की रचना हो चुकी थी।

इसके अतिरिक्त अभिनयदर्पण जातियों के हस्ताभिनय के निरूपण के प्रसङ्ग में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार जातियों के नाम गिना कर **'यदष्टादशजातीयानां कर्म'** लिखकर चार वर्णों के अतिरिक्त अठारह अन्य जातियों का उल्लेख किया है[4]। मनुस्मृति में एक स्थल पर पचास जातियाँ गिनाकर कहा गया है कि इनके अतिरिक्त और भी बहुत-सी जातियाँ होती हैं[5]। आगे चलकर मनु के द्वारा निर्दिष्ट जातियों की संख्या बासठ हो जाती है, फिर भी 'इत्यादि' पद जोड़कर उनकी संख्या असंख्य बतायी गयी है। ऐसा

---

१. अभिनयदर्पण पृ० २४०-२४१।

२. ब्रह्मवैवर्त्तपुराण पृ० १०।१०५, ११८।

३. म्लेच्छात्कुविन्दकन्यायां जोलाजातिर्बभूव ह।

(ब्रह्मवैवर्त्तपुराण १०।१२१)

४. अभिनयदर्पण पृ० २२६-२३०।

५. मनुस्मृति ८।३९, १०।४०।

प्रतीत होता है कि उस समय जातियों का उतना विस्तार नहीं हुआ था जितना मनुस्मृतिकाल में पाया जाता है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि मनुस्मृति की रचना के पूर्व अभिनयदर्पण की रचना हो चुकी थी।

इनके अतिरिक्त भरतार्णव में 'कोल्लाटिक' जाति का उल्लेख है[1]। यह 'कोल' जाति थी जो 'हब्शी' एवं 'निषाद' जाति के मिश्रण से उत्पन्न हुई थी[2]। डॉ० स्टेनो एवं कोनो ने इसे भारत की मूल जाति माना है और यस्टर्न ने इस जाति का अस्तित्व द्रविड़ों से पहले स्वीकार किया है[3]। यह एक वर्णसंकर जाति थी, जो रज्जु, छुरिका पर नृत्य करने में निपुण एवं अस्त्र चलाने में दक्ष होती थी। भरतार्णव में इसे नट कहा गया है और प्रेङ्खणी नृत्य का आविष्कारक बताया गया है[4]।

इस प्रकार अन्तःसाक्ष्य के आधार पर कहा जा सकता है कि नन्दिकेश्वर के ग्रन्थ ईसवी सन् के शताब्दियों पूर्व अस्तित्व में आ चुके थे।

बाह्यसाक्ष्य

संगीतरत्नाकर के रचयिता शार्ङ्गदेव ने संगीतरत्नाकर में नन्दिकेश्वर का संगीताचार्य के रूप में उल्लेख किया है और उनके विचारों एवं सिद्धान्तों का व्याख्यान भी किया है। शारदातनय (१३वीं शताब्दी) ने भावप्रकाश में भरत के शिक्षक के रूप में नन्दिकेश्वर का उल्लेख किया है। संगीतसुधाकर के रचयिया हरपाल (१२वीं शताब्दी) ने संगीतसुधाकर में नृत्य एवं करण के प्रकरणों में नन्दिकेश्वर कृत भरतार्णव से अनेक उद्धरण उद्धृत किये हैं। नान्यदेव (११वीं शताब्दी) ने भरतभाष्य में नन्दिकेश्वर को संगीतशास्त्र के आचार्य के रूप में उल्लेख किया है और उनके मतों, विचारों का भी आकलन किया है। राजशेखर (दशम शताब्दी) ने नन्दिकेश्वर को रसशास्त्र का अधिकारी आचार्य बताया है। नाट्यशास्त्र के प्रमुख टीकाकार अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में नन्दिकेश्वर और नन्दिमत का अनेकों बार उल्लेख किया है और अनेकों प्रसङ्ग में उनके सिद्धान्तों, विचारों एवं उद्धरणों को भी उद्धृत किया है। अभिनव ने नन्दिसेश्वर को नाट्य, नृत्य, संगीत का आचार्य एवं मृदङ्गवादक के रूप में उद्धृत किया है। नाट्यशास्त्र के अधिकारी विद्वान् कीर्त्तिधर ने तो नन्दिकेश्वर के मतानुसार चित्रपूर्वरङ्गविधि का निरूपण किया है। इन उद्धरणों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये आचार्य नन्दिकेश्वर से

१. भरतार्णव पृ० ७४९।
२. प्राचीन भारत का बृहद् इतिहास पृ० ३७।
३. वही पृ० ४९।
४. भरतार्णव पृ० ७४७–७४८।

पूर्ण परिचित थे और उनके समय तक नन्दिकेश्वर एक आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे और उनके सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा हो चुकी थी।

बाह्य साक्ष्य के आधार पर नन्दिकेश्वर का समय निर्धारित करने में मतङ्ग का नाम विशेष उल्लेखनीय है। मतङ्ग ने बृहद्देशी में नन्दिकेश्वर का मूर्च्छना-विषयक मत उद्धृत किया है[१]। तमिल ग्रन्थ 'सिलप्पादिकरण' में मतङ्ग का उल्लेख हुआ है। 'सिलप्पादिकरण' की रचना चतुर्थ शताब्दी के लगभग मानी जाती है[२]। मतङ्ग इससे कई शताब्दी पूर्व रहे होंगे। मतङ्ग के समय तक नन्दिकेश्वर नाट्य एवं संगीत के आचार्य के रूप में विख्यात हो चुके थे।

वात्स्यायन ने कामसूत्र के अनुसार नन्दी (नन्दिकेश्वर) ने अपने स्वामी के गृहद्वार पर बैठकर सहस्र अध्यायों में कामशास्त्र का एक ग्रन्थ सम्पादित किया था[३]। रतिरहस्य और पञ्चसायक नामक ग्रन्थों में उन्हें कामशास्त्र का आचार्य बताया गया है। स्मिथ ने वात्स्यायन का समय ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी तथा सूर्यनारायण व्यास ने ईसापूर्व प्रथम शताब्दी माना है। अतः नन्दिकेश्वर का समय इसके कई शताब्दी पूर्व होना चाहिए। किन्तु पुराण, महाभारत और रामायण में नन्दिकेश्वर का उल्लेख होने से नन्दिकेश्वर का स्थितिकाल रामायण एवं महाभारत के पूर्व माना जा सकता है।

आधुनिक विद्वानों के मत

डॉ० मनमोहन घोष ने नन्दिकेश्वर का समय द्वितीय शताब्दी से पञ्चम शताब्दी के मध्य माना है[४]। डॉ० पराञ्जपे ने नन्दिकेश्वर का स्थितिकाल षष्ठ शताब्दी के बहुत पहले स्वीकार किया है। उनके अनुसार सप्तम शताब्दी में काव्यादर्श की श्रुतानुपालिनी नामक टीका में नन्दिन् (नन्दिकेश्वर) को दण्डी से पूर्ववर्त्ती माना गया है[५]। अतः नन्दिकेश्वर का समय षष्ठ शताब्दी के बहुत पहले होना चाहिए। देवदत्त शास्त्री नन्दिकेश्वर का समय द्वितीय एवं तृतीय शताब्दी के मध्य मानते हैं[६]। प्रो० रामकृष्ण कवि ने नन्दिकेश्वर का समय नाट्यशास्त्र की रचना के पूर्व माना है[७]। प्रो० कवि और घोष ने विस्तीर्ण

---

१. द्वादशस्वरसम्पन्ना ज्ञातव्या मूर्च्छना बुधैः।
जातिभाषादिसिद्ध्यर्थं तारमन्द्रादिसिद्धये ।। (बृहद्देशी ३२)

२. अभिनयदर्पण की भूमिका (घोष) पृ० ६६।

३. कामसूत्र १।१।८।

४. अभिनयदर्पण की भूमिका (घोष) पृ० ६७–७२।

५. भारतीय संगीत का इतिहास पृ० ४६७।

६. अभिनयदर्पण पृ० ५४।

७. भरतकोष (कवि) पृ० २।

मनन के पश्चात् नाटचशास्त्र का रचनाकाल ईसापूर्व पञ्चम शताब्दी माना है, अतः नन्दिकेश्वर का समय ईसापूर्व पञ्चम शताब्दी या इसके कुछ पूर्व रहा होगा।

निष्कर्ष—उपर्युक्त बाह्य एवं अन्तःसाक्ष्यों के अनुशीलन के पश्चात् यह निष्कर्ष निकलता है कि नन्दिकेश्वर के ग्रन्थ ईसा के कई शताब्दी पूर्व अस्तित्व में आ चुके थे, जिनमें नाटच, नृत्य, संगीत आदि विषयों पर विस्तार से विचार किया गया होगा। इतना तो स्पष्ट है कि नन्दिकेश्वर नाटच, नृत्य, संगीत, वाद्य, ताल, दर्शन, योग, तन्त्र एवं कामशास्त्र के विद्वान् थे। उन्होंने भरत को नाटच एवं नृत्य कला में दीक्षित किया था और अपने स्वामी के गृहद्वार पर बैठकर कामशास्त्र की रचना की थी। वह शिव के अन्तेवासी थे। उन्होंने इन्द्र की प्रार्थना पर चार हजार श्लोकों में भरतार्णव की रचना कर भरत-पुत्र सुमति को शिक्षित किया था। 'नन्दिकेश्वरकाशिका' के अनुसार सकललोक-नायक परमशिव शिव ने सनकादि सिद्धों के उद्धार के लिए चतुर्दशसूत्रात्मक तत्त्व का उपदेश दिया था। तदनन्तर पाणिनि ने उन माहेश्वरसूत्रों के आधार पर अष्टाध्यायी नामक व्याकरणशास्त्र का ग्रन्थ लिखा और उन्हीं माहेश्वर-सूत्रों के आधार पर नन्दिकेश्वर ने 'नन्दिकेश्वरकाशिका' नामक शैवमतप्रति-पादक ग्रन्थ लिखा था और उन्हीं माहेश्वरसूत्रों के आधार पर 'रुद्रडमरूद्भव-सूत्रविवरण' नामक संगीतशास्त्र-विषयक ग्रन्थ (गान्धर्ववेद) की रचना की थी। इस प्रकार पाणिनि और नन्दिकेश्वर दोनों के ग्रन्थों के प्रणयन के आधार माहेश्वरसूत्र ही रहे हैं। अतः पाणिनि और नन्दिकेश्वर दोनों समकालिक आचार्य रहे होंगे।

इस प्रकार उपर्युक्त साक्ष्यों एवं विवेचनाओं पर विचार-विमर्श करने के पश्चात् यही निष्कर्ष निकलता है कि नन्दिकेश्वर का स्थितिकाल ईसापूर्व पञ्चम शताब्दी माना जा सकता है।

नन्दिकेश्वर की रचनाएँ

नन्दिकेश्वर शिव के अन्तेवासी एवं उनके प्रमुख गण थे। शिव की उपासना के अतिरिक्त जितना भी समय बचता था उसे वे शास्त्र-चिन्तन में व्यतीत करते थे। उन्हें नटराज महामाहेश्वर शिव का प्रसाद एवं माँ पार्वती का वात्सल्य भी प्राप्त था। उनके सान्निध्य में रहकर उन्होंने जो कुछ सुना या सीखा, उसे शास्त्र के रूप में प्रकट किया। उन्होंने शास्त्र की किन-किन विधाओं पर साहित्य रचा, वह आज अज्ञात है। विद्वानों के अन्वेषण के पश्चात् अब तक उनकी जो रचनाएँ ज्ञात हो सकी हैं उनका विवरण आगे प्रस्तुत है।

(१) नन्दिकेश्वरसंहिता (नन्दीश्वरसंहिता)

शिङ्गभूपाल के अनुसार नन्दिकेश्वर की प्रथम कृति 'नन्दिकेश्वरसंहिता'

है[१]। किन्तु यह ग्रन्थ आज अनुपलब्ध है। केवल उद्धरण मात्र से इसकी सत्ता जानी जाती है। 'नन्दिकेश्वरसंहिता' नाट्यपरक ग्रन्थ प्रतीत होता है। नन्दिकेश्वर ने महादेव से जिस नाट्यवेद का अध्ययन किया था उसी के आधार पर इस ग्रन्थ की रचना की गयी होगी। ऐसा प्रतीत होता है कि 'नन्दिकेश्वर-संहिता' में अभिनय, संवाद, गीत, नृत्य, वाद्य, रस आदि नाट्य-सम्बन्धी विषयों का प्रतिपादन किया गया रहा होगा। प्रो० रामकृष्ण कवि के अनुसार नन्दिकेश्वर ने 'नन्दिकेश्वरसंहिता' की रचना की थी, जिसका अधिकतर भाग नष्ट हो गया और अवशिष्ट भाग सम्भवतः अभिनयदर्पण है[२]। ऐसा अनुमान किया जाता है कि 'नन्दिकेश्वरसंहिता' के कुछ खण्डित अंश प्राप्त हुए हों, जिसके आधार पर अभिनयपरक अध्यायों को जोड़कर 'अभिनयदर्पण' और संगीतपरक अध्यायों को जोड़कर 'भरतार्णव' का सम्पादन किया गया होगा। क्योंकि दोनों ग्रन्थ एक-दूसरे के पूरक प्रतीत होते हैं। रघुनाथ के संगीतसुधा नामक ग्रन्थ में 'नन्दीश्वरसंहीता' नामक एक पुस्तक का उल्लेख है। उनके मतानुसार सम्प्रति उपलब्ध 'औमापतम्' नामक ग्रन्थ उसी संहिता का संक्षिप्त रूपान्तर प्रतीत होता है[३]। इससे प्रतीत होता है कि 'नन्दीश्वरसंहिता' नामक ग्रन्थ का अस्तित्व अवश्य रहा होगा।

(२) अभिनयदर्पण

अभिनयदर्पण नन्दिकेश्वर की महत्त्वपूर्ण कृति है। इस ग्रन्थ का प्रथम प्रकाशन १९१७ ई० में कैम्ब्रिज से अंग्रेजी अनुवाद के साथ हुआ है। इसके अनुवादक आनन्दकुमार स्वामी हैं। यह अंग्रेजी अनुवाद 'मिरर ऑफ जेश्चर' के नाम से प्रसिद्ध है। दूसरा संस्करण १९३४ ई० में मनमोहन घोष के द्वारा कलकत्ता से प्रकाशित हुआ है। इस संस्करण के सम्पादन में कई पाण्डुलियों का उपयोग किया गया है। उनका विवरण अग्रलिखित है[४]—

१. प्रथम पाण्डुलिपि मद्रास राजकीय प्राच्य हस्तलिखित ग्रन्थ संग्रहालय से प्राप्त हुई थी। यह नागरी लिपि में तेलगू भाषा में है, जिसका अन्वेषण शेषगिरि शास्त्री ने १८९३–९४ में किया था।

२. द्वितीय पाण्डुलिपि विश्वभारती, शान्ति निकेतन, बंगाल की है, जिसकी संख्या ३०३८ है। यह तेलगू भाषा में ताड़पत्र पर लिखी हुई है।

---

१. डॉ० पारसनाथ द्विवेदी—संगीत परम्परा और भरतार्णव (भारतीय साहित्य पृ० ६८)।

२. द क्वार्टर्ली जर्नल् आफ द आन्ध्र हिस्टोरिकल रिसर्च सोसाइटी भाग ३, पृ० २५–२६।

३. संगीत-सुधा—रघुनाथ (भारतीय संगीत का इतिहास पृ० ४६५)।

४. अभिनयदर्पण की भूमिका (घोष) पृ० १४-१६, १८।

३. तृतीय पाण्डुलिपि अडचार लाइब्रेरी से प्राप्त की थी, जिसकी संख्या XXII C. 25 है। यह भी तेलगू भाषा में ताड़पत्र पर लिखी हुई है।

४. चतुर्थ पाण्डुलिपि भी अडचार लाइब्रेरी से प्राप्त तेलगू भाषा में ताड़पत्र पर लिखी हुई है, जिसकी संख्या XXII C. 386 है।

५. पञ्चम पाण्डुलिपि भी अडचार लाइब्रेरी से प्राप्त तेलगू भाषा में कागज पर लिखी हुई है। इसकी संख्या VIII J. 9 है।

उपर्युक्त पाँचों हस्तलिखित प्रतियों में विश्वभारती, शान्तिनिकेतन वाली प्रति को छोड़कर शेष चारों प्रतियाँ अपूर्ण हैं तथा उनके विषय-प्रतिपादन में भी पार्थक्य है।

६. षष्ठ हस्तलिखित प्रति भारतीय ग्रन्थालय से तेलगू भाषा में प्राप्त हुई है, जिसकी संख्या ३०२८ है।

७. सप्तम हस्तलिखित प्रति भारतीय ग्रन्थालय से देवनागरी लिपि में प्राप्त हुई है, जिसकी संख्या ३०९० है।

भारतीय ग्रन्थालय से प्राप्त दोनों पाण्डुलिपियों में अभिनय एवं ताल का वर्णन है। इसकी पुष्पिका में 'इति आञ्जनेय:' लिखा हुआ है, जिससे ज्ञात होता है कि ये प्रतियाँ आञ्जनेय सम्प्रदाय से सम्बन्धित हैं।

मनमोहन घोष ने उपर्युक्त प्रतियों का वैज्ञानिक अध्ययन कर 'अभिनय-दर्पण' का शुद्ध एवं परिष्कृत संस्करण १९३४ ई० में प्रकाशित किया था। उनका यह संस्करण मुख्यत: विश्वभारती, शान्तिनिकेतन वाली प्रति (सं० ३०३८) पर आधारित है। इस प्रकार आनन्दकुमार स्वामी ने १९१७ ई० में हर्बर्ड विश्वविद्यालय, कैम्ब्रिज से अभिनयदर्पण का अंग्रेजी अनुवाद 'मिरर आफ़ जेश्चर' के नाम से प्रकाशित किया था और उसका द्वितीय संशोधित संस्करण १९३६ ई० में न्यूयार्क से प्रकाशित हुआ और एक अन्य संस्करण एम० एम० घोष द्वारा कलकत्ता से प्रकाशित किया गया। आनन्दकुमार स्वामी ने 'मिरर आफ़ जेश्चर' के प्रथम श्लोक की टिप्पणी में बताया है कि यह अभिनय-दर्पण भण्डारकर प्राच्यविद्या शोधसंस्थान, पूना में प्राप्त 'भरतार्णव' का संक्षिप्त रूप है। किन्तु ऐसा उल्लेख अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।

(३) भरतार्णव

भरतार्णव नन्दिकेश्वर की एक अन्य महत्त्वपूर्ण कृति है। इस ग्रन्थ का प्रथम प्रकाशन के० वासुदेव शास्त्री द्वारा चार पाण्डुलिपियों के आधार पर सरस्वती महल ग्रन्थालय, तंजौर से १९५७ ई० में किया गया है। इस ग्रन्थ के सम्पादन में जिन पाण्डुलिपियों का उपयोग हुआ है उनका विवरण इस प्रकार है[1]—

---

१. भरतार्णव की भूमिका (तञ्जौर) पृ० ४, ७।

१. प्रथम पाण्डुलिपि भण्डारकर प्राच्यविद्या शोधसंस्थान, पूना से प्राप्त है, जिसमें १०१ से ८१० श्लोक हैं। यह पाण्डुलिपि अपूर्ण है।

२. द्वितीय पाण्डुलिपि प्राच्यविद्या संस्थान, मैसूर से प्राप्त है। यह पाण्डुलिपि भी अपूर्ण और अशुद्ध है।

३. तृतीय पाण्डुलिपि सरस्वती महल ग्रन्थालय, तंजौर से प्राप्त है। यह पाण्डुलिपि भी अपूर्ण है। इसमें कुल पन्द्रह अध्याय और आठ सौ श्लोक हैं।

४. चतुर्थ पाण्डुलिपि राजकीय प्राच्यविद्या ग्रन्थालय, मद्रास से प्राप्त की गयी थी।

इनमें भण्डारकर प्राच्यविद्या शोधसंस्थान, पूना से जो पाण्डुलिपि प्राप्त हुई है, उसके प्रथम भाग में विविध प्रकार के नर्तन एवं विशेष अभिनयों का प्रतिपादन है। द्वितीय भाग में संकरहस्तों और नानार्थहस्तों से सम्बन्धित अध्याय हैं, जिनका विवेचन प्रकाशित भरतार्णव के षष्ठ एवं दशम अध्यायों में हुआ है। प्रकाशित संस्करण में प्रथम तीन अध्याय तक जो हस्ताभिनयों से सम्बन्धित हैं, वे सरस्वती महल ग्रन्थालय, तञ्जौर तथा भण्डारकर प्राच्यविद्या शोधसंस्थान, पूना में प्राप्त पाण्डुलिपियों की सहायता से पुनरुद्धरित किये गये हैं। ये तीनों अध्याय प्राच्यविद्या संस्थान, मैसूर में प्राप्त पाण्डुलिपि में भी उसी प्रकार हैं जिस प्रकार तञ्जौर एवं पूना वाली प्रतियों में हैं। चतुर्थ अध्याय के प्रथम भाग, जिसमें बृहस्पति के मतानुसार हस्तविनियोग वर्णित है, वह भरतार्णव का एक भाग है। इसी अध्याय के द्वितीय भाग में तञ्जौर, पूना एवं मैसूर में प्राप्त पाण्डुलिपियों के आधार पर शिर एवं दृष्टियों के भेद जोड़ दिये गये हैं। शेष भाग सरस्वती महल, तञ्जौर की प्रति के आधार पर प्रकाशित है। राजकीय ग्रन्थालय, मद्रास से प्राप्त पाण्डुलिपि भरतार्णव से भिन्न होने के कारण उसे प्रकाशित भरतार्णव में नहीं जोड़ा गया है।

नन्दिकेश्वर-रचित भरतार्णव के पाँच रूप प्राप्त होते हैं। प्रथम रूप 'नन्दिकेश्वरसंहिता' है, जिसका उल्लेख सिंहभूपाल ने संगीतरत्नाकर की टीका में किया है। सिंहभूपाल के अनुसार भरतार्णव नन्दिकेश्वरसंहिता का एक अंश है। दूसरा रूप भरतार्णव है, जिसमें चार हजार श्लोक हैं। तीसरा भरतार्णव संग्रह है, जो दूसरे वाले का संक्षिप्त संस्करण प्रतीत होता है। चौथा रूप 'गुहेश भरतार्णव' है, जिसका सम्पादन गुहेश ने किया था। पाँचवाँ रूप 'भरतसेनापत्यम्' है, जिसका सम्पादन सेनापति स्कन्द ने किया है। वर्तमान भरतार्णव, जो सरस्वती महल तञ्जौर से १९५७ में प्रकाशित है, उसमें पन्द्रह अध्याय और ९९६ श्लोक हैं। इसके अन्त में परिशिष्ट के अन्तर्गत 'भरतार्णव-कोश' का उल्लेख है।

(४) नाट्यार्णव

डॉ० सुशील कुमार दे ने 'संस्कृत-काव्यशास्त्र का इतिहास' नामक ग्रन्थ

में लिखा है कि अल्लराज-रचित रसरत्नदीपिका में नन्दिकेश्वर-रचित 'नाट्यार्णव' नामक एक ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ में नाट्य-सम्बन्धी विषयों का विवेचन किया गया होगा, किन्तु यह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है।

(५) नन्दिकेश्वरकाशिका

नन्दिकेश्वर की एक कृति 'नन्दिकेश्वर-काशिका' उपलब्ध है। यह ग्रन्थ चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी से १९६६ ई० में प्रकाशित हुआ है। इसमें छब्बीस कारिकाओं में माहेश्वरसूत्रों की शैवदर्शनपरक व्याख्या की गयी है। इस ग्रन्थ पर उपमन्यु कृत संस्कृत-टीका उपलब्ध है।

(६) रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण

नन्दिकेश्वर की एक महत्त्वपूर्ण रचना 'रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण' है। इस ग्रन्थ का प्रथम प्रकाशन 'न्यू इण्डियन एण्टीक्वरी' नामक पत्रिका में १९४३ ई० में हुआ था। उसके बाद दूसरा संस्करण मद्रास म्यूजिक अकादमी से १९५२ ई० में प्रकाशित है। इसका एक शुद्ध एवं परिमार्जित संस्करण विक्रमी संवत् २०३७ में 'सरस्वती सुषमा' नामक पत्रिका में प्रकाशित हुआ है। इस संस्करण के सम्पादक डॉ० पारसनाथ द्विवेदी हैं। इस संस्करण में कुल तिहत्तर कारिकाएँ हैं, जिसमें शिव के डमरु से निःसृत माहेश्वरसूत्रों की संगीतात्मक व्याख्या की गयी है। नन्दिकेश्वर के अनुसार माहेश्वरसूत्रों में स्वरसूत्रों से संगीत के सात स्वरों की उत्पत्ति बतायी गयी है और उन्हीं स्वरसूत्रों से ताल की भी निष्पत्ति बतायी गयी है।

इसमें स्वर, ताल, वर्ण, पद का विवेचन होने के कारण इसे 'गान्धर्व' भी कहा गया है। क्योंकि ग्रन्थ के प्रारम्भ में गान्धर्व का विवेचन भी किया गया है। नन्दिकेश्वर के अनुसार जो मार्ग और देशी दोनों को जानता है उसे गान्धर्व कहते हैं। अतः इसे गान्धर्वशास्त्र का गान्धर्ववेद भी कहा जाता है।

(७) नन्दिमत

डॉ० सुशील कुमार दे ने संस्कृत साहित्य का इतिहास नामक ग्रन्थ में लिखा है कि अभिनवगुप्त 'नन्दिमत' नामक पुस्तक से परिचित थे। उन्होंने अभिनवभारती में रेचित अङ्गहार एवं पुष्करवाद्य के प्रसंग में 'नन्दिमत' का उल्लेख किया है। उन्होंने रेचित नामक अङ्गहार-विषयक एक श्लोक इस प्रकार उद्धृत किया है—

'तथा च नन्दिमत उक्तम्—

रेचिताख्योऽङ्गहारो यो द्विधा तेन ह्यशेषतः।
तुष्यन्ति देवतास्तेन ताण्डवे तं नियोजयेत्'॥

(अभिनवभारती भाग १, पृ० १६९)

इसके अतिरिक्त अभिनवभारती के चतुर्थ भाग में पुष्करवाद्य के विवेचन के प्रसंग में दो बार 'नन्दिमत' का उल्लेख किया है; यथा—

'तथा च नन्दिमते—

न पुष्करविहीनं वाद्यवृन्दं विराजते'।

(अभिनवभारती भाग ४, पृ० ४१४)

और—

'यथोक्तं नन्दिमते'। (अभिनवभारती भाग ४, पृ० ४२०)

इस प्रकार अभिनवभारती में तीन बार 'नन्दिमत' का उल्लेख है। किन्तु यह 'नन्दिमत' ग्रन्थ नहीं प्रतीत होता है, अपितु नन्दिमत का अर्थ नन्दी (नन्दिकेश्वर) का मत (सिद्धान्त) है। जैसा कि 'नन्दि के मत में कहा गया है' आदि। जैसा कि नान्यदेव ने भरतभाष्य में लिखा है कि "पुष्कर वाद्यों के विषय में 'नन्दिमत' 'भरतमत' के समान प्रमाणभूत है"—इस प्रकार 'नन्दिमत' शब्द का अर्थ 'नन्दि का मत' लिया गया है। और भी 'नन्दिमत' नामक ग्रन्थ के अस्तित्व का कहीं उल्लेख भी नहीं मिलता। अभिनव ने 'नन्दिमत' का अर्थ 'तण्डुमत' किया है, क्योंकि उनके विचार से 'नन्दि' और 'तण्डु' एक ही व्यक्ति हैं।

(८) नन्दिभरत

मैसूर एवं कुर्ग की हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची में नन्दि के नाम से 'नन्दिभरत' नामक एक कृति का उल्लेख है[1]। इसके अतिरिक्त वैदिक शोध-संस्थान, होशियारपुर के हस्तलिखित ग्रन्थालय में 'नन्दिभरत' नामक एक कृति विद्यमान है, जिसकी संख्या ५६२४ है और तीन पत्र हैं, जो अपूर्ण है। नाटचशास्त्र के काव्यमाला संस्करण के अन्तिम अध्याय की पुष्पिका में 'नन्दि-भरतसङ्गीतपुस्तकम्' इस प्रकार लिखा हुआ मिलता है, जिससे प्रतीत होता है कि 'नन्दिभरत' नामक कोई संगीत की पुस्तक रही होगी। यह भी सम्भव है कि पहले नाटचशास्त्र का नाम 'नन्दिभरत' रहा हो और बाद में उसका नाम 'नाटचशास्त्र' पड़ गया हो।

(९) भरतार्थचन्द्रिका

मद्रास की हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची में नन्दिभरत की 'भरतार्थचन्द्रिका' नामक एक अन्य कृति उपलब्ध है[2]। किन्तु भरतार्णव के दशम अध्याय के अन्त में पार्वती को इस ग्रन्थ का रचयिता बताया गया है। जिसमें नानार्थ-

---

१. भारतीय संगीत का इतिहास, पृ० ४६५।

२. वही।

हस्तमुद्राओं का विस्तृत विवेचन था और नन्दिकेश्वर ने उसे संक्षिप्त किया था[1]। ऐसा प्रतीत होता है कि पार्वती द्वारा लिखित उस ग्रन्थ में संक्षेपकर्ता के रूप में नन्दिभरत का नाम रहा हो और कालान्तर में लेखकों की त्रुटि से नन्दिभरत को लेखक रूप में मान लिया गया हो।

(१०)ताललक्षण, तालादि लक्षण एवं तालाभिनयलक्षण

ये तीनों कृतियाँ नन्दिकेश्वर की बतायी गयी हैं। जैसा कि इसके नाम से प्रतीत होता है कि इनमें ताल के सम्बन्ध में विवेचन किया गया होगा। इनमें 'ताललक्षण' नामक ग्रन्थ पैलेस ग्रन्थालय तञ्जौर में बर्नल् द्वारा वर्गीकृत संस्कृत के हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची में प्राप्त है।

(११) नन्दिकेश्वरतिलक

नन्दिकेश्वर की 'नन्दिकेश्वरतिलक' नामक एक अन्य कृति मद्रास में राजकीय प्राच्यविद्या हस्तलिखित ग्रन्थालय में हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची में उपलब्ध है। जिसका उल्लेख हस्तलिखित ग्रन्थसूची भाग ३, वर्ग १, ग्रन्थ संख्या २५९५ पर है।

(१२) योगतारावली

नन्दिकेश्वर की 'योगतारावली' नामक एक अन्य रचना भी राजकीय प्राच्यविद्या हस्तलिखित ग्रन्थालय, मद्रास में हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची भाग ४ में दो प्रतियों में उपलब्ध है, जिसकी ग्रन्थसंख्या ३३०८ बी० तथा ४४०३ सी० है।

(१३) प्रभाकरविजय

'प्रभाकरविजय' नामक नन्दिकेश्वर की एक अन्य कृति का उल्लेख राजकीय प्राच्यविद्या हस्तलिखित ग्रन्थालय, मद्रास में हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची भाग ४, वर्ग १ में हुआ है। इसकी ग्रन्थ संख्या ४९०९ है।

(१४) लिङ्गधारणचन्द्रिका

नन्दिकेश्वर द्वारा रचित 'लिङ्गधारणचन्द्रिका' नामक एक ऐसे ग्रन्थ का पता चला है, जो लिङ्गायत शैवधर्म से सम्बन्धित है। इस ग्रन्थ का राजकीय प्राच्यविद्या हस्तलिखित ग्रन्थालय, मद्रास में हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची भाग ४, वर्ग १, ग्रन्थ संख्या ३४३३ पर उल्लेख है। इस ग्रन्थ पर म० म० शिवकुमार शास्त्री की टीका जङ्गमवाड़ी मठ, वाराणसी से प्रकाशित है।

---

१. भरतार्थचन्द्रिकायां भूधरराजदुहितृरचितायाम्।
नानानार्थहस्तमुद्रा सुमते बहुधास्ति तत्र सङ्क्षिप्तम्॥
(भरतार्णव १०।६३६)

(१५) कामशास्त्र

वात्स्यायन के अनुसार नन्दिकेश्वर ने कामशास्त्र पर एक ग्रन्थ लिखा था, जिसमें सहस्र अध्याय थे। नन्दिकेश्वर के इस ग्रन्थ का संक्षेपण श्वेतकेतु ने किया था। बाद में फिर वात्स्यायन ने संक्षेपण कर कामसूत्र की रचना की।

नन्दिकेश्वर के प्रमुख सिद्धान्त

भारत के सांस्कृतिक इतिहास में नन्दिकेश्वर का व्यक्तित्व विलक्षण है। उन्होंने नाटचकला के साथ संगीत एवं नृत्यकला के शास्त्रीय एवं व्यावहारिक रूपों का सम्यक् विवेचन किया है। उनकी चिन्तनधारा ने अभिनय, नृत्य, गीत, वाद्य एवं दर्शन को प्रेरित किया है। भारतीय अभिनय एवं संगीतकला का इतिहास नन्दिकेश्वर की सतत प्रवहमान विकाशशील चिन्तनधारा का ही इतिवृत्त है। उन्होंने नृत्य एवं अभिनय की विभिन्न मुद्राओं एवं भावभङ्गिमाओं का सुन्दर विवेचन किया है। उन्होंने अपनी रचनाओं में अनेक मौलिक तत्त्वों का उद्घाटन किया है। नाटच एवं नृत्य कला के उद्गम एवं विकास की दृष्टि से उनके ग्रन्थों में वर्णित कथा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उनकी मान्यता है कि ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रसों का संग्रह करके नाटच का सृजन हुआ है, जो धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष का प्रदाता है। भरत ने भी इसी मान्यता को स्वीकार किया है।

नन्दिकेश्वर की एक उल्लेखनीय देन यह है कि उन्होंने अभिनय के विभिन्न अवयवों एवं संगीत की विभिन्न विधाओं पर वैदुष्यपूर्ण चिन्तन कर एक स्वतन्त्र नवीन प्रस्थान का सृजन किया है। उन्होंने नाटच-विषयक विभिन्न तत्त्वों को दार्शनिक पृष्ठभूमि में परखा है। उनकी दृष्टि में नाटच शाश्वत आनन्द का प्रतीक है, क्योंकि उसमें अभिनय, नृत्य, गीत, वाद्य आदि अनेक रञ्जक कलाओं का प्रयोग होता है, जिनका अवलोकन कर सहृदय आत्मदर्शन में लीन होकर सत्, चित् और आनन्द से अनुप्राणित हो उठता है। उनके अनुसार नृत्य एवं अभिनय के आविष्कारक नटराज परम शिव हैं। शिव अपने स्वरूपों, सिद्धान्तों एवं व्यवहारों से गरीबों के एकमात्र देवता है। मिट्टी की मूर्त्ति बनाकर बिल्व-पत्र एवं धतूरा चढ़ाकर उनकी पूजा सरल भाव से की जा सकती है। वे भोले बाबा गाल बजा देने मात्र से प्रसन्न हो जाते हैं। इसलिए वे आशुतोष कहे जाते हैं।

मूर्त्तिमृदा बिल्वदलेन पूजा, प्रयाससाध्यं वचनं च वाद्यम्।

(उद्भटविवेक)

अभिनय का साङ्गोपाङ्ग विवेचन

नन्दिकेश्वर ने अभिनय का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया है। उन्होंने अभिनय को वह गरिमा-मण्डित स्थान प्राप्त कराया है, जो उसे अन्यत्र उपलब्ध नहीं

हुआ है। उन्होंने अभिनय को व्यापक दृष्टि से देखा है। उनकी दृष्टि में सारा सृष्टि-चक्र शिव के अभिनय का परिणाम है। समस्त भुवन जिसका आङ्गिक अभिनय है, समस्त वाङ्मय जिसका वाचिक अभिनय है, समस्त नक्षत्रमण्डल जिसका आहार्य अभिनय है, वे शिव स्वयं सात्त्विक रूप हैं; यथा—

आङ्गिकं भुवनं यस्य वाचिकं सर्ववाङ्मयम्।
आहार्यं चन्द्रतारादि तं नुमः सात्त्विकं शिवम्॥

(अभिनयदर्पण, १)

इस प्रकार अभिनय-विवेचन के प्रारम्भ में नन्दिकेश्वर ने शिव के विराट् रूप का ध्यान किया है, जिसमें समस्त लोक, समस्त वाङ्मय, समस्त नक्षत्र-मण्डल और सारा भावजगत् समाया हुआ है। दृश्य-अदृश्य जो कुछ भी विश्व में है वह सब नटराज शिव के नर्तन का परिणाम है। उनकी दृष्टि में अभिनय ब्रह्मानन्द से भी अधिक आनन्ददायक है। तभी तो नारद जैसे योगियों का चित्त भी उस ओर आकृष्ट हो जाता है।

नन्दिकेश्वर ने अभिनय का पूर्ण एवं सर्वाङ्गीण विवेचन किया है। उनके वर्णन से अभिनय सम्बन्धी अन्तर्दृष्टि का पूर्ण परिचय मिल जाता है। उन्होंने अभिनय के चार प्रकारों का निर्देश किया है। आङ्गिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक। इनमें अङ्गों के द्वारा प्रदर्शित किये जाने वाले नृत्य को आङ्गिक अभिनय कहा जाता है। नन्दिकेश्वर ने आङ्गिक अभिनय का विस्तृत विवेचन किया है। अङ्ग, प्रत्यङ्ग, उपाङ्ग—इन तीन साधनों से आङ्गिक अभिनय का प्रदर्शन किया जाता है। नन्दिकेश्वर ने आङ्गिक अभिनय के लिए शिर, हस्त, वक्ष, पार्श्व, कटि, पाद और ग्रीवा को प्रमुख अङ्ग माना है और स्कन्ध, बाहु, पीठ, उदर, ऊरु, जङ्घा, मणिबन्ध, जानु, कूर्पर को प्रत्यङ्ग स्वीकार किया है तथा दृष्टि, भ्रूपुट, तारा, कपोल, नासिका, हनु, अधर, दशन, जिह्वा, चिबुक, वदन, पार्ष्णि, गुल्फ, अङ्गुलि, हस्ततल एवं पादतल को उपाङ्ग माना है। नन्दिकेश्वर ने इनके केवल लक्षण ही नहीं बताये हैं, अपितु किस अभिनय का क्या-क्या विनियोग है तथा किस अवसर पर किसका प्रयोग किया जाता है—इसका भी विवेचन किया है।

नन्दिकेश्वर ने आङ्गिक अभिनय का जितना विशद एवं तात्त्विक विवेचन किया है वह विश्व के किसी नाट्य के प्रयोगात्मक साहित्य के लिए स्पर्द्धा का विषय हो सकता है। उनकी दृष्टि में नाट्य ही अभिनय है। अभिनेता अभिनय के माध्यम से कविकृत कल्पना का अभिनयन प्रेषण कर प्रेक्षक को रसाविष्ट करता है। आङ्गिक अभिनय का विधान नन्दिकेश्वर की मौलिक देन है। उनका अभिनय-विधान इतना विकसित और समन्वित है कि पात्र के अङ्गोपाङ्ग की प्रत्येक चेष्टा में सत्त्व-नियन्त्रित लय कल्पित होता है। मनोदशा के प्रतिबिम्ब ही तो हमारी चेष्टाएँ हैं और उसी के अनुरूप मनुष्य के नेत्रों

में और मुख पर राग की आभा झलकती है। नेत्रों के भाव-भरे संकेत और कर-पल्लव की एक मुद्रा में न जाने हृदय के कितने मर्मस्पर्शी सुख-दुःखात्मक भाव एवं विचार प्रतिफलित होते हैं। अभिनेता या नर्तक प्रेक्षक के आत्मदर्शन रूप आनन्द का माध्यम होता है। वह रसरूप आध्यात्मिक उल्लास की अनुभूति का कलात्मक साधन है। नन्दिकेश्वर की दृष्टि में केवल अङ्गों का सञ्चालन मात्र अभिनय नहीं होता, बल्कि सुख-दुःखात्मक भावों को अभिव्यक्त करना भी आवश्यक होता है।

नन्दिकेश्वर वाचिक अभिनय के सम्बन्ध में कहते हैं कि वाचिक अभिनय नाट्य का शरीर है। शरीर एवं वेश-भूषा के अभिनय वाक्यार्थ के द्वारा ही अभिव्यञ्जित होते हैं। आहार्य अभिनय नेपथ्यज विधि है। इसका विधान नाट्य के सारूप्य-सृजन के लिए होता है। वेश-विन्यास, अङ्ग-रचना, अलङ्कार-सृजन, केश-विन्यास, रङ्गशाला की दृश्य-योजना आदि आहार्य अभिनय की विधियाँ हैं। आहार्य अभिनय से नाटच-प्रयोग परिपुष्ट होता है। सात्त्विक अभिनय में स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभेद, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय—इन आठ भावों का रसानुकूल प्रयोग किया जाता है। नन्दिकेश्वर की दृष्टि में उत्तमकोटि का अभिनय वह है, जिसमें मनोभावों का अधिकाधिक प्रकाशन हो। इस प्रकार सात्त्विक अभिनय में बाह्य चेष्टाओं के साथ मन के भावों का प्रकाशन भी होता है।

संगीतकला के क्षेत्र में नवीन प्रस्थान का सृजन

नाट्यकला में संगीत का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है और आज भी उसे नाट्याभिनय से अलग कर पाना आसान नहीं है। नाट्य में संगीत का उपयोग वातावरण-सृजन एवं रसात्मक सृष्टि के लिए किया जाता है। रङ्गमञ्च पर दृश्यों को सुसज्जित कर देने मात्र से ही घटनाओं का सजीव वातावरण तैयार नहीं किया जा सकता। उसके लिए संगीत की आवश्यकता है, जो नाट्याभिनय में जीवन का संचार करता है। संगीत के अन्तर्गत गायन, वादन एवं नर्तन तीनों का समावेश है।

नन्दिकेश्वर ने संगीत का जितना महत्त्वपूर्ण मौलिक विवेचन किया है वैसा विश्व के साहित्य में कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। नन्दिकेश्वर ने शिव के डमरू से उद्भूत चतुर्दश माहेश्वरसूत्रों की संगीतपरक व्याख्या करके संगीत के क्षेत्र में एक नवीन दिशा प्रदर्शित की है। नन्दिकेश्वर के अनुसार माहेश्वरसूत्रों में प्रथम चार सूत्र स्वरसूत्र हैं, जिसमें कुल नौ स्वर हैं। नन्दिकेश्वर के अनुसार उनमें ऋ ऌ ये दोनों ध्वनियाँ नपुंसक हैं (**तेषु ऋलृ-नपुंसकौ**)[1]। शेष सात स्वर प्रमुख हैं। नन्दिकेश्वर ने प्रथम सूत्र 'अइउण्'

---

१. रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण, २४।

(अ इ उ) को ह्रस्व स्वर तृतीय सूत्र 'एओङ्' (ए ओ) को दीर्घस्वर तथा चतुर्थ सूत्र 'ऐऔच् (ऐ औ) को प्लुत स्वर माना है। इस प्रकार कुल सात स्वर हैं। इन्हीं सात स्वरों से संगीत के सात स्वर उद्भूत हैं। संगीत के सात स्वर हैं—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद। इन्हीं को संक्षेप में 'स रि ग म प ध नि' कहते हैं। चतुर्दश माहेश्वरसूत्रों में प्रथम 'अइउण्' अर्थात् अ इ उ से क्रमशः षड्ज, ऋषभ, गान्धार की उत्पत्ति हुई है (**अइउण् सरिगाः स्मृताः**)[1]। एओङ् (ए ओ) से मध्यम एवं पञ्चम की उत्पत्ति हुई है (**एओङ् मपौ**)[2] और ऐऔच् (ऐ औ) से धैवत तथा निषाद स्वर उत्पन्न हुए हैं (**धनी ऐऔच्**)[3]। इसके अतिरिक्त नन्दिकेश्वर ने संगीत में द्वादशस्वरमूर्च्छनावाद की स्थापना की है। मतङ्ग ने बृहद्देशी में नन्दिकेश्वर के द्वादशस्वरमूर्च्छनावाद को उद्धृत किया है[4]। यह द्वादशस्वरमूर्च्छनावाद नन्दिकेश्वर की मौलिक परिकल्पना है। नन्दिकेश्वर के अनुसार संगीत-ध्वनि के तीन भेद होते हैं--मन्द्र, मध्य, तार। श्रुति के अनुसार स्वर के दो भेद होते हैं--शुद्धस्वर एवं विकृतस्वर। स्वरों के समूह को ग्राम कहते हैं।

नन्दिकेश्वर का ताल-विवेचन सर्वथा मौलिक है। उनके अनुसार माहेश्वर-सूत्रों में प्रथम चार स्वरसूत्रों से ताल की उत्पत्ति हुई है। माहेश्वरसूत्रों में प्रथम सूत्र 'अइउण्' तीन लघु स्वर हैं, लघु की एक मात्रा होती है। इस प्रकार प्रथम सूत्र में तीन मात्राएँ हैं। दूसरा सूत्र 'ऋऌक्' नपुंसक है। तृतीय सूत्र 'एओङ्' में दो गुरु हैं। गुरु की दो मात्राएँ होती हैं। इस प्रकार तृतीय सूत्र में चार मात्राएँ हैं। चतुर्थ सूत्र 'ऐऔच्' में दो प्लुत स्वर हैं। प्लुत की तीन मात्राएँ होती हैं। इस प्रकार चतुर्थ सूत्र में छः मात्राएँ हैं[5]। इस प्रकार तीन लघु, दो गुरु और दो प्लुत भेद से सात स्वर होते हैं। नन्दिकेश्वर ने दोनों हाथों के संयोग एवं वियोग होने से दश प्राणों से युक्त काल को 'ताल' कहा है। ताल के दश प्राण हैं—काल, मार्ग, अङ्ग, क्रिया, ग्रह, जाति, कला, लय, यति और प्रस्तार; यथा—

कालो मार्गक्रियाङ्गानि ग्रहो जातिकलालयाः।
यतिः प्रस्तारकश्चेति तालप्राणाः दश स्मृताः[6] ॥

नन्दिकेश्वर ने दो प्रकार के तालों का विवेचन किया है—मार्गताल और देशीताल। उनके अनुसार मार्गताल के पांच प्रकार होते हैं—चाचपुट, चञ्च-

१. रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण, पृ० २६।
२. वही।
३. वही।
४. बृहद्देशी, पृ० ३२।
५. रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण, पृ० ४९-५०।
६. वही, पृ० ५५।

त्पुट, षट्पितापुत्रक, सम्पक्वेष्टाक और उद्घट्ट। कहरवा, घुमाली, दादरा आदि-तालों के साथ इनका समीकरण किया जा सकता है। शेष देशीताल हैं। आदि भरत और भरतार्णव में १०८ तालों का निर्देश है[१]।

नर्तन या नृत्यकला में मौलिक उद्भावनाएँ

नर्तन संगीतकला का महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। नन्दिकेश्वर ने नर्तन को नाटच का प्रमुख तत्त्व स्वीकार किया है। उनके अनुसार नाटच में नृत्य का प्रयोग नटराज भगवान् शिव की प्रेरणा से हुआ है। नन्दिकेश्वर ने नर्तन के दो प्रकार बताये हैं—ताण्डव और लास्य। ताण्डव का सम्बन्ध शिव से और लास्य का सम्बन्ध पार्वती से है। ताण्डव नृत्य नाना प्रकार के करणों एवं अंगहारों से युक्त होता है। अंगहार, करण और रेचक तीनों नृत्य-सम्बन्धी तत्त्व है।

अङ्गहार--नन्दिकेश्वर ने अंगहारों का विस्तृत एवं मौलिक विवरण प्रस्तुत किया है। चित्र-विचित्र ताल, लय एवं करणों के संयोग से अंगहारों की निष्पत्ति होती है[२]। कुछ विद्वान् प्रातःकालीन कार्यक्रमों में किये जाने वाले नृत्य को 'अंगहार' कहते हैं[३]। और अन्य आचार्य अभिनय के एक भाग की समाप्ति पर हाव-भाव युक्त मुद्राओं से किये जाने वाले नृत्य को 'अंगहार' कहते हैं[४]। नन्दिकेश्वर ने नौ प्रकार के अंगहारों का वर्णन किया है और प्रत्येक अंगहार का सम्बन्ध रस से जोड़ा है तथा ये अंगहार सौन्दर्यशास्त्र से भी सम्बद्ध हैं।

नन्दिकेश्वर के भरतार्णव में जो नौ अङ्गहार बताये गये हैं, वे रसपरक होने के कारण रस संख्या के अनुसार नौ माने गये हैं। प्रत्येक अङ्गहार में करणों की संख्या निर्धारित होती है। नृत्य में हस्त और पाद की गतियों को करण कहते हैं[५]। प्रत्येक करण में हस्त और पाद की मुद्राएँ बतायी गयी हैं। समस्त अङ्गहारों की निष्पत्ति करणों से होती है। भरतार्णव में अङ्गहारों के ही अन्तर्गत करणों का उल्लेख किया गया है। भरतार्णव में वर्णित अङ्गहारों

---

१. ताल के सम्बन्ध में विशेष विवरण डॉ० पारसनाथ द्विवेदी कृत 'आचार्य नन्दिकेश्वर एवं उनका नाटच-साहित्य' ग्रन्थ के पृ० २४२ से २४३ पर देखिये।

२. आश्चर्यशब्दवचनैस्तत्तत्तालयोद्यतैः ।
करणानां मेलनां स्यादङ्गहारन्नृतिक्रमः ।। (भरतार्णव ९।५७९)

३. वदन्ति केचिद्विबुधा भरतार्णवविचक्षणाः ।
प्रातर्नृत्तप्रकटनैरङ्गहारो विधीयते ।। (वही ९।५८०)

४. एवं वदन्ति स परे तयोरुत्पत्तिरिष्यते ।
अर्थाभिनयमार्गेण सम्भूतो यो नृतिक्रमः ।। (वही ९।५८१)

५. हस्तपादसमायोगो नृत्यस्य करणं भवेत् ।

में विशिष्ट हाव-भावों का प्रदर्शन तथा प्रत्येक रूप का अपना सोद्देश्य प्रयोग अन्तर्हित है। इन अङ्गहारों का नामकरण भी एक निश्चित वर्ण्य विषय तथा वर्ण्य रस के आधार पर किया गया है। ललित अङ्गहार के पाँच रूप हैं, वे शृङ्गार रस को सूचित करते हैं। 'विक्रम' अङ्गहार के जो तीन रूप निर्दिष्ट हैं, वे वीर रस को व्यक्त करते हैं। कारुणिक अङ्गहार के जो चार रूप बताये गये हैं वे 'करुण' रस से सम्बद्ध हैं। 'विचित्र' अङ्गहार के जो दो रूप हैं वे अद्भुत रस से सम्बद्ध हैं। 'विकल' अङ्गहार के दो रूप हास्य रस के उत्पादक हैं। 'विकृत' अङ्गहार के जो दो रूप हैं और 'भीम' अङ्गहार के जो दो रूप हैं वे क्रमशः बीभत्स और भयानक रस को सूचित करते हैं। इसी प्रकार उग्रतर अङ्गहार के दोनों रूप रौद्र रस को सूचित करते हैं और 'शान्तज' अङ्गहार के जो दो रूप निर्दिष्ट हैं वे शान्तरस को सूचित करते हैं[1]। इस प्रकार भरतार्णव में वर्णित अङ्गहार रसपरक हैं। ये अङ्गहार पार्वती की देन हैं। ये अङ्गहार विशुद्ध नृत्य के समाप्तिभाग होते हैं, जो मूलतः शिव एवं पार्वती के नृत्य के नियत भाग हैं। नाट्यशास्त्र एवं अन्य ग्रन्थों में जो अङ्गहार बताये गये हैं, भरतार्णव में वर्णित अङ्गहार उनसे सर्वथा विलक्षण एवं मौलिक हैं।

स्थानक-चारी—स्थानक एवं चारी करण के ही विभिन्न तत्त्व हैं। नृत्य में खड़े होने की मुद्रा को 'स्थानक' कहते हैं। भरतार्णव में बत्तीस प्रकार के स्थानकों का निर्देश है,[2] जिनमें खड़े होने की विभिन्न मुद्राओं एवं उनके स्वरूप का विस्तृत विवेचन किया गया है। चारी भी करणों का ही एक तत्त्व है। नन्दिकेश्वर ने एकपाद से किये जाने वाले अभिनय को चारी कहा है[3]। चारी के द्वारा ही करणों एवं अङ्गहारों की रचना होती है। भरतार्णव में चारी के दो भेद प्रतिपादित हैं——आकाशचारी और भूचारी। अभिनयदर्पण में आठ प्रकार की चारियों का निर्देश है। वहाँ आकाशचारी और भूचारी इन दो भेदों की परिकल्पना नहीं है, जबकि भरतार्णव में आकाशचारी और भूचारी ये दोनों भेद परिकल्पित हैं। भरतार्णव में आकाशचारी के नौ और भूचारी के सोलह भेद बताये गये हैं। इसके अतिरिक्त भरतार्णव में चारीयुक्त हस्त का भी विवेचन किया गया है। भरतार्णव के अनुसार नृत्य में पादप्रचार और हस्तप्रचार दोनों का प्रयोग होता है।

नृत्तहस्त——नृत्तहस्त भी करणों का ही एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। समस्त नृत्तहस्तों की रूप-रचना संयुत और असंयुत हस्ताभिनय के विचित्र रूपों के आधार पर होती है। अभिमयदर्पण में तेरह प्रकार के नृत्तहस्त निर्दिष्ट हैं

---

१. भरतार्णव ९।५४९–५७७।

२. भरतार्णव ५।३३३,३३८।

३. यत्केवलेन पादेन नृत्तं सा चार्युदाहृता। (भरतार्णव ८।५२१)

किन्तु भरतार्णव में सोलह प्रकार के नृत्तहस्त निर्दिष्ट हैं जबकि ग्रन्थ में बाइस प्रकार के नृत्तहस्तों का विवेचन है[1]।

सप्तलास्य—नन्दिकेश्वर की महत्त्वपूर्ण मौलिक देन 'सप्तलास्य-विवेचन' है। भरतार्णव में नृत्य के रूपों का सात के समूह रूप में वर्णन किया गया है, जिसे 'सप्तलास्य' कहते हैं। ये सात की संख्या में निर्दिष्ट हैं—शुद्धनाटच, देशीनाटच, पेरुणी, प्रेङ्खणी, कुण्डली, दाण्डिक और कलश।

शुद्धनाटच में सात प्रकार के ताण्डव सम्मिलित हैं[2]। इनमें से प्रत्येक ताण्डव गति, करण, चारी और ताल से युक्त होता है। भरतार्णव में शुद्धनाटच के लिए छः प्रकार के गतियों, करणों, चारियों और तालों का निर्देश है। दक्षिणभ्रमण नामक शुद्धनाटच तीन गतियों, तीन चारियों, तीन करणों एवं तीन तालों से मिश्रित होता है। शेष छः शुद्ध ताण्डवों में प्रत्येक दो ताण्डवों के मध्य एक गति, एक करण, एक चारी और एक ताल होते हैं। इस प्रकार शुद्धनाटच के सात ताण्डवों के लिए छः गति, छः करण, छः चारी और छः तालों का निर्देश है।

देशीनाटच में पाँच प्रकार के ताण्डव सम्मिलित हैं[3]। इनमें प्रत्येक ताण्डव गति, करण, चारी एवं ताल से युक्त होता है। भरतार्णव में पाँच प्रकार के देशी ताण्डवों के लिए पाँच प्रकार की गति, पाँच प्रकार के करण, पाँच प्रकार की चारी और पाँच ताल निर्दिष्ट हैं।

सप्तलास्यों के अन्तर्गत शुद्ध और देशीनाटच से भिन्न पेरुणी, प्रेङ्खणी, कुण्डली, दण्डिक और कलश—ये जो पाँच प्रकार के लास्य बताये गये हैं, वे क्रमशः ब्रह्मा, सरस्वती, विष्णु और लक्ष्मी द्वारा प्रकाशित किये गये हैं। इनमें पेरुणी की ब्रह्मा से, प्रेङ्खणी की सरस्वती से, कुण्डली की विष्णु से और दण्डिक एवं कलस की महालक्ष्मी से उत्पत्ति कही गयी है[4]। पेरुणी से कलस पर्यन्त पाँचों लास्य शब्दों के बोल के द्वारा नर्तन किये जाते हैं और अन्त में करण एवं चारी की योजना होती है। भरतार्णव के अनुसार पेरुणी से कलस पर्यन्त पञ्च लास्यों का जब मिश्रण होता है तो उसे 'चारीदर्पण' कहते हैं और सप्तलास्यों में गति, करण, चारी से युक्त जो शुद्ध एवं देशी ताण्डव निर्दिष्ट हैं उनका योग 'चारीभूषण' कहलाता है।

---

१. भरतार्णव ३।९१-९३।

२. दक्षिणभ्रमण, वामभ्रमण, लीलाभ्रमण, भुजङ्गभ्रमण, विद्युद्भ्रमण, लताभ्रमण एवं ऊर्ध्वताण्डव—ये सात प्रकार के शुद्धताण्डव हैं (भरतार्णव १३। ७०९-७१०)

३. भरतार्णव १३।७२१-७२४।

४. वही १३।७६०-७६१।

रस के विषय में मौलिक चिन्तन

राजशेखर ने नन्दिकेश्वर को रस का आधिकारिक विद्वान् बताया है। नन्दिकेश्वर के अनुसार आङ्गिकादि अभिनयों के द्वारा भावों की अभिव्यक्ति होती है और भाव ही रस हैं (**'यतो भावस्ततो रसः'** — अभिनयदर्पण, २७)। इस प्रकार उनकी दृष्टि में चतुर्विधाभिनयोपेत भावाभिव्यक्ति ही 'रस' है। नन्दिकेश्वर की रस-योजना नाटच एवं संगीत उभयपरक है। उन्होंने रसास्वादन के विषय में एक मौलिक चिन्तन प्रस्तुत किया है। उनकी दृष्टि में रस आनन्द रूप है। गीत के श्रवण, नाटच एवं नृत्य के दर्शन से अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है, जो ब्रह्मानन्द से भी बढ़कर है। यही आनन्द रस का आस्वादन है। यह आनन्द रूप रस का स्वाद हर जगह मिलता है। चाहे कथावस्तु कारुणिक हो अथवा शृङ्गारिक। सबमें एक-सा स्वाद मिलेगा। यह स्वाद ही रस है और रस ही आनन्द है। इस प्रकार नाटच भी रस है, नृत्य भी रस है और गीत भी रस है, क्योंकि सब में एक-सा आनन्द मिलता है। इस प्रकार काव्य एवं नाटच रस संगीत में पूर्णतः अनुभूत किये जा सकते हैं। गीत के शब्द एवं अर्थ के साथ चतुर्विध अभिनय का संयोग होने पर नृत्य के द्वारा रसानुभूति काव्य और नाटच की अपेक्षा द्रुततर गति से होती है। इसीलिए नन्दिकेश्वर ने सभी प्रकार के लोगों के लिए नाटच, नृत्य एवं गीत को एक ऐसा साधन बताया है, जहाँ सब को एक-सा आनन्द मिलता है। उनकी दृष्टि में सहृदय-असहृदय सभी रस की अनुभूति कर सकते हैं। उन्होंने नाट्यरस के अतिरिक्त गीतरस और नृत्यरस की भी परिकल्पना की है।

नन्दिकेश्वर ने अभिनय एवं नृत्य की समग्र दृष्टि के साथ 'प्रेक्षागृह' की भी परिकल्पना की है। उन्होंने प्रेक्षागृह को सभा के नाम से अभिहित किया है। उनके अनुसार सभा के लिए एक सभापति एवं मन्त्री की नियुक्ति होनी चाहिए। सभापति और मन्त्री को सर्वगुणसम्पन्न और समस्त कलाओं में मर्मज्ञ होना चाहिए। सभा में सभी कलाकारों को यथास्थान स्थित होना चाहिए और वाद्ययन्त्रों को यथास्थान स्थापित कर उनकी पूजा कर गुरु की आज्ञा से नेपथ्य-विधान करे। तदनन्तर पुष्पाञ्जलि अर्पित कर नृत्य का प्रारम्भ करे।

नन्दिकेश्वर ने पुष्पाञ्जलि-विधान का विस्तृत एवं साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया है। उन्होंने पुष्पाञ्जलि के दो भेद बताये हैं — दैविक और मानुष। दैविक में सर्वप्रथम पुष्पाञ्जलि अर्पित की जाती है, तत्पश्चात् मौलिक विषय के अनुसार नृत्य क प्रयोग किया जाता है। मानुष में पुष्पाञ्जलि के पश्चात् 'मुखचाली' नृत्य प्रस्तुत किया जाता है।

इस प्रकार नन्दिकेश्वर ने नाट्य, नृत्य एवं संगीत के क्षेत्र में अनेक मौलिक उद्भावनाएँ उद्भासित की हैं। उन्होंने अपनी मौलिक उद्भावनाओं

एवं सिद्धान्तों से केवल संस्कृत साहित्य को ही नहीं, अपितु समस्त विश्व-वाङ्मय को गौरवान्वित किया है। उनकी नाट्यकला एवं संगीतकला सार्वभौम सिद्धान्तों को प्रस्तुत करती है। उन्होंने माहेश्वरसूत्रों से संगीतकला का उद्‌गम दिखाकर संगीत के इतिहास में एक नये युग का प्रवर्तन किया है। उन्हीं की परम्परा भरत, मतङ्ग आदि आचार्यों द्वारा प्राणवती रही है। उनका साहित्य सैद्धान्तिक पक्ष के साथ व्यावहारिक पक्ष का भी वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत करता है।

कोहलभरत

जीवनवृत्त

भारतीय नाट्य एवं संगीत परम्परा में कोहल का स्थान महत्त्वपूर्ण माना जाता है। कोहल एक भरत थे। नाट्यशास्त्र के प्रणेताओं में जिन भरतों का उल्लेख है, उनमें कोहलभरत का विशिष्ट स्थान है (**भरतानां वृद्धभरत-नन्दिभरत-कोहलभरत-दत्तिलभरत-मतङ्गभरतादीनां नाट्यशास्त्रम्—भरतनाट्य-शास्त्रम्**)[1]। नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में भरत के शतपुत्रों में कोहल का नामोल्लेख है, किन्तु भरतपुत्रों एवं उनके नामों पर विश्वास नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनमें बहुत से नाम अनैतिहासिक हैं और बहुत से नाम कल्पित हैं और कुछ ऐसे विचित्र नाम भी हैं, जिनके भरतपुत्र होने की सम्भावना भी नहीं की जा सकती। जैसे—उपानह।

इस सम्बन्ध में विस्तृत विवरण इस पुस्तक के पृष्ठ ४६ पर नन्दिकेश्वर के काल-निर्धारण के प्रसंग में देखिये। अतः कोहल को भरतपुत्र मानने में अन्य कोई प्रबल प्रमाण न होने से उन्हें भरतपुत्र नहीं माना जा सकता।

नाट्यशास्त्र के अन्तिम अध्याय में भरत ने स्वयं उन्हें स्वयं नाट्याचार्य के रूप में सम्मान दिया है कि नाट्यशास्त्र में जिन प्रसङ्गों का वर्णन शेष रह गया है, उस अवशिष्ट भाग का कथन प्रस्तारतन्त्र अथवा उत्तरतन्त्र के द्वारा कोहल करेंगे[2]। इसके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र के अन्तिम अध्याय में नाट्य-प्रयोग के प्रसंग में वात्स्य, शाण्डिल्य एवं धूर्त्तिल के साथ कोहल का उल्लेख है[3]। नाट्यशास्त्र के षष्ठ अध्याय में नाट्य के रस, भाव, अभिनय आदि ग्यारह अङ्ग बताये गये हैं। इस विषय में अभिनवगुप्त का कथन है कि यद्यपि

---

१. **आचार्य नन्दिकेश्वर और उनका नाट्य-साहित्य।**

२. **शेषं प्रस्तारतन्त्रेण कोहलः कथयिष्यति।**

(**नाट्यशास्त्र—काव्यमाला; ३६।३५**)

शेषमुत्तरतन्त्रेण कोहलः कथयिष्यति ।। (**नाट्यशास्त्र—चौखम्बा**)

३. कोहलादिभिर्भरतैर्वा वात्स्यशाण्डिल्यधूर्त्तिलैः ।।

(**नाट्यशास्त्र—काव्यमाला; ३६।७१**)

नाटच के आङ्गिक, वाचिक, आहार्य ये तीन प्रकार के अभिनय एवं गीत और आतोद्य ये पाँच अङ्ग माने जाते हैं; किन्तु प्रस्तुत श्लोक में नाटच के जो ग्यारह अङ्ग निर्दिष्ट हैं, वे कोहल के मतानुसार प्रदर्शित किये गये हैं, भरत के मत से नहीं[1]। एक अन्य स्थल पर तो अभिनव ने कोहल को नट (भरत) कहा है[2]। इनके अतिरिक्त अभिनव ने अभिनवभारती में अन्य कई स्थलों पर कोहल के मतों का उल्लेख किया है और कई स्थलों पर 'तदुक्तं कोहलेन'; 'यथोक्तं कोहलेन' लिखकर उनके श्लोकों को उद्धृत भी किया है[3]। अभिनव ने चतुर्थ अध्याय में करणों के निरूपण के प्रसंग में कोहल के नाक से 'निकुट्टक' नामक करण का लक्षण उद्धृत किया है[4]। जयसेनापति ने भी निकुट्टक-निरूपण के प्रसंग में कोहल का मत उद्धृत किया है।

रामचन्द्र गुणचन्द्र ने नाटचदर्पण में कोहल का उल्लेख आचार्य के रूप में किया है[5]। हेमचन्द्र ने रूपक के भेदों के निरूपण के प्रसंग में कोहल का नाटचाचार्य के रूप में उल्लेख किया है (प्रपञ्चस्तु कोहलादिशास्त्रेभ्योऽवगन्तव्यः[6])। इससे प्रतीत होता है कि कोहल का नाटचशास्त्र-विषयक कोई ग्रन्थ था। शारदातनय ने भावप्रकाशन में अनेक स्थलों पर कोहल के मतों को उद्धृत किया है[7]। राजशेखर ने बालरामायण में कोहल का नाटचाचार्य के रूप में उल्लेख किया है[8]। शिङ्गभूपाल ने रसार्णवसुधाकर में कोहल का भरत और दत्तिल के साथ नाटचशास्त्र-प्रणेता के रूप में उल्लेख किया है[9]। संगीतरत्नाकर में शार्ङ्गदेव ने कोहल को संगीत का आचार्य बताया है[10]। पार्श्वदेव ने संगीतसमयसार में कोहल को संगीतशास्त्र का आचार्य कहा है[11]। इस प्रकार कोहल एक नाटचप्रयोक्ता, नाटचाचार्य, संगीत एवं नाटच के आचार्य थे।

---

१. अभिनयत्रयं गीतातोद्ये चेति पञ्चाङ्गं नाटचम्। अनेन तु श्लोकेन कोहलमतेनैकादशाङ्गत्वमुच्यते; न तु भरते। (अभिनवभारती भाग १, पृ० २६४)

२. कोहलादय इव नटाः। (अभिनवभारती भाग १, पृ० ४७)

३. अभिनवभारती भाग १, पृ० १८०, १८२।

४. वही भाग १।

५. तेन कोहलप्रणीतलक्ष्माणः सादकादयो न लक्ष्यन्ते।
(नाट्यदर्पण — गायकवाड़, पृ० २३)

६. काव्यानुशासन पृ० ३२५, ३२९।

७. भावप्रकाशन (गायकवाड़) पृ० २०४, २१०, २३६, २४५, २५१।

८. बालरामायण ३।१२।

९. रसार्णवसुधाकर १।५१।

१०. संगीतरत्नाकर १।१५-१८।

११. कुट्टनीमत ८३।

कोहल का समय

अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में कोहल का आदरपूर्वक उल्लेख किया है। दामोदरगुप्त (आठवीं शताब्दी) ने कुट्टनीमत नामक ग्रन्थ में नृत्यक्रियाओं के सम्बन्ध में कोहल का नृत्याचार्य के रूप में उल्लेख किया है[1]। अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में उनकी नृत्य सम्बन्धी मान्यताओं का अनेकों बार निर्देश दिया है। उन्होंने नाटचशास्त्र के षष्ठ अध्याय की अभिनवभारती में नाटच के एकादश अङ्गों के निरूपण के प्रसंग में उद्भट के अनुयायियों का मत उल्लिखित किया है। उद्भट तथा उनके अनुयायियों का मत है कि नाटचशास्त्र में नाट्य के एकादश अङ्गों का उल्लेख कोहल के मतानुसार है। राजतरङ्गिणी के अनुसार उद्भट का समय अष्टम शताब्दी माना जाता है। अतः कोहल का समय इसके पूर्व होना चाहिए।

अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में कोहल के मतानुसार नान्दी के उदाहरण रूप में रत्नावली से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

जितमुडुपतिना नमः सुरेभ्यो द्विजवृषभा निरुपद्रवा भवन्ति ।
अवतु पृथ्वीं समृद्धसस्यां प्रतिपचचन्द्रवपुर्नरेन्द्रचन्द्रः ॥
इत्येषाऽपि भारतीयत्वेन प्रसिद्धा कोहलप्रदर्शिता नान्द्युपपन्ना भवति ।

(अभिनवभारती भाग १, पृ० २५)

अभिनवगुप्त का कथन है कि कोहल के द्वारा प्रदर्शित यह नान्दी भरत के अनुसार युक्तिसंगत है। रत्नावली नाटिका का समय सप्तम शताब्दी माना जाता है, अतः कोहल का समय इसके बाद अष्टम शताब्दी होना चाहिए। किन्तु उनका यह मत युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि अष्टम शताब्दी तक भरत और कोहल आचार्य के रूप में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो चुके थे।

इसके अतिरिक्त आचार्य मतङ्ग ने बृहद्देशी में अनेक स्थलों पर 'यथा चाह कोहलः' 'तथा चाह कोहलः' लिखकर कोहल को उद्धृत किया है[2]। तमिल ग्रन्थ 'सिलप्पादिकरण' में मतङ्ग का उल्लेख है। 'सिलप्पादिकरण' की रचना चतुर्थ शताब्दी में हुई थी, अतः मतङ्ग का समय इसके पूर्व अर्थात् तृतीय शताब्दी माना जा सकता है। मतङ्ग के समय तक कोहल एक प्रख्यात नाटच एवं संगीत के आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। अतः कोहल का समय कई शताब्दी पूर्व अर्थात् ईसापूर्व द्वितीय या तृतीय शताब्दी रहा होगा। प्रो० रामकृष्ण कवि ने भी कोहल का समय ईसापूर्व तृतीय शताब्दी माना है[3]।

भरतमुनि ने स्वयं नाटचशास्त्र में कोहल का उल्लेख किया है कि नाटच-

---

१. अभिनवभारती, भाग १ पृ० २६४।

२. बृहद्देशी पृ० ३, ६, १२, २२, २९, ९५।

३. भरतकोष (रामकृष्ण कवि) पृ० २१।

शास्त्र के जो विषय छूट गये हैं, उस अवशेष भाग को कोहल पूरा करेंगे[1]। पञ्चभरतों में भी कोहल की गणना है। अतः कोहल भरत के समकालीन आचार्य सिद्ध होते हैं। प्रो० रामकृष्ण कवि आदि विद्वानों ने भरत का समय ईसापूर्व पञ्चम शताब्दी माना है[2]। अतः कोहल का समय ईसापूर्व पञ्चम शताब्दी मानना चाहिए।

कोहल की रचनाएँ

१. **संगीतमेरु**—संगीतरत्नाकर के टीकाकार कल्लिनाथ ने कोहल के नाम से 'संगीतमेरु' नामक एक ग्रन्थ का उल्लेख किया है[3]। जिसमें २४ प्रकार की वर्तनाएँ, षोडश नृत्तहस्तों के आश्रित चालकों के लक्षण एवं भेद बताये गये हैं। कोहल के अनुसार नृत्तहस्ताश्रित चालक पचास प्रकार के होते हैं, जिनका वर्णन 'संगीतमेरु' के द्वितीय आह्निक में किया गया है[4]। कोहल का यह विवेचन सर्वथा मौलिक है।

२. **अभिनयशास्त्र**—कोहल का 'कोहलीय अभिनयशास्त्र' नामक एक ग्रन्थ प्राप्त है, जिसमें कोहल के सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है। यह ग्रन्थ तेलगु टीका के साथ मद्रास कैटलाग में क्रमसंख्या १२९८९ पर उपलब्ध है[5]।

३. **कोहलीयम्**—इण्डिया आफिस ग्रन्थालय, लन्दन में ताड़पत्र पर लिखित 'कोहलीयम्' नामक एक ग्रन्थ प्राप्त है, जो कोहल-रचित प्रतीत होता है[6]। इसमें कोहल के नाट्य एवं संगीत विषयक मतों का विवेचन हुआ है।

४. **कोहलरहस्यम्**—कोहल का 'कोहल-रहस्य' नामक एक अन्य ग्रन्थ मद्रास के राजकीय पुस्तकालय के हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची में प्राप्त है। यह ग्रन्थ खण्डित अवस्था में है। इस ग्रन्थ में कम-से-कम तेरह अध्याय होंगे, क्योंकि उक्त खण्डित ग्रन्थ का तेरहवाँ अध्याय उपलब्ध है। इस ग्रन्थ में कोहल ने मतङ्ग की प्रार्थना पर राग-विषयक विवेचन किया है[7]।

५. **ताललक्षण**—इण्डिया आफिस ग्रन्थालय, लन्दन में 'ताललक्षण' नामक

---

१. शेषमुत्तरतन्त्रेण कोहलः कथयिष्यति।

(नाट्यशास्त्र—काव्यमाला ३६।३५)

कोहलादिभिर्भरतैर्वा वात्स्यशाण्डिल्यधूर्तिलैः ॥ (नाट्यशास्त्र ३६।७१)

२. भरतकोष (रामकृष्ण कवि) पृ० २।

३. संगीतरत्नाकर (नृत्याध्याय पृ० १०५–१२४)।

४. वही।

५. संस्कृत-काव्यशास्त्र का इतिहास (दे) पृ० २१।

६. नाट्यशास्त्र की भूमिका पृ० ४८।

७. संस्कृत-काव्यशास्त्र का इतिहास (दे) पृ० २२।

एक हस्तलिखित ग्रन्थ प्राप्त है[1] जो कोहल की रचना है। इस ग्रन्थ में ताल के लक्षण एवं ताल के भेदों का वर्णन है।

६. **कोहलमतम्**—कोहल के नाम से 'कोहलमतम्' नामक एक छोटा-सा ग्रन्थ मिलता है। किन्तु यह ग्रन्थ अपूर्ण प्रतीत होता है।

कोहल के प्रमुख सिद्धान्त

भरत नाट्य-परम्परा में कोहल का स्थान महत्त्वपूर्ण है। भरत ने जिन सिद्धान्तों का संक्षेप में वर्णन किया है, उनका विस्तृत प्रतिपादन तथा प्रचार कोहल ने किया है। जैसा कि भरत ने स्वयं कहा है कि नाट्यशास्त्र में जिन प्रसंगों का वर्णन शेष रह गया है, कोहल प्रस्तारतन्त्र के द्वारा अथवा उत्तर-तन्त्र के द्वारा शेष भाग का कथन करेगा। भाव यह है कि कोहल ने भरतोक्त सिद्धान्तों को प्रस्तारतन्त्र के द्वारा समझाया है। जैसे भरत ने जातियों का लक्षण कहा और कोहलप्रस्तार के द्वारा उनका व्याख्यान किया है। यद्यपि भरत के सिद्धान्तों को ही कोहल ने प्रस्तार के द्वारा समझाया है फिर भी उनके कुछ मौलिक सिद्धान्त भी हैं, जिनका उपयोग परवर्ती आचार्यों ने किया है और कहीं-कहीं भरत के सिद्धान्त के विपरीत भी प्रतिपादन किया है।

नाट्य के अङ्ग—नाट्यशास्त्र के षष्ठ अध्याय में कोहल के मतानुसार नाट्य के रस, भाव, अभिनय, धर्मी, वृत्ति, प्रवृत्ति, सिद्धि, स्वर, आतोद्य, गान और रङ्ग—ये ग्यारह अङ्ग बताये गये हैं। अभिनवगुप्त का कथन है कि आङ्गिक, वाचिक और आहार्य ये तीन प्रकार के अभिनय और गान तथा वाद्य ये पाँच नाट्य के अङ्ग होते हैं। किन्तु यहाँ जो नाट्य के ग्यारह अङ्ग बताये गये हैं, वे कोहल द्वारा निर्दिष्ट किये गये हैं; भरत के ये नहीं हैं[2]। हाँ कोहल के द्वारा निर्दिष्ट क्रम में परिवर्तन कर दिया गया है।

रूपक एवं उपरूपक—भरत ने रूपक के दश प्रकार बताये हैं, किन्तु कोहल ने प्रयोग में लाई जाने वाली भाषाओं के आधार पर रूपक के अनेक भेदों की कल्पना की है। क्योंकि उन्होंने सैन्धव भाषा के आधार पर 'सैन्धवक' नामक रूपक भी माना है[3]। कोहल के अनुसार उपरूपक बीस हैं। शारदातनय ने भावप्रकाशन में कोहल के अनुसार भाण की परिभाषा दी है[4]।

कोहल ने रूपक एवं उपरूपक के विभाजन का आधार मार्ग और देशी बताया है। उनका कहना है कि प्राचीन काल में रूपकों की दो परम्पराएँ प्रचलित रही हैं—एक साहित्यिक परम्परा और दूसरी लोक-परम्परा।

---

१. वही पृ० २१।

२. अभिनवभारती भाग १, पृ० २६४।

३. तेन दशरूपकस्य यद्भाषाकृतवैचित्र्यं कोहलादिभिरुक्तं तदिह मुनिना सैन्धवाङ्गनिरूपणे स्वीकृतमेव।

४. भावप्रकाशन पृ० २४४-२४५।

साहित्यिक परम्परा में नाट्य रूपक के रूप में विकसित हुआ और लोक-परम्परा में नृत्य-गीत प्रधान उपरूपक के रूप में प्रसिद्ध हुआ। किन्तु कोहल की यह मान्यता आगे चलकर लोकप्रिय न हो सकी।

नाट्यशास्त्र में प्राप्त कोहल सम्बन्धी विवरणों से ज्ञात होता है कि कोहल उपरूपकों के जन्मदाता रहे हैं। नाट्यशास्त्र के अध्याय १८।१ में कथित 'प्रयोगतः' पद का अर्थ उचित योग अर्थात् पारस्परिक सम्बन्ध लिया गया है। अभिनव का कहना है कि उक्त कारिका में प्रयुक्त 'तथा' और 'च' पदों का अभिप्राय है कि उक्त पदों के प्रयोगों के प्रकारों से पारस्परिक सम्बन्ध के वैचित्र्य से रूपक के और भी भेद हो सकते हैं। जैसे नाटक और प्रकरण के लक्षणों के योग से 'नाटिका' होती है, उसी प्रकार उक्त प्रयोगों के पारस्परिक सम्बन्ध के वैचित्र्य से तोटक, सट्टक, रासक आदि अनेक भेद भी हो सकते हैं। कोहल ने इस प्रकार तोटक, सट्टक, रासक आदि उपरूपकों को कल्पित कर उनका लक्षण भी प्रारम्भ किया है।

अभिनव ने इन सट्टकादि उपरूपकों को नृत्य-गीतप्रधान बताया है। उनके अनुसार अभिनयप्रधान रूपक होते हैं और नृत्य-गीतप्रधान उपरूपक होते हैं। इस प्रकार उपरूपकों को शास्त्रीय रूप देने का श्रेय कोहल को है। कोहल के आधार पर ही अभिनव ने डोम्बिका आदि नृत्तात्मक रागकाव्यों का लक्षण प्रस्तुत किया है, जिन्हें नृत्तात्मक काव्य कहा गया है। कोहल के अनुसार रागकाव्य का लक्षण इस प्रकार है—

'विभिन्न लय के प्रयोग एवं रागों से विवेचित, नाना रसों से समन्वित तथा सुन्दर कथाओं से सम्पन्न 'काव्य' कहा जाता है।'

अभिनव के अनुसार इसे 'रागकाव्य' कहते हैं, जो रूपक का ही एक प्रकार है, जिसे अभिनव उपरूपक कहते हैं। उपरूपकों का प्रदर्शन गीत एवं नृत्याभिनयों के द्वारा किया जाता है। इसमें अभिनय की प्रधानता नहीं होती है। यह नृत्य-गीतप्रधान होता है। कोहल ने जिसमें राग और काव्य परिवर्त्तित होता रहता है, उसे 'चित्रकाव्य' कहा है। चित्रकाव्य का उदाहरण गीतगोविन्द है।

अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में अङ्क नामक रूपक के प्रसंग में कोहल के ढाई श्लोक उद्धृत किये हैं, जिनमें अङ्क के तीन भेद बताये हैं—अङ्कावतार, चूडा और अङ्कमुख[1]। भरत ने अङ्क नामक रूपक को एकाङ्की माना है, किन्तु

---

१. त्रिधाङ्कोऽङ्कावतारेण चूडयाऽङ्कमुखेन वा।
अर्थोपक्षेपणं चूडा बह्वर्थैः सूतबन्दिभिः॥
अङ्कस्यानन्तरे योगस्त्ववतारः प्रकीर्त्तितः।
विशिष्टमुखमङ्कस्य स्त्रिया वा पुरुषेण वा॥
यदुपक्षिप्यते पूर्वं तदङ्कमुखमिष्यते॥
(अभिनवभारती भाग २, पृ० ४१६-४१८)

कोहल उसे दो अङ्कों का मानते हैं[१]। शारदातनय ने भावप्रकाशन में कोहल के मतानुसार भाण का लक्षण प्रस्तुत किया है[२] और भाण को भारतीवृत्तिप्रधान एवं शृङ्गाररसाश्रित बताया है। कोहल वीथी का लक्षण बतलाते हुए कहते हैं—

> उत्तमाधममध्याभिर्युक्ता प्रकृतिभिस्तथा।
> एकहार्या द्विहार्या वा सा वीथीत्यभिसंज्ञिता[3]॥

अर्थात् उत्तम, मध्यम और अधम प्रकृतियों से युक्त एक अथवा दो पात्रों के द्वारा सम्पाद्य रूपक वीथी कहलाता है। वीथी के तेरह अङ्ग होते हैं। उनमें से एक अङ्ग है 'गण्ड'। गण्ड नामक वीथ्यङ्ग का लक्षण कोहल इस प्रकार करते हैं—'अनेक सम्बद्ध पदों के अन्त में पदों में असम्बद्ध पद यदि सम्बद्ध के समान प्रतीत हों तो उसे 'गण्ड' नामक वीथी का अङ्ग कहते हैं[४]।' अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में कोहल का मत उद्धृत किया है। उनका कहना है कि कोहलाचार्य जो यह कहते हैं कि **'शृङ्गारहास्यकरुणैरिह कैशिकी स्यात्'** अर्थात् शृङ्गार, हास्य और करुण के योग से यहाँ कैशिकीवृत्ति होती है, वह भरतमुनि के मत के विरुद्ध होने से उपेक्षणीय है। इससे प्रतीत होता है कि यहाँ कोहल का भरत-मत के साथ विरोध है।

अर्थोपक्षेपक—कोहल ने अर्थ का उपक्षेप करने वाले पाँच प्रकार के अर्थोपक्षेपकों को कहा है—चूलिका, अङ्कावतार, अङ्कमुख, विष्कम्भक और प्रवेशक[५]। इनमें चूलिका, अङ्कावतार और अङ्कमुख, इन तीनों का अर्थोपक्षेपक के रूप में कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता। इसीलिए कोहल ने चूलिका, अङ्कावतार और अङ्कमुख को अङ्क के भेद के अन्तर्गत परिगणित किया है। इन्हें अर्थोपक्षेपक नहीं माना है। विष्कम्भक के प्रयोग के सम्बन्ध में कोहल का मत है कि मुखसन्धि और अङ्क के अन्तराल में विष्कम्भक का प्रयोग करना चाहिए—

> **ननु कोहलेन मुखसन्धेरङ्कस्य चान्तराले विहितः।**
> **'मध्यमपुरुषनियोज्यो नाटकमुखसन्धिमात्रसञ्चारः।**
> **विष्कम्भो हि कार्यो नाटकयोगे प्रवेशकवत्[६]॥'**

अभिनय एवं नृत्यकला

अभिनय के सम्बन्ध में कोहल के विचार यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। उनका

---

१. भावप्रकाशन पृ० २५१।
२. वही पृ० २४४-२४५।
३. अभिनवभारती भाग १, पृ० ४५९।
४. वही।
५. वही पृ० ४२।
६. वही पृ० ४३४।

संग्रह कर यहाँ उनके कुछ विचारों को प्रस्तुत करते हैं। अभिनवगुप्त के अनुसार कोहल ने भरतोक्त असंयुत हस्ताभिनयों के अतिरिक्त अन्य भेद भी निर्दिष्ट किये हैं। उनका कहना है कि भरत के द्वारा बताये गये इतने ही हस्त नहीं होते, अपितु और भी हस्त हो सकते हैं[1]। इसके अतिरिक्त कोहल ने शून्य, भास्वर, विद्युत् आदि कुछ नवीन हस्तक्रियाओं का सृजन किया है[2]। कोहल ने 'संगीत-भेद' नामक अपने ग्रन्थ में चौबीस प्रकार की हस्तविन्यास की क्रियाओं (वर्तनाओं) एवं उनके लक्षणों को प्रतिपादित किया है[3]। ये हस्त-विन्यास की क्रियाएँ हस्ताभिनय में सौन्दर्य उत्पन्न करती हैं। कोहल के अनुसार वे वर्तनाएँ इस प्रकार हैं—

१. पाताल, २. अराल, ३. शुकतुण्ड, ४. अलपद्म, ५. खटकामुख, ६. मकर, ७. ऊर्ध्ववर्तना, ८. आविद्ध, ९. रेचित, १०. नितम्ब, ११. केशबन्ध, १२. फाल, १३. कक्ष, १४. उरस्, १५. खड्ग, १६. पद्म, १७. दण्ड, १८. पल्लव, १९. अर्धमण्डल, २०. घात, २१. ललित, २२. वलित, २३. गात्र और २४. प्रतिवर्त्तना।

कोहल के अनुसार ये चौबीस वर्तनाएँ हैं। इनके अतिरिक्त अन्य आचार्यों के मत से सात वर्तनाएँ और बतायी गई हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—

१. शिरस्थवर्तना, २. तिलकवर्तना, ३. नागबन्धवर्तना, ४. सिंहमुख-वर्तना, ५. वैष्णवीवर्तना, ६. तलमुखीवर्तना और ७. कलशवर्तना। ये वर्तनाएँ समस्त और व्यस्त हाथों के संयोजन से क्रमका, द्रुत, मध्य और विलम्बित आदि के वैचित्र्य से हजारों प्रकार की हो सकती हैं। वे हस्त (षोडशहस्त) जब शोभा से युक्त अनेक भाव-भङ्गिमाओं के द्वारा रेचित किये जाते हैं, अनेक प्रकार से चालित किये जाते हैं तो नृत्तशास्त्रवेत्ता उसे 'चालक' (चालन) कहते हैं। भाव यह है कि जब संयुत, असंयुत और नृत्त हस्त विविध भाव-भङ्गिमाओं से चालित किये जाते हैं तो उन्हें चालक या चालन कहते हैं। कोहल मुनि के अनुसार चालक के पचास भेद होते हैं[4]। ये चालन नृत्य के प्राण कहे गये हैं।

चारी--एक पैर से किये जाने वाले अभिनय को 'चारी' कहते हैं। चारी के दो भेद हैं—मार्ग और देशी। भरत ने मार्गचारी के बत्तीस भेद बताये हैं।

---

१. नाप्येत एव कोहलादिभिरन्येषामपि दर्शनात्।
(अभिनवभारती भाग २, पृ० ५५)

२. शून्यभास्वरविद्युदाद्यभिनयविषये नृत्ताचार्यप्रवाहसिद्धः कोहललिखितोऽपि हस्तः सङ्गतो भवति। (वही पृ० २६)

३. संगीतरत्नाकर पृ० १०५-११०।

४. वही पृ० १११-१२४।

उनमें सोलह आकाशचारी और सोलह भूचारी हैं। कोहल ने देशीचारी के चौवन भेद बताये हैं। उनमें से उन्नीस आकाशचारियाँ और पैंतीस भूचारियाँ हैं। देशीचारी के ये चौवन भेद भरत द्वारा वर्णित नहीं हैं। कोहल आदि आचार्यों के मतानुसार देशीचारी के चौवन भेद प्रतिपादित हैं। इनके अतिरिक्त कोहल ने पचीस मधुपचारियों का निर्देश किया है, किन्तु उनका अन्तर्भाव देशीचारियों में ही माना जाता है[1]।

गतिप्रचार--पादों की गति उत्तम पात्रों के लिए चार कलाएँ कही गयी हैं, किन्तु कोहल ने उत्तम पात्रों के विषय में द्विपदी का निर्देश किया है। उनका कहना है कि उत्तमों के विषय में चार गुरुओं से युक्त द्विपदी होनी ही चाहिए, क्योंकि उत्क्षेप और निपातों के द्वारा दो पाद होते हैं—

स्यादुत्तमानां द्विपदी चतुर्गुरुसमन्विता।
तत्रोत्क्षेपनिपाताभ्यां यस्मात् पादद्वयं भवेत्॥

(अभिनवभारती भाग २, पृ० १३३)

कोहल के अनुसार रौद्र रस में नर्तनक और उत्फुल्लक नामक गतियों से परिक्रम (प्रचरण) करना चाहिए। कोहल ने इनका निम्नलिखित लक्षण बताया है—

नर्तनकस्य लक्षणं यथा—

तिस्रोऽस्य पतयः कार्या विरामोऽन्ते द्रुतैस्त्रिभिः।
लयो नर्तनकः प्रोक्तः सौम्यात्र द्विपदी भवेत्॥
विजयारम्भहर्षेषु मत्तोन्मत्तप्रमत्तके।
नर्तनकः प्रयोक्तव्यष्टक्करागस्य भाषया॥

उत्फुल्लकस्य लक्षणं यथा—

द्वौ द्रुतौ लघुरेकश्च चतस्रो यतयः स्मृताः।
छिन्नकस्य विरामोऽन्ते लयमुत्फुल्लकं विदुः॥

इसी प्रकार कम्पमान वृद्ध कञ्चुकी आदि की गति में खञ्जक, हेला, विलम्बित नामक चलने की विधियों का प्रयोग करना चाहिए। कोहल ने विलम्बिता का लक्षण इस प्रकार बताया है—

कोहलमते हेलालक्षणम्--

चत्वारो लघवः पूर्वमन्ते च गुरुणी तथा।
पुनरप्येवं स्यान्मात्रा ह्यधमजातिषु॥
प्रयोक्तव्या ध्रुवा हेलातालश्चञ्चत्पुटस्य तु।

विलम्बितालक्षणं कोहलमते--

लघुनी गुरुणी चैव लघू आद्यन्तयोर्गुरु।
विलम्बिता ध्रुवा ज्ञेया षट्पितापुत्रभङ्गकृत्॥

---

१. संगीतरत्नाकर।

कोहल ने प्रच्छन्नकामी के विषय में सुभद्र नामक ध्रुवाताल का प्रयोग बताया है। सुभद्र नामक ध्रुवाताल का लक्षण इस प्रकार है--

सुभद्रलक्षणं कोहलमते--

नवमः पञ्चमश्चैव षष्ठः पुनरिहेष्यते।
शेषास्तु गुरवः सप्त सुभद्रं रौद्रवीरयोः।
त्रिमात्रान्ते प्रभावत्यां ठक्करागस्य भाषया॥

कोहल के अनुसार जम्भटिका नामक लय का प्रयोग ककुभराग के साथ और उल्लसन नामक लय का प्रयोग ठक्कराग के साथ करना चाहिए। कोहल के मतानुसार जम्भटिका का लक्षण इस प्रकार है--

लघुद्वयं विधायाथ द्वौ द्रुतौ सविरामकौ।
पुनरप्येवं स्याज्जम्भटीपात इष्यते॥
गुरुद्वया चतुर्मात्रा गुरुरन्ते व्यवस्थितः।
ककुभेन प्रयोक्तव्या जम्भटीलयकोविदैः॥

कोहल ने उल्लसन नामक लय एवं ताल का लक्षण इस प्रकार बताया है—

तोटकस्यैव यः पादः द्रुतद्वयलयत्रयः।
मालिनी द्विपदा चात्र ठक्करागस्य भाषया॥

इनके अतिरिक्त कोहल ने मालववेसरिक और मालवकैशिक नामक रागों के साथ प्रयुक्त होने वाले लय का भी निर्देश किया है। लोचन ने रागतरङ्गिणी में रागों के प्रसंग में कौशिक राग की रागिणी गौरी का वर्णन किया है[1]।

सामान्याभिनय—परम्परागत आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य अभिनयों के अतिरिक्त सामान्याभिनय एक स्वतन्त्र अभिनय माना गया है। आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक अभिनयों के समन्वित रूप का नाम 'सामान्याभिनय' है। कोहल के मतानुसार सामान्याभिनय के छः भेद होते हैं--शिष्ट, मिश्र, काम, वक्र, सम्भूत और एकयुक्तत्व। प्राचीन आचार्यों ने कोहल के मत का अनुसरण किया है। जैसा कि अभिनवगुप्त ने कहा है--

'कोहलमतानुसारिभिर्वृद्धैः सामान्याभिनयस्तु षोढा भण्यते।

तथा हि कोहलः—

शिष्टं कामं मिश्रं वक्रं सम्भूतमेकयुक्तत्वम्।
सामान्याभिनये यत् षोढा विदुरेतदेव बुधाः॥

अर्थात् कोहलमतानुसारी प्राचीन आचार्य सामान्याभिनय छः प्रकार का बताते हैं। कोहल के इस उद्धरण से सामान्याभिनय की परम्परागत प्राचीन मान्यता को समर्थन प्राप्त होता है। कोहल ने चित्राभिनय के अन्तर्गत अभिनय की अनेक विधियाँ प्रदर्शित की हैं। अभिनव ने चित्राभिनय के सम्बन्ध में कोहल की प्रामाणिकता का उल्लेख किया है।

---

१. नृत्तरत्नावली पृ० ४३-४४।

सङ्गीत-विधान

श्रुति एवं स्वर--मतङ्ग ने श्रुति, स्वर, जाति, मूर्च्छना आदि के प्रसंग में कोहल का मत उद्धृत किया है। श्रवणेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य ध्वनि को श्रुति कहते है। यदि ध्वनि रञ्जक है तो 'स्वर' और यदि ध्वनि अरञ्जक है तो 'श्रुति' कहलाती है। कोहल श्रुतियों की संख्या के सम्बन्ध में स्थिर नहीं हैं। उनका कहना है कि कुछ विद्वान् बाईस श्रुतियाँ मानते हैं, कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार श्रुतियाँ छाछठ होती हैं और कुछ अन्य विचारक श्रुतियों की संख्या अनन्त बतलाते हैं।

यथा चाह कोहलः--

द्वाविंशतिं केचिदुदाहरन्ति श्रुतिः श्रुतिज्ञानविचारदक्षाः।
षट्षष्टिभिन्नाः खलु केचिदासामानन्त्यमेव प्रतिपादयन्ति ॥

(बृहद्देशी पृ० ३)

कोहल ने रागजनक ध्वनि को स्वर कहा है (**रागजनको ध्वनिः स्वरः**)। कोहल ने स्वरों की संख्या अनन्त बतलायी है। उनका कहना है कि जाति, भाषा आदि के संयोग से अनन्त स्वर कहे गये हैं।

तथा चाह कोहलः—

जातिभाषादिसंयोगादनन्तः कीर्त्तितः स्वरः। (बृहद्देशी पृ० १२)

कोहल के अनुसार जाति, राग, भाषा आदि की सिद्धि के लिए मूर्च्छना का क्रम लक्ष्यानुसारी होना चाहिए। कोहल का मत है कि रागरूपी अमृत के ह्रद में गायकों एवं श्रोताओं के हृदय का निमग्न हो जाना 'मूर्च्छना' है। इस प्रकार संगीत के क्षेत्र में कोहल का विशेष योगदान रहा है।

दत्तिल या दन्तिल भरत

जीवनवृत्त

भारतीय नाट्य एवं संगीत परम्परा के आचार्यों में कोहल के साथ दत्तिल का नाम अन्यतम है। दत्तिल एक भरत थे। नाट्यशास्त्र के प्रणेताओं में जिन पाँच भरतों का नाम आता है उनमें दत्तिल भी एक था[1]। नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में भरतपुत्रों में दत्तिल का उल्लेख है, किन्तु भरतपुत्रों की सूची एवं उनमें उल्लिखित नामों पर विश्वास नहीं किया जा सकता[2]। दत्तिल का नाम कहीं दन्तिल, कहीं धूर्तिल और कहीं दत्तक भी कहा गया है।

---

१. भरतानां वृद्धभरत-नन्दिभरत-कोहलभरत-दत्तिलभरत-मतङ्गभरतादीनां नाटयशास्त्रम्।

२. भरतपुत्रों की सूची की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में इस पुस्तक के पृष्ठ ४६ पर देखिये।

कुट्टनीमत में दत्तकाचार्य एवं दन्तिलाचार्य के रूप में उनका उल्लेख है[१]। म० म० काणे ने दत्तिल को दन्तिल नाम से अभिहित किया है। नाट्यशास्त्र के भरतपुत्रों में 'दन्तिल' नाम का उल्लेख है[२]। वस्तुतः दत्तिल और दन्तिल एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं। नाट्यशास्त्र के ही अन्तिम अध्याय में कोहल, वात्स्य एवं शाण्डिल्य के साथ धूर्त्तिल का नाट्यप्रयोक्ता के रूप में उल्लेख है। यह धूर्त्तिल और कोई नहीं, दत्तिल ही था।

कामशास्त्र के रचयिता वात्स्यायन ने 'दत्तक' का उल्लेख किया है[३]। कर्णाटक के शिलालेख में 'दत्तकसूत्रवृत्ति' का उल्लेख है, जिसका लेखक कोंकणि वर्मा का पुत्र माधव बताया गया है[४]। इससे ज्ञात होता है कि दत्तक का कोई सूत्रग्रन्थ रहा होगा, जिस पर माधव ने वृत्ति लिखी होगी। यह दत्तक ही दत्तिलाचार्य के रूप में प्रसिद्ध हो गया होगा। कहा जाता है कि इक्ष्वाकु के अलम्बुषा नामक वेश्या से विशाल नामक पुत्र हुआ, जिसने वैशाली नामक नगरी बसायी थी। उन्हीं का वंशज सोमदत्त था। उसके कोई सन्तान नहीं थी। उसने भरतपुत्र सुमति को गोद ले लिया था[५]। सुमति दत्तक पुत्र था, इसलिए उसका नाम 'दत्तक' पड़ गया। यह दत्तक ही दत्तिल नाम से प्रसिद्ध हो गया।

अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में अनेक स्थलों पर दत्तिल का नाट्याचार्य एवं संगीताचार्य के रूप में उल्लेख नहीं बल्कि उनके अनेक उद्धरण भी उद्धृत किये हैं। ध्रुवा वाद्य एवं ताल के विषय में दत्तिलाचार्य के श्लोकों को अनेकों बार उद्धृत किया गया है[६]। नान्यदेव ने भरतभाष्य में दत्तिल का आचार्य के रूप में उल्लेख के साथ उनके अनेक उद्धरण भी उद्धृत किये हैं[७]। शिङ्गभूपाल ने रसार्णवसुधाकर में भरत, कोहल आदि आचार्यों के साथ नाट्यशास्त्रकार के रूप में दत्तिल का निर्देश किया है[८]। रसरत्नप्रदीपिका में दत्तिल का संगीतशास्त्र के प्रमाणभूत आचार्यों में उल्लेख है। संगीतसमयसार में तालशास्त्र के प्रवक्ता के

---

१. कुट्टनीमत, १२२-१२३।

२. शाण्डिल्यं वात्स्यं च कोहलं दन्तिलं तथा।

—नाट्यशास्त्र १।२६ (चौखम्बा)

३. कामसूत्र १।१।११, ६।२।५५, ६।३।४४।

४. संस्कृत-काव्यशास्त्र का इतिहास (काणे) पृ० ३१।

५. वाल्मीकि-रामायण, ४७।११-१२।

६. अभिनवभारती भाग १, पृ० २०३ तथा भाग ४, पृ० २३१, २३७, २४६-४७, २५५-५६, २५९-६०, २८४-८५।

७. भरतभाष्य (नान्यदेव)।

८. रसार्णवसुधाकर पृ० ८।

रूप में दत्तिल का उल्लेख है[१]। शार्ङ्गदेव ने संगीतरत्नाकर में कोहल, कश्यप, विशाखिल आदि प्राचीन आचार्यों के साथ दत्तिल का एक आचार्य के रूप में उल्लेख किया है[२]। मतङ्ग ने मूर्च्छना और कूटतानों के सम्बन्ध में दत्तिल के मतानुसार विवेचन किया है[३]। इस प्रकार दत्तिल एक आचार्य तथा गान्धर्व-शास्त्र का तत्त्वज्ञ विद्वान् था।

दत्तिल का समय

अभिनवगुप्त (दशम शताब्दी) ने अभिनवभारती में अनेक स्थलों पर दत्तिल का सम्मान के साथ उल्लेख किया है। अष्टम शताब्दी के कुट्टनीमत में दत्तिल का उल्लेख नाट्यशास्त्रकार के रूप में हुआ है। चतुर्थ-पञ्चम शताब्दी में मतङ्ग ने बृहद्देशी में दत्तिल को उद्धृत किया है[४]। प्रो० रामकृष्ण कवि के अनुसार प्रथम शताब्दी के किसी शिलालेख पर दत्तिल का नामोल्लेख है[५]। उनके अनुसार यह दत्तिल संगीताचार्य दत्तिल ही हैं। इस आधार पर दत्तिल का समय प्रथम शताब्दी के पूर्व निर्धारित किया जा सकता है।

भरत ने स्वयं नाट्यशास्त्र में दत्तिल का उल्लेख किया है। डॉ० राघवन् के अनुसार दत्तिल की उपलब्ध कृति उनके प्राचीन बृहद् ग्रन्थ गान्धर्वशास्त्र का संक्षिप्तसार रूपान्तर प्रतीत होता है और नाट्यशास्त्र का वर्तमान संस्करण दत्तिल का परवर्त्ती है। अतः दत्तिल का समय नाट्यशास्त्र के पूर्व का होना चाहिए। दत्तिल ने अपनी उपलब्ध कृति में नारद के साथ कोहल तथा विशाखिल का उल्लेख किया है। अतः दत्तिल कोहल एवं विशाखिल के पूर्ववर्त्ती आचार्य माने जाते हैं। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि दत्तिल का समय कोहल एवं विशाखिल के बाद माना जा सकता है। मेरे विचार से भरत, कोहल, नन्दिकेश्वर (नन्दी), विशाखिल, दत्तिल ये सभी समकालिक आचार्य रहे हैं। इनमें कोहल, नन्दिकेश्वर, दत्तिल कुछ पहले के हो सकते हैं, किन्तु रहे हैं समकालीन ही। तभी तो भरतपुत्र सुमति नन्दिकेश्वर से शिक्षा ग्रहण की होगी। इससे ज्ञात होता है कि दत्तिल कोहल के समकालीन और भरत के परवर्ती रहे हैं। कुछ विद्वान् उन्हें ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी के आस-पास मानते हैं।

---

१. संगीतसमयसार ९.२।

२. संगीतरत्नाकर, प्रथम अध्याय।

३. कुट्टनीमत १२२-१२३।

४. बृहद्देशी, पृ० २९-३०।

५. क्रै० प० १०० वर्षे एकस्मिन् शिलाशासनेऽस्य नाम दृश्यते। (भरतकोष पृ० २६७)

दत्तिल की रचनाएँ

(१) **गान्धर्ववेदसार**—प्रो० रामकृष्ण कवि के अनुसार दत्तिल द्वारा रचित ग्रन्थ का नाम 'गान्धर्ववेदसार' है, जो आज उपलब्ध नहीं है। सम्भव है कि दत्तिल ने नारद द्वारा रचित 'गान्धर्ववेद' का संक्षिप्त रूप में सम्पादन किया हो और वही 'गान्धर्ववेदसार' के रूप में प्रसिद्ध हो गया हो। क्योंकि दत्तिल ने अपने ग्रन्थ में नारद के मतों को उद्धृत किया है। इसके अतिरिक्त दत्तिल अपने ग्रन्थ 'दत्तिलम्' में स्वयं कहा है कि 'मैं गान्धर्वशास्त्र को संक्षेप-सार रूप में कह रहा हूँ' (**गान्धर्वशास्त्रसङ्क्षेपः सारतोऽयं मयोच्यते**)। इससे प्रतीत होता है कि 'गान्धर्ववेदसार' गान्धर्ववेद का सार ग्रन्थ है।

(२) **दत्तिलम्**—दत्तिल का 'दत्तिलम्' नामक ग्रन्थ प्रकाशित है, जो पूर्वाचार्यों के अनुसरण पर गान्धर्वशास्त्र का संक्षिप्तीकरण है। इस ग्रन्थ में दत्तिल के संगीत-विषयक मान्यताओं पर विचार किया गया है।

(३) **दत्तिलकोहलीयम्**—वर्नेल ने 'दत्तिलकोहलीयम्' नामक संगीत-विषयक एक ग्रन्थ का उल्लेख किया है, जो दत्तिल एवं कोहल के मतों का संग्रह-ग्रन्थ प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ में कुल सात परिच्छेद हैं।

दत्तिल के प्रमुख सिद्धान्त

दत्तिल गान्धर्व के प्रवक्ता थे। उनके अनुसार पदाश्रित स्वरों का संघात जब ताल के द्वारा नियमित एवं अवधानपूर्वक प्रयुक्त होता है तो 'गान्धर्व' कहा जाता है[1]। गान्धर्व के अन्तर्गत श्रुतियाँ, स्वर, दो ग्राम, तानों के साथ मूर्च्छनाएँ, तीनों स्थान, वृत्तियाँ, साधारणान्तरित शुष्क, जातियाँ और नाना अलङ्कारों से युक्त वर्ण—ये स्वर-सम्बन्धी संगीत का उद्देश है। दत्तिल ने नाना प्रकार की वृत्तियों में वीणादि वाद्यों के लक्षण नहीं बतलाये हैं, जब कि अन्य आचार्यों ने इसका विस्तार से वर्णन किया है। नाट्यशास्त्र में वृत्तियों के विषय में विस्तृत विवेचन है। वहाँ वीणादि वाद्यों का लक्षण एवं वादन-विधि का विशेष विचार किया गया है। दत्तिल के अनुसार दक्षिणा, वृत्ति और चित्रा ये वृत्तियाँ है। इनमें दक्षिणा में गीत का प्राधान्य रहता है, चित्रा में वाद्य का प्राधान्य होता है और वृत्ति में उभयप्राधान्य अर्थात् गीत एवं वाद्य दोनों की प्रधानता होती है।

दक्षिणावृत्तिचित्राश्च वृत्तयस्तास्वयं विधिः।
प्रधानं गीतमुभयं वाद्यं चेति यथाक्रमम्॥

(दत्तिलम् ४३)

---

१. पदस्थस्वरसङ्घातस्तालेन सुमितस्तथा।
प्रयुक्तश्चावधानेन गान्धर्वमभिधीयते॥ (दत्तिलम् ३)

नाट्यशास्त्र में भी इसी प्रकार का वर्णन प्राप्त होता है—

तिस्रस्तु वृत्तयश्चित्रादक्षिणावृत्तिसंज्ञिताः ।
वाद्यगीतोभयगुणा निर्दिष्टास्ता यथाक्रमम् ।।

(नाट्यशास्त्र २९।७१)

दत्तिल के अनुसार सात स्वर, बाईस श्रुतियाँ और दो ग्राम होते हैं। दत्तिल के मतानुसार कुछ विद्वान् गान्धार ग्राम को मानते हैं, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उसका कोई अस्तित्व नहीं होता है—

केचिद् गान्धारमप्याहुः स तु नेहोपलभ्यते । (दत्तिलम्, ११)

दत्तिल के अनुसार षड्ज और मध्यम दोनों ग्रामों में कुल बाईस श्रुतियाँ होती हैं। इन श्रुतियों का स्वरगत विभाजन दोनों ग्रामों में प्रायः समान है। इनमें षड्ज ग्राम के सात स्वर और मध्यम ग्राम के सात स्वर होते हैं। प्रत्येक स्वर की चार-चार मूर्च्छनाएँ होती हैं[१]—पूर्णा, षाडवा, औडुविता और साधारणा। इनमें सात स्वरों से गायी जाने वाली मूर्च्छना पूर्णा, छः स्वरों से गायी जाने वाली मूर्च्छना षाडवा, पाँच स्वरों से गायी जाने वाली मूर्च्छना औडुविता और काकलीनिनाद एवं अन्तरगान्धार स्वरों से गायी जाने वाली मूर्च्छना साधारणी होती है। दत्तिल के अनुसार षड्ज और मध्यम दोनों ग्रामों में जितने स्वर होते हैं, उतनी ही मूर्च्छनाएँ होती हैं[२]। वीणावादक जिस स्वरावलि के लिए 'सारणा' कहते हैं, गायक उस स्वरावलि को 'मूर्च्छना' कहते हैं। दत्तिल के अनुसार पाँच एवं छः स्वरों की मूर्च्छनाओं के लिए 'तान' संज्ञा है। ये तानें चौरासी होती हैं[३]। दत्तिल ने दो प्रकार के तानों का निर्देश किया है—प्रवेश और निग्रह। इनमें स्वर-सादृश्य (स्वरों की एकरूपता) प्रवेश और स्पर्शहीनता (मुक्तवादन) निग्रह होता है[४]।

दत्तिल के अनुसार बाईस श्रुतियों का उच्चारण उरस्, शिर और कण्ठ से होता है। मनुष्यों के हृदय में मन्द्र स्थान होता है। अर्थात् मन्द्र स्थान से बाईस प्रकार की श्रुतियाँ (सूक्ष्म ध्वनियाँ) निकलती हैं, वही कण्ठ के मध्य स्थान से और फिर शिर में तार स्थान से निःसृत होती हैं[५]। इस प्रकार

१. मतङ्गदत्तिलौ तु मूर्च्छनानामन्यथा चातुर्विध्यमवादिष्टाम् ।
—सङ्गीतरत्नाकर (शिङ्गभूपाल की टीका) पृ० ११४।

२. दत्तिलम् २१।

३. तानाश्चतुरशीतिस्तु ता एवाप्तैरुदाहृताः । (दत्तिलम् ३०)

४. तानक्रिया द्विधा तन्त्र्यां प्रवेशान्निग्रहात्तथा ।
तत्र प्रवेशो ध्वन्यैकमसंस्पर्शस्तु निग्रहः ।। (दत्तिलम् ३६)

५. नृणामुरसि मन्द्रस्तु द्वाविंशतिविधो ध्वनिः ।
स एव कण्ठे मध्यः स्यात् तारः शिरसि गीयते ।। (दत्तिलम् ८)

वीणा में तारतम्य से वे सूक्ष्म ध्वनियाँ सुनी जाती हैं, इसलिए उन्हें 'श्रुति' कहते हैं।

दत्तिल के अनुसार जातियाँ अठारह होती हैं। उन्होंने जातियों को तीन वर्गों में विभाजित किया है—शुद्धा, विकृता और संकरोद्भवा[1]। उनके अनुसार ये संकर जातियाँ असंख्य होती हैं—

जातयोऽष्टादश ज्ञेयास्तासां सप्तस्वराख्यया ।
शुद्धाश्च विकृताश्चैव शेषास्तत्सङ्करोद्भवाः ॥ (दत्तिलम् ४८)

दत्तिल ने तालक्रिया के सात भेद बताये हैं—आवाप, निष्क्राम, विक्षेप, प्रवेशन, शम्या, ताल और सन्निपात। इनमें हाथ को उत्तान कर अंगुलियों का आकुञ्चन 'आलाप क्रिया' है और हाथ को अधोमुख करके अंगुलियों को फैलाना 'निष्क्राम' कहा जाता है। हाथ को दाहिनी ओर फेंकना 'विक्षेप' और हाथ को नीचे की ओर ले जाकर अंगुलियों का आकुञ्चन (सिकोड़ना) 'प्रवेश' है। दाहिने हाथ का पात 'शम्या' और बाँये हाथ का पात 'ताल' कहलाता है। दोनों हाथ का एक साथ पात करना अर्थात् दोनों हाथ से ताली बजाना 'सन्निपात' क्रिया है। दत्तिल ने ध्रुव क्रिया को स्वीकार नहीं किया है। दत्तिल के अनुसार त्र्यसुताल 'चञ्चत्पुट' और चतुरस्रताल 'चाचपुट' कहलाता है।

दत्तिल के अनुसार ताल में समपाणि, उपरपाणि और अवपाणि—ये तीन प्रकार के पाणि; द्रुत, मध्य तथा विलम्बित—ये तीन प्रकार के लय और समा, स्रोतोगता एवं गोपुच्छा—ये तीन यति होती है।

मतङ्गमुनि (मतङ्गभरत)

जीवनवृत्त

मतङ्ग संगीतशास्त्र के प्राचीन आचार्य थे। रामायण और महाभारत में मतङ्ग नामक आचार्य का उल्लेख है, किन्तु ये सङ्गीताचार्य मतङ्ग से भिन्न प्रतीत होते हैं। कालिदास ने रघुवंश में मतङ्गमुनि की चर्चा की है। तमिल भाषा में प्राप्त 'पञ्चभारतीयम्' नामक ग्रन्थ में भरत से सम्बन्धित पाँच नामों में 'मतङ्गभरत' का उल्लेख है। तदनुसार इनके ग्रन्थ में छः हजार श्लोक थे, जिनमें वाद्य और नृत्त भी सम्मिलित था[1]। किन्तु उनका वह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। डॉ० सुशीलकुमारदे ने लक्ष्मण भास्कर द्वारा रचित 'मतङ्ग-भरत' नामक एक ग्रन्थ के अस्तित्व का उल्लेख किया है[2] जिसमें मतङ्ग के मतों की चर्चा की गयी प्रतीत होती है। रामकृष्ण कवि के अनुसार वे भरत के शिष्य थे।

---

१. भरतकोष, भूमिका पृ० १६।

२. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (दे) पृ० २०।

मतंग एक मुनि थे। वे नादशास्त्र, योगशास्त्र, मोक्षशास्त्र एवं संगीत-शास्त्र के प्रामाणिक आचार्य माने जाते हैं। वे महायोगी एवं एक आप्त पुरुष थे। उन्होंने नाद, श्रुति, स्वर आदि का सूक्ष्म एवं वैज्ञानिक विश्लेषण किया है। उन्होंने तादात्म्यवाद, विवर्तवाद, परिणामवाद एवं अभिव्यक्तिवाद की सुन्दर समीक्षा की है, जिससे स्वर-विज्ञान परिस्फुट होता है। उन्होंने स्वर और श्रुति में तादात्म्य स्थापित किया है[1]। रामकृष्ण कवि ने उन्हें किन्नरी वीणा का आविष्कारक बताया है। इस प्रकार मतंग संगीतशास्त्र के प्रमुख आचार्य के रूप में विश्रुत रहे हैं।

मतङ्ग का समय

मतङ्ग के स्थितिकाल के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। विभिन्न विद्वान् उनका समय अलग-अलग बताते हैं। प्रो० रामकृष्ण कवि मतङ्ग का समय नवम शताब्दी का मध्यभाग मानते हैं[2]। महामहोपाध्याय पी० वी० काणे उनका काल ७५० ई० के पूर्व मानते हैं[3]। कुछ अन्य विद्वान् मतङ्ग का काल षष्ठ शताब्दी बताते हैं। यहाँ अन्तःसाक्ष्य एवं बाह्य साक्ष्यों के आधार पर उनका समय निर्धारित करने का प्रयास किया गया है।

मतङ्ग ने अपने ग्रन्थ बृहद्देशी में अनेक प्राचीन आचार्यों का उल्लेख किया है। उन्होंने अपने ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर भरत, नारद, काश्यप, नन्दिकेश्वर, कोहल, दत्तिल, दुर्गशक्ति, याष्टिक, वल्लभ, विश्वावसु आदि आचार्यों का नामोल्लेखमात्र ही नहीं किया है, अपितु उनकी मान्यताओं का विवेचन भी किया है और उनके उद्धरण भी उद्धृत किये हैं। इससे स्पष्ट है कि मतङ्ग इन आचार्यों के बाद हुए हैं।

संगीताचार्य जगदेकमल्ल ने मतङ्ग का अपने से पूर्ववर्त्ती आचार्य के रूप में उल्लेख किया है। जगदेकमल्ल का समय ११३४-११४५ ई० माना जाता है। इनके अतिरिक्त नान्यदेव, जिनका समय १०८० ई० माना जाता है, ने मतङ्ग का अनेकों बार उल्लेख किया है[4]। नाट्य एवं सङ्गीत शास्त्र के प्रामाणिक आचार्य अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में अनेक प्रसंगों में मतंग का प्रामाणिक आचार्य के रूप में उल्लेख मात्र ही नहीं किया है, अपितु उनके श्लोक भी उद्धृत किये हैं। अभिनवगुप्त का समय दशम शताब्दी का अन्तिम भाग माना जाता है,[5] अतः मतङ्ग अभिनवगुप्त के बहुत पहले हो चुके हैं।

---

१. बृहद्देशी ४१-४५।

२. संस्कृत-काव्यशास्त्र का इतिहास (दे) पृ० ३।

३. संस्कृत-काव्यशास्त्र का इतिहास (काणे)।

४. वही, पृ० ७२-७३।

५. अभिनवभारती भाग ४, पृ० ३५, ६३, ६९, १३९, १४०, १४७।

इनके अतिरिक्त अष्टम शताब्दी के दामोदर गुप्त ने कुट्टनीमत में सुषिर वाद्य के आचार्य के रूप में मतङ्ग का उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त तमिल ग्रन्थ 'शिलप्पादिकारम्' में 'मतङ्गभरत' का उल्लेख किया है। राजगोपालन के अनुसार 'शिलप्पादिकारम्' की रचना द्वितीय-तृतीय शताब्दी में हुई है। इन प्रमाणों के आधार पर मतङ्ग का समय प्रथम शताब्दी माना जा सकता है।

मतङ्ग की रचनाएँ

मतङ्ग का एकमात्र ग्रन्थ 'बृहद्देशी' अपूर्ण उपलब्ध है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरिज से १९२८ ई० में हुआ है। इस ग्रन्थ में कुल आठ अध्याय हैं, किन्तु सम्प्रति उपलब्ध बृहद्देशी में कुल छः अध्याय हैं और वह भी अपूर्णावस्था में। उपलब्ध ग्रन्थ के षष्ठ अध्याय के अन्त में कहा है—

विबुधानां विबोधाय प्रबन्धाः कथिता मया।
इदानीं कथयिष्यामि वाद्यस्य निर्णयो यथा॥

इससे ज्ञात होता है कि इसके बाद वाद्य, ताल, नृत्त आदि का भी विवेचन किया गया है। रामकृष्ण कवि के अनुसार इस ग्रन्थ में छः हजार श्लोक होने चाहिए, किन्तु उपलब्ध ग्रन्थ में इतने श्लोक नहीं मिलते। इससे ग्रन्थ की अपूर्णता की पुष्टि होती है। परवर्त्ती सभी आचार्यों ने मतङ्ग के मत का सम्मानपूर्वक उल्लेख किया है।

मतङ्ग के प्रमुख सिद्धान्त

नाद—मतङ्ग ने नकार को प्राण कहा है और दकार का अर्थ अग्नि किया है। उनके अनुसार प्राणवायु और अग्नि के संयोग से जो ध्वनि उत्पन्न होती है उसे 'नाद' कहते हैं। नाद से बिन्दु उत्पन्न होता है और बिन्दु से समस्त वाङ्मय। मतङ्ग के अनुसार समस्त जगत् नादात्मक है। इसके बिना न गीत की सत्ता है और न जगत् की, राग भी नाद के बिना सम्भव नहीं है। उन्होंने ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर और पराशक्ति को भी नाद रूप माना है। मतङ्ग के अनुसार नाद के पाँच भेद होते हैं—सूक्ष्म, अतिसूक्ष्म, व्यक्त, अव्यक्त और कृत्रिम। सूक्ष्म नाद गुहा में, अतिसूक्ष्म नाद हृदय में, अव्यक्त तालुप्रदेश में, व्यक्त कण्ठ के मध्य में और कृत्रिम वायु मुख में स्थित रहता है[1]।

श्रुति—श्रुति शब्द श्रवणार्थक 'श्रु' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है—जो सुनाई दे। इस प्रकार जो ध्वनि सुनाई दे 'उसे' श्रुति कहते हैं। श्रुतियों की संख्या के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद पाया जाता है। मतंग एक श्रुति मानते हैं (**एकैव श्रुतिरिति**)। विश्वावसु दो प्रकार की श्रुति मानते हैं। कुछ आचार्य स्थानत्रय के योग से तीन श्रुतियाँ मानते हैं।

---

१. बृहद्देशी पृ० १६-२५।

कोई सहज, दोषज, अभिघातज इन्द्रियों की विगुणता से तीन श्रुतियाँ मानते हैं। अन्य आचार्य वात, पित्त, कफ और सन्निपात भेद से चार प्रकार की श्रुतियाँ मानते हैं। कोई नौ श्रुतियाँ मानते हैं। हनुमन्मतानुसार अठारह श्रुतियाँ होती हैं। कोई आचार्य बाईस श्रुतियाँ मानते हैं। शारदातनय चौबीस श्रुतियाँ मानते हैं। अभिनवगुप्त बाईस श्रुतियाँ मानते हैं। कुछ आचार्य छाछठ श्रुतियाँ मानते हैं और कोई आचार्य अनन्त श्रुतियाँ स्वीकार करते हैं[1]। इस प्रकार मतंग ने बृहद्देशी में अनन्त श्रुतियों का निर्देश किया है।

श्रुति-स्वर—मतंग के अनुसार श्रुति ही स्वर है। श्रुति और स्वर में भिन्नता नहीं है। मतंग ने बृहद्देशी में श्रुति और स्वर के सम्बन्ध में विभिन्न पक्षों को प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार श्रुति और स्वर भिन्न-भिन्न नहीं है, दोनों में तादात्म्य सम्बन्ध है। जैसे—तन्तु और पट में तादात्म्य सम्बन्ध है; जो तन्तु है वही पट है और जो पट है वही तन्तु है। पट तन्तु से भिन्न नहीं और तन्तु पट से भिन्न नहीं है। इसी प्रकार श्रृति और स्वर में भिन्नता नहीं हैं। जो श्रुति है वही स्वर है, जो स्वर है वही श्रुति है।

दूसरे आचार्य कहते हैं कि श्रुति और स्वर में विवर्तभाव है। जैसे रस्सी की सर्प के रूप में प्रतीति 'विवर्त' है। इसी प्रकार श्रुति की स्वर के रूप में प्रतीति विवर्त है। वस्तुतः श्रुति ही स्वर है, यह वेदान्तियों का मत है।

तीसरे आचार्य स्वर को श्रुति का परिणाम मानते हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार दूध का परिणाम दही है, अर्थात् जिस प्रकार दूध दही के रूप में परिणत हो जाता है उसी प्रकार श्रुति स्वर के रूप में परिणत हो जाती है। इस प्रकार श्रुति का परिणाम स्वर है, यह सांख्यवादियों का मत है।

अन्य आचार्य (नैयायिक) श्रुति और स्वर में कार्य-कारणभाव सम्बन्ध मानते हैं। उनके अनुसार श्रुति से स्वर उत्पन्न होता है। जैसे तिल से तेल निकलता है, उसी प्रकार श्रुति से स्वर उद्‌भूत होता है। इस प्रकार श्रुति और स्वर भिन्न-भिन्न हैं।

कुछ आचार्य अभिव्यक्ति मानते हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार दीपक के द्वारा अन्धकार में स्थित घटादि अभिव्यक्त होते हैं उसी प्रकार श्रुतियों से स्वर अभिव्यक्त होते हैं। शिंगभूपाल के अनुसार मतंग मुनि परिणाम-वाद अभिव्यक्तिवाद को स्वीकार करते हैं।

मतंग स्वर को 'स्व' उपपद 'राजृ दीप्तौ' धातु से निष्पन्न मानते हैं। जो स्वयं राजित होता है इसलिए उसे 'स्वर' कहते हैं—

राजृदीप्तावस्य धातोः स्वशब्दपूर्वकस्य च।
स्वयं हि राजते यस्मात्तस्मात् स्वर इति स्मृतः॥

(बृहद्देशी ६३-६४)

---

१. वही पृ० २६-३०।

स्वर सात हैं—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद। किन्तु कोहल ने स्वरों की संख्या अनन्त बतायी है। मतंग ने भरत-प्रतिपादित सात मूर्च्छनाएँ तो स्वीकार की हैं, किन्तु रागसिद्धि के लिए द्वादशस्वर-मूर्च्छनावाद को भी स्वीकार किया है। उनका कहना है कि यद्यपि आचार्यों ने सप्तस्वरमूर्च्छनाओं का प्रतिपादन किया है, किन्तु मन्द्र, मध्य तथा तार तीनों स्थानों की प्राप्ति के लिए मूर्च्छना का प्रयोग द्वादश स्वरों के द्वारा किया जाता है[1]। किन्तु आचार्य अभिनवगुप्त ने द्वादशस्वरमूर्च्छनावाद का खण्डन किया है[2]। उसके बाद मतंग का यह द्वादशस्वरमूर्च्छनावाद पनप नहीं सका। मतंग का यह द्वादशस्वरमूर्च्छनावाद परवर्त्ती आचार्यों को भले ही मान्य न हो, किन्तु वादनसौकर्य के लिए मूर्च्छनाओं का प्रयोग सभी को मान्य है। उनका कहना है कि किसी भी राग का स्वरूप स्पष्ट होने के लिए द्वादशस्वरमूर्च्छना आवश्यक है।

मतंग सात स्वरों के आरोहावरोहण क्रम को मूर्च्छना कहते हैं। उनके अनुसार मूर्च्छना दो प्रकार की होती है—सप्तस्वरमूर्च्छना और द्वादशस्वर-मूर्च्छना। उनमें सप्तस्वरमूर्च्छना चार प्रकार की होती है—पूर्णा, षाडवा, औडुविता और साधारणा। इनमें सात स्वरों से गायी जाने वाली मूर्च्छना पूर्णा, छः स्वरों से गायी जाने वाली मूर्च्छना षाडवा, पाँच स्वरों से गायी जाने वाली मूर्च्छना औडुविता तथा काकलीनिनाद और अन्तरगान्धार से युक्त साधारणी मूर्च्छना होती है[3]।

राग—मतंग ने बृहद्देशी में लक्ष्य-लक्षण युक्त रागों का विवेचन किया है। उनका कथन है कि षड्जादि स्वरों और स्थायी आदि वर्णों से विभूषित यह ध्वनि-विशेष, जो लोगों के चित्त का रञ्जक है, उसे 'राग' कहते हैं। इस प्रकार रञ्जन करने के कारण ध्वनि-विशेष 'राग' कहा जाता है। मतंग के अनुसार गीति के सात प्रकार हैं—शुद्धा, भिन्ना, गौड़िमा, रागगीति, साधारणी, भाषा और विभाषा।

---

१. यद्यप्याचार्यैः सप्तस्वरमूर्च्छनाः प्रतिपादिताः स्थानत्रितयप्राप्त्यर्थं द्वादशस्वरैरेव मूर्च्छना प्रयुक्ता इति। (बृहद्देशी पृ० २२)

२. अत्र यन्मतङ्गेन विवृता द्वादशस्वरमूर्च्छना—सा अभिनवादिभिरनादृता। (भरतकोष पृ० ४२४)

३. सा मूर्च्छना द्विविधा—सप्तस्वरमूर्च्छना द्वादशस्वरमूर्च्छना चेति। तत्र सप्तस्वरा मूर्च्छना चतुर्विधा—पूर्णा षाडवौडुविता साधारणेति। तत्र सप्तभिः स्वरैर्या गीयते सा पूर्णा, षड्भिः स्वरैर्या गीयते सा षाडवा, पञ्चभिः स्वरैर्या गीयते सा औडुविता, काकल्यन्तरैः स्वरैर्या गीयते सा साधारणी चेति। (बृहद्देशी ९४-९५ वृत्ति)

इसके बाद याष्टिक मुनि के अनुसार गीति के पाँच भेद हैं—शुद्धा, भिन्ना, वेसरा, गौड़ा और साधारिता। इन्हें ग्रामराग भी कहते हैं। इसके बाद मतंग ने भरत के मतानुसार गीति के चार भेदों का वर्णन किया है—मागधी, अर्धमागधी, संभाविता और पृथुला। पुनः याष्टिक के मतानुसार गीति के तीन भेद बताये गये हैं—भाषा, विभाषा और अन्तरभाषा। इसके बाद ग्रामरागों के आलाप-प्रकार को भाषा कहते हैं। भाषा शब्द का यहाँ प्रकार अर्थ है (**भाषाशब्दोऽत्र प्रकारवाची**)।

मतंग को किन्नरी वीणा का आविष्कारक कहा गया है। इसके पूर्व वीणा पर सारिकाएँ नहीं होती थीं। कुम्भ के अनुसार मतंग की किन्नरी पर चौदह से लेकर अठारह तक सारिकाएँ होती हैं। आजकल वे सभी तन्त्रीवाद्य किन्नरी के विकसित रूप हैं, जिन पर सारिकाएँ विद्यमान हैं। मतंग चित्रावादक थे, इसलिए उन्हें 'चैत्रिक' कहा गया है।

दामोदरगुप्त ने मतंग को सुषिरस्वरवाद्य का महापण्डित बताया है। अभिनवभारतीकार अभिनवगुप्त का कथन है कि मतंग आदि ने बाँस की बनी हुई बाँसुरी से भगवान् महेश्वर को प्रसन्न किया था, इसलिए वेणुमात्र का नाम वंश हो गया। खदिर (खैर) की भी बनी हुई खाली नली जो बजायी जाती है तो वह भी 'वंश' कही जाती है। इस सम्बन्ध में उन्होंने एक श्लोक भी उद्धृत किया है।

चार :

नाट्यशास्त्र, अग्निपुराण एवं विष्णुधर्मोत्तरपुराण

नाट्यशास्त्र

भारतीय साहित्य में नाट्यशास्त्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस ग्रन्थ में नाट्य की विविध विधाओं पर जितना सांगोपाङ्ग विवेचन प्राप्त होता है उतना किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता। भरत के अनुसार लोक का जो यह सुख-दुःखात्मक स्वभाव जब अंगादि अभिनयों से अभिनीत होता है तो 'नाट्य' कहलाता है और नाट्य का शास्त्र नाट्यशास्त्र है। कुछ नाट्याचार्य आंगिकादि चतुर्विध अभिनयोपेत रसाभिव्यक्ति के कारणभूत नर्तन को 'नाट्य' कहते हैं। दूसरे आचार्य नटनीय (अनुकरणीय) दश रूपकों को ही 'नाट्य' कहते हैं। उनके अनुसार उस नाट्य का शास्त्र नाट्यशास्त्र है। इस प्रकार दश रूपकों के लक्षण आदि का प्रतिपादक शास्त्र नाट्यशास्त्र है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार नाट्य का अर्थ 'भरत' है और उनके सहायक भी 'भरत' कहलाते हैं तथा भरतों का शास्त्र भरतशास्त्र या नाट्यशास्त्र है। शारदातनय के अनुसार नाट्य को भरत (धारण) करने के कारण अभिनेताओं को 'भरत' कहा जाता था। एक अन्य व्याख्या के अनुसार भाषा, वर्ण, उपकरण, नानाप्रकृतिसम्भव वेष, वय, कर्म और चेष्टा आदि को भरण (धारण) करने के कारण वे 'भरत' कहे जाते थे। इस प्रकार नटन करने वाले वर्ग के लिए 'भरत' शब्द का प्रयोग किया जाता था। अथवा भरत के वंशजों को 'नट' कहा जाता था, जिनका कार्य नटन एवं नर्तन था। इस प्रकार भरतों अर्थात् नटों के शास्त्र शासन के उपायभूत ग्रन्थ का नाम 'नाट्यशास्त्र' है (**भरतानां नटानां शास्त्रं शासनोपायं ग्रन्थम्**--नाट्यशास्त्रम्)। कोषादि ग्रन्थों में भी भरत को नट कहा गया है। व्याकरणशास्त्र के अनुसार भी 'भरत' शब्द का अर्थ 'नट' है और बाद में नाट्यप्रयोक्ता को भी 'नट' कहा जाने लगा। नटों का शास्त्र नटशास्त्र या नाट्यशास्त्र है। इस प्रकार नटों या भरतों को नाट्यप्रयोग में शिक्षित करने वाले शास्त्र को 'नाट्यशास्त्र' कहा गया है। इस प्रकार नटशास्त्र, भरतशास्त्र या नाट्यशास्त्र एक ही अर्थ को प्रकट करता है।

अभिनवगुप्त के अनुसार समुदाय रूप अर्थ 'नाट्य' है और वह (नाट्य) लौकिक पदार्थों से भिन्न अलौकिक रसात्मक वस्तु है। उस नाट्य का शास्त्र (शासन) नाट्यशास्त्र है; नाट्य के स्वरूप को समझने का उपायभूत ग्रन्थ

है। नटों या भरतों की एक परम्परा के द्वारा इसका सम्पादन किया गया, जो भरत-नाट्यशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस ग्रन्थ में अनेक नाट्याचार्य भरतों (नटों) के मतों एवं विचारों का संग्रह हुआ है, जो नाट्य का एक शासनभूत ग्रन्थ है। इस प्रकार अभिनवगुप्त के अनुसार नाट्य का अर्थ नटवृत्त है और नाट्य का शास्त्र शासनोपाय ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' है—

नाट्यस्य नटवृत्तस्य शास्त्रं शासनोपायं ग्रन्थम्। (नाट्यशास्त्रम्)

अभिनव के अनुसार नाट्यशास्त्र नाट्यवेद का पर्याय है। वेद शब्द का अर्थ शास्त्र है। इस प्रकार नाट्य का वेद-शास्त्र नाट्यशास्त्र है। इस प्रकार नाट्यवेद शब्द से नाट्यशास्त्र का ग्रहण होता है। अन्य व्याख्याकार अनुकरण रूप दश रूपकों को ही नाट्य कहते हैं और उस नाट्य का शास्त्र नाट्यशास्त्र है। अर्थात् जिस शास्त्र (वेद) में दश रूपकों के लक्षणादि का प्रतिपादन हो, उसे 'नाट्यशास्त्र' कहते हैं।

अभिनव ने नाट्यशास्त्र को भरतसूत्र भी कहा है। भरत का अर्थ नट है, अतः इसका अपर नाम नटसूत्र है (**षट्त्रिंशकं भरतसूत्रमिदं विवृण्वन्**)। इस प्रकार अभिनव के अनुसार नटसूत्र, भरतसूत्र, भरतशास्त्र, नटशास्त्र, नाट्यशास्त्र तथा नाट्यवेद—ये सभी समानार्थक हैं। नन्दिकेश्वर ने इसी को 'भरतागम' कहा है।

नाट्यशास्त्र का स्वरूप

प्राचीन ग्रन्थों में नाट्यशास्त्र की दो संहिताओं का उल्लेख मिलता है—एक द्वादशसाहस्री संहिता और दूसरी षट्साहस्री संहिता। शारदातनय और उनके परवर्त्ती आचार्यों ने नाट्यशास्त्र की दोनों परम्पराओं का उल्लेख किया है। शारदातनय के द्वादशसाहस्री संहिता में बारह हजार श्लोक थे और षट्-साहस्री संहिता में छः हजार श्लोक थे[1]। प्रो० रामकृष्ण कवि का कहना है कि द्वादशसाहस्री संहिता की रचना वृद्धभरत ने की थी, जिसे संक्षिप्त करते हुए भरत ने छः हजार श्लोकों में नाट्यशास्त्र बनाया। प्रो० रामकृष्ण कवि द्वादशसाहस्री संहिता का पाठ अधिक प्राचीन मानते हैं। राघवभट्ट ने अभिज्ञानशाकुन्तल की टीका में दोनों संहिताओं से उद्धरण उद्धृत किये हैं। बहुरूप मिश्र ने दशरूपक की टीका में द्वादशसाहस्रीकार और षट्साहस्रीकार दोनों को उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में द्वादशसाहस्री नाट्यशास्त्र का एक बृहद् रूप अवश्य विद्यमान था, जिसका संक्षिप्त रूप छः हजार श्लोकों का वर्तमान नाट्यशास्त्र है; जिस पर अभिनव-गुप्त ने अभिनवभारती नामक टीका लिखी है। अभिनव ने अभिनवभारती की प्रस्तावना के द्वितीय श्लोक में '**षट्त्रिंशकं भरतसूत्रमिदं विवृण्वन्**' तथा अभिनव-भारती प्रथम भाग, पृष्ठ आठ पर '**मध्ये षट्त्रिंशदध्याय्यां**' लिखा है, जिससे ज्ञात होता है कि अभिनव को जिस रूप में नाट्यशास्त्र प्राप्त था, उसमें छत्तीस

अध्याय थे। अथवा अभिनव ने छत्तीस अध्याय वाले नाट्यशास्त्र को प्रामाणिक माना हो और उस पर अभिनवभारती टीका लिखी हो।

नाट्यशास्त्र के मुद्रित संस्करणों एवं हस्तलिखित प्रतियों के अध्यायों की संख्या, श्लोक-संख्या एवं उनके क्रम में एकरूपता नहीं पायी जाती। नाट्य-शास्त्र के काशी संस्करण में छत्तीस अध्याय और काव्यमाला संस्करण में सैंतीस अध्याय हैं। अभिनवभारती के साथ प्रकाशित गायकवाड संस्करण में भी सैंतीस अध्याय हैं। अभिनवगुप्त ने छत्तीस अध्याय वाले संस्करण को प्रमाणभूत माना है, यद्यपि उन्होंने सैंतीसवें अध्याय पर ही टीका लिखी है। काव्यमाला संस्करण के छत्तीस एवं सैंतीस अध्याय मिलकर छत्तीसवें अध्याय के रूप में सम्पादित किये गये हैं।

नाटचशास्त्र के पञ्चम अध्याय के अन्तिम चालीस श्लोक बहुत-सी प्रतियों में उपलब्ध नहीं है और अभिनवगुप्त ने इस पर टीका भी नहीं लिखी है। इससे अनुमान लगाया जाता है कि यह अंश नाटचशास्त्र का मूलभाग नहीं है अपितु नन्दिकेश्वर से लिया गया है। काव्यमाला संस्करण का नवाँ अध्याय काशी संस्करण में नवम एवं दशम दो अध्यायों में विभक्त है। काव्यमाला संस्करण के चौबीसवें अध्याय के सामान्याभिनय सम्बन्धी कुछ श्लोक काशी संस्करण के चौंतीसवें अध्याय के रूप में सम्पादित हो गये हैं और शेष श्लोक संख्या ९०–११५ काशी संस्करण के पैंतीसवें अध्याय में सम्मिलित हो गये हैं। काशी संस्करण के नवम अध्याय के २०७ श्लोक तथा दशम अध्याय के ५५ श्लोक मिलकर काव्यमाला का दशम अध्याय बन गया है। इसी प्रकार काव्यमाला का छत्तीसवाँ एवं सैंतीसवाँ अध्याय काशी संस्करण में अकेला छत्तीसवाँ अध्याय बन गया है। इनके अतिरिक्त और भी श्लोकों की संख्या एवं अध्यायों में व्यतिक्रम हुआ है।

नाटचशास्त्र में वर्णित विषय-सामग्री की समीक्षा के पश्चात् यह तथ्य उजागर होता है कि नाटचशास्त्र एक संग्रह-ग्रन्थ है। इसमें अनेक नटों, भरतों, नाटचाचार्यों के विचारों एवं सिद्धान्तों का संग्रह किया गया है। शारदातनय के अनुसार सम्भवतः यह पाँच भरतों के सिद्धान्तों का संग्रह-ग्रन्थ है। कोषादि ग्रन्थों में भरत को नट का पर्याय माना है। तदनुसार भरत शब्द का अर्थ 'नट' है और नटसूत्र के रचयिता भरत। बाद में नाटचप्रयोक्ता को भी भरत या नट कहा जाने लगा। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय नटों (भरतों) और प्रयोक्ताओं को हेय दृष्टि से देखा जाता था और उनकी गणना अन्त्यजों में की जाती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि नाटचशास्त्र के रचयिता ने नाटच-कला को उच्च पद पर प्रतिष्ठित करने के लिए उसके साथ धार्मिक एवं आध्यात्मिक तत्त्व जोड़ दिये हैं तथा सम्भवतः इसी दृष्टि से नाटचशास्त्र में प्रथम पाँच अध्याय जोड़े गये हैं[1]।

---

१. संस्कृत-काव्यशास्त्र का इतिहास (काणे) पृ० २७-२९।

कुछ टीकाकारों का कथन है कि नाटचशास्त्र के प्रथम छः श्लोकों की रचना भरतमुनि के किसी शिष्य ने की है, क्योंकि वहाँ भरतमुनि का अन्य पुरुष के रूप में प्रयोग है और कोई भी ग्रन्थकार अपने लिए अन्य पुरुष का प्रयोग नहीं कर सकता। इसी प्रकार नाटचशास्त्र के छत्तीस अध्यायों के मध्य जहाँ कहीं भी प्रश्न एवं उत्तर की योजना हुई है, वे सब उनके शिष्यों के वचन हैं। किन्तु अभिनवगुप्त का कथन है कि प्रश्नोत्तर शैली की यह योजना श्रुति, स्मृति, व्याकरण, तर्कशास्त्र आदि शास्त्रों में भी देखी जाती है। वहाँ प्रश्न के रूप में पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया जाता है और उत्तरपक्ष के रूप में सिद्धान्तों की स्थापना की जाती है। एक ही आचार्य पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष दोनों प्रस्तुत करते हैं। अतः प्रश्नोत्तर शैली के आधार पर नाटचशास्त्र के उन अंशों को उनके शिष्यों का वचन मानना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

नाटचशास्त्र के संस्करण

सर्वप्रथम डॉ० एच० एच० विल्सन ने १८२६-२७ ई० कलकत्ता से एक संग्रह-ग्रन्थ प्रकाशित किया, जिसकी भूमिका में उन्होंने स्वीकार किया है कि 'नाटचशास्त्र, जिसके उद्धरण अनेक ग्रन्थों और टीकाओं में प्राप्त होते हैं, सदा के लिए लुप्त हो चुका है'। विल्सन के इस निराशापूर्ण घोषणा के लगभग चालीस वर्ष बाद १८६५ ई० में एफ़ हाल को धनञ्जय के दशरूपक का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित करते समय एक त्रुटिपूर्ण पाण्डुलिपि प्राप्त हो गयी थी। हाल ने उस पाण्डुलिपि के आधार पर नाटचशास्त्र के अठारहवें, उन्नीसवें, बीसवें एवं चौबीसवें अध्याय को दशरूपक के परिशिष्ट के रूप में प्रकाशित कराया[1]। इस प्रकार प्रथम नाटचशास्त्र के चार अध्यायों का प्रकाशन हुआ। इसके बाद जर्मन विद्वान् हेमान् को नाटचशास्त्र की एक और पाण्डुलिपि प्राप्त हुई। उन्होंने तब तक की प्राप्त सभी प्रतियों के आधार पर सन् १८७४ ई० में नाटचशास्त्र पर एक परिचयात्मक लेख मोटिंगन नगर की 'विज्ञान-परिषद्' की पत्रिका में प्रकाशित कराया[2]।

इसके बाद फ्रेन्चविद्वान् रेग्नो ने १८८० ई० में नाटचशास्त्र के सतरहवें अध्याय का, १८८४ ई० में पन्द्रहवें एवं सोलहवें अध्याय का और छठे एवं सातवें अध्याय का फ्रांसीसी अनुवाद सहित प्रकाशन कराया। इसके बाद रेग्नो के शिष्य ग्रोसे ने १८८८ ई० में संगीत से सम्बन्धित अट्ठाईसवें अध्याय का प्रकाशन किया। तदनन्तर १८९८ ई० में नाटचशास्त्र के १ से १४ अध्याय तक का प्रकाशन कराया[3]। इस प्रकार रेग्नो और ग्रोसे दोनों ने मिलकर नाट्य-शास्त्र के १ से १७ अध्याय तक का क्रमबद्ध तथा अट्ठाईसवें अध्याय का

१. बिब्लियोथिका इण्डिका सीरिज, कलकत्ता १८८१-१८६५।

२. एम० एम० घोष : नाट्यशास्त्र; अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका पृ० ३७।

३. वही।

प्रकाशन कराया। इन दोनों का यह कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। इस बीच फ्रांस के संस्कृत विद्वान् सिल्वालेवी ने १८९० ई० में 'इण्डियन थियेटर' नामक अपने ग्रन्थ में नाट्यशास्त्र पर एक विवेचनात्मक निबन्ध लिखा, जो सतरहवें, बीसवें एवं चौबीसवें अध्याय से सम्बद्ध था। इस प्रकार पाश्चात्य विद्वानों द्वारा नाट्यशास्त्र के उद्धार का कार्य होता रहा।

नाट्यशास्त्र का प्रथम भारतीय संस्करण १८९४ ई० में काव्यमाला सीरिज़ में निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित हुआ है। इसमें कुल ३७ अध्याय हैं। यह नाट्यशास्त्र का सबसे प्राचीन पूर्ण मुद्रित संस्करण था। इसके बाद इस ग्रन्थ का संशोधित संस्करण १९४३ ई० में निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित हुआ। इस संस्करण में तब तक के प्रकाशित अन्य संस्करणों का उपयोग किया था। इस संस्करण में ३६ अध्याय हैं। इसके बाद नाट्यशास्त्र का एक और पूर्ण संस्करण १९२९ ई० में चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस से प्रकाशित हुआ। इस संस्करण में कुल ३६ अध्याय हैं। इसकी पाण्डुलिपि सरस्वती भवन ग्रन्थालय, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी में सुरक्षित है। इस प्रकार ये दोनों ग्रन्थ नाट्यशास्त्र के पूर्ण संस्करण है।

काव्यमाला संस्करण के प्रकाशन के बाद प्रो० रामकृष्ण कवि ने गायकवाड़ ओरियण्टल संस्करण, बड़ौदा से अभिनवगुप्त की अभिनवभारती टीका के साथ नाट्यशास्त्र को चार भागों में प्रकाशित किया। इसका प्रथम भाग १–७ अध्याय तक १९२६ ई० में प्रकाशित हुआ। द्वितीय भाग ८–१८ अध्याय तक १९३४ ई० में, तृतीय भाग १९–२७ अध्याय तक १९५४ ई० में और चतुर्थ भाग २८–३६ अध्याय तक १९६४ ई० में प्रकाशित हुआ। इसके प्रकाशन में उन्होंने चालीस पाण्डुलिपियों का उपयोग किया था। इसके बाद १९५६ ई० में श्रीरामास्वामी शास्त्री ने गायकवाड़ संस्कृत सीरिज से ही प्रथम भाग (१–७) का पुनः संशोधित संस्करण प्रकाशित किया। उन्होंने इस संस्करण में महत्त्व-पूर्ण संशोधन एवं पाठ-परिवर्तन किया है।

इनके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र के कुछ अध्यायों का मराठी अनुवाद प्रो० भानु ने किया है। मनमोहन घोष ने नाट्यशास्त्र के १–२७ अध्याय तक अंग्रेजी में अनुवाद किया, जिसका प्रकाशन रायल एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता द्वारा १९५१ ई० हुआ था। तत्पश्चात् घोष ने १९५६ ई० में सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र के मूलपाठ का प्रकाशन किया। इसी क्रम में उन्होंने नाट्यशास्त्र के २८–३७ अध्याय का अंग्रेजी अनुवाद १९६१ ई० में कलकत्ता से प्रकाशित कराया। इस प्रकार एम० एम० घोष ने सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र का अंग्रेजी अनुवाद के साथ प्रकाशन किया। घोष ने इस अनुवाद की पादटिप्पणी में अनेक प्रकाशित-अप्रकाशित संस्करणों के आधार पर पाठान्तरों पर भी विचार किया है और प्रारम्भ में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका भी दी है।

इनके अतिरिक्त आचार्य विश्वेश्वर ने १९६० ई० में 'नाट्यशास्त्र के प्रथम, द्वितीय एवं षष्ठ अध्याय पर अभिनवभारती का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया। इसी समय १९६० ई० में ही के० डी० वाजपेयी के द्वारा नाट्यशास्त्र के मूल का १–७ अध्यायों का एक हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया गया। इनके बाद १९६३ ई० में डॉ० रघुवंश ने नाट्यशास्त्र के मूल भाग का १–७ अध्यायों का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया। इसके बाद बाबूलाल शुक्ल ने नाट्यशास्त्र के मूल भाग का हिन्दी अनुवाद किया है, जिसके तीन भाग १–२७ अध्याय तक चौखम्बा से प्रकाशित हैं। आचार्य मधुसूदन शास्त्री ने नाट्यशास्त्र का एक संस्करण हिन्दी अनुवाद के साथ १–२७ अध्याय तक तीन भागों में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित किया है।

डॉ० पारसनाथ द्विवेदी (पूर्व आचार्य एवं संकायाध्यक्ष, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी) ने सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र एवं अभिनवभारती का हिन्दी में अनुवाद एवं विस्तृत व्याख्या लिखी है, जिसके दो भाग प्रकाशित हैं तथा शेष प्रकाशनाधीन हैं। आशा है कि शेष भाग शीघ्र ही प्रकाशित होंगे। डॉ० द्विवेदी ने पाठ-शोधों के साथ इस संस्करण का सम्पादन किया है और हिन्दी अनुवाद के साथ विस्तृत व्याख्या भी लिखी है।

नाट्यशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय एवं शैली

नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में नाट्योत्पत्ति के वर्णन के साथ नाट्य के स्वरूप एवं महत्त्व पर विचार किया गया है। द्वितीय अध्याय में नाट्यमण्डप के निर्माण की विधि तथा इसके अङ्ग नेपथ्यगृह, रङ्गपीठ, मत्तवारणी, स्तम्भ-विधान, दासकर्म आदि का विस्तृत विवेचन है। तृतीय अध्याय में नाट्यमण्डप की रक्षा के लिए अनेक देवताओं की पूजा-विधि एवं बर-प्राप्ति का वर्णन है। चतुर्थ अध्याय में तण्डु द्वारा प्रयुक्त ताण्डव नृत्त के वर्णन के साथ करणों, अङ्गहारों एवं रेचकों का विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया है। इसी अध्याय में ताण्डव की उत्पत्ति एवं स्वरूप तथा नृत्त एवं नृत्य-प्रयोग विधान के साथ गीत एवं वाद्यों की प्रयोग-विधि का विस्तृत वर्णन है। नृत्तशास्त्र की दृष्टि से इस अध्याय का अधिक महत्त्व है। पञ्चम अध्याय में पूर्वरङ्ग-विधान का सांगोपाङ्ग वर्णन है। इसी के साथ नान्दी, प्रस्तावना, ध्रुवा एवं चित्रपूर्वरंग विधि का विधिवत् विवेचन किया गया है। नाट्य-रचना एवं नाट्य-प्रयोग की दृष्टि से इसका विशेष महत्त्व है।

षष्ठ अध्याय में रस का शास्त्रीय विवेचन किया गया है। इसमें ऋषियों के द्वारा पूछे गये पाँच प्रश्न, रसों के नामकरण का आधार, संग्रह, कारिका और निरुक्त का स्वरूप, नाट्यसंग्रह, रसनिष्पत्ति, रसों की संख्या तथा स्थायी-भावों का विस्तृत विवेचन किया गया है। सप्तम अध्याय में भावों का शास्त्रीय

दृष्टि से महत्त्वपूर्ण विवेचन किया गया है। साहित्यशास्त्र की दृष्टि से इन दोनों अध्यायों का विशेष महत्त्व है।

अष्टम अध्याय में अभिनय के चार भेद बतलाने के पश्चात् आङ्गिक अभिनय के अन्तर्गत शिर, नेत्र, भ्रू, कपोल, ओष्ठ, मुख, नासिका, ग्रीवा आदि उपाङ्गों के अभिनय का विस्तृत विवेचन किया गया है। नवम अध्याय में हस्ताभिनय के अन्तर्गत संयुत और असंयुत हस्तमुद्राओं के साथ नृत्तहस्त मुद्राओं का विस्तृत वर्णन है। दशम अध्याय में वक्ष, पार्श्व, कटि, ऊरु, जंघा तथा पैरों से किये जाने वाले अभिनयों का विस्तृत विवेचन किया गया है। एकादश अध्याय में चारी-निरूपण के अन्तर्गत आकाशचारी और भौमचारी के वर्णन के साथ स्थानकों का विवेचन किया गया है। द्वादश अध्याय में चारियों के संयोग से बनने वाले मण्डलों के लक्षण, भेद तथा प्रयोग आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है। त्रयोदश अध्याय में गति-प्रचार का वर्णन है। इसमें पात्रों के विविध प्रकार की गतियों का विवेचन है। चतुर्दश अध्याय में कक्ष्या विभाग तथा प्रवृत्ति व्यञ्जन के प्रतिपादन के साथ लोकधर्मी और नाट्यधर्मी दो नाट्यविधाओं का विस्तृत वर्णन है। पञ्चदश अध्याय से एकोनविंश (पन्द्रहवें से उन्नीसवें) अध्याय तक वाचिक अभिनय के सभी पक्षों पर सांगोपाङ्ग विवेचन किया गया है। पन्द्रहवें और सोलहवें अध्याय में वाचिकाभिनय के उपयोगी व्याकरण के विषयों के साथ छन्दों एवं उनके भेदों का विधिवत् विवेचन किया गया है। सतरहवें अध्याय में वाचिक अभिनय के अन्तर्गत काव्य-लक्षणों, अलङ्कारों, दोषों एवं गुणों का विस्तृत विवेचन किया गया है। अठारहवें अध्याय में चतुर्विध भाषाओं तथा सप्तविध विभाषाओं का विधिवत् वर्णन है। उन्नीसवें अध्याय में काकू, स्वर तथा उनके प्रकारों और पाठ्य के गुण-दोषादि का सूक्ष्म विवेचन किया गया है।

बीसवें अध्याय में दस रूपकों के विस्तृत विवेचन के साथ दस लास्याङ्गों का विस्तृत वर्णन किया गया है। इक्कीसवें अध्याय में इतिवृत्त-विधान, सन्धियों, पञ्च अवस्थाओं, अर्थप्रकृतियों एवं अर्थोपक्षेपकों का सांगोपाङ्ग विवेचन किया गया है। बाइसवें अध्याय में आहार्याभिनय के अन्तर्गत नेपथ्य-विधान, नेपथ्य के भेद तथा उससे सम्बन्धित अन्य विषयों का विवेचन किया गया है। चौबीसवें अध्याय में सामान्याभिनय का सांगोपाङ्ग विवेचन है। इसमें सात्त्विक अभिनय के अन्तर्गत स्त्रियों के स्वभावज एवं अयत्नज अलङ्कारों, हाव, भाव, हेला आदि अङ्गज अलङ्कारों, रस और भावों के अनुसार शरीराभिनय, काम की दश अवस्थाओं, दूतीप्रेषण तथा नायिका-भेदों का विस्तृत वर्णन किया गया है। पच्चीसवें अध्याय में वैशिक पुरुषों के गुणों, उसके मित्र और दूती आदि स्त्रियों को चेष्टाओं, स्त्रियों के यौवन की चार अवस्थाओं, प्रेमियों के प्रकार तथा स्त्रियों को वश में करने के उपायों का विस्तृत विवेचन किया गया है।

छब्बीसवें अध्याय में चित्राभिनय का विधिवत् विवेचन है। अङ्गादि अभिनयों में जो बातें रह गयी हैं, उनका भी इसमें विवेचन किया गया है। सत्ताइसवें अध्याय में दैवी एवं मानुषी सिद्धियों के विवेचन के साथ नाट्य के निर्णायकों एवं परीक्षकों, प्रेक्षकों के गुणों एवं योग्यता आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है।

अट्ठाइसवें अध्याय से चौंतीसवें अध्याय तक छः अध्यायों में संगीतशास्त्र से सम्बन्धित विषयों का प्रतिपादन हुआ है। अट्ठाइसवें अध्याय में चार प्रकार के वाद्यों, सात स्वरों तथा उसके चार प्रकारों, ग्राम, मूर्च्छना, श्रुतियों एवं जातियों का विस्तृत विवेचन किया गया है। उन्नीसवें अध्याय में तद्वाद्यों से सम्बन्धित जातियों के रसाश्रित प्रयोग, चार प्रकार के वर्ण और उन पर आश्रित तैंतीस अलङ्कारों, वीणावादन के भेदों और बहिर्गीत के प्रकारों का विस्तृत वर्णन किया गया है। तीसवें अध्याय में सुषिर वाद्यों का विधिवत् विवेचन किया गया है। इकतीसवें अध्याय में ताल और लय के विवेचन के साथ आसारित, वर्धमान आदि गीत-विधियों का विस्तार के साथ विधिवत् विवेचन किया गया है। बत्तीसवें अध्याय में ध्रुवाओं का सांगोपाङ्ग वर्णन किया गया है। तैंतीसवें अध्याय में गायक और वादकों के गुण, दोष एवं योग्यता आदि पर विचार किया गया है। चौंतीसवें अध्याय में मृदङ्ग आदि अवनद्ध वाद्यों तथा उनके भेदो, विधियों एवं वाद्यों के अधिदेवताओं का विधिवत् निरूपण किया गया है। ~~पैंतीसवें अध्याय में पुरुष और स्त्रियों की तीन प्रकृतियों, चार प्रकार के नायकों तथा अन्तःपुर के परिजनों का वर्णन है।~~ पैंतीसवें अध्याय में पुरुष और स्त्रियों की तीन प्रकृतियों, चार प्रकार के नायकों तथा अन्तःपुर के परिजनों का वर्णन है। पैंतीसवें अध्याय में पात्रों की भूमिकाओं का विस्तार के साथ विवेचन किया गया है। छत्तीसवें और सैंतीसवें अध्याय में नाट्यावतरण की कथा वर्णित है।

शैली

नाट्यशास्त्र में प्राचीनकाल में प्रचलित अनेक प्रकार की शैलियों का समन्वय है। सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र गद्य और पद्य दोनों प्रकार की शैलियों में निबद्ध है। नाट्यशास्त्र में सूत्र, भाष्य और निरुक्त तीनों शैलियों के गद्य मिलते हैं। पद्य अधिकांशतः अनुष्टुप् छन्द में हैं। बहुत थोड़े पद्य आर्या और उपजाति छन्दों में हैं। नाट्यशास्त्र मूलतः सूत्रशैली में लिखा गया था, बाद में वह कारिका के रूप में विकसित हुआ; यह अभिनवगुप्त आदि आचार्यों की मान्यता है। दूसरे आचार्यों की मान्यता है कि नाट्यशास्त्र मूलरूप में गद्य और पद्य दोनों की मिश्रित शैली में लिखा गया होगा। इस प्रकार नाट्यशास्त्र में गद्य-पद्य की अनेक शैलियों का मिश्रण है।

नाट्यशास्त्र की गद्य-शैली के मुख्यतः तीन रूप मिलते हैं—सूत्र, भाष्य

और निरुक्त। नाट्यशास्त्र में पाणिनि, पतञ्जलि और यास्क तीनों की गद्य-शैलियों के दर्शन होते हैं। अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र का भरतसूत्र के रूप में निर्देश किया है। इसमें सूत्रशैली में सिद्धान्त का विवेचन हुआ है और निरुक्त शैली में शब्दों का निर्वचन तथा विश्लेषण हुआ है तथा सूत्रों में अनुस्यूत सिद्धान्तों का भाष्यशैली में व्याख्या की गयी है। जैसे—नाट्यशास्त्र के षष्ठ अध्याय में सूत्रशैली का गद्य भरत का रससूत्र है—'**विभावानुभावव्यभिचारि-संयोगाद्रसनिष्पत्तिः**'। इसमें रस-सिद्धान्त का निरूपण है। सूत्र में निरूपित रस-सिद्धान्त का भाष्यशैली व्याख्यान इस प्रकार है—

"कोऽत्र दृष्टान्तः? अत्राह—यथा हि नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रस-निष्पत्तिः, तथा नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्तिः। यथा हि गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनै-रौषधिभिश्च षाडवादयो रसा निवर्त्यन्ते तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति।"

नाट्यशास्त्र के कुछ गद्यांश निरुक्त की गद्य-शैली में मिलते हैं, जिसमें शब्दों का निर्वचन किया गया है। नाट्यशास्त्र के सातवें अध्याय में 'भाव' शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया गया है—

"अत्राह—भावा इति कस्मात्? किं भवन्तीति भावाः? किं वा भाव-यन्तीति भावाः? उच्यते—वागङ्गसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः। भू इति करणे धातुः तथा च भावितं वासितं कृतमित्यर्थान्तरम्।"

नाट्यशास्त्र का अधिकांश भाग पद्यात्मक है। इनमें अधिकतर पद्य अनुष्टुप् छन्द में हैं। ये सभी सूत्र या कारिकाओं के रूप में हैं। भरतमुनि ने इनके अतिरिक्त अपने विचारों के समर्थन में आनुवंश्य आर्याओं, श्लोक और सूत्रानुविद्ध आर्याओं का भी उपयोग किया है। इनके अतिरिक्त उदाहरण आदि के रूप में उपजाति छन्दों का भी प्रयोग किया गया है। इस प्रकार नाट्यशास्त्र में सूत्र, भाष्य, संग्रह-श्लोक, कारिका, निरुक्त आदि सभी शैलियों का वर्णन प्राप्त होता है।

अभिनवगुप्त के अनुसार सूत्र का अर्थ है—परिभाषा या लक्षण और उस सूत्र का स्पष्टीकरण रूप व्याख्या भाष्य या परीक्षा है (सूत्रं लक्षणं भाष्यं तद्व्यक्तीकरणरूपा परीक्षा)। कारिका शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं कि सूत्र, श्लोक और लक्षण रूप अर्थ तीनों को कारिका कहा जा सकता है। भाव यह है कि जो अर्थ संक्षेप रूप से स्वल्प शब्दों वाले सूत्र से कहा जाता है, उस लक्षण रूप अर्थ को 'कारिका' कहते हैं। उस अर्थ के वाचक सूत्र को भी 'कारिका' कहा जाता है और उस सूत्र की अपेक्षा जो पीछे पढ़ा गया श्लोक है, वह श्लोक भी 'कारिका' है। (सूत्रतः सूत्रणेन तेन सूत्रमपि कारिका तत्सूत्रमपेक्ष्य या अनु पश्चात् पठिता श्लोकरूपा सापि कारिका)। इसी को स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं कि सूत्र सूचक (सूत्रण करने

वाला) या लक्षण है। इसी से कारिका का भी ग्रहण हो जाता है। ग्रन्थ का अर्थ भाष्य है। उसके द्वारा किया गया विकल्पन अर्थात् आक्षेपप्रतिसमाधानात्मक विकल्पन निरुक्त या परीक्षा है (सूत्रं सूत्रकं लक्षणं वक्ष्यामि। तेनैव च कारिका सङ्गृहीता। ग्रन्थो भाष्यं तत्कृतं च विकल्पमाक्षेपप्रतिसमाधानात्मकं परीक्षा निरुक्तशब्दवाच्या प्रतिज्ञाता)। सूत्र शब्द से केवल गद्य का ही ग्रहण नहीं होता, क्योंकि काव्यप्रकाश में कारिकाएँ तथा धर्मसूत्र और गृह्यसूत्र में श्लोक भी सूत्र कहे जाते हैं। सूत्र शब्द से यहाँ पर श्लोक और कारिका दोनों का ग्रहण होता है। सूत्र को लक्षण या कारिका कहते हैं और सूत्र के संक्षिप्त अर्थ के प्रतिपादक श्लोक भी कारिका हैं। इस प्रकार श्लोक और कारिका दोनों ही सूत्र के पर्याय सिद्ध होते हैं। अतः भरत के नाट्यशास्त्र में सूत्र, श्लोक, कारिका, संग्रह, निरुक्त एवं भाष्य सभी का उपयोग हुआ है। इसलिए भवभूति ने उत्तररामचरित नाटक में भरत को तौर्यत्रिक सूत्रकार कहा है।

'आनुवंश्य' शब्द के अर्थ पर विचार करने से प्रतीत होता है कि वंश-परम्परा अर्थात् गुरु-शिष्य परम्परा से प्राप्त श्लोक को आनुवंश्य श्लोक कहते हैं। ये आनुवंश्य श्लोक सूत्रार्थ का ही संक्षेप में प्रकाशन करते हैं। अतः ये कारिका शब्द से अभिहित किये जाते हैं[1]। महाभारत में भी आनुवंश्य श्लोकों की परम्परा मिलती है[2]। महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ ने आनुवंश्य श्लोकों को परम्परागत आख्यान के रूप में स्वीकार किया है[3]। मत्स्यपुराण में भी आनुवंश्य श्लोक प्राप्त होते हैं। आनुवंश्य श्लोकों के अतिरिक्त सूत्रानुविद्ध आर्याएँ भी, जो सूत्र के अनुविद्ध अर्थ को विस्तारित करती हैं,[4] परम्परागत रूप में गृहीत हैं। इनके अतिरिक्त 'अत्रार्याः' 'अत्रार्ये भवतः' आदि उद्धरण भी नाट्यशास्त्र में गृहीत हैं। अभिनव ने इन आर्याओं को भी पूर्वाचार्यों की परम्परा से गृहीत माना है। इस प्रकार ज्ञात होता है कि ये आनुवंश्य श्लोक, सूत्रानुविद्ध आर्याएँ तथा आर्याएँ भरतमुनि द्वारा रचित नहीं हैं, अपितु पूर्व-परम्परा से कहीं-कहीं मतभेद भी प्रदर्शित किया है। इस प्रकार भरत ने नाट्यशास्त्र को एक सुव्यवस्थित एवं सुनियोजित रूप प्रदान किया।

नाट्यशास्त्र का रचयिता एक या अनेक

भारतीय परम्परा भरत को नाट्यशास्त्र का रचयिता मानती है और उन्हें

---

१. अत्रेति भाष्ये। अनुवंशभवौ शिष्याचार्यपरम्परासु वर्तमानौ श्लोकाख्यौ वृत्तिविशेषौ सूत्रार्थसङ्क्षेपप्रकटीकरणेन कारिकाशब्दवाच्यौ भवतः।
(अभिनवभारती भाग १, पृ० २९०)

२. यत्रानुवंशं भगवान् जामदग्न्यस्तथा जगौ।
(महाभारत, वनपर्व ८७।१६)

३. परम्परागतमाख्यानं श्लोकम्। (नीलकण्ठ)

४. अपि चात्र सूत्रानुविद्धे आर्ये भवतः। (नाट्यशास्त्र)

पौराणिक पुरुष बतलाती है। दशरूपक, भावप्रकाशन, नाटचदर्पण, रसार्णव-सुधाकर, संगीतरत्नाकर आदि ग्रन्थों में भरत को नाटचशास्त्र-प्रणेता के रूप में स्मरण किया गया है। अमरकोष में भरत को नट का पर्याय माना गया है। तदनुसार भरत का अर्थ नट है और नटसूत्र के रचयिता भरत (नट) हैं। भवभूति ने भरत को तौर्यत्रिक सूत्रकार कहा है। इस प्रकार नाटचशास्त्र के रचयिता भरत हैं और बाद में उन्हें नाटचप्रयोक्ता भी मान लिया गया।

अभिनवगुप्त के अनुसार नाटचशास्त्र के रचयिता भरत हैं। उन्होंने अपने पूर्ववर्त्ती इस मान्यता का खण्डन किया है कि नाटचशास्त्र के प्रथम अध्याय के प्रथम छः श्लोकों की रचना भरत के किसी शिष्य ने की है और नाटचशास्त्र के छत्तीस अध्यायों के मध्य जहाँ कहीं भी प्रश्न एवं उत्तर की योजना हुई है वे सब उनके शिष्यों के वचन हैं[1]। अभिनवगुप्त का कथन है कि सम्पूर्ण नाटच-शास्त्र एक ही व्यक्ति की रचना है, क्योंकि एक ग्रन्थ के अनेक रचयिता मानने में कोई प्रमाण नहीं है। क्योंकि प्रश्नोत्तर शैली की योजना श्रुति, स्मृति, तर्कशास्त्र, व्याकरण आदि शास्त्रों में भी देखी जाती है[2]। वहाँ प्रश्न के रूप में पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया जाता है और उत्तरपक्ष में सिद्धान्त की स्थापना होती है। एक ही आचार्य प्रश्न और उत्तर दोनों प्रस्तुत करते हैं। अतः प्रश्नोत्तर-शैली के आधार पर नाटचशास्त्र के अनेक रचयिता मानना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

अभिनवगुप्त अपने किसी नास्तिक शिरोमणि उपाध्याय के मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि जो आचार्य यह मानते हैं कि सदाशिव, ब्रह्मा और भरत ये तीन नाटचशास्त्र के प्रवर्त्तक थे, उनके मतों के प्रतिपादन के लिए उनके ग्रन्थों के प्रमुख अंशों का संग्रह करके नाटचशास्त्र-विषयक एक संग्रह-ग्रन्थ तैयार किया गया, वही नाटचशास्त्र है। इस प्रकार नाटचशास्त्र एक संग्रह-ग्रन्थ है, भरतमुनि द्वारा रचित नहीं[3]। अभिनवगुप्त अपने उस नास्तिक गुरु की विचारधारा से सहमत नहीं है। उनके अनुसार भरतमुनि ही नाटचशास्त्र के रचयिता हैं।

नाट्यशास्त्र (काव्यमाला संस्करण) के अन्तिम अध्याय के अन्त में पुष्पिका लेख में **'समाप्तश्चायं ग्रन्थो नन्दिभरतसङ्गीतपुस्तकम्'** यह उल्लेख मिलता है। इससे यह प्रतीत होता है कि नाट्यशास्त्र का उत्तरभाग, जिसका एक अंश संगीत-विषयक है, का सम्पादन नन्दिभरत ने किया है। इस प्रकार इस अंश के रचयिता नन्दिभरत कहे जा सकते हैं। अभिनवगुप्त नन्दिभरत को एक व्यक्ति न मानकर नन्दि और भरत दो व्यक्ति मानते हैं और उनका दूसरा नाम तण्डु तथा

---

१. अभिनवभारती भाग १, पृष्ठ ९।
२. वही।
३. वही।

मुनि बतलाते हैं (**तण्डुमुनिशब्दौ नन्दिभरतयोरपरनामनी**)। इस प्रकार नाट्यशास्त्र नन्दि और भरत दोनों की संयुक्त रचना प्रतीत होती है। कन्हैयालाल पोद्दार नन्दिभरत का अर्थ नन्दि-शिष्य भरत करते हैं। उनके अनुसार अन्य भरतों से अलग करने के लिए नन्दिभरत शब्द का प्रयोग किया गया होगा।

शारदातनय के अनुसार भरतों ने नाट्यवेद के दो संस्करण तैयार किये, जिनमें से एक में बारह हजार श्लोक थे जिसका अभिधान 'द्वादशसाहस्री संहिता' था। इस संस्करण के सम्पादक आदिभरत या वृद्धभरत थे। प्रो० रामकृष्ण कवि का कथन है कि वृद्धभरत या आदिभरत ने बारह हजार श्लोकों में एक संग्रह-ग्रन्थ तैयार किया था, जिसका कुछ अंश प्राच्य है। दूसरे संस्करण में छः हजार श्लोक थे, जिसका अभिधान 'षट्साहस्रीसंहिता' था। इसके सम्पादक नन्दिभरत थे। ऐसा प्रतीत होता है कि पहले यह ग्रन्थ नन्दिभरत के नाम से प्रसिद्ध रहा होगा, जिसमें नाट्य एवं सङ्गीत का समवेत प्रतिपादन किया गया होगा और बाद में भरतनाट्यशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध हो गया होगा।

नाट्यशास्त्र के अन्तिम अध्याय में भविष्यवाणी के रूप में यह बताया गया है कि नाट्यशास्त्र के अवशिष्ट भाग का कथन कोहल करेंगे (**शेषमुत्तरतन्त्रेण कोहलः कथयिष्यति**)। इससे प्रतीत होता है कि नाट्यशास्त्र के कुछ भाग के लेखक कोहल रहे होंगे।

एक अन्य परम्परा नाट्यशास्त्र की रचना का श्रेय ब्रह्मा को देती है। उनके अनुसार ब्रह्मा नाट्यवेद की रचना कर प्रयोग के लिए भरत को सिखाया और भरत ने अपने पुत्रों के साथ उसका प्रयोग किया। इस प्रकार ब्रह्मा नाट्यशास्त्र के रचयिता हैं और भरत नाट्यप्रयोक्ता हैं।

तमिल भाषा में 'पञ्चभरतम्' नामक एक रचना मिलती है, जिसमें भरत से सम्बन्धित पाँच नाम आये हैं—आदिभरत (वृद्धभरत), नन्दिभरत, मतङ्गभरत, अर्जुनभरत और हनुमद्भरत। शारदातनय को 'पञ्चभारतीयम्' नामक ग्रन्थ के अस्तित्व का पता था। सम्भवतः यह वही ग्रन्थ होगा जिसमें वृद्धभरत, नन्दिभरत, कोहलभरत, दत्तिलभरत और मतङ्गभरत के सिद्धान्तों का समवेत सम्पादन होगा। इन पाँचों ने नाट्यवेद का भरण (धारण) किया था, इसलिए वे भरत कहलाये। शारदातनय के अनुसार इसी परम्परा के किसी भरत ने अपने पूर्ववर्त्ती भरतों के सिद्धान्तों का सार ग्रहण कर एक नाट्यसंग्रह तैयार किया, जो नाट्यशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ और बाद में वह भरतनाट्यशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

नाट्यशास्त्र के साक्ष्यों के आधार पर ज्ञात होता है कि उसके पूर्व भरतों की एक परम्परा विद्यमान रही है। इस परम्परा में नाट्य और सङ्गीत सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों की रचना हुई। इसी परम्परा के किसी आचार्य ने उन

सभी ग्रन्थों से सार को लेकर एक सुव्यवस्थित संग्रह-ग्रन्थ सम्पादित किया जो नाट्यशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार नाट्यशास्त्र एक संग्रह-ग्रन्थ है। इसमें अनेक आचार्यों, भरतों के मतों एवं विचारों का संग्रह है। इसका सम्पादन किसी एक भरत ने किया होगा और यह भरतकृत मान लिया गया होगा। इस प्रकार यह अनेक भरतों का शास्त्र शासन का उपायभूत ग्रन्थ है (**भरतानां शास्त्रं शासनोपायं ग्रन्थम्**)। इस प्रकार नाट्यशास्त्र एक भरत की रचना न होकर अनेक भरतों के मतों एवं विचारों का संग्रह-ग्रन्थ है और संग्राहक ने भरत के नाम से उसे प्रसारित कर दिया।

नाट्यशास्त्र का रचनाकाल

नाट्यशास्त्र का काल-निर्धारण करना एक जटिल समस्या है। इस ग्रन्थ का प्रणयन किसी एक समय में एक व्यक्ति के द्वारा हुआ होगा, यह सम्भव प्रतीत नहीं होता। भारतीय परम्परा भरत को नाट्यशास्त्र का रचयिता मानती है, किन्तु भारतीय इतिहास में अनेक भरतों का होना काल-निर्धारण में एक उलझन उत्पन्न कर देता है, जिसका समाधान अभी तक नहीं हो सका है तथा जो अब भी अनुसन्धेय है। हम यहाँ ऐसे आकर-ग्रन्थ के रचना-काल के सम्बन्ध में प्राचीन ग्रन्थों, भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों की मान्यताओं के विश्लेषण के साथ आभ्यन्तर और बाह्य साक्ष्यों के आधार पर नाट्यशास्त्र के काल-निर्धारण का प्रयास करेंगे।

भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों की मान्यताएँ

नाट्यशास्त्र के १-१४ अध्यायों के प्रथम सम्पादक फ्रेञ्च विद्वान् पी० रेग्नो तथा उनके शिष्य जे० ग्राँसे महोदय ने नाट्यशास्त्र का रचनाकाल ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी स्वीकार किया है। म० म० हरप्रसाद शास्त्री ने नाट्यशास्त्र का रचनाकाल रेग्नो के समान ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी माना है[1]। प्रो० सिल्वा लेवी ने जूनागढ़ शिलालेख और नाट्यशास्त्र में प्रयुक्त सम्बोधन-वाचक—स्वामिन्, सुगृहीतनामन् तथा भद्रमुख आदि शब्दों की समानता के आधार पर नाट्यशास्त्र का समय क्षत्रपों का शासनकाल द्वितीय शताब्दी स्वीकार किया है[2]। किन्तु काणे महोदय प्रो० लेवी के मत से सहमत नहीं दिखाई देते। उनका कहा है कि शब्दों के साम्य के आधार पर नाट्यशास्त्र का रचनाकाल द्वितीय शताब्दी मानना समीचीन प्रतीत नहीं होता। क्योंकि यह भी सम्भव है कि इन शब्दों का प्रथम प्रयोग नाट्यशास्त्र में ही हुआ हो और वहीं से शिलालेखों में ले लिया गया हो। अतः नाट्यशास्त्र का रचनाकाल ईसा की द्वितीय शताब्दी के पूर्व माना जा सकता है। डॉ० दिनेशचन्द्र सरकार नाट्यशास्त्र में प्रयुक्त 'नेपाल' तथा 'महाराष्ट्र' शब्द का प्रथम उल्लेख प्रयाग-

१. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (काणे) पृ० ५०।

२. वही, पृ० ५०।

स्तम्भाभिलेख और ऐहोल शिलालेख में पाये जाने के आधार पर नाट्यशास्त्र का रचनाकाल द्वितीय शताब्दी के बाद का मानते हैं[१]। किन्तु काणे महोदय का कथन है कि शिलालेखों में 'नेपाल' एवं 'महाराष्ट्र' शब्दों का उल्लेख होने से यह नहीं कहा जा सकता है कि उसके पूर्व उन शब्दों का अस्तित्व नहीं था। २०० ई० पूर्व नानाघाट अभिलेख में भी महाराष्ट्री शब्द का उल्लेख मिलता है। दूसरे प्रवरसेन रचित सेतुबन्ध काव्य में महाराष्ट्री प्राकृत का जिस रूप में प्रयोग हुआ है, उससे यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि इन शिलालेखों के रचनाकाल से शताब्दियों पूर्व महाराष्ट्री प्राकृत का प्रयोग करने वाले मराठी जनपद विद्यमान रहे होंगे[२]। अतः काणे महोदय के अनुसार नाट्यशास्त्र का रचनाकाल द्वितीय शताब्दी के पश्चात् नहीं स्वीकार किया जा सकता।

कर्नल जैकब और ए० बी० कीथ नाट्यशास्त्र का रचनाकाल तृतीय शताब्दी स्वीकार करते हैं[3]। डॉ० मनमोहन घोष भाषाशास्त्रीय, छन्दःशास्त्रीय, भौगोलिक तथ्यों आदि के आधार पर नाट्यशास्त्र के प्रणयन का समय ई० पू० प्रथम शताब्दी तथा ई० द्वितीय शताब्दी के मध्य मानते हैं[४]। नाट्यशास्त्र के अधिकारी विद्वान् म० म० रामकृष्ण कवि नाट्यशास्त्र का समय ईसापूर्व ५०० वर्ष स्वीकार करते हैं[५]।

अन्तःसाक्ष्य

नाट्यशास्त्र में विविध विषयों के विवेचन के सन्दर्भ में प्राचीन काल के अनेक आचार्यों और ग्रन्थों का उल्लेख है। अङ्गहारों के विवेचन के सन्दर्भ में तण्डु,[६] ध्रुवा और गान्धर्व के सम्बन्ध में नारद,[७] अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में बृहस्पति,[८] गृह-रचना तथा वास्तुकला के सन्दर्भ में विश्वकर्मा,[९] शब्दलक्षण के सम्बन्ध में पूर्वाचार्य,[१०] पुराण[११] तथा कामतन्त्र[१२] का उल्लेख मिलता है।

---

१. वही, पृ० ५१-५२।

२. भरत और भारतीय नाट्यकला, पृ० ३१।

३. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (काणे), पृ० ५०।

४. वही पृ० ५०।

५. भारतकोष : रामकृष्णकवि, पृ० २।

६. नाट्यशास्त्र ४।१७।

७. वही ३२।१, ३२।४८४।

८. २४।८८, ३४।७९।

९. वही २।७, १२।

१०. वही १५।२२।

११. वही १४।४६, २७।५९।

१२. वही २३।३७, ५२।

नाटचशास्त्र में इन प्राचीन आचार्यों और ग्रन्थों का नामोल्लेख होने से इतना तो अवश्य ज्ञात होता है कि ये आचार्य नाटचशास्त्र की रचना के समय तक परम ख्याति को प्राप्त हो चुके थे और उनका मत उस समय तक मान्य हो चुका था। इससे उन प्राचीन आचार्यों के साथ-साथ नाटचशास्त्र की प्राचीनता का स्पष्ट संकेत मिलता है।

भरत और तण्डु—तण्डु भरत के शिक्षक तथा ताण्डव नृत्त के प्रयोक्ता, अङ्गहार, रेचक एवं नृत्याभिनयों के प्रथम प्रवक्ता एक नाटचाचार्य थे। उन्होंने शिव की आज्ञा से भरत को करणों एवं रेचकों से युक्त अङ्गहारों की शिक्षा दी थी। तण्डु का समय ईसापूर्व षष्ठ शताब्दी माना जाता है[१]। अतः भरत का समय ईसापूर्व पञ्चम शताब्दी होना चाहिए।

बृहस्पति का ग्रन्थ अप्राप्य है, किन्तु नाटचशास्त्र, अर्थशास्त्र और कामसूत्र में उनका आचार्य के रूप में उल्लेख हैं। भरतार्णव में बृहस्पति के मतानुसार हस्त-विनियोग का निरूपण है। बृहस्पति का समय ईसापूर्व षष्ठ शताब्दी के आस-पास माना जाता है,[२] अतः भरत का समय ईसापूर्व पञ्चम शताब्दी या उसके बाद का मानना चाहिए।

भाषा-शैली—नाटचशास्त्र में संस्कृत और प्राकृत भाषा का जो स्वरूप प्राप्त होता है, वह अश्वघोष के काव्यों में प्रयुक्त प्राकृत भाषा की अपेक्षा परवर्त्ती ज्ञात होता है। इस साक्ष्य के आधार पर नाटचशास्त्र का रचनाकाल चतुर्थ शताब्दी के पूर्व तथा प्रथम शताब्दी के बाद माना जाता है। किन्तु नाटचशास्त्र की आनुवंश्य आर्याओं, कारिकाओं, भरतवाक्य, नान्दी आदि विविध प्रसङ्गों के वर्णन में संस्कृत भाषा का जो स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, उसके आधार पर रेनाल्ड महोदय नाटचशास्त्र का रचनाकाल ईसा के प्रथम शतक का प्रारम्भिक काल मानते हैं। नाटचशास्त्र में आनुवंश्य आर्याओं, सूत्रानुविद्ध आर्याओं, श्लोकबद्ध कारिकाओं, गद्य, सूत्र तथा सूत्रभाष्य के रूप मे उपलब्ध शैली की विविधता नाटचशास्त्र की प्राचीनता की ओर संकेत करती हैं।

अलङ्कार—नाटचशास्त्र में उपमा, रूपक, दीपक और यमक—इन चार अलङ्कारों की चर्चा की गयी हैं। जब कि भामह-दण्डी के समय छठी शताब्दी तक उसका उत्तरोत्तर विकास होता रहा है और इनकी संख्या चालीस तक पहुँच गयी। इस प्रकार नाटचशास्त्र में कुल चार अलङ्कारों का प्रयोग उसकी प्राचीनता का द्योतक है[३]।

---

१. आचार्य नन्दिकेश्वर और उनका नाटच साहित्य, पृ० २१।

२. वही पृ० २२।

३. भरत और भारतीय नाटचकला, पृ० २८।

महाग्रामणी—नाटचशास्त्र में 'महाग्रामणी' शब्द ग्रामदेवता का वाचक है। अभिनवगुप्त इसका अर्थ 'गणपति' करते हैं, किन्तु मनमोहन घोष अभिनवगुप्त के आधार पर महाग्रामणी का अर्थ गणपति स्वीकार नहीं करते। गणपति का हिन्दू-देवता के रूप में उल्लेख न होना इस बात का द्योतक है कि नाटचशास्त्र की रचना उस प्राचीन काल में हुई होगी जब गणेश की देवता के रूप में कल्पना भी न की गई होगी[१]।

बाह्य साक्ष्य—

नाटचशास्त्र और कालिदास—महाकवि कालिदास ने विक्रमोर्वशीय में भरत को नाटचशास्त्र का प्रवर्त्तक, आठ रसों का प्रतिपादक तथा देवताओं के समक्ष अभिनय का प्रयोक्ता कहा है और नाटच की अष्टरसाश्रयिता का स्पष्ट उल्लेख किया है[२]। रघुवंश में खण्डिता नायिका का वर्णन नाटचशास्त्र में प्रतिपादित नायिका-भेद के आधार पर किया गया है[३]। इसी प्रकार रघुवंश में अङ्ग-सत्त्व-वचनाश्रय नृत्य का[४] तथा कुमारसंभव में सन्ध्यङ्ग तथा ललित अङ्गहारों का[५] प्रयोग नाटचशास्त्र के आधार पर किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि कालिदास की कृतियों पर नाटचशास्त्र का स्पष्ट प्रभाव है। अतः स्पष्ट है कि नाटचशास्त्र का प्रणयन कालिदास के बहुत पहले हो चुका था।

नाटचशास्त्र और अश्वघोष—अश्वघोष के 'शारिपुत्रप्रकरण' पर नाटचशास्त्र में निरूपित प्रकरण नामक रूपक-भेद का अधिक प्रभाव परिलक्षित होता है। अतः अश्वघोष का यह प्रकरण नाटचशास्त्रोक्त प्रकरण के शिल्पविधान से प्रभावित है[६]। अश्वघोष का समय ईसा का प्रथम शताब्दी माना जाता है, अतः नाटचशास्त्र की रचना इसके पूर्व हुई होगी।

नाटचशास्त्र और गाथासप्तशती—हाल की गाथासप्तशती में उपगूह्य-शृङ्गाराभिनय की तुलना नाटच के पूर्वरङ्ग से की गयी है। पूर्वरङ्ग की चर्चा नाटचशास्त्र के पञ्चम अध्याय में की गयी है। गाथासप्तशती की रचना २००–४०० ईस्वी के मध्य मानी जाती है[७], अतः नाटचशास्त्र की रचना इसके पूर्व हुई होगी।

---

१. वही पृ० २७।
२. विक्रमोर्वशीयम् २।१८।
३. रघुवंश १९।२१ तथा नाटचशास्त्र ३१।१०९–११०।
४. अङ्गसत्त्ववचनाश्रयं मिथः स्त्रीषु नृत्यमुपधाय दर्शयन्। (रघुवंश १९।३६) सामान्याभिनयो नाम ज्ञेयो वागङ्गसत्त्वजः। (नाटचशास्त्र २४।१)
५. कुमारसंभव ७।९१।९५ तथा नाट्यशास्त्र २०।१७ एवं ४।१७–३३।
६. भरत और भारतीय नाट्यकला, पृ० २३।
७. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (काणे) पृ० ५६।५७।

नाटचशास्त्र और स्मृति-साहित्य—याज्ञवल्क्य में भरत का स्पष्ट उल्लेख है। इसके अतिरिक्त याज्ञवल्क्यस्मृति में प्राप्त मद्रक, अपरान्तक, उल्लोप्यक, प्रकरी, रोविन्दक, ओवेणक और उत्तर नामक सात प्रकार के अवैदिक गीतों के नाम नाटचशास्त्र के अनुसार हैं। ये प्रसङ्ग याज्ञवल्क्यस्मृति में नाट्यशास्त्र से संगृहीत किये गये प्रतीत होते हैं। इस आधार पर नाट्यशास्त्र का समय ईसा की प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी के बाद नहीं माना जा सकता है[१]।

नाटचशास्त्र तथा अग्निपुराण—अग्निपुराण में काव्यशास्त्रीय एवं नाट्यशास्त्रीय विषयों का विस्तृत विवेचन हैं। अग्निपुराण में वर्णित नाट्य-विषय नाट्यशास्त्र से बहुत कुछ साम्य रखता है। इस समानता को देखकर काव्यप्रकाशादर्श के लेखक महेश्वर ने यह प्रतिपादित किया है कि 'भरत ने सुकुमार राजकुमारों को स्वादु काव्य की प्रवृति के द्वारा अलङ्कारशास्त्र में प्रवृत्त कराने के लिए ही अग्निपुराण से उद्धृत कर अलङ्कारशास्त्र का प्रणयन किया है[२]। इसी प्रकार साहित्य-कौमुदी की टीका कृष्णानन्दिनी में विद्याभूषण ने प्रतिपादित किया है कि 'भरत ने वह्निपुराण में दृष्ट साहित्य-प्रक्रिया को लेकर कारिकाओं में नाट्यशास्त्र की रचना की थी[३]। इसी परम्परा के पोषक सिल्वा लेवी ने भी यह प्रतिपादित किया है कि नाट्यशास्त्र की कारिकाएँ सक्षेप रूप में अग्निपुराण से ली गई हैं[४]। उपर्युक्त उद्धरणों से ज्ञात होता है कि भरत ने अग्निपुराण को उपजीव्य बनाकर नाट्यशास्त्र का प्रणयन किया है। इस प्रकार नाट्यशास्त्र काव्यशास्त्रीय विषयों के लिए अग्निपुराण का ऋणी है।

किन्तु काणे महोदय उक्त मत से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि वृत्तियों के विवेचन के प्रसङ्ग में अग्निपुराणकार ने भरत का उल्लेख किया है[५]। अतः इस परम्परागत मान्यता को स्वीकार करने पर नाट्यशास्त्र का अस्तित्व अग्निपुराण से पूर्व सिद्ध होता है। अग्निपुराण का समय तृतीय-चतुर्थ शताब्दी के मध्य माना जाता है[६], अतः नाट्यशास्त्र का रचनाकाल इससे पूर्व द्वितीय शताब्दी होना चाहिए।

---

१. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (काणे), पृ० ५६।५७।

२. सुकुमारान् राजकुमारान् स्वादुकाव्यप्रवृत्तिद्वारा अलङ्कारशास्त्रे प्रवर्त्त-यितुमग्निपुराणादुद्धृत्य काव्यरसास्वादनकरणमलङ्कारशास्त्रं कारिकाभिः सङ्क्षिप्य भरतमुनिः प्रणीतवान्। (संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास – काणे, पृ० ४)।

३. काव्यरसास्वादनाय वह्निपुराणादिदृष्टां साहित्यप्रक्रियां भरतः सङ्क्षिप्ताभिः कारिकाभिः निबबन्ध। (संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास–काणे, पृ० ४)

४. भरत और भारतीय नाट्यकला, पृ० ३६।

५. भरतेन प्रणीतत्वाद्भारती रीतिरिष्यते। (अग्निपुराणोक्तं काव्यालङ्कारशास्त्रम् ५।६)

६. अग्निपुराणोक्त काव्यालङ्कारशास्त्र की भूमिका, पृ० २८।

नाट्यशास्त्र और विष्णुधर्मोत्तरपुराण—विष्णुधर्मोत्तरपुराण और नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित नाट्यशास्त्रीय विषयों की तुलना करने पर ज्ञात होता है कि विष्णुधर्मोत्तरपुराण पर नाट्यशास्त्र का स्पष्ट प्रभाव है। अतः नाट्यशास्त्र की रचना विष्णुधर्मोत्तरपुराण से बहुत पहले हुई होगी। डॉ० सुशीलकुमार दे विष्णुधर्मोत्तरपुराण का समय ४०० ई० के पश्चात् और ५०० ई० के पूर्व मानते हैं[1]। इसकी भूमिका के लेखक डॉ० पारसनाथ द्विवेदी ने विष्णुधर्मोत्तरपुराण का रचनाकाल ४००–५०० ई० के मध्य माना है[2]। अतः नाट्यशास्त्र का रचनाकाल इससे कई शताब्दियों पूर्व अर्थात् द्वितीय शताब्दी के आस-पास मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

उपर्युक्त साक्ष्यों के अनुशीलन के पश्चात् यह अनुमान किया जा सकता है कि नाट्यशास्त्र अश्वघोष, कालिदास, भास एवं अग्निपुराण के पूर्व पूर्ण अस्तित्व में आ चुका था और नाट्यशास्त्रीय मान्यताएँ प्रतिष्ठित हो चुकी थीं, तभी तो अश्वघोष, कालिदास, भास आदि ने उनसे प्रभावित होकर उनकी मान्यताओं को अपने ग्रन्थों में अपनाया होगा। म० म० घोष भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि अश्वघोष की रचना पर नाट्यशास्त्र का प्रभाव स्पष्ट है। नाट्यशास्त्र के अधिकारी विद्वान् रामकृष्ण कवि ने विस्तीर्ण मनन के बाद नाट्यशास्त्र का रचनाकाल ईसापूर्व पञ्चम शताब्दी माना है[3]। ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर कहा जा सकता है कि सुमति भरत का पुत्र था। भरत ने उसे शिक्षा ग्रहण करने के लिए नन्दिकेश्वर के पास भेजा था और नन्दिकेश्वर ने स्नेहपूर्वक उसे शिक्षा दी थी[4]। इससे प्रतीत होता है कि भरत नन्दिकेश्वर के समकालिक पूर्ववर्ती आचार्य थे। तभी तो उन्होंने अपने पुत्र को शिक्षा के लिए उनके पास भेजा होगा। नन्दिकेश्वर का समय ई० पू० षष्ठ शताब्दी के आस-पास माना जाता है[5], अतः नाट्यशास्त्र की रचना उसके बाद हुई होगी। इस प्रकार नाट्यशास्त्र की रचना ईसापूर्व पञ्चम शताब्दी में प्रारम्भ हो चुकी थी। नाट्यशास्त्र की सूत्रशैली भी इसी को पुष्ट करती है। नाटचशास्त्र का वर्तमान स्वरूप प्रथम शताब्दी में हुआ होगा। इस प्रकार नाटचशस्त्र का रचनाकाल ईसापूर्व पञ्चम शताब्दी से लेकर ईसा की प्रथम शताब्दी के मध्य माना जा सकता है।

---

१. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (यस० के० दे०), पृ० ९८–९९।

२. अग्निपुराणोक्तं काव्यालङ्कारशास्त्रम् (भूमिका पृ० २५)।

३. भरतकोष (रामकृष्णकवि), पृ० २।

४. आचार्य नन्दिकेश्वर और उनका नाटच-साहित्य, पृ० २४।

५. वही पृ० ३०।

अग्निपुराण[1]

अग्निपुराण भारतीय विद्याओं का कोष है। वरदाचार्य ने इसे 'विश्वकोष' के रूप में मान्य किया है। इस पुराण में विविध विद्याओं के विवेचन के साथ काव्यालङ्कार एवं नाटचशास्त्रीय विषयों का प्रतिपादन किया गया है। इस पुराण के ग्यारह अध्यायों में काव्यशास्त्र एवं नाटचशास्त्र के मौलिक सिद्धान्तों की महत्त्वपूर्ण सामग्री का विवेचन किया गया है, जिसे काव्यशास्त्र के आदि-स्रोत के रूप में मान्य किया जा सकता है। इस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्रीय एवं नाटचशास्त्रीय परम्परा में अग्निपुराण की यह देन अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

प्राचीनकाल में हर प्रकार के साहित्य के प्रकाशन एवं प्रसारण की एक ही पद्धति रही है और उस पद्धति में साहित्य को सुरक्षित रखने का दायित्व धर्मप्राण राजाओं, श्रेष्ठियों, मनीषियों एवं ऋषियों आदि विशिष्ट व्यक्तियों पर ही था। किन्तु इस यन्त्र-युग में यह उत्तरदायित्व हम सभी लोगों पर है। फिर भी हम देखते हैं कि हमारा ध्यान उस ओर उतना नहीं गया है जितना होना चाहिए। जब से मुद्रणकला का आविष्कार हुआ तब से आज तक इस दिशा में जितनी प्रगति होनी चाहिए, उतनी नहीं हो सकी है। पुराणवाङ्मय की ओर तो हमारा ध्यान बहुत ही कम गया है। यही कारण है कि अग्नि-पुराण जैसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का मुद्रण एवं प्रकाशन भी उतना नहीं हो सका है।

मैंने (पारसनाथ द्विवेदी ने) अग्निपुराण की चौबीस पाण्डुलिपियों एवं आठ मुद्रित प्रतियों के आधार पर काव्यशास्त्रीय भाग का अलग से एक संशोधित संस्करण 'अग्निपुराणोक्तं काव्यालङ्कारशास्त्रम्' के नाम से सम्पादित किया है। इसका प्रकाशन सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से १९८५ ई० में हुआ है। इस ग्रन्थ की पाठालोचन के साथ हिन्दी-व्याख्या भी की गई है। इस ग्रन्थ में ग्यारह अध्याय हैं, जिनमें काव्यशास्त्रीय एवं नाटच-शास्त्रीय विषयों का विवेचन है। विस्तृत जानकारी के लिए 'अग्निपुराणोक्तं काव्यालङ्कारशास्त्रम्' देखिए।

---

१. अग्निपुराण के काव्यालङ्कारशास्त्रीय भाग का प्रकाशन अलग से सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से हुआ है। इस काव्यशास्त्रीय भाग के सम्पादक एवं व्याख्याकार **डॉ० पारसनाथ द्विवेदी** पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, पुराण-इतिहास एवं संस्कृति विभाग सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय हैं। सम्पादक डॉ० पारसनाथ द्विवेदी ने अग्निपुराण की चौबीस (२४) हस्त-लिखित प्रतियों और आठ मुद्रित प्रतियों के आधार पर पाठ-शोध करके सम्पादन किया है। इस ग्रन्थ का नाम 'अग्निपुराणोक्तं काव्यालङ्कारशास्त्रम्' है।

अग्निपुराण के प्रकाशित और अप्रकाशित संस्करण

प्रकाशित संस्करण––अग्निपुराण के विभिन्न भाषाओं और लिपियों में कुल ग्यारह संस्करण प्रकाशित हैं, किन्तु उनमें से केवल छः प्रतियां ही सम्प्रति उपलब्ध हैं। अग्निपुराण का सर्वप्रथम प्रकाशन एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल द्वारा विक्रमी संवत् १८३३ में किया गया था। इसके सम्पादक श्री राजेन्द्रलाल मित्र हैं। इसमें ग्यारह पाण्डुलिपियों का उपयोग किया गया है। इसमें ३८२ अध्याय एवं १११०० श्लोक हैं। द्वितीय संस्करण सरस्वती यन्त्रालय, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित है, जिसका सम्पादन जीवानन्द विद्यासागर ने किया है। इसका प्रकाशन १८८२ में हुआ है। इसमें ३८२ अध्याय और १११०० श्लोक हैं। तृतीय संस्करण बङ्गवासी स्टीम यन्त्रालय, कलकत्ता से १८९३ में प्रकाशित हुआ है। चतुर्थ संस्करण आनन्दाश्रम, पूना से १९०० ई० में प्रकाशित है। इसमें ३८३ अध्याय तथा ११४५७ श्लोक हैं। पञ्चम संस्करण वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई से और षष्ठ संस्करण १९५७ ई० में गुरुमण्डल ग्रन्थ-माला, कलकत्ता से प्रकाशित है। सप्तम संस्करण बङ्गवासी स्टीम यन्त्रालय से बङ्गला लिपि में प्रकाशित है। अष्टम संस्करण अंग्रेजी अनुवाद के साथ एम. एन. दत्त ने प्रकाशित किया है।

अप्रकाशित अग्निपुराण

अग्निपुराण की अप्रकाशित पाण्डुलिपियाँ जहाँ से मुझे प्राप्त हुई हैं, उनका विवरण निम्नलिखित हैं—

१. इण्डिया आफिस लाइब्रेरी लन्दन से प्राप्त पाण्डुलिपि–क्रम संख्या ३५ डब्लू ४ आर० आर० २४ बी० लसेन नील वि० ल० १७१४ लिपि बंगला है। यह पाण्डुलिपि एशियाटिक सोसाइटी आफ़ बंगाल में सुरक्षित पाण्डुलिपि, जो राजा राजेन्द्रबहादुर लाइब्रेरी की है, जिसका लेखनकाल शाके संवत् १५९५ है, से सम्बन्धित बतायी जाती है। यह पाण्डुलिपि सबसे प्राचीन लगभग ३२५ वर्ष पुरानी है। सम्भवतः इसी आधार पर बंगाल की अन्य पाण्डुलिपियाँ तैयार की गयी होंगी। इसके बाद की द्वितीय प्रति भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीटयूट, पूना की क्रमाङ्क २०।१८८१–८२ है, जो लगभग २४० वर्ष पुरानी है। सम्भव है कि पूना की अन्य दो प्रतियाँ क्रमसंख्या १६६।१८९–२६५ तथा ५८।१९१९–२४ इसी प्रति से प्रति की गयी होगी। भाण्डारकर की संख्या ६० की प्रति अपूर्ण है।

सरस्वती-भवन संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से तीन पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हैं। इनकी संख्या १५८१२, १५७६५ तथा १४४६८ है। इनमें क्रमाङ्क १५८१२ की प्रति पूर्ण है, अन्य दोनों प्रतियाँ अपूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त सरस्वती-भवन से प्राप्त आग्नेयालङ्कारशास्त्र की पाण्डुलिपि, जिसकी संख्या ५७

लेखनकाल बंगला सन् १२९२ लिपि बंगला है। एशियाटिक सोसाइटी बम्बई से प्राप्त पाण्डुलिपि की संख्या ८९२ और लिपि देवनागरी है।

इनके अतिरिक्त एक पाण्डुलिपि डिपार्टमेण्ट आफ ओरियण्टल लाइब्रेरी आक्सफोर्ट से प्राप्त हुई, जिसका क्रमाङ्क १२९, लिपि बंगला और लेखनकाल १८२१ ई० है। बिबिलयोटेक वास्योनाल से एक पाण्डुलिपि प्राप्त हुई है, जिसकी संख्या ४०८ व ४०९ है और लेखनकाल संवत् १८८६ लिपि बंगला है। मद्रास विश्वविद्यालय से एक अपूर्ण पाण्डुलिपि प्राप्त हुई है, जिसकी क्रम संख्या २१०६ और लिपि तमिल है। इनके अतिरिक्त कुछ और पाण्डुलिपियाँ हैं, उनके विस्तृत विवरण के लिए डॉ० पारसनाथ द्विवेदी द्वारा लिखित 'अग्निपुराणोक्तं काव्यालङ्कारशास्त्रम्' की भूमिका पृष्ठ २८–३९ पर देखिए।

अग्निपुराण के प्रवक्ता एवं रचयिता

भारतीय परम्परा के अनुसार सभी पुराणों के प्रवक्ता महर्षि वेदव्यास माने जाते हैं, अतः अग्निपुराण के भी प्रवक्ता एवं रचयिता महर्षि व्यास हैं (**अष्टादशपुराणानां कर्त्ता सत्यवतीसुतः**), जो कुरु-पाण्डवीय युद्ध के समकालीन थे। अग्निपुराण के अनुसार इस पुराण के प्रवक्ता अग्नि और श्रोता वसिष्ठ हैं। मत्स्यपुराण के अनुसार अग्निदेव ने ईशानकल्प सम्बन्धी जिस ज्ञान को वसिष्ठ से कहा था, वही अग्निपुराण में व्याख्यात है। इसके अतिरिक्त अग्निपुराण में कुछ ऐसे प्रसङ्ग भी मिलते हैं जिनके वक्ता एवं श्रोता भिन्न-भिन्न हैं। राजनीति एवं दान के विवेचन के अवसर पर 'पुष्कर' को प्रवक्ता कहा गया है। इसी प्रकार आयुर्वेद के प्रवक्ता धन्वन्तरि एवं सुश्रुत, गजशास्त्र के प्रवक्ता पालकाप्य, अश्वशास्त्र के शालिहोत्र और व्याकरण के प्रवक्ता कात्यायन कहे गये हैं। इस प्रकार इस पुराण के अनेक प्रवक्ता कहे जाते हैं और उनका संग्रह वर्तमान अग्निपुराण है, किन्तु इस पुराण के प्रवक्ता का विचार इसे विश्वकोषीय रूप प्रदान करना था। इस उद्देश्य से उन्होंने इसमें विविध विषयों का समावेश किया है और उन-उन विषयों के आचार्यों के नामों का उल्लेख भी कर दिया होगा[1]।

अग्निपुराण और वह्निपुराण—अग्निपुराण के अतिरिक्त एक वह्निपुराण भी प्राप्त होता है। म० म० काणे महोदय दोनों पुराणों को अलग-अलग मानते हैं। डॉ० हाजरा वह्निपुराण को ही मूल अग्निपुराण मानते हैं। उनका कहना है कि 'प्राचीन निबन्धकारों ने अग्निपुराण से जो वचन उद्धृत किये हैं, वे वर्त्तमान अग्निपुराण में न मिलकर वह्निपुराण में ही उपलब्ध होते हैं, किन्तु डॉ० हाजरा का उक्त मत अधिक युक्तिसंगत एवं प्रामाणिक नहीं प्रतीत होता है; क्योंकि दोनों पुराणों के विषयानुक्रम में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। अतः

1. डॉ० पारसनाथ द्विवेदी : अग्निपुराणोक्तं काव्यालङ्कारशास्त्रम्।

अग्निपुराण एक अलग पुराण है और वह्निपुराण अलग। इसे उपपुराण की कोटि में रखा जा सकता है[१]।

अग्निपुराण का रचनाकाल

प्राचीन भारतीय वाङ्मय के काल-निर्धारण की समस्या बड़ी जटिल है। भिन्न-भिन्न विद्वान् अलग-अलग दृष्टिकोणों से प्राचीन वाङ्मय का काल निर्धारण करते हैं। इस प्रकार अग्निपुराण का काल-निर्धारण भी विद्वानों के लिए एक समस्या बन गई है। यहाँ हम ऐसे आकर-ग्रन्थ के सम्बन्ध में आभ्यन्तर एवं बाह्य सामग्री की समीक्षा के साथ-साथ प्राचीन ग्रन्थों एवं आधुनिक विद्वानों के विचारों का विश्लेषण कर समस्या का समाधान करने का प्रयास करेंगे।

अग्निपुराण के रचनाकाल के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मत

म० म० काणे महोदय अग्निपुराण के काव्यशास्त्रीय भाग का रचनाकाल नवीं शताब्दी या उसके बाद का मानते हैं[२]। डॉ० सुशीलकुमार दे अग्निपुराण के अलङ्कार-प्रकरण का रचनाकाल ९०० ई० का मध्यभाग मानते हैं[३]। डॉ० हाजरा अग्निपुराण का समय ८०० ई० के समीप कुछ अंश इसके पूर्व का और कुछ अंश इसके बाद का मानते हैं[४]। डॉ० सुरेन्द्रमोहन भट्टाचार्य अग्निपुराण के काव्यशास्त्रीय भाग का रचनाकाल नवम शताब्दी मानते हैं।

डॉ० राजेन्द्रलाल मित्र का कथन है कि अग्निपुराण मुस्लिम आक्रमण के पूर्व तथा तान्त्रिक पूजा-प्रणाली के प्रचलन के बाद ही कभी लिखा गया होगा। एम० एन० दत्त अग्निपुराण के निश्चित समय-निर्धारण के झमेले में न पड़कर केवल इतना कहते हैं कि 'यह कहना कठिन है कि यह विश्वकोष कब लिखा गया, किन्तु यह तथ्य निर्विवाद सत्य है कि यह रचना मुसलमानों के आक्रमण के बहुत पहले की गई है'[५]। कन्हैयालाल पोद्दार अग्निपुराण का समय भरत के बाद और भामह-दण्डी के पूर्व निर्धारित करते हैं[६]।

श्री चन्द्रकान्त वाली का मत है कि अलङ्कारशास्त्र का आदिस्रोत अग्निपुराण ही है। इसी प्रकार धर्मशास्त्र, विज्ञान, शिल्पसाहित्य आदि अङ्गों का

१. डॉ० पारसनाथ द्विवेदी : अग्निपुराणोक्तं काव्यालङ्कारशास्त्रम्, पृ० ६-८।

२. म० म० काणे : संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ११।

३. डॉ० सुशीलकुमार दे : संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ९२।

४. डॉ० हाजरा : इण्डियन कल्चर (भाग १२, पृ० ६८२)।

५. डॉ० पारसनाथ द्विवेदी : अग्निपुराणोक्तं काव्यालङ्कारशास्त्रम्, (भूमिका पृ० १३-१४)।

६. डॉ० कन्हैयालाल पोद्दार : संस्कृत साहित्य का इतिहास (पृ० ६९)।

भी मूल स्रोत अग्निपुराण ही है, अतः अग्निपुराण की रचना ईसवी की प्रथम शताब्दी में अवश्य हो चुकी थी।[१]

अग्निपुराण और शब्दाङ्कपद्धति

स्थानमान सिद्धान्त के साथ शब्दाङ्कपद्धति का आधुनिक रूप में प्रयोग सर्वप्रथम अग्निपुराण में मिलता है[२]। जिसकी रचना ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में हो चुकी थी। ध्यातव्य है कि यह सिद्धान्त सर्वप्रथम भारत में प्रचलित हुआ और बाद में लगभग ४०० ई० के बाद यह भारत से अरब देश में गया। इससे स्पष्ट है कि स्थानमान के साथ शब्द-प्रयोग की पद्धति भारत में ४०० ई० के पूर्व प्रचलित हो चुकी थी, जिसका सर्वप्रथम प्रयोग अग्निपुराण में मिलता है। इस प्रकार यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अग्निपुराण की रचना ज्योतिष विषय की रचना ईसापूर्व प्रथम शताब्दी से लेकर द्वितीय शताब्दी के मध्य अवश्य हो चुकी थी।

अग्निपुराण में उल्लिखित पूर्वाचार्य एवं प्राचीन ग्रन्थ

अग्निपुराण में विविध विषयों की विवेचना के सन्दर्भ में प्राचीन काल के अनेक आचार्यों एवं ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। छन्द के सम्बन्ध में पिङ्गल,[३] गजशास्त्र के सम्बन्ध में पालकाप्य,[४] अश्वविद्या के सम्बन्ध में शालिहोत्र,[५] आयुर्वेद के सम्बन्ध में धन्वन्तरि[६] और सुश्रुत,[७] रामायण[८] और हरिवंश[९] का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त ३८०वें अध्याय में ५८ श्लोकों में श्रीमद्भगवद्गीता का संक्षिप्त विवरण भी मिलता है[१०]। इन आचार्यों और ग्रन्थों के नामोल्लेख से इतना तो निश्चित है कि ये आचार्य अग्निपुराण की रचना के समय तक परम ख्याति को प्राप्त कर चुके थे और उनका मत उस समय तक अत्यन्त मान्य हो चुका था। इससे उन प्राचीन आचार्यों के साथ-साथ अग्निपुराण की प्राचीनता का स्पष्ट बोध होता है।

---

१. अलङ्कारशास्त्र का आदि स्रोत—माधुरी, अगस्त १९४१, पृ० ९५।
२. हिन्दू गणितशास्त्र का इतिहास, पृ० ४८, ५१।
३. अग्निपुराण, अध्याय ३२८।
४. वही अध्याय २८६।
५. वही अध्याय २८९–२९०।
६. वही अध्याय २७९।
७. वही।
८. वही अध्याय ५–११।
९. वही अध्याय १२।
१०. वही अध्याय ३८०।

अग्निपुराण और स्मृति-साहित्य—मत्स्य, वायु, ब्राह्मण आदि पुराणों के समान अग्निपुराण में भी स्मृतिकालीन सामग्री प्राप्त होती है। अग्निपुराण में राजधर्म-निरूपण के अवसर पर २५२—२५७ तक छः अध्यायों में 'व्यवहारों' का निरूपण किया गया है। इनमें से लगभग ३० श्लोक नारदस्मृति से और दो सौ अस्सी श्लोक याज्ञवल्क्यस्मृति से मिलते-जुलते हैं। किन्तु इनमें से कौन-सा ग्रन्थ किस ग्रन्थ का ऋणी है? निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। यदि परम्परा के अनुसार यह मान लिया जाये कि दोनों का उद्देश्य जन-जन में धर्म प्रचार करना था, तो दोनों के विषय-निरूपण में समानता हो सकती है और दोनों समकालिक सिद्ध हो सकते हैं।

अग्निपुराण और अमरकोश—अग्निपुराण के २५९ से ३६६ अध्यायों में शब्दकोश का निरूपण है, जो अमरकोश से तादात्म्य रखता है। म० म० काणे महोदय ने इस सादृश्यता के आधार पर अग्निपुराण को अमरकोश का ऋणी बताया है[१]। किन्तु काणे महोदय का तर्क दुर्बल एवं प्रमाणहीन प्रतीत होता है। क्योंकि अमरसिंह ने अमरकोश के प्रारम्भ में स्वयं लिखा है कि 'मैंने अन्य तन्त्रों से संग्रह कर तथा वहाँ पर वर्णित संक्षिप्त विषय का विस्तृत प्रतिसंस्कार कर नामलिङ्गानुशासन को कहता हूँ[२]।' तो अमरकोश के पूर्व कौन से अन्य तन्त्र थे, जिससे ग्रहण कर अमरसिंह ने प्रतिसंस्कार किया था? इस पर काणे महोदय कुछ भी नहीं कहते। हमारे विचार से अमरसिंह का संकेत अग्निपुराण की ओर ही रहा होगा, क्योंकि इसके पूर्व कोई अन्य तन्त्र ऐसा नहीं मिलता है, जिससे अमरकोश की समानता हो। अतः हम अग्निपुराण को ही अन्य तन्त्र क्यों न मान लें, जिससे अमरसिंह ने ग्रहण कर अमरकोश का प्रतिसंस्कार किया हो। इस बात की पुष्टि ललितासहस्रनाम के इस उद्धरण में भी होती है कि अमरकोश ने अग्निपुराण का अनुसरण किया'[३]। यह भी सम्भावना की जा सकती है कि अमरसिंह बौद्धधर्मावलम्बी[४] होने के कारण इस ब्राह्मण-ग्रन्थ का नाम स्पष्ट रूप से उल्लेख न करना चाहते हों और अन्य तन्त्र के नाम से उल्लेख किया हो। दूसरे यह भी विचारणीय है कि अमरसिंह के सम्बन्ध में एक लोकोक्ति प्रचलित है कि 'अमरसिंहो हि पापीयान् सर्वं भाष्यमचूचुरत्[५]।' यह वार्ता एक ऐसी शङ्का उत्पन्न कर देती

---

१. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ४८,५१।

२. समाहृत्यान्यतन्त्राणि सङ्क्षिप्तैः प्रतिसंस्कृतैः।
सम्पूर्णमुच्यते वर्गैर्नामलिङ्गानुशासनम्॥ (अमरकोश १।१।२)

३. अमरसिंहः खलु अग्निपुराणमनुसृतवान्। भास्कराचार्यः—केयूरमङ्गदद्वोर्भूषेत्यग्निपुराणं तु भुजभूषणत्वेन अनुगममकथनपरम्। तदनुसारित्वात् अमरसिंहोऽपि तत्पर एवेत्यदोषः। (ललितासहस्रनाम-भाष्य, पृ० ३५)

४. अमरकोश-भूमिका, पृ० ६। ५. वही पृष्ठ ८।

है कि अमरसिंह ने ही बाहर से विषयों को ग्रहण कर तथा उसे अपने अनुकूल सुव्यवस्थित कर अग्निपुराण की रचना की होगी। दोनों ग्रन्थों की वर्णन-शैली की समीक्षा के बाद यही सिद्ध होता है कि अमरसिंह ने अग्निपुराण से लेकर ही अमरकोश की रचना की होगी।

अग्निपुराण और नाट्यशास्त्र—भरतमुनि प्रणीत नाटचशास्त्र में नाटचशास्त्रीय विषयों का विस्तृत विवेचन हैं। अग्निपुराण में वर्णित नाटचविषय नाटचशास्त्र से साम्य रखता है। इसी समानता को देखकर काव्यादर्श के लेखक महेश्वर ने यह प्रतिपादित किया है कि भरत ने सुकुमार राजकुमारों को स्वादु काव्य की प्रवृत्ति के द्वारा अलङ्कारशास्त्र में प्रवृत्त कराने के लिए ही अग्निपुराण से उद्धृत कर अलङ्कारशास्त्र का प्रणयन किया है[१]। इसी परम्परा के अनुयायी विद्याभूषण ने भी यही मान्य किया है कि 'भरत ने वह्निपुराण में दृष्ट साहित्य-प्रक्रिया को लेकर नाटचशास्त्र की रचना की'[२]। इसी परम्परा के पोषक सिल्वा लेवी ने भी यह प्रतिपादित किया है कि नाट्यशास्त्र की कारिकाएँ अग्निपुराण से ली गई हैं[३]। उपर्युक्त उद्धरण से यही ज्ञात होता है कि भरत ने अग्निपुराण को अपना उपजीव्य मानकर नाट्यशास्त्र का प्रणयन किया है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि व्यासकृत अग्नि के ही काव्यशास्त्र-विषयक वे अध्याय होंगें, जिससे लेकर भरत ने नाट्यसंग्रह बनाया है। अग्निपुराण का यह एक वैशिष्टच भी बतलाया गया है कि इसमें समस्त विद्याओं का सार है[४]। किन्तु काणे महोदय इस मत से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि वृत्तियों के विवेचन में स्वयं अग्निपुराणकार ने भरत का नामोल्लेख किया है[५]। अतः अग्निपुराण से पूर्व भरतकृत नाट्यशास्त्र की सत्ता सिद्ध होती है। मेरे विचार से नामोल्लेख से ही यह कल्पना कर लेना कि नाट्यशास्त्र अग्निपुराण से पूर्व विद्यमान था, तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। क्योंकि इस सम्बन्ध में काणे महोदय ने कोई प्रबल प्रमाण नहीं प्रस्तुत किया है। दूसरे, एक ग्रन्थ में दूसरे ग्रन्थकारों का नामों के उल्लेख की यह प्रथा पुराणकाल में प्रचलित रही है। यही कारण है कि हर एक पुराण में दूसरे पुराणों एवं उनके प्रवक्ताओं का नामोल्लेख आता है। एक और भी बात है कि भरत ने स्वयं नाटचशास्त्र में वृत्तियों के

१. सुकुमारान् राजकुमारान् स्वादुकाव्यप्रवृत्तिद्वारा अलङ्कारशास्त्रे प्रवर्त्तयितुमग्निपुराणादुद्धृत्य काव्यरसास्वादनकरणमलङ्कारशास्त्रं कारिकाभिः सङ्क्षिप्य भरतमुनिः प्रणीतवान् (संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास—काणे, पृ० ४)

२. काव्यरसास्वादनाय वह्निपुराणादिदृष्टां साहित्यप्रक्रियां भरतः सङ्क्षिप्ताभिः कारिकाभिर्निबबन्ध। (संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास—काणे, पृ० ४)

३. संस्कृत पोयटिक्स, पृ० ३१।

४. विद्यासारं पुराणं यत् सर्वं सर्वस्य कारणम्। (अग्निपुराण १।१३)

५. भरतेन प्रणीतत्वाद् भारती रीतिष्यते। (वही, ३३९।६)

निरूपण के प्रसङ्ग में भरत का नामोल्लेख किया है[१]। इससे यह समस्या और भी उलझ जाती है कि भारती वृत्ति का सम्पादक यह भरत कौन है? जिसके मत को अग्निपुराण और नाट्यशास्त्र दोनों में उद्धृत किया गया है। इस आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि दोनों ग्रन्थकारों ने किसी अन्य भरत के द्वारा प्रयुक्त 'भारती' वृत्ति का उल्लेख किया होगा। नाट्यशास्त्र के प्रमुख टीकाकार अभिनवगुप्त ने कुछ सीमा तक इस समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि नाट्यशास्त्र के उपर्युक्त उद्धरण में 'भरतैः' बहुवचन का प्रयोग है, जिससे यह सिद्ध होता है कि यह शब्द किसी व्यक्ति-विशेष का बोधक न होकर सामान्य (जाति) 'नटमात्र' का बोधक है[२]। शारदातनय ने भी अपने 'भावप्रकाशन' में 'भरत' शब्द का अर्थ 'नट' परक ही किया है। अतः निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि अग्निपुराण से यह अंश उद्धृत किया गया है, बल्कि यही सिद्ध होता है कि इन दोनों ग्रन्थकारों ने किसी अन्य भरत द्वारा प्रयुक्त 'भारती' वृत्ति का उल्लेख किया है, जिसे आदिभरत या वृद्धभरत के नाम से सम्बोधित किया जाता है। दूसरे नाट्यशास्त्र में पुराण का नाम भी आया है। इसके अतिरिक्त कुछ और भी ऐसे प्रमाण उपलब्ध होते हैं, जिनके आधार पर यह सिद्ध होता है कि भरत ने अग्निपुराण का अनुसरण किया है, किन्तु यहाँ हम परम्परागत मत को ही स्वीकार करते हैं कि अग्निपुराण नाट्यशास्त्र के बाद का है[३]।

अग्निपुराण और भामह—अग्निपुराण में रूपक, आक्षेप, समासोक्ति, पर्यायोक्ति और अप्रस्तुतप्रशंसा—ये पाँचों ध्वनिमूलक अलङ्कार माने गये हैं। ये भामह के काव्यालङ्कार में प्रतिपादित लक्षणों से ज्यों के त्यों मिलते हैं।

रूपक

उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य कथ्यते।
गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः॥
(अग्निपुराण ३४४।२२७)

उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य रूप्यते।
गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः॥
(काव्यालङ्कार २।२१)

---

१. स्वनामधेयैः भरतैः प्रयुक्ता सा भारती नाम तु भवेद् वृत्तिः।
(नाट्यशास्त्र २०।२५)

२. भरतैरिति नटैः स्वतो वंशकरं नामधेयं येषां (तैः) भरतसन्तानत्वात्तद्धिते भरताः। (अभिनवभारती, पृ० ९१)

३. 'अग्निपुराण और नाट्यशास्त्र : एक विचार' नामक हमारा एक लेख शीघ्र प्रकाशित होने वाला है, जिसमें इस विषय पर विस्तृत विचार किया जायगा।

आक्षेप

प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषोऽभिधित्सया ।
तमाक्षेपं ब्रुवन्त्यत्र························ ।।

(अग्निपुराण ३४५।१५)

प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषोऽभिधित्सया ।
आक्षेप इति तं सन्तः शंसन्ति द्विविधं च यत् ।।

(काव्यालङ्कार २।७८)

समासोक्ति

यत्रोक्तं गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणम् ।
सा समासोक्तिरुदिता सङ्क्षेपार्थतया तथा ।।

(अग्निपुराण ३४५।१७)

यत्रोक्तं गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः ।
सा समासोक्तिरुद्दिष्टा सङ्क्षेपार्थतया यथा ।।

(काव्यालङ्कार ३।८)

पर्यायोक्त

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते ।

(अग्निपुराण ३४५।१८)

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते ।

(काव्यालङ्कार ३।८)

अप्रस्तुतप्रशंसा

अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः ।

(अग्निपुराण ३४५।१६)

अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः ।
अप्रस्तुतप्रशंसा सा··················· ।।

(काव्यालङ्कार ३।९)

इस आधार पर कवि महोदय अग्निपुराण को भामह के बाद की रचना मानते हैं और अग्निपुराण में प्रतिपादित उपर्युक्त पाँचों अलङ्कारों को भामह से लिया गया बतलाते हैं[1]। किन्तु उनका यह कथन युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता, जैसा कि निम्न समीक्षा से स्पष्ट होता है।

'रूपक' का लक्षण अग्निपुराण और काव्यालङ्कार में एक-सा मिलता है, किन्तु भामह के रूपक का लक्षण अन्य से लिया गया प्रतीत होता है। जैसा कि भामह ने स्वयं कहा है—

---

१. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ८।

अनुप्रासः समयको रूपकं दीपकोपमे।
इति वाचामलङ्काराः पञ्चैवान्यैरुदाहृताः ।।

(का० अ० २।४)

जब दोनों ग्रन्थकारों का रूपक का लक्षण एक समान है और भामह ने रूपक का लक्षण अन्य से लिया है तथा अग्निपुराण से अतिरिक्त अन्य किसी से भामह का रूपक-लक्षण नहीं मिलता है तो यह क्यों न मान लिया जाय कि भामह ने अग्निपुराण से ही रूपक का लक्षण लिया होगा। इसी प्रकार भामह अनुप्रास अलङ्कार को अन्य मत के अनुसार उद्धृत करते हैं। अग्निपुराण में अनुप्रास अलङ्कार का विस्तृत विवेचन किया गया है और नाटचशास्त्र में तो अनुप्रास का नामोल्लेख तक नहीं है। इसके अतिरिक्त भामह के पूर्व का और किसी अन्य आचार्य का अलङ्कारशास्त्र-विषयक ग्रन्थ भी नहीं मिलता, जिसमें अनुप्रास अलङ्कार का विवेचन किया गया हो और उससे भामह ने ग्रहण किया हो। भामह ने आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति और अतिशयोक्ति—इन छः अलङ्कारों को उपमा से विशिष्ट कहा है और अग्निपुराण में भी इन अलङ्कारों को उपमा से विशिष्ट कहा गया है। अग्निपुराण में आक्षेप और समासोक्ति को ध्वनिमूलक अलङ्कार कहा गया है। भामह 'वक्रोक्ति' को समस्त अलंकारों का मूल मानते हैं। उनका कहना है कि वक्रोक्ति के बिना कोई अलङ्कार हो ही नहीं सकता। यहाँ तक कि वे अतिशयोक्ति को भी 'वक्रोक्ति' ही मानते हैं और हेतु, सूक्ष्म एवं लेश को अलङ्कार नहीं मानते, क्योंकि उनमें 'वक्रोक्ति' नहीं है[1]। अग्निपुराण में 'वक्रोक्ति' को केवल शब्दालङ्कार मात्र माना गया है और 'अतिशयोक्ति' को अर्थालङ्कार मात्र, जबकि भामह दोनों को एक समान मानते हैं। इसके अतिरिक्त अग्निपुराण में 'हेतु' एक प्रमुख अलङ्कार स्वीकार किया गया है, जबकि भामह 'हेतु' को अलङ्कार मानते ही नहीं। यदि अग्निपुराण का आधार काव्यालङ्कार होता तो भामह द्वारा प्रतिपादित प्रमुख अलङ्कारों को वे क्यों छोड़ देते?

उपर्युक्त विवेचन से प्रतीत होता है कि भामह ने अग्निपुराण से प्रेरणा लेकर उक्त अलङ्कारों का विवेचन किया होगा और उन्होंने अग्निपुराण का उल्लेख न करके 'अन्यैः' के द्वारा उसकी ओर सङ्केत किया हो। क्योंकि उन्होंने मेधाविन्, रामशर्मा आदि आचार्यों का नामोल्लेख न करना केवल व्यक्तिगत रागद्वेष कहा जा सकता है। भामह 'काव्यालङ्कार' के प्रारम्भ में यह प्रतिज्ञा करते हैं कि 'अन्य विद्वानों के शास्त्रीय ग्रन्थों का अवलोकन कर काव्य-

---

१. सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ।।
हेतुः सूक्ष्मो लेशोऽथ नालङ्कारतया मतः।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः ।। (काव्यालङ्कार २।८५-८६)

प्रणयन में प्रवृत्त होना चाहिए'[१]। इससे यह सिद्ध होता है कि भामह अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से अवश्य प्रभावित रहे हैं। दूसरे अलङ्कारों के सम्बन्ध में उनका कहना है कि मैंने अनेक ग्रन्थों का परिशीलन कर उनका स्वयं विचार किया है और अपने द्वारा रचे गये उदाहरणों से ही मैंने अलङ्कारों का निरूपण किया है[२]। इससे भी सिद्ध होता है कि उन्होंने अलङ्कारों को अन्य ग्रन्थों से संगृहीत किया है। भामह लक्षण और स्वयंकृत उदाहरणों के द्वारा अलङ्कारों का विवेचन करते हैं; जबकि अग्निपुराण में केवल लक्षण मात्र दिये गये हैं। यदि अग्निपुराण का आधार भामह का काव्यालङ्कार होता तो वे अलङ्कारों के उदाहरणों को क्यों नहीं प्रस्तुत करते ? इससे यह सिद्ध होता है कि भामह के काव्यालङ्कार के पूर्व अग्निपुराण अवश्य विद्यमान था, जिसकी छाया काव्यालङ्कार पर लक्षित होती है।

अग्निपुराण और दण्डी—अग्निपुराण में निर्दिष्ट रूपक, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति, विभावना, विशेषोक्ति और समाधि अलङ्कारों के लक्षण अग्निपुराण और काव्यादर्श में एक जैसे मिलते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ पद एवं वाक्यांशों में भी समानता पायी जाती है। यथा—

रूपक

उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमेव वा। (अग्निपुराण ३४४।२३)
उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते। (काव्यादर्श २।६६)

विभावना

प्रसिद्धहेतुव्यावृत्या यत्किञ्चित्कारणान्तरम्।
यत्र स्वभाविकत्वं वा विभाव्यं सा विभावना॥
(अग्निपुराण ३४४।२७–२८)

प्रसिद्धहेतुव्यावृत्या यत्किञ्चित्कारणान्तरम्।
यत्र स्वभाविकत्वं वा विभाव्यं सा विभावना॥
(काव्यादर्श २।१९९)

उत्प्रेक्षा

अन्यथोपस्थिता वृत्तिश्चेतनस्येतरस्य च।
अन्यथा मन्यते यत्र तामुत्प्रेक्षां प्रचक्षेत॥
(अग्निपुराण ३४४।२४-२५)

अन्यथैव स्थिता वृत्तिश्चेतनस्येतरस्य वा।
अन्यथोत्प्रेक्षते तामुत्प्रेक्षां विदुर्यथा॥
(काव्यादर्श २।२२१)

---

१. 'विलोक्यान्यनिबन्धाश्च कार्यः काव्यक्रियादरः'। (काव्यालङ्कार १।१०)
२. काव्यालङ्कार १।९५–९६।

विशेषोक्ति

गुणजातिक्रियादीनां यत्र वैकल्यदर्शनम् ।
विशेषदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरुच्यते ।।
(अग्निपुराण ३४४।२६-२७)

गुणजातिक्रियादीनां यत्र वैकल्यदर्शनम् ।
विशेषदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरिष्यते ।। (काव्यादर्श २।३२३)

अपह्नुति

अपह्नुतिरपह्नुत्य किञ्चिदन्यार्थसूचनम् ।
(अग्निपुराण ३४५।१८)

अपह्नुतिरपह्नुत्य किञ्चिदन्यार्थसूचनम् । (काव्यादर्श २।३०४)

समाधि

अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना ।
सम्यगाधीयते यत्र सा समाधिरिह स्मृता ।।
(अग्निपुराण ३४५।१३)

अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना ।
सम्यगाधीयते यत्र सा समाधिः स्मृतो बुधैः ।। (काव्यादर्श १।९३)

सङ्क्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ।
(अग्निपुराण ३३७।६)

शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली । (काव्यादर्श ९।१०)

पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा ।
सा विद्यानौस्तितूर्षूणां गम्भीरं काव्यसागरम् ।।
(अग्निपुराण ३३७।२१-२२)

पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा ।
सा विद्यानौस्तितूर्षूणां गम्भीर काव्यसागरम् ।।
(काव्यादर्श १।११-१२)

उपर्युक्त आधार पर काणे महोदय अग्निपुराण को काव्यादर्श का ऋणी मानते हैं । किन्तु काणे महोदय की यह कल्पना युक्तिसंगत न होने के कारण उपादेय प्रतीत नहीं होती । काणे महोदय के उपर्युक्त मत के खण्डन में कन्हैयालाल पोद्दार ने निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किया है—

अग्निपुराण में सम नामक एक उभयालंकार माना गया है । उसके भेदों में आक्षेप, समासोक्ति, अपह्नुति तथा पर्यायोक्त—ये चार अलङ्कार निर्दिष्ट हैं, जिसे ध्वनिमूलक अलङ्कार कहा गया है । किन्तु काव्यादर्श में सम नामक कोई अलङ्कार नहीं है और आक्षेप, समासोक्ति, अपह्नुति, पर्यायोक्त—ये चार स्वतन्त्र अलङ्कार माने गये हैं । अग्निपुराण में केवल तेईस अलङ्कारों का वर्णन किया गया है, जबकि काव्यादर्श में तैंतीस अलङ्कार निर्दिष्ट किए गए हैं ।

अग्निपुराण में उपमा के बाईस भेद बताये गये हैं और काव्यादर्श में उपमा के बत्तीस भेद निरूपित हैं। उनमें से तेरह अलङ्कारों के नाम में समानता है और पाँच अलङ्कारों के लक्षण एक-से मिलते हैं। इसके अतिरिक्त चार भेद ऐसे हैं, जिनका काव्यादर्श में नामोल्लेख तक नहीं है। अग्निपुराण में 'अतिशयोक्ति' को एक समान अलङ्कार माना गया है, जबकि काव्यादर्श में अतिशयोक्ति को समस्त अलङ्कारों में श्रेष्ठ बताया गया है। इसी प्रकार अग्निपुराण में 'श्लेष' अलङ्कार का नामोल्लेख तक नहीं है, जबकि काव्यादर्श में 'श्लेष' को प्रमुख अलङ्कार माना गया है। अग्निपुराण में अलङ्कारों की केवल परिभाषाएँ दी गयीं हैं और काव्यादर्श में परिभाषाओं के साथ-साथ उदाहरण भी प्रस्तुत किये गये हैं। अग्निपुराण में केवल 'ज्ञापकहेतु' अंलकार का उदाहरण दिया गया है और काव्यादर्श में 'हेतु' अंलकार को पचीस कारिकाओं में स्पष्ट किया गया है[1]।

अग्निपुराण में शब्दगत सात, अर्थगत छः और उभयगत छः कुल उन्नीस गुणों का विवेचन किया गया है, किन्तु दण्डी ने काव्यादर्श में केवल वैदर्भ मार्ग के दस गुण बताये हैं। अग्निपुराण में 'दोष' के वक्तृगत, वाचकगत और वाक्यगत तीन भेद किए गए हैं, किन्तु दण्डी का दोषनिरूपण सर्वथा विलक्षण है। दण्डी दस दोषों का ही विवेचन करते हैं। इस प्रकार दोनों के रसनिरूपण में भी भिन्नता है। अग्निपुराण में रस के स्वरूप एवं उनके भेदोपभेदों का विस्तृत विवेचन किया गया है जबकि काव्यादर्श में 'रस' को एक अंलकारमात्र स्वीकार किया गया है जो भामह की परम्परा के अनुसार है।

उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों की तुलनात्मक समीक्षा के पश्चात् यह प्रतीत होता है कि काव्यादर्श से अग्निपुराण में कुछ भी नहीं लिया गया है, बल्कि काव्यादर्श ही अग्निपुराण का ऋणी है। क्योंकि यदि अग्निपुराण में काव्यादर्श से अलंकार आदि लिए गए होते तो वे अलंकार जिन्हें दण्डी प्रमुख अलंकारों में परिगणन करते हैं, उन्हें अग्निपुराण में क्यों छोड़ दिया जाता? दूसरे अग्निपुराण में जिन विषयों का संक्षिप्त विवेचन है, काव्यादर्श में उनका विस्तृत विवेचन किया गया है। तीसरे दण्डी ने काव्यादर्श के प्रारम्भ में ही लिख दिया है कि "मैं पूर्व शास्त्रों से संग्रह कर ग्रन्थ लिख रहा हूँ"[2]। यहाँ पर अन्य शास्त्र से अग्नि-पुराण का ही ग्रहण हो सकता है। क्योंकि भामह और दण्डी दोनों ने ही अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का उल्लेख किया है और कहीं-कहीं उनके मतों की आलोचना भी की है। इससे प्रतीत होता है कि उनके पूर्व अनेक आचार्यों के काव्यशास्त्र विषयक ग्रन्थ विद्यमान थे और उनमें एक अग्निपुराण भी रहा होगा,

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास—कन्हैयालाल पोद्दार।
२. 'पूर्वशास्त्राणि संहृत्य प्रयोगानुपलक्ष्य च'। (काव्यादर्श १.२)

जैसा कि अग्निपुराण का बहुत-सा विषय दोनों के ग्रंथों में मिलता है। अतः अग्निपुराण भामह और दण्डी से पूर्व का प्रतीत होता है।

अग्निपुराण और आनन्दवर्धन—अग्निपुराणकार ने पर्यायोक्त, अपह्नुति, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा और आक्षेप इन पाँचों अलंकारों में 'ध्वनि' का अन्तर्भाव किया है[1]। इस आधार पर काणे महोदय अग्निपुराण में निरूपित 'ध्वनि' को 'ध्वन्यालोक' से प्रभावित मानते हैं[2]। किन्तु काणे महोदय का यह कथन तथ्यहीन प्रतीत होता है, क्योंकि आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में स्वयं इन अलंकारों की ध्वन्यात्मकता का खण्डन किया है[3]। यदि अग्निपुराण का आधार ध्वन्यालोक होता तो अग्निपुराणकार ध्वन्यालोक में खण्डित इन अलंकारों को ध्वनि के रूप में मान्यता क्यों देते ? इससे भी हमारे ही मत की पुष्टि होती है कि ध्वनिकार ने अग्निपुराण में निर्दिष्ट उपर्युक्त पाँचों अलंकारों की ध्वन्यात्मकता का खण्डन किया है। यही नहीं, बल्कि ध्वनिकार ने ध्वन्यालोक में अग्निपुराण से दो श्लोक भी ज्यों-के-त्यों उद्धृत किये हैं[4]। इन दोनों श्लोकों के पूर्व ध्वनिकार ने 'तथा चेदमुच्यते' यह लिखा है। इससे सिद्ध होता है कि ध्वनिकार ने इन दोनों श्लोकों को अन्य ग्रन्थ से उद्धृत किया है और यह ग्रन्थ 'अग्निपुराण' ही हो सकता है, क्योंकि अग्निपुराण में ही ये दोनों श्लोक मिलते हैं।

अग्निपुराण और विष्णुधर्मोत्तरपुराण—डा० सुशील कुमार दे विष्णुधर्मोत्तरपुराण का समय ४०० ई० के पश्चात् और ५०० ई० के पूर्व मानते हैं[5]। किन्तु काणे महोदय विष्णुधर्मोत्तर पुराण का रचनाकाल ५७५–६५० ई० मानते हैं[6]। इसमें डा० दे का मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है; क्योंकि उन्होंने अनेक आन्तरिक प्रमाणों के आधार पर विष्णुधर्मोत्तर पुराण का रचनाकाल नाट्यशास्त्र के बाद और भट्टि, भामह तथा दण्डी से पूर्व ४०० ई० के बाद एवं ५०० ई० के पूर्व निर्धारित किया है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण तथा अग्नि-

---

१. अग्निपुराण (अध्याय ३४५।१४, १८)

२. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (पृ० ९–१०)

३. ध्वन्यालोक (प्रथम उद्योत)

४. तथा चेदमुच्यते—

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥
शृङ्गारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स चेत् कविर्वीतरागः नीरसं काव्यमेव तत् ॥

(अग्निपुराण ३३९।१०–११ तथा ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत)

५. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स—एस० के० डे, पृ० ९८–९९।

६. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास—पी० वी० काणे पृ० ९०।

पुराण दोनों पौराणिक ग्रन्थ हैं और दोनों की विश्वकोष के रूप में मान्यता है किन्तु विष्णुधर्मोत्तर पुराण एक उपपुराण है जबकि अग्निपुराण की महापुराणों में गणना है। इससे अग्निपुराण की श्रेष्ठता एवं ज्येष्ठता सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त दोनों के प्रतिपाद्य विषयों के अवलोकन से ज्ञात होता है विष्णुधर्मोत्तर पुराण में बहुत से विषय अग्निपुराण से लिये गये हैं। यहाँ एक-दो उदाहरण दिये जा रहे हैं। जैसे अग्निपुराण में काव्य को शास्त्र और इतिहास से भिन्न बताया गया है, उसी प्रकार विष्णुधर्मोत्तर पुराण (अध्याय १५) में भी काव्य को शास्त्र और इतिहास से पृथक् प्रतिपादित किया गया है, अग्निपुराण में अनुप्रास अलंकार के अन्तर्गत यमक का विवेचन है, विष्णुधर्मोत्तर पुराण में यमक को अलग अलंकार माना गया है; किन्तु अग्निपुराण में यमक का जो लक्षण दिया गया है वह प्राचीनतम है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में अग्निपुराण के अनुसार ही अनुप्रास एवं यमक अलंकारों का विवेचन है। इस प्रकार दोनों की तुलनात्मक समीक्षा के पश्चात् अग्निपुराण की प्राचीनता सिद्ध होती है। यतश्च विष्णुधर्मोत्तरपुराण का रचनाकाल ४०० ई० से ५०० ई० के मध्य माना जाता है। अतः अग्निपुराण का रचनाकाल इससे पूर्व तृतीय–चतुर्थ शताब्दी के मध्य मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

अग्निपुराण और अन्य शास्त्रीय ग्रन्थ—भोज ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में स्पष्ट रूप से 'अग्निपुराण' का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु उनके द्वारा विवेचित विषयों को अपने ग्रन्थ का आधार अवश्य बनाया है। सरस्वतीकण्ठाभरण में बहुत से विषय अग्निपुराण से लिये गये हैं और उनकी विवेचन शैली अग्निपुराण जैसी है[१]। अभिनवगुप्त (ग्यारहवीं शताब्दी) ने अपने 'ध्वन्यालोक लोचन' में अग्निपुराण से निम्नलिखित श्लोक को उद्धृत किया है[२]। अल्बेरुनी (ग्यारहवीं शताब्दी) की 'अल्बेरुनी का भारत' नामक पुस्तक में पुराणों की सूची दी हुई है जिसमें अग्निपुराण का उल्लेख है[३]। गौड़ाधिप बल्लालसेन (बारहवीं शताब्दी) ने 'अद्भुतसागर' में अग्निपुराण का उल्लेख किया है[४]। शारदातनय (तेरहवीं शताब्दी) ने अपने 'भावप्रकाशन' नामक ग्रन्थ में अग्निपुराण के मतों के विवेचन के साथ-साथ अग्निपुराणकार व्यास का नामोल्लेख भी किया है[५]। विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण में अग्निपुराण का बड़े गौरव

१. सरस्वतीकण्ठाभरण, अध्याय ५।

२. 'अभिधेयेन सारूप्यात् समीप्यात् समवायतः।
वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मताः'॥
अग्निपुराण ३।४५।११–१२ तथा ध्वन्यालोकलोचन–प्रथम उद्योत

३. अल्बेरुनी का भारत पृ० ३६–३७।

४. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास पृ० ११।

५. भावप्रकाशन (पृ० २, ६९, २५१)

के साथ उल्लेख किया है[1]। इन विवरणों से स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि 'अग्निपुराण' का अस्तित्व ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्व अवश्य विद्यमान था।

अग्निपुराण के अन्तरंग प्रमाणों पर यदि हम विचार करते हैं तो यह ज्ञात होता है कि अग्निपुराण में भाषा की दृष्टि से काव्य दो प्रकार के बताये गये हैं—संस्कृत और प्राकृत[2]। अपभ्रंश को अग्निपुराण में काव्य के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है। भामह अपभ्रंश को काव्य का तीसरा भेद स्वीकार करते हैं[3]। अपभ्रंश का उदय लगभग छठी शताब्दी माना जाता है। अतः स्पष्ट होता है कि छठी शताब्दी के पूर्व अग्निपुराण का अन्तिम संस्करण हो चुका था। स्थूल दृष्टि में यदि अग्निपुराण में आये हुए विषयों की ओर दृष्टिपात किया जाये, तो स्पष्ट होता है कि अग्निपुराण एक वैष्णव पुराण है। इसलिए 'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च...' इस अनुक्रम को छोड़कर इसमें विष्णु के दशावतारों विशेषकर रामावतार एवं कृष्णावतार का प्रारम्भ में ही वर्णन किया गया है। वैष्णव सम्प्रदाय का पुनरुद्धार गुप्तकाल में ही हुआ था, ऐसा अन्य प्रमाणों से भी ज्ञात होता है[4]। यद्यपि कुछ अन्य पुराण भी वैष्णव पुराण माने जाते हैं, किन्तु उन सभी पुराणों का संस्करण गुप्तकाल में ही हुआ है, ऐसा माना जाता है। अग्निपुराण के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इसमें तान्त्रिक आगमों का प्रभाव अधिक मात्रा में पड़ा है[5]। यद्यपि आथर्वण अभिचार-मन्त्रों का प्रचार प्राचीनकाल से ही राजनीति में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है, तथापि अग्निपुराण का तान्त्रिक भाग बौद्धकाल के तान्त्रिक प्रचार से साम्य रखता है। योनि-पूजा आदि वामपन्थ का निर्देश भी इस ग्रन्थ में मिलता है। बौद्धों का उच्छेद वैदिक कर्मकाण्ड के पुनरुत्कर्ष के बाद हो गया था। यह समय पाँचवीं शताब्दी के करीब माना जाता है। अतः अग्निपुराण का अस्तित्व इससे पूर्व का सिद्ध होता है।

मनुस्मृति की अपेक्षा अग्निपुराण तथा अन्य स्मृतिभागों में जो परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है, उससे प्रतीत होता है कि उस समय की सामाजिक परिस्थिति अत्यन्त नीतिभ्रष्ट तथा निकृष्ट-सी हो गयी थी। अग्निपुराण में प्राप्त उद्धरणों से ज्ञात होता है कि उस समय विधवा विवाह का प्रचलन समाज में व्याप्त था और प्रतिलोम विवाह भी होता था। विधवा होने पर अथवा पति

---

१. 'काव्यस्योपादेयत्वमग्निपुराणेप्युक्तम्'। (साहित्यदर्पण पृ० ४)

२. अग्निपुराण पृ० ३३७–३८।

३. काव्यालंकार (भामह १।१६)

४. गुप्तकालीन वैष्णव स्मारकों की पुराणिका (दे० रा० पाटिल) बी० डी० सी० आर० आई०, भाग २, १९४०–४१, १४८–१६५ पी० पी०।

५. अग्निपुराण, अध्याय २१, २५, २७, ३३, ३४, ७४, ७८, ८२, ९२, १४२, १४८ आदि।

के सन्यास ले लेने पर स्त्रियाँ अन्य पुरुष के साथ विवाह कर सकती थीं। पति के मरने पर देवर के साथ विवाह कर सकती थी, देवर के न होने पर अपनी इच्छा से किसी भी पुरुष के साथ विवाह कर सकती थी[1]। अग्निपुराण के अनुसार स्त्रियाँ सदैव पवित्र रहती थीं। वह जर (उपपति) के साथ संसर्ग करने पर भी दूषित नहीं होती थीं[2]। यहाँ तक कि असवर्ण के साथ संसर्ग करने पर यदि गर्भ रह जाता था, तो वह शल्यमोचन के बाद शुद्ध हो जाती थी[3]। ऐसा लगता है कि बौद्धों को हिन्दू समाज के अन्तर्भाव करने की दृष्टि से बाह्य आचरण को संस्कारित करने का प्रयत्न भी इसमें अनिवार्य रूप से किया गया होगा। यह समय गुप्तकाल के आस-पास का प्रतीत होता है। अतः गुप्तकाल में उसका अस्तित्व स्वतः सिद्ध हो जाता है।

सारांश—उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर यह मानना पड़ता है कि अग्निपुराण का प्रचलित संस्करण गुप्तकाल का ही है और गुप्तकाल तृतीय शताब्दी से पंचम शताब्दी के मध्य माना जाता है। अतः अग्निपुराण के संस्करण का समय चतुर्थ शताब्दी के लगभग होना चाहिए। तभी तो भामह और दण्डी उससे प्रभावित हुए होंगे। अग्निपुराण की हस्तलिखित प्रतियों से यह ज्ञात होता है कि अग्निपुराण का प्रक्षिप्त अंश प्रायः प्राप्त नहीं है। भिन्न-भिन्न हस्तलिखित प्रतियों में जो अन्तर पाया जाता है, उसे पाठभेद या अशुद्धिजन्य अन्तर कहा जा सकता है। यद्यपि ये पाण्डुलिपियाँ सोलहवीं शताब्दी के पहले की नहीं हैं, फिर भी इन प्रतियों के विभिन्न स्थानों से प्राप्त होने के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि ये सभी प्रतियाँ किसी एक ही प्रति से प्रतिलिपि की गई होंगी। अतः हम यह नहीं कह सकते कि इस पुराण में गुप्तकालीन अन्तिम संस्करण के बाद बहुत से प्रक्षिप्त अंशों का समावेश किया गया होगा। म० म० काणे तथा सुरेन्द्रनाथ दीक्षित आदि विद्वान् नाट्यशास्त्र का समय तृतीय शताब्दी से पूर्व का मानते हैं। चूंकि अग्निपुराण के अन्तिम संस्करण का सम्पादन नाटच-

---

१. 'नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥
मृते तु देवरे देयात् तदभावे यथेच्छया'। (अग्निपुराण १५४।५-६)

२. न स्त्री दुष्यति जारेण। (अग्निपुराण १६५।६)
नैताः दुष्यन्तिः केनचित् ॥ (वही, १६५।१९)

३. 'असवर्णेन यो गर्भः स्त्रीणां योनौ निषिच्यते।
अशुद्धा तु भवेन्नारी यावच्छल्यं न मुञ्चति ॥
निःसृते तु ततः शल्ये रजसा शुध्यते ततः।
ध्यानेन सदृशं नास्ति शोधनं पापकर्मणाम्' ॥
(अग्निपुराण १६५।२०-२१)

शास्त्र के समकालिक या इससे कुछ बाद का होगा। अतः अग्निपुराण का समय तृतीय-चतुर्थ शताब्दी के मध्य माना जा सकता है।

अग्निपुराणोक्त काव्यालंकारशास्त्र

अग्निपुराण के ग्यारह अध्यायों में काव्यालङ्कारशास्त्र का महत्त्वपूर्ण विवेचन किया गया है। इसे ही काव्यालङ्कारशास्त्र का आदिस्रोत माना गया है[१]। महेश्वर ने काव्यप्रकाशदर्श की टीका में प्रतिपादित किया है कि भरत ने सुकुमार राजकुमारों को स्वादुकाव्य प्रवृत्ति के द्वारा अलंकारशास्त्र में प्रवृत्त कराने के लिए अग्निपुराण से उद्धृत कर अलंकारशास्त्र का प्रणयन किया[२]। इसी परम्परा के अनुयायी विद्याभूषण ने भी यही मान्य किया है कि भरत ने वह्निपुराण में दृष्ट साहित्य-प्रक्रिया को संक्षेप में कारिकाओं से निबद्ध किया[3]। इसी परम्परा के पोषक सिल्वा लेवी ने भी यही प्रतिपादित किया है कि नाटचशास्त्र की कारिकाएँ अग्निपुराण से ली गयी हैं[४]। ये उद्धरण इसी बात को द्योतित करते हैं कि काव्यालङ्कारशास्त्र का आदिस्रोत अग्निपुराण ही है। इसी प्रकार भामह, दण्डी, आनन्द, भोज आदि के उद्धरणों से से भी उपर्युक्त बात की पुष्टि होती है कि अग्निपुराण काव्यालंकारशास्त्र का मूलग्रन्थ है। जैसा कि बताया चुका है कि अग्निपुराण के ग्यारह अध्यायों में समस्त काव्यालंकारशास्त्रीय तत्त्वों का महत्त्वपूर्ण विवेचन किया गया है।

वाङ्मय एवं काव्यस्वरूप

अग्निपुराण में प्रथम वाङ्मय स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए बताया गया है कि ध्वनि, वर्ण, पद और वाक्य मिलकर वाङ्मय कहलाते हैं। शास्त्र, इतिहास और काव्य तीनों वाङ्मय के अन्तर्गत आते हैं। अग्निपुराण के अनुसार ध्वनि, पद, वर्ण और वाक्य — ये चार वाणी के अधिष्ठान हैं। वहाँ पर आक्षेप को ध्वनि कहा गया है और अभिव्यक्ति विशेष ही आक्षेप है। वह आक्षेप वर्ण, पद, वाक्य से भिन्न अनेक वर्ण, अनेक पद और अनेक वाक्य के संयोग से अर्थान्तर को ध्वनित करता है, इसलिए उसे ध्वनि कहते हैं। ध्वनि दो प्रकार की होती है — प्रथम केवल ध्वनिरूप वीणा आदि से उत्पन्न निरर्थक ध्वनि और द्वितीय सार्थक वर्णरूप। अकारादि ध्वनि ही वर्ण है। विभक्त्यन्त

---

१. इण्डियन एण्टिक्वरी (खण्ड ४६, १९१७) पृ० १७३।

२. 'सुकुमारान् राजकुमारान् स्वादुकाव्यप्रवृत्तिद्वारा अलङ्कारशास्त्रे प्रवर्त्तयितुमग्निपुराणादुद्धृत्य काव्यरसास्वादनकरणमलङ्कारशास्त्रं कारिकाभिः संक्षिप्य भरतमुनिप्रणीतवान्'। (काणे : संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ४)

३. 'काव्यरसास्वादनाय वह्निपुराणादिदृष्टां साहित्यविद्यां भरतः संक्षिप्ताभिः कारिकाभिर्निबबन्ध'। (काणे : संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ४)

४. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास पृ० ३१।

(सुप् और तिङ् विभक्तियों से युक्त) वर्ण समूह को पद कहते हैं और अभीष्ट अर्थ का प्रतिपादन करने वाली पदावली (पदसमूह) को वाक्य कहा जाता है। इस प्रकार ध्वनि, वर्ण, पद और वाक्य ये सब मिलकर वाङ्मय कहलाते हैं। शास्त्र, इतिहास और काव्य—ये तोनों वाङ्मय के अर्न्तगत समाविष्ट हैं। शास्त्र के अर्न्तगत वेदादि आते हैं। शास्त्र में शब्द प्रधान होता है, अतः वेदादि शास्त्र शब्द प्रधान होते हैं। इतिहास के अर्न्तगत रामायण, महाभारत और पुराणादि का समावेश है। इतिहास में अर्थ की प्रधानता होती है, क्योंकि इतिहास पुरावृत्त का अभिधायक होता है। काव्य अभिधा प्रधान होता है। तात्पर्य यह कि शास्त्र में शब्द की प्रधानता होती है और इतिहास में अर्थ की प्रधानता होती है। किन्तु काव्य इन दोनों से भिन्न (विलक्षण) होता है। उसमें शब्द, अर्थ और अभिधा तीनों का मिश्रण रहता है, किन्तु प्रधानता अभिधा की ही होती है। इस प्रकार अभिधा प्रधान वाङ्मय काव्य कहा जाता है। यहाँ पर अभिधा का अर्थ व्यापार अभिप्रेत है। अभिधेय से तात्पर्य अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना तीनों प्रकार के व्यापारों से है, किन्तु प्रधानता अभिधेय की है। अग्निपुराणकार ने अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना तीनों को उभयालङ्कार के रूप में परिगणित किया है। इस प्रकार अग्निपुराणकार के अनुसार ध्वनि, वर्ण, पद और वाक्यरूप दोष-रहित, गुण सहित, स्फुरदलङ्कार-युत अभिधेय अर्थ से युक्त वाङ्मय काव्य है।

काव्य-प्रकार

अग्निपुराण में काव्य के तीन भेद बताये गये हैं—गद्य, पद्य और मिश्र (गद्यं पद्यं मिश्रञ्च काव्यं हि त्रिविधं स्मृतम्)। इनमें पाद-रहित पदसमूह को गद्य कहते हैं। वह गद्य चूर्णक, उत्कलिका और वृत्तगन्धि भेद से तीन प्रकार का होता है। अग्निपुराण के अनुसार गद्यकाव्य के पाँच भेद होते हैं—आख्यायिका, कथा, खण्डकथा, परिकथा और कथानिका। श्लोक के चतुर्थांश को पाद कहते हैं और चार पाद वाले श्लोक को पद्य कहते हैं। पद्य के दो भेद होते हैं—वृत्त और जाति। अग्निपुराण के अनुसार पद्यकाव्य सात प्रकार का होता है—महाकाव्य, कलाप, पर्याबन्ध, विशेषक, कुलक, मुक्तक और कोष। मिश्र काव्य में गद्य और पद्य दोनों का मिश्रण होता है, इसलिए इसे मिश्र काव्य कहते है। मिश्र काव्य के दो भेद होते है—चम्पू और प्रकीर्णक। इनमें चम्पू श्रव्य होता है और प्रकीर्णक अभिनेय होता है। इसे की नाटच कहते हैं।

नाट्य-स्वरूप

अग्निपुराण में काव्यालङ्कारशास्त्र के अर्न्तगत नाटचशास्त्र का भी विवेचन किया गया है। भरतमुनि के पश्चात् अग्निपुराण में ही नाटच-चर्चा है। अग्नि-

पुराण में नाट्य के सत्ताईस भेदों का निरूपण किया गया है; यथा—'नाटक, प्रकरण, डिम, ईहामृग, समवकार, प्रहसन, व्यायोग, भाण, वीथी, अङ्क, त्रोटक, नाटिका, सट्टक, शिल्पक, संलापक, दुर्मल्लिका, प्रस्थान, भाणिका, भावि, गोष्ठी, हल्लीशक, काव्य, श्रीगदित, नाट्यरासक, उल्लापक और प्रेङ्खण।

नाट्यशास्त्र में दश रूपकों का विवेचन है, किन्तु अग्निपुराण में सत्ताईस प्रकार के रूपक गिनाये गये हैं। परवर्ती आचार्यों ने इनमें से आदि के दस भेदों को रूपक और शेष सत्तरह भेदों को उपरूपक माना है। विश्वनाथ ने तो अग्निपुराण का ही अनुसरण कर दस रूपक और अठारह उपरूपक माने हैं। उन्होंने अग्निपुराणोक्त सत्तरह उपरूपकों में 'विलासिका' नामक एक उपरूपक भेद जोड़कर उपरूपकों की संख्या अठारह गिनायी है। सागरनन्दी ने अग्निपुराण के अनुसार सत्तरह उपरूपकों को ही स्वीकार किया है।

अग्निपुराण में नाटक-लक्षण की द्विधा प्रवृत्ति बतलायी है—सामान्य और विशेष। इनमें सामान्य प्रवृत्ति सर्वत्र रहती है और विशेष की कहीं-कहीं। अग्निपुराण में नाट्य को धर्म, अर्थ और काम का साधन बताया गया है—'त्रिवर्गसाधनं नाट्यम्'।

पूर्वरङ्ग—अग्निपुराण के अनुसार नाट्य के प्रारम्भ में पूर्वरङ्ग का विधान करना चाहिए। वहाँ पूर्वरङ्ग के बत्तीस अङ्ग बताये गये हैं। पाँच प्रकार की नान्दी, नान्दी के बाद पाँच निर्देश, तीन प्रकार के आमुख, दो प्रकार के इतिवृत्त (सिद्ध-प्रख्यात और उत्प्रेक्षित-उत्पाद्य), पाँच अर्थ प्रकृतियाँ, पाँच चेष्टाएँ, पाँच सन्धियाँ और देश-काल का संकलन—इन बत्तीस अङ्गों का पूर्वरङ्ग में निर्वाह करना इतिकर्त्तव्यता है। इसके बाद अर्थात् पूर्वरङ्ग के नान्दी प्रभृति बत्तीस अङ्गों के निर्वहन के पश्चात् अभीष्ट अर्थ (इतिवृत्त) की योजना, वृत्तान्त का अनुपक्षय, प्रयोग में राग की उत्पत्ति, गोपनीय का गोपन, प्रकाशनीय का प्रकाशन, अलौकिक अर्थ का कथन—इन छः नाटकीय गुणों का उल्लेख होना चाहिए। इन उपर्युक्त गुणों से रहित काव्य अङ्गहीन मनुष्य की भाँति श्रेष्ठ नहीं माना जाता। रस, भाव, विभाव, अनुभाव, अभिनय, अङ्क आदि की स्थिति यथावसर करनी चाहिए। ये सत्ताईस प्रकार के नाटकादि के सामान्य लक्षण हैं। इसके बाद नाटकादि के विशेष लक्षण बताये गये हैं।

इस प्रकार अग्निपुराण में सत्ताईस प्रकार के प्रकीर्ण (अभिनेय) काव्य (नाट्यकाव्य) तथा चम्पू काव्य (मिश्र काव्य), आख्यायिका आदि पाँच प्रकार के गद्यकाव्य तथा महाकाव्य आदि सात प्रकार के पद्यकाव्य बताये गये हैं। अग्निपुराण में यथास्थान इनके लक्षण भी प्रतिपादित किये गये हैं।

रस-विमर्श

अग्निपुराण में रस के विषय में स्वतंत्र मौलिक विचारधारा प्रतिपादित

है। अग्निपुराणकार ने दार्शनिक धरातल पर रस का चिन्तन कर एक नई दिशा प्रस्तुत की है जो परवर्ती रस-विवेचन का आधार है। अग्निपुराण के अनुसार अक्षर, अज, सनातन अद्वितीय, चैतन्यरूप, ज्योतिर्मय परब्रह्म की सहज आनन्द रूप अभिव्यक्ति रस है। वेदान्त में इसी अभिव्यक्ति को चैतन्य कहा गया है। इसी सहज आनन्द रूप अभिव्यक्ति को चमत्कार या रस कहते हैं। चैतन्य रूप परब्रह्म का गुणत्रय रूप प्रथम विकार महत्तत्त्व (महान्) है। महत्तत्त्व से ही अहङ्कार या अभिमान की अनुभूति होती है। महत्तत्त्व के समान ही यह अहङ्कार या अभिमान भी त्रिगुणात्मक है। जब रजस् और तमस् के संस्पर्श से रहित सत्त्व का उद्रेक होता है तब सहृदयों के द्वारा रस की अनुभूति होती है। यह अनुभूति ही आस्वाद है, यही चैतन्य है, यही चमत्कार या रस है।

इस प्रकार अग्निपुराण की रस-व्याख्या दार्शनिक धरातल पर पल्लवित हुई है। सांख्य के अनुसार समस्त अनुभूतियों का आश्रय अन्तःकरण का मूल अहङ्कार है और वेदान्त की दृष्टि में जब शुद्ध चैतन्य 'अहमस्मि' के धरातल पर अवतरित होता है तभी 'अहम्' तत्त्व की तृप्ति होती है। इसी प्रकार अग्निपुराण में प्रतिपादित मनुष्य में अपने प्रति अनुराग द्योतित करता है। और इस अहंभाव के कारण उसे अपने अस्तित्व का आभास होने लगता है। जैसे किसी कामिनी के द्वारा स्निग्ध दृष्टि से देखे जाने पर पुरुष में आत्मज्ञान, आत्मविश्वास या आत्मानुराग की भावना जाग्रत् होकर उसे सहज आनन्द में विभोर कर देती है, वही अहङ्कार है। यह अहङ्कार ही रस है और अभिमान अहङ्कार का ही एक रूप है। इसे अभिमान इसलिए कहते हैं क्योंकि इसमें समस्त सुख-दुःखात्मक अनुभूतियाँ आनन्दप्रद होने के कारण अभिमत हो जाती हैं। यहाँ पर अभिमान उत्तेजना-जन्य मिथ्या गर्व नहीं है; वह तो आत्मस्थित विशेष गुण है, जो रस्यमान होने के कारण 'रस' है। इसी अहङ्कार या आत्म-प्रतीति अभिमान का दूसरा नाम श्रृङ्गार है। इसे श्रृंगार इसलिए कहते हैं कि क्योंकि यह मनुष्य को श्रृङ्ग तक पँहुचा देता है। अग्नि-पुराण का यह श्रृङ्गार स्त्री-पुरुष का वासनात्मक प्रेम (रति) का प्रकर्ष नहीं है, अपितु आत्मनिष्ठ इति (निरपेक्ष) प्रेम है। इस प्रकार अग्निपुराण के अनुसार अभिमान या अहङ्कार ही रस है और वही श्रृङ्गार है और इसी श्रृङ्गार से श्रृङ्गार, हास्य आदि अन्य रस अभिव्यक्त होते हैं।

इस प्रकार अग्निपुराण के अनुसार परब्रह्म चैतन्य की आनन्दरूप अभि-व्यक्ति ही रस है। उसके श्रृङ्गारादि अनेक भेद होते हैं। अग्निपुराण में श्रृङ्गार का व्यापक अर्थ लिया गया है और उसे रस का पर्याय माना गया है। इस अहङ्कार रूप श्रृंगार से कामश्रृंगार, हास्य आदि अनेक रस उत्पन्न होते हैं। अग्निपुराण के अनुसार लोक में देवता और मनुष्यों के अभिमान (अहङ्कार) से जो रति उत्पन्न होती है वह रजोगुण से उत्पन्न अनुराग से परिपुष्ट होकर

शृंगार रस कहलाती है। वही रति जब तमोगुण से उत्पन्न उग्रता से परिपुष्ट होती है तो 'रौद्र' रस होता है। वही रति जब रजस् और तमस् दोनों गुणों के उद्रेक से सम्पन्न उत्साह से 'वीर' रस उत्पन्न होता है; वह रति जब सत्त्व और तमस् के उद्रेक से उत्पन्न संकोच से परिपोषित होती है तो बीभत्स रस कहलाता है।

इस प्रकार अग्निपुराण के अनुसार ये चार ही प्रमुख रस हैं और ये शृङ्गार के ही परिणाम हैं। इन्हीं से अन्य चार रस उत्पन्न होते हैं। शृङ्गार ही जब रजोगुण के उद्रेक से मन को विकसित करता है तो 'हास्य' रस उत्पन्न होता है। इसी प्रकार रौद्र रस जब तमोगुण के उद्रेक से शोक को विकसित करता है तो 'करुण' रस की उत्पत्ति होती है। वीर रस जब रजस् एवं तमस् दोनों गुणों के उद्रेक से वैचित्र्य के रूप में विकसित होता है तो 'अद्भुत' रस की निष्पत्ति होती है। बीभत्स रस जब सत्त्व एवं तमस् के उद्रेक से भय के भाव को प्राप्त करता है तो 'भयानक' रस उत्पन्न होता है। इस प्रकार अग्निपुराण का रस-विवेचन सर्वथा विलक्षण है। किसी भी आचार्य ने इस प्रकार रस का निरूपण नहीं किया है। परवर्त्ती आचार्यों ने अग्निपुराण का अनुसरण कर रस का विवेचन किया है। इस प्रकार अग्निपुराण के अनुसार रस आठ होते हैं—शृङ्गार, हास्य, रौद्र, करुण, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत। इनके अतिरिक्त अग्निपुराणकार ने 'शान्त' रस को भी स्वीकार किया है।

रस-भेद-निरूपण

१. अग्निपुराण में शृंगार के दो भेद माने गये हैं—सम्भोग और विप्रलम्भ। सम्भोग और विप्रलम्भ भी दो प्रकार के होते हैं। विप्रलम्भ शृंगार के पुनः चार भेद बताये गये हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण। इनके अतिरिक्त अभिनय की दृष्टि से शृङ्गार के दो अन्य भेद होते हैं—वाक्-क्रियात्मक और नेपथ्यक्रियात्मक।

२. हास्य रस छः प्रकार का होता है—स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित और अतिहसित। अभिनय की दृष्टि से हास्य के भी दो भेद होते हैं—वाक्क्रियात्मक और नेपथ्यक्रियात्मक।

३. अग्निपुराण के अनुसार करुण के तीन भेद होते हैं—धर्मोपघातजन्य, वित्तनाशजन्य और शोकजन्य। अभिनय की दृष्टि से करुण के दो भेद होते हैं—वाक्क्रियात्मक और नेपथ्यक्रियात्मक।

४. रौद्र रस के तीन प्रकार होते हैं—आङ्गिक, वाचिक और नेपथ्यज।

५. वीर रस भी तीन प्रकार का होता है—दानवीर, धर्मवीर और युद्धवीर। अभिनय की दृष्टि से इसके दो भेद होते हैं—वाक्क्रियात्मक और नेपथ्यक्रियात्मक।

६. भयानक रस तीन प्रकार का होता है—कृत्रिम, अपराधजन्य और वित्रासिक। अभिनय की दृष्टि से इसके दो भेद होते हैं—वाक्क्रियात्मक और नेपथ्यक्रियात्मक।

७. अग्निपुराण में बीभत्स के दो भेद होते हैं—उद्वेजन और क्षोभण। नाटचशास्त्र में बीभत्स का 'शुद्ध' नामक तीसरा भेद भी माना गया है, किन्तु अग्निपुराण में 'शुद्ध' नामक भेद स्वीकार नहीं किया गया है। अभिनय की दृष्टि से इसके भी दो भेद होते हैं—वाक्क्रियात्मक और नेपथ्यक्रियात्मक।

८. अग्निपुराणकार ने चमत्कारातिशय को 'अद्भुत' रस कहा है। अभिनय की दृष्टि से इसके दो भेद होते हैं—वाक्क्रियात्मक और नेपथ्यक्रियात्मक।

९. शान्त रस नाटच में स्वीकार नहीं किया गया है, किन्तु नाटक प्रकरण में निर्दिष्ट होने के कारण उनका निरूपण किया गया है। जब विवेक, वैराग्य आदि के कारण कर्म में प्रवृत्ति नहीं होती, तब 'शान्त' रस होता है। शान्त रस का स्थायी भाव 'शम' है।

रस और भाव

अग्निपुराणकार का कथन है कि इस अपार काव्यजगत् का सर्जक कवि है, उसे जैसा रुचता है वैसी सृष्टि (रचना) कर डालता है। यदि वह सहृदय है तो सरस काव्य-रचना और यदि वह विरागी (नीरस) है तो उसकी काव्य-रचना भी नीरस होगी। अग्निपुराणकार ने रस को भावाश्रित और भाव को रसाश्रित कहा है। भावहीन रस और रसहीन भाव की कल्पना नहीं की जा सकती। भाव और रस एक दूसरे के उपकारक हैं। रसों को भावित करने के कारण वे भाव कहे जाते हैं। अग्निपुराण में आठ स्थायी भाव, आठ सात्त्विक भाव और तैंतीस व्यभिचारी भाव प्रतिपादित हैं। रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय—ये आठ स्थायी भाव हैं। ये स्थायी भाव जहाँ पर और जिसके द्वारा विभाजित होते हैं उसे विभाव कहते हैं। विभाव दो प्रकार के होते हैं—आलम्बन और उद्दीपन। आलम्बन विभाव के उद्बुद्ध एवं परिष्कृत भावों के द्वारा मन, वाणी, बुद्धि एवं शरीर के स्मृति, इच्छा, द्वेष और यत्न से जो आरम्भ किया जाता है उसे 'अनुभाव' कहते हैं। ये अनुभाव चार प्रकार के होते हैं—चित्तारम्भ (मन आरम्भ), वागारम्भ, बुद्धचारम्भ और शरीरारम्भ। इसमें मानसिक व्यापार के आधिक्य को 'मन आरम्भ' कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है—पौरुष और स्त्रैण। इनमें पुरुषगत (पौरुष) मनोभाव शोभा, विलास, माधुर्य, स्थैर्य, गाम्भीर्य, ललित, औदार्य और तेज आठ प्रकार के होते हैं। हाव, भाव, हेला, शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, धैर्य, प्रागल्भ्य, औदार्य, स्थैर्य और गाम्भीर्य ये बारह स्त्रीगत (स्त्रैण) मनोभाव हैं। वाणी का कथन वागारम्भ व्यापार है। यह बारह

प्रकार का होता है—आलाप, प्रलाप, विलाप, अनुलाप, संलाप, अपलाप, सन्देश, अपदेश, उपदेश और व्यपदेश। बुद्धि के द्वारा उपदिष्ट व्यापार 'बुद्धचारम्भ' है। बुद्धचारम्भ व्यापार तीन प्रकार का होता है—रीति, वृत्ति और प्रवृत्ति। शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों द्वारा किया गया आरम्भ (चेष्टा) शरीरारम्भ है। ये बारह हैं—लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमित, बिब्बोक, ललित, विकृत क्रीडित और केलि। अग्निपुराण में इन चारों व्यापारों का सम्बन्ध चार अभिनयों से जोड़ा गया है। इनमें मन आरम्भ का सम्बन्ध सात्त्विक अभिनय से है। इसमें सात्त्विक भावों के द्वारा मनोगत भावों को प्रकट किया जाता है। वागारम्भ अनुभाव का सम्बन्ध वाचिक अभिनय से है। बुद्धचारम्भ का सम्बन्ध आहार्य अभिनय से है। इसके अन्तर्गत रीति, वृत्ति और प्रवृत्तियाँ आती हैं। शरीरारम्भ का सम्बन्ध आङ्गिक अभिनय से है। इसमें अङ्ग-प्रत्यङ्गों द्वारा चेष्टाओं का प्रदर्शन किया जाता है। अङ्ग-प्रत्यङ्गों की विशेष चेष्टाएँ शरीरारम्भ अनुभाव है। इस प्रकार अग्निपुराण का यह रसभावादि चिंतन सर्वथा मौलिक एवं वैज्ञानिक है।

रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति विचार

अग्निपुराण में बुद्धचारम्भ (बुद्धि के व्यापार) के तीन भेद निर्दिष्ट हैं—रीति, वृत्ति और प्रवृत्ति। यहाँ वक्तृत्वकला की शैली को रीति नाम से अभिहित किया गया है और उसके चार भेद प्रतिपादित किये गये हैं—वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली और लाटी। वहाँ पर इनका अलग-अलग स्वरूप निर्दिष्ट किया गया है। रीति के पश्चात् भारती, आरभटी, कौशिकी और सात्त्वती इन चार वृत्तियों का निरूपण किया गया है। अग्निपुराण के अनुसार रस के भावों की अनुभाविका क्रिया को वृत्ति कहते हैं। भरत कायिक, वाचिक, मानसिक व्यापार को वृत्ति कहते हैं। इसी को आनन्द व्यवहार और अभिनव नायक का चेष्टाव्यापार माना है। धनञ्जय नायकादि व्यापार को तथा भोज एवं राजशेखर चेष्टाविन्यासक्रम को वृत्ति कहते हैं। अग्निपुराण के अनुसार भरत नामक राजा के द्वारा प्रकाशित होने के कारण भारतीवृत्ति, अरभट के द्वारा की गई क्रिया आरभटी, कुशिक राजा के द्वारा प्रकाशित होने से कौशिकी और सात्वत राजा के द्वारा प्रकाशित होने से सात्वती वृत्ति कहलाती है। यह अग्निपुराण की मौलिक कल्पना है। अग्निपुराण में इनके अनेक भेदोपभेदों का वर्णन है।

अभिनयादि-निरूपण

अग्निपुराण के अनुसार जिसके द्वारा नाटच के नानाविध अर्थों (अर्थात् रस के निष्पादक रत्यादि भावों) को सामाजिकों के समक्ष ले जाकर रसास्वादन कराया जाता है, उसे अभिनय कहते हैं। यह अभिनय चार प्रकार का

होता है—आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य। अङ्ग, प्रत्यङ्ग एवं उपाङ्गों द्वारा किया जाने वाला अभिनय आङ्गिक अभिनय कहलाता है। आङ्गिक अभिनय के द्वारा नायक-नायकादि की विशेष चेष्टाएँ प्रदर्शित की जाती हैं। ये चेष्टाएँ बारह होती हैं–लीला, विच्छित्ति, विलास, विभ्रम, किलकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमित, बिब्बोक, ललित, विकृत, क्रीडित और केलि। नाट्य के छः अङ्ग और छः प्रत्यङ्ग होते हैं। ये छः अङ्ग शिर, हस्त, उरस्, पार्श्व, कटि और पाद हैं तथा भ्रू, नेत्र, नासिका, ओष्ठ, कपोल और चिबुक ये प्रत्यङ्ग हैं।

अग्निपुराण के अनुसार शिरोऽभिनय के तेरह भेद होते हैं—आकम्पित, कम्पित, धुत, विधुत, परिवाहित, आधूत, अवधूत, आचित (अञ्चित), निकुञ्चित, परावृत्त, उत्क्षिप्त, अधोगत और लोलित।

हस्ताभिनय दो प्रकार का होता है—असंयुतहस्त और संयुतहस्त। इनमें असंयुत हस्त के चौबीस भेद होते हैं—१. पताका, २. त्रिपताका, ३. कर्त्तरीमुख, ४. अर्द्धचन्द्र, ५. अराल, ६. शुकतुण्ड, ७. मुष्ठि, ८. शिखर, ९. कपित्थ, १०. खटकामुख (कटकामुख), ११. सूच्यारूप (सूचीमुख), १२. पद्मकोष, १३. सर्पशीर्ष, १४. मृगशीर्ष, १५. कांगूल (ताम्बूल), १६. अलपद्म, १७. चतुर, १८. भ्रमर, १९. हंसास्य (हंसमुख), २०. हंसपक्ष, २१. सन्दंश, २२. मुकुल २३. ऊर्णनाभ तथा २४. ताम्रचूड़। अभिनय में इन चौबीस प्रकारों का 'असंयुतहस्त' के द्वारा प्रयोग किया जाता है।

संयुतहस्त में दोनों को मिलाकर अभिनय किया जाता है। इसके तेरह भेद होते हैं—१. अञ्जलि, २. कपोत, ३. कर्कट, ४. स्वस्तिक, ५. कटकावर्धमान, ६. उत्सङ्ग, ७. निषध, ८. दोला, ९. पुष्पपुट (मकर), ११. गजदन्त, १२. अवहित्थ और १३. वर्धमान।

उरस् के पाँच भेद होते हैं—आभुग्न, निर्भुग्न, प्रकम्पित, उद्वाहित और सम। उदर के तीन भेद होते है—अनतिक्षाम, खल्व और पूर्ण। पार्श्व के कर्म पाँच होते हैं तथा जङ्घाओं के कर्म भी पाँच होते हैं।

अग्निपुराण में भृकुटिपात के सात भेद बताये गये हैं—पातन, उत्क्षेप, भ्रुकुटि, चतुर, कुञ्चित, रेचित और सहज; और छत्तीस प्रकार की दृष्टियाँ बताई गयी हैं। इनमें रसजा दृष्टि आठ प्रकार की, स्थायीभावजा दृष्टि आठ प्रकार की और संचारीभाव की दृष्टियाँ बीस प्रकार की होती हैं। इन दृष्टियों के द्वारा विविध रसों का उन्मेष होता है। अग्निपुराण के अनुसार तारका के कर्म नौ प्रकार के, नासिका के छः प्रकार के और निःश्वास की गति नौ प्रकार की होती है। ओठ के कर्म छः प्रकार के और चिबुक के कार्य सात प्रकार के होते हैं। इस प्रकार आङ्गिक अभिनय का विवेचन किया गया है। स्तम्भादि सात्त्विक भावों का प्रदर्शन सात्त्विक अभिनय कहलाता है। इसके

अन्तर्गत नायक-नायिकाओं के शृङ्गार सम्बन्धि हाव-भावादि का निरूपण होता है। वाणी के द्वारा किया गया अभिनय वाचिक अभिनय कहलाता है। वाचिक अभिनय को नाट्य का शरीर कहा गया है। वाचिक अभिनय का सम्बन्ध वाणी से होता है। आहार्य अभिनय बुद्धयारम्भ होता है। वेशभूषाविन्यास और अङ्ग-रचना आदि 'आहार्य' अभिनय हैं। इसके द्वारा सामाजिकों के हृदय में रस का संचार किया जाता है।

नायक-नायिकादि विचार

नायक—अग्निपुराण के अनुसार नायक के चार भेद होते हैं—धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त। पुनः प्रत्येक के अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट और शठ ये चार भेद होते हैं। इस प्रकार अग्निपुराण के अनुसार नायक सोलह प्रकार के होते हैं।

नायक के सहायक—पीठमर्द नायक का कुशल सहायक होता है। विदूषक हास्यकारी अर्थात् हँसाने वाला नायक का मित्र होता है। विट श्रीमान् और तद्देशज सहायक होता है।

नायिका-भेद—अग्निपुराण के अनुसार नायिका के तीन भेद होते हैं—स्वकीया, परकीया और पुनर्भू। कुछ विद्वान् 'पुनर्भू' नायिका नहीं मानते हैं। उसके स्थान पर सामान्या नायिका मानते हैं। इस प्रकार उनके मतानुसार नायिका स्वकीया, परकीया और सामान्या भेद से तीन प्रकार की होती है। कुछ विद्वान् स्वकीया, परकीया, पुनर्भू और सामान्या इन चार प्रकार की नायिकाओं को स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार अवस्था-भेद से बाला, मुग्धा, अंकुरित यौवना, प्रौढ़ा, तरुणी और वृद्धा ये छः प्रकार की नायिकाएँ होती हैं। इनके अतिरिक्त शीलभेद से धीरा, अधीरा, प्रगल्भा आदि नायिकाएँ होती हैं। क्रियाभेद से नायिका के आठ भेद होते हैं—अभिसारिका, वासकसज्जा, उत्कण्ठिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, खण्डिता, स्वाधीनभर्तृका और प्रोषितभर्तृका। इस प्रकार नायिका अनेक प्रकार की हो सकती है।

ये नायक-नायिका आदि आलम्बन विभाव के अन्तर्गत परिगणित किये जाते हैं। ये रसानुभूति में सहायक होते हैं।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण

विष्णुधर्मोत्तरपुराण का परिचय

विष्णुधर्मोत्तर एक उपपुराण है। इसमें अनेक विषयों के प्रतिपादन के साथ नृत्य, गीत, वाद्य, वास्तु, मूर्ति, चित्र, नाट्य एवं काव्यशास्त्र आदि विषयों पर भी विचार किया गया है। यह साहित्य और कला के विशाल कोष के रूप में मान्य है। इस ग्रन्थ के तीन खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में २६९ अध्याय हैं। इन अध्यायों में पौराणिक विषयों का प्रतिपादन है। द्वितीय

खण्ड में १८३ अध्याय हैं, जिनमें मुख्य रूप से राजधर्म-विषयक सामग्री का विवेचन है। तृतीय खण्ड में ३५५ अध्याय हैं।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण के प्रारम्भ के ३५ अध्यायों में नाटचशास्त्र एवं काव्य शास्त्र विषयक सामग्री का विवेचन है। ३५ से ४३ अध्यायों में चित्रसूत्र, ४४ से ८५ तक मूर्त्तिकला तथा शेष ८६ अध्याय से आगे के अध्यायों में स्थापत्य कला पर विचार किया गया है। प्रथम अध्याय वज्र और मार्कण्डेय संवाद से प्रारम्भ होता है। काव्य, चित्र, मूर्त्ति और नाटचकला सम्बन्धी विवेचन 'चित्रसूत्र' नाम से अभिहित किया गया है। द्वितीय अध्याय में बताया गया है कि चित्रसूत्र ज्ञान के बिना मूर्त्तिकला समझ में नहीं आ सकती और नृत्य-शास्त्र के अध्ययन के बिना चित्रसूत्र समझ में नहीं आ सकता। वाद्य के बिना नृत्तशास्त्र का ज्ञान सम्भव नहीं है और गीत के बिना वाद्य का ज्ञान सम्भव नहीं है[1]।

'चित्रसूत्रं न जानाति यस्तु सम्यक् नराधिप।
प्रतिमालक्षणं वेत्तुं नाशक्यं तेन कर्हिचित्॥
विना तु नृत्तशास्त्रेण चित्रसूत्रं सुदुर्विदम्।
आतोद्यं यो न जानाति तस्य नृत्तं सुदुर्विदम्॥
आतोद्येन विना नृत्तं वर्तते न कथञ्चन।
न गीतेन विना शक्यं ज्ञातुमातोद्यमप्युत'॥

(विष्णुधर्मोत्तरपुराण, द्वितीय अध्याय)

तृतीय एवं चतुर्थ अध्याय में छन्द एवं वाक्य की परीक्षा है। पञ्चम अध्याय में तन्त्र के गुण-दोष एवं षष्ठ अध्याय में तन्त्र-शुद्धि पर विचार किया गया है। सप्तम अध्याय में प्राकृत भाषा की चर्चा और ८ से १३ अध्याय में शब्दकोश एवं लिङ्गानुशासन का वर्णन है। १४वें अध्याय में अलङ्कारों के नाम एवं परिभाषाएँ हैं। १५वें अध्याय में काव्य का लक्षण और १६वें में प्रहेलिकाओं का विवेचन है। १७वें अध्याय में रूपकों का विवेचन तथा नायिका-भेद, १८वें अध्याय में गीत, स्वर, मूर्च्छना आदि, १९वें अध्याय में वाद्य, अङ्गहार, करण, वृत्ति एवं प्रवृत्तियों तथा २०वें अध्याय में नाटच एवं अभिनय का विवेचन है। २१ से २३ अध्यायों में शय्या, आसन, स्थानक आदि और २४–२५ अध्यायों में आङ्गिक अभिनय का प्रतिपादन है। २६वें अध्याय में हस्ताभिनय, २७वें में आहार्याभिनय और २८वें में सामान्याभिनय का विवेचन है। २९वें अध्याय में गतिप्रचार, ३०वें अध्याय में रस, ३१वें में भावों का वर्णन है। ३२वें अध्याय में हस्तमुद्राओं, ३३वें में नृत्यशास्त्र और ३४वें अध्याय में नृत्तसूत्रों का विवेचन किया गया है।

हेमाद्रि कृत 'व्रतखण्ड' में विष्णुधर्मोत्तरपुराण के तृतीय खण्ड से अनेक उद्धरण उद्धृत हैं। इसके अतिरिक्त भोजकृत 'युक्तिकल्पतरु' में विष्णुधर्मोत्तर-

पुराण के रत्न-विषयक छः श्लोक उद्धृत हैं। भोज का समय ग्यारहवीं शताब्दी माना जाता है। अल्बेरुनी ने (१०३० ई०) अपने इतिहास में विष्णुधर्मोत्तर-पुराण के लगभग तीस पाठ उद्धृत किये हैं। इससे स्पष्ट है कि दसवीं शताब्दी में विष्णुधर्मोत्तरपुराण एक प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में मान्य हो चुका था[१]। इनके अतिरिक्त विष्णुधर्मोत्तरपुराण का **'सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वं यद् वृत्तं समुदाहृतम्'** यह श्लोकार्द्ध कुमारिलभट्ट के तन्त्रवार्त्तिक में भी मिलता है[२]। इससे प्रतीत होता है कि विष्णुधर्मोत्तर का समय पाँचवीं शताब्दी के बाद तथा दशवीं शताब्दी के पूर्व होना चाहिए।

म० म० काणे महोदय ने विष्णुधर्मोत्तर को भट्टि से पूर्वकालीन माना है। भट्टि का समय सातवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है,[३] अतः विष्णु-धर्मोत्तर का समय इसके पूर्व अर्थात् षष्ठ शताब्दी होना चाहिए। भट्टि, दण्डी, भामह, वामन, उद्भट आदि आचार्यों ने अलङ्कारों की संख्या ३० से ४० के मध्य मानी है। जब कि विष्णुधर्मोत्तर में केवल सतरह अलङ्कारों की चर्चा की गयी है। इनके पूर्व के आचार्यों ने केवल चार, पाँच, आठ अलङ्कारों का वर्णन किया है[४]। इस आधार पर विष्णुधर्मोत्तर का समय भामह, दण्डी आदि आचार्यों के पूर्व मानना चाहिए।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण में नाटचशास्त्र, मनुस्मृति, नारदस्मृति और गीता को उद्धृत किया गया है। इनके अतिरिक्त विष्णुधर्मोत्तर में वराहमिहिरकृत 'बृहद्योगयात्रा' से उद्धरण उद्धृत हैं। इसके अतिरिक्त विष्णुधर्मोत्तर के द्वितीय भाग के श्लोक बृहत्संहिता में उसी प्रकार मिलते हैं[५]। अतः विष्णुधर्मोत्तर का समय षष्ठ शताब्दी का उत्तरार्द्ध मानना चाहिए।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण का रचना-काल

विष्णुधर्मोत्तरपुराण के रचनाकाल के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मत—डॉ० आर० के० भाण्डारकर का कहना है कि विष्णुधर्मोत्तरपुराण का समय ३०० ई० के पहले का नहीं माना जा सकता। व्हूलर विष्णुधर्मोत्तर का रचनाकाल ५०० ई० मानते हैं। डॉ० सुशील कुमार दे विष्णुधर्मोत्तरपुराण का रचना-काल ४०० ई० के बाद और ५०० ई० के पूर्व निर्धारित करते हैं[६]। महामहोपाध्याय काणे महोदय विष्णुधर्मोत्तरपुराण के तृतीय खण्ड का

१. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (काणे) पृ० ८७–८८।
२. वही पृ० ८७।
३. वही पृ० ९५।
४. वही पृ० ८९–९०।
५. वही पृ० ९०।
६. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (दे) पृ० ९०।

रचनाकाल ५७५–६५० ई० के मध्य मानते हैं[1]। डॉ० प्रियबाला शाह ने विष्णुधर्मोत्तरपुराण का रचनाकाल पञ्चम शताब्दी माना है[2]। डॉ० पारसनाथ द्विवेदी ने अनेक प्रमाणों के आधार पर विष्णुधर्मोत्तरपुराण का समय ४०० से ५०० ई० के मध्य निर्धारित किया है[3]।

विष्णुधर्मोत्तर एवं नाटचशास्त्र––विष्णुधर्मोत्तरपुराण पर नाटचशास्त्र का पूर्ण प्रभाव परिलक्षित होता है। दोनों में वर्णित विषयों की तुलना करने पर ज्ञात होता है कि विष्णुधर्मोत्तरपुराण बहुत परवर्त्ती काल की रचना है। नाटचशास्त्र में रसों की संख्या आठ बतायी गयी है, जब कि विष्णुधर्मोत्तरपुराण में रस की संख्या नौ बतायी गयी है। इसी प्रकार नाटचशास्त्र में रूपकों की संख्या दस निर्दिष्ट है, जब कि विष्णुधर्मोत्तरपुराण में बारह रूपक बताये गये हैं। नाटचशास्त्र में पाँच अलङ्कार वर्णित हैं और विष्णुधर्मोत्तरपुराण में अलङ्कारों की संख्या सतरह निर्दिष्ट है[4]। इस प्रकार विकास की दृष्टि से भी विष्णुधर्मोत्तरपुराण की रचना परवर्त्ती काल की प्रतीत होती है।

बल्लालसेन ने दानसागर में विष्णुधर्मोत्तरपुराण के तृतीय खण्ड से अनेक श्लोकों को उद्धृत किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने दानसागर की प्रस्तावना में लिखा है कि उनका ग्रन्थ विष्णुधर्मोत्तरपुराण तथा अन्य पुराणों पर आधारित है। दानसागर की रचना ११६९ ई० में हुई है[5]। अतः विष्णुधर्मोत्तरपुराण की रचना इसके बहुत पहले की होनी चाहिए।

विष्णुधर्मोत्तर एवं अग्निपुराण—विष्णुधर्मोत्तर और अग्निपुराण दोनों पौराणिक ग्रन्थ हैं और दोनों ही विश्वकोष के रूप में मान्य हैं। किन्तु विष्णुधर्मोत्तर एक उपपुराण है और अग्निपुराण महापुराण है। इससे अग्निपुराण की ज्येष्ठता एवं श्रेष्ठता सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त दोनों के प्रतिपाद्य विषयों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि विष्णुधर्मोत्तर में बहुत से विषय अग्निपुराण से लिये गये हैं। जैसे अग्निपुराण में काव्य को शास्त्र और इतिहास से भिन्न बताया गया है, उसी प्रकार विष्णुधर्मोत्तर में भी काव्य को शास्त्र और इतिहास से भिन्न बताया गया है। इसके अतिरिक्त अग्निपुराण में यमक अलङ्कार का अनुप्रास के अन्तर्गत विवेचन किया गया है, जब कि विष्णुधर्मोत्तर में यमक को एक स्वतन्त्र अलङ्कार माना गया है। इसके अतिरिक्त विष्णुधर्मोत्तर

---

१. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (काणे) पृ० ९०।

२. विष्णुधर्मोत्तरपुराण की भूमिका (गायकवाड़) पृ० २६।

३. अग्निपुराणोक्तं काव्यालङ्कारशास्त्रम् (डॉ० पारसनाथ द्विवेदी), भूमिका पृ० २५।

४. भरत और भारतीय नाटचकला, पृ० ३५।

५. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (काणे) पृ० ८८।

में अग्निपुराण के अनुसार ही अनुप्रास एवं यमक अलङ्कारों का विवेचन है। दोनों की तुलनात्मक समीक्षा से यह सिद्ध होता है कि अग्निपुराण विष्णुधर्मोत्तर से प्राचीन है। अग्निपुराण का समय तृतीय-चतुर्थ शताब्दी के मध्य माना जाता है।[1] अतः विष्णुधर्मोत्तर का समय अग्निपुराण के बाद का होना चाहिए।

उपर्युक्त सभी मतों की समीक्षा करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकलता है कि विष्णुधर्मोत्तर का रचनाकाल नाट्यशास्त्र एवं अग्निपुराण के रचनाकाल के बाद और भामह-दण्डी के समय के पहले निर्धारित किया जा सकता है। इस प्रकार विष्णुधर्मोत्तर की रचना पञ्चम शताब्दी में हुई होगी।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण का रचयिता

विष्णुधर्मोत्तरपुराण का रचयिता कौन था? यह बताना बहुत कठिन है। परम्परा के अनुसार समस्त पुराणों के रचयिता व्यास माने जाते हैं, अतः विष्णुधर्मोत्तर के रचयिता भी व्यास ही होंगे। अल्बेरुनी ने अपने इतिहास में विष्णुधर्म और विष्णुधर्मोत्तर दोनों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार विष्णुधर्मोत्तरपुराण के रचयिता महर्षि व्यास हैं और विष्णुधर्म के रचयिता भास हैं। ये भास प्रसिद्ध नाटककार भास से भिन्न हो सकते हैं।

नाट्य-सिद्धान्त

रूपक-निरूपण—विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार रूपक के बारह भेद होते हैं—नाटक, प्रकरण, नाटिका, प्रकरणी, उत्सृष्टकाङ्क, भाण, ईहामृग, वीथी, डिम, समवकार, प्रहसन तथा व्यायोग[2]। विष्णुधर्मोत्तर में नाटिका और प्रकरणी को रूपक के अन्तर्गत माना है और अन्य आचार्य उन्हें उपरूपक मानते हैं। विष्णुधर्मोत्तर में नायिका के आठ प्रकार बताये गये हैं—वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, स्वाधीनभर्तृका, कलहान्तरिता, खण्डिता, विप्रलब्धा, प्रोषितभर्तृका और अभिसारिका[3]। इनके अतिरिक्त चार प्रकार के नायकों का निर्देश है—धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त।

नाट्य रस—विष्णुधर्मोत्तर में नौ नाट्य रस निर्दिष्ट हैं, जब कि भरत ने आठ नाट्य रस बताये हैं। विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार नौ नाट्य रस हैं—

> **'शृङ्गारहास्यकरुणवीररौद्रभयानकाः।**
> **बीभत्साद्भुतशान्ताख्या नव नाट्यरसाः स्मृताः'॥**

(विष्णुधर्मोत्तर, तृतीय खण्ड १७।६१)

---

१. अग्निपुराणोक्तं काव्यालङ्कारशास्त्रम्, भूमिका पृ० २५।

२. विष्णुधर्मोत्तर, तृतीय भाग, सप्तदश अध्याय।

३. वही ३।१७।५६–५९।

विष्णुधर्मोत्तर में अग्निपुराण के समान शृङ्गार, रौद्र, वीर और बीभत्स से क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक रसों की उत्पत्ति मानी गयी है। विष्णुधर्मोत्तर में शान्त को अलग एवं स्वतन्त्र रस माना गया है और वैराग्य से उसकी उत्पत्ति बतायी गयी है। विष्णुधर्मोत्तर के रस-विवेचन पर नाटचशास्त्र एवं अग्निपुराण का प्रभाव लक्षित होता है। विष्णुधर्मोत्तर में नाटच का मूल रस बताया गया है और रस का आश्रय नृत्त। विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार भाव उनचास हैं। अन्य आचार्यों ने भी उनचास भाव ही माने हैं।

अभिनय—विष्णुधर्मोत्तर में अभिनय के चार प्रकार निर्दिष्ट हैं—आङ्गिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक[1]। आङ्गिक अभिनय के अन्तर्गत शिरोऽभिनय, हस्ताभिनय, पादाभिनय, दृष्टचाभिनय आदि अभिनयों का विवेचन है। दृष्टचाभिनय उपाङ्गाभिनय है।

शिरोभिनय--विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार शिरोऽभिनय के तेरह भेद होते हैं--आकम्पित, कम्पित, धुत, विधुत, परिवाहित, उद्वाहित, अवधूत, अञ्चित, निकुञ्चित, परावृत्त, उत्क्षिप्त, अधोगत तथा परिलोलित। विष्णुधर्मोत्तर में ग्रीवाकर्म के सात भेद वर्णित हैं--अञ्चित, रेचित, मुक्त, विवृत, चतुर, प्रसारित और स्तब्ध। उरस् के पाँच भेद होते हैं--आभुग्न, निर्भुग्न, प्रकम्पित, उद्वाहित और सम। पार्श्व के कर्म पाँच होते हैं--नत, समुन्नत, प्रसारित, विवर्त्तित और अपसृत। उदर के तीन भेद--क्षाम, निम्न और पूर्ण। कटि के पाँच कर्म होते हैं--प्रकम्पिता, विच्छिन्ना, निवृत्ता, रेचिता और उद्वाहिता। उरु के पाँच कर्म होते हैं--कम्पन, वलन, स्तम्भन, उद्वर्त्तन तथा विवर्त्तन। जङ्घा के पाँच कर्म होते हैं--नत, क्षिप्त, आवर्त्तित, उद्वाहित और परिवृत्त। पादकर्म पाँच होते हैं--उद्घाटित, पर्ष्णिरेचितसञ्चर, अञ्चित, कुञ्चित और सम।

पादाभिनय--विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार एक पैर के सञ्चालन से किये जाने वाले अभिनय को 'चारी' कहते हैं। दोनों पैरों के सञ्चालन के द्वारा जो अभिनय किया जाता है उसे 'करण' कहते हैं और करणों के समायोग को 'खण्ड' कहते हैं। दो, तीन, चार खण्डों से युक्त अभिनय 'मण्डल' कहा जाता है। विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार हाथ और पैर की गतियों और स्थितियों को करण कहते हैं। दो नृत्तकरणों की एक नृत्तमातृका होती है। तीन करणों का योग एक कलापक, चार करणों का एक खण्डक और पाँच करणों का योग 'संघातक' कहलाता है। छः, सात, आठ और नौ करणों के योग से 'अङ्गहार' बनता है। विष्णुधर्मोत्तर में १०८ करण और ३६ अङ्गहारों का निर्देश है, जब कि

---

१. वाचिकश्च तथाहार्यस्त्वाङ्गिकस्सात्त्विकस्तथा।
चतुष्प्रकारोऽभिनयः कीर्त्तितो नाटचकोविदैः।।
(विष्णुधर्मोत्तरपुराण २।२७।१)

नाटचशास्त्र में ३२ अङ्गहार निर्दिष्ट हैं। इनके अतिरिक्त चार रेचक, दो चारी, महाचारी, दशमण्डल निर्दिष्ट हैं।

इनके अतिरिक्त विष्णुधर्मोत्तर में छः शय्यास्थान निर्दिष्ट हैं--सम, आकुञ्चितक, प्रसारित, विर्वात्तत, उद्वाहित और नत। इनके अतिरिक्त छः स्थानक बताये गये हैं--वैष्णव, समपाद, वैशाख, मण्डल, आलीढ और प्रत्यालीढ। विष्णुधर्मोत्तर में नौ रसदृष्टियाँ, नौ स्थायिभावदृष्टियाँ और अठारह सञ्चारिभावदृष्टियाँ परिगणित हैं। इस प्रकार कुल छत्तीस दृष्टियाँ होती हैं।

हस्ताभिनय--विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार बाईस असंयुतहस्त और तेरह संयुतहस्त होते हैं। पताक, त्रिपताक, कर्त्तरीमुख, अर्धचन्द्र, अराल, शुकतुण्ड, मुष्टि, शिखर, कपित्थ, खटकामुख, सूचीमुख, पद्मकोश, मृगशीर्ष, लाङ्गूल, सर्पशीष, कोलपद्म, चतुर, भ्रमर, हंसास्य, हंसपक्ष, संदश, मुकुल—ये बाईस असंयुतहस्त हैं; और अञ्जलि, कपोत, कर्कट, स्वस्तिक, खटकावर्धमान, उत्सङ्ग, निषध, दोल, पुष्पपुट, मकर, गजदन्त, अवहित्थ और वर्धमान—ये तेरह संयुतहस्त कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त खटकामुख, हंसपक्ष, उद्वृत्त, तल-मुख, अरालखटकामुख, आविद्ध, सूचीमुख, रेचित, अवहित्थ, नितम्ब, केशबन्ध, लता, करिहस्त, पक्षवञ्चितक, गरुड़पक्षक, दण्डपक्ष, ऊर्ध्वमण्डल, पार्श्वमण्डल, उरोमण्डल, स्वस्तिक, पद्मकोश, अलपल्लव, उल्बण, ललित, वलित, नृत्तहस्त हैं। इनके अतिरिक्त गतिप्रचार, मुद्राहस्त, रहस्यमुद्रा तथा नृत्तशास्त्र मुद्राओं का भी विवेचन किया गया है।

सङ्गीत-चर्चा--विष्णुधर्मोत्तरपुराण में गीत का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि गीत के तीन स्थान हैं--उरस्, कण्ठ और स्वर। इन्हीं से मन्द्र, मध्य, तार की उत्पत्ति होती है। तीन ग्राम हैं--षड्ज, मध्यम और गान्धार तथा सात स्वर हैं--षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद। इनके अतिरिक्त इक्कीस मूर्च्छनाएँ, उनचास तान, द्रुत-मध्य-विलम्बित तीन लय, ग्रह, अंश, तार, मन्द्र, न्यास, अपन्यास, अलपत्व, बहुत्व, षाडव तथा औडुवित—ये दस जातियाँ; प्रसन्नादि, प्रसन्नान्त, प्रसन्नाद्यन्त और प्रसन्नमध्य चार अलङ्कार; अपरान्तक, उल्लोप्य, मद्रक, प्रकरी, उवैणक, रोविन्दक और उत्तम (उत्तर)—ये सात गीतियाँ आदि का विवेचन किया गया है।

आतोद्य-विधान--विष्णुधर्मोत्तरपुराण में चार प्रकार के आतोद्य निर्दिष्ट हैं--तत, सुषिर, घन और अवनद्ध। विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार तीन वृत्तियाँ होती हैं--चित्रा, वृत्ति और दक्षिणा। इनके अतिरिक्त द्रुत, मध्य, विलम्बित ये तीन लय, कुलक-छेद्यक दो प्रकरण तथा क, ख, ग, घ, ट, ठ, ड, ढ, त, थ, द, ध, य, र, ल, ह—ये सोलह अक्षर आदि पर भी विचार किया गया है।

पाँच :

नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार

नाटचशास्त्र पर अनेक आचार्यों ने व्याख्याएँ लिखी हैं, किन्तु अभिनवगुप्त की अभिनवभारती को छोड़कर अन्य कोई भी व्याख्या सम्प्रति उपलब्ध नहीं है। अभिनवगुप्त के पहले भी नाटचशास्त्र के अनेक व्याख्याकार हुए हैं, जिनका उल्लेख उन्होंने अपनी अभिनवभारती में किया है। उनमें भट्टलोल्लट, शङ्कुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त इन चार व्याख्याकारों का उल्लेख मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में किया है। शार्ङ्गदेव ने सङ्गीतरत्नाकार में निम्नलिखित व्याख्याकारों का उल्लेख किया है––

'व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भटशङ्कुकाः।
भट्टाभिनवगुप्तश्च श्रीमत्कीर्त्तिधरोऽपरः' ॥

इस प्रकार शाङ्र्गदेव के अनुसार लोल्लट, उद्भट, शङ्कुक, अभिनवगुप्त और कीर्त्तिधर ये नाटचशास्त्र के प्रमुख व्याख्याकार हैं। इनके अतिरिक्त अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में भट्टयन्त्र, शाकलीगर्भ, मातृगुप्त, हर्ष, कीर्त्तिधर, राहुल, नान्यदेव, भट्टतौत, घण्टक आदि आचार्यों के उद्धरण उद्धृत किये हैं। इससे ज्ञात होता है कि नाटचशास्त्र पर अनेक व्याख्याकारों ने व्याख्याएँ लिखी हैं। इन आचार्यों के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता कि इन्होंने सम्पूर्ण नाटचशास्त्र पर टीकाएँ लिखी थीं अथवा नाटचशास्त्र के कुछ अंश पर टीकाएँ लिखी थीं।

मातृगुप्त

जीवन-परिचय—राजतरङ्गिणी में प्राप्त विवरण के अनुसार मातृगुप्त हर्षविक्रमादित्य का राजकवि तथा भर्तृमेण्ठ का समकालीन था। हर्षविक्रम के पश्चात् उसने पाँच वर्ष तक काश्मीर पर शासन किया था और जीवन के अन्तिम समय में वह वाराणसी में जाकर संन्यासी हो गया था[1]। डॉ० भाऊ दाजी सदृश विद्वान् मातृगुप्त और कालिदास को एक ही व्यक्ति मानते हैं, किन्तु उन दोनों को एक व्यक्ति मानना नितान्त अनैतिहासिक है और विद्वानों द्वारा मान्य नहीं है[2]।

सिल्वा लेवी के अनुसार मातृगुप्त ने भरत-नाटचशास्त्र पर एक व्याख्यान

---

१. राजतरङ्गिणी (कल्हण) ३।२६०–२६२, ३।३२०।
२. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (काणे) पृ० ६८।

अथवा टीका की रचना की थी[१]। राजतरङ्गिणी के अनुसार मातृगुप्त कवि, नाट्य-विद्या का आचार्य एवं सङ्गीतशास्त्र का रचयिता था। उसने नाट्य-शास्त्र पर टीका लिखी थी, यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता; किन्तु राघवभट्ट एवं वासुदेव आदि लेखकों के श्लोकबद्ध उद्धरणों से ज्ञात होता है कि मातृगुप्त ने नाट्य-विद्या पर स्वतन्त्र श्लोकबद्ध ग्रन्थ लिखा था। उस ग्रन्थ में उन्होंने सम्भवतः भरत के नाट्य-सिद्धान्तों की टीका की थी।

सुन्दरमिश्र ने नाट्यप्रदीप में भरतोक्त नान्दी की व्याख्या करते हुए मातृगुप्त का उल्लेख नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार के रूप में किया है[२]। ऐसा प्रतीत होता है कि मातृगुप्त ने अपने ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर भरत के सिद्धान्त की गद्य में व्याख्या की होगी और सुन्दर मिश्र ने उन्हें व्याख्याकार मान लिया होगा। मातृगुप्त नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार थे अथवा उन्होंने नाट्य एवं सङ्गीतशास्त्र पर किसी ग्रन्थ की रचना की थी, निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता।

सिद्धान्त––भारतीय साहित्य में मातृगुप्त का उल्लेख अनेक प्रसङ्गों में प्राप्त होता है। प्राचीन आचार्य शारदातनय ने भावप्रकाशन में नाटक की कथावस्तु में उत्पाद्य का महत्त्व बताते हुए मातृगुप्त का मत प्रस्तुत किया है कि नाटक का इतिवृत्त पूर्ववृत्त पर आधारित होना चाहिए, किन्तु उसमें उत्पाद्य (कविकल्पित) इतिवृत्त का होना भी आवश्यक है[3]। इनके अतिरिक्त सागरनन्दी ने नाटकलक्षणरत्नकोश में मातृगुप्त के मतों को उद्धृत किया है[४]। कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवित में मातृगुप्त को एक महाकवि और उनकी कविता को अत्यन्त सुकुमार एवं विचित्र बताया है[५]। इनके अतिरिक्त क्षेमेन्द्र ने औचित्यविचारचर्चा में मातृगुप्त के श्लोकों को उद्धृत किया है[६]। अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में वीणा-वादन के पुष्प नामक भेद के विवेचन के प्रसङ्ग में मातृगुप्त का मत उद्धृत किया है[७]। इसके

---

१. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (दे), पृ० ३३।

२. 'अस्य व्याख्याने मातृगुप्ताचार्यैः षोडशाङ्घ्रिपदापीयमुदाहृता'।
(संस्कृतकाव्यशास्त्र का इतिहास (काणे), पृ० ६८)

३. 'पूर्ववृत्ताश्रयमपि किञ्चिदुत्पाद्यवस्तु च।
विधेयं नाटकमिति मातृगुप्तेन भाषितम्॥ (भावप्रकाशन, पृ० २३४)

४. नाटकलक्षणरत्नकोश, पृ० १४, २०, २१, २३, ५०।

५. वक्रोक्तिजीवितम्, पृ० ५२।

६. औचित्यविचारचर्चा (क्षेमेन्द्र), पृ० १४२।

७. यथोक्तं भट्टमातृगुप्तेन–'पुष्पं च जनयत्येको भूयः स्पर्शात् स्वरान्वितः'।
(अभिनवभारती, भाग ४ पृ० ९९)

अतिरिक्त अभिनव ने अन्य प्रसङ्गों में भी मातृगुप्त का मत उद्धृत किया है[१]। राघवभट्ट ने अभिज्ञानशाकुन्तल की 'अर्थद्योतनिका' टीका में मातृगुप्त के अनेक श्लोकों को उद्धृत किया है। सूत्रधार, नान्दी, नाटक, यवनिका, बीज, भूषण, सेनापति आदि के लक्षणों तथा पताकास्थानक, हसित, स्मित, कञ्चुकी, प्रतीहारी आदि पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या के प्रसङ्ग में मातृगुप्त के अनेक उद्धरण उद्धृत किये गये हैं[२]। इससे प्रतीत होता है कि मातृगुप्त स्वतन्त्र नाटचग्रन्थकार थे।

उपर्युक्त विवरणों से ज्ञात होता है कि मातृगुप्त का समय सातवीं शती के पूर्व रहा होगा। म० म० काणे ने राजतरङ्गिणी के आधार पर मातृगुप्त का समय सप्तम शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना है[3]। डॉ० सुशीलकुमार दे ने मातृगुप्त का समय सप्तम शताब्दी माना है[४]। राजतरङ्गिणी में मातृगुप्त को हर्षविक्रमादित्य तथा भर्तृमेण्ठ का समकालीन बताया गया है। राजतरङ्गिणी में वर्णित मातृगुप्त यदि एक ही हैं तो मातृगुप्त का समय पञ्चम शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जा सकता है। क्योंकि मातृगुप्त ने पञ्चम शताब्दी के पूर्वार्द्ध में काश्मीर पर राज्य किया था[५]। इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर मातृगुप्त का समय पञ्चम शताब्दी का पूर्वार्द्ध मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

सुबन्धु

शारदातनय ने भावप्रकाशन में सुबन्धु को नाटचशास्त्र का लेखक बताया है। अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में सुबन्धु और उनके 'वासवदत्तानाटचधार' तथा 'वासवदत्तानृत्तधार' का उल्लेख किया है[१]। प्रतीत होता है कि यह सुबन्धुकृत नाटक था। इसके अतिरिक्त 'वासवदत्ता' का रचयिता सुबन्धु एक महाकवि था। किन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि नाटचशास्त्राचार्य सुबन्धु तथा नाटककार एवं गद्यकाव्यप्रणेता सुबन्धु एक ही व्यक्ति हैं। यदि नाटचाचार्य सुबन्धु तथा वासवदत्ता के लेखक कवि सुबन्धु को एक ही व्यक्ति मान लिया जाय तो सुबन्धु का समय पञ्चम शताब्दी माना जा सकता है।

शारदातनय के अनुसार सुबन्धु नाटचशास्त्र का लेखक था। उसने अपने

---

१. अभिनवभारती, भाग ४ पृ० १२, २१, ४३।

२. अभिज्ञानशाकुन्तल की टीका (अर्थद्योतनिका) पृ० ५, ७, ८, ९, १३, १५, २०, १५६, १५९, १६२।

३. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (काणे), पृ० ६८।

४. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (दे), पृ० ३३।

५. संस्कृत साहित्य का इतिहास।

६. अभिनवभारती, भाग ३ पृ० १७२ तथा भाग २ पृष्ठ २४७।

ग्रन्थ में नाटक के पाँच प्रकारों का प्रतिपादन किया है—पूर्ण, प्रशान्त, भास्वर, ललित तथा समग्र[1]। सुबन्धु की यह मौलिक विचारधारा थी। किन्तु उनका यह मत लोकप्रिय नहीं हो सका।

वार्त्तिककार हर्ष

जीवनवृत्त—हर्ष या श्रीहर्ष वार्त्तिककार के रूप में प्रसिद्ध थे। अभिनव गुप्त ने अभिनवभारती में कहीं हर्ष, कहीं श्रीहर्ष, कहीं वार्त्तिककृत् या वार्त्तिककार के रूप में उनका अनेक बार उल्लेख किया है। शारदातनय ने भावप्रकाशन में 'तोटक' के प्रसङ्ग में हर्ष के मत का उल्लेख किया है[2]। सागरनन्दी ने नाटकलक्षणरत्नकोश में हर्ष का 'श्रीहर्षविक्रमनराधिप' के रूप में उल्लेख किया है[3]। कल्हण की राजतरङ्गिणी में हर्षविक्रमादित्य का उल्लेख है, जिसने मातृगुप्त नामक कवि को राजसिंहासन पर प्रतिष्ठित किया था[4]। सम्भव है यही हर्षविक्रमादित्य हर्षवार्त्तिक के रचयिता रहे हों। यदि वार्तिककार हर्ष और हर्षविक्रमादित्य एक ही व्यक्ति हैं तो मातृगुप्त का समकालीन होने के कारण इनका समय पञ्चम शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जा सकता है।

अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में अनेक प्रसङ्गों में हर्ष का मत उनके पद्यमय वार्त्तिकों के साथ प्रस्तुत किया है। इनमें बहुत से वार्त्तिक खण्डित और अस्पष्ट हैं। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि हर्ष ने नाटचशास्त्र के सभी अध्यायों पर वार्त्तिक लिखा था। प्रो० रामकृष्ण कवि के अनुसार अङ्गहारों पर खण्डित वार्त्तिक के कुछ अंश प्राप्त हो सके हैं[5]। किन्तु डॉ० राघवन् का कथन है कि हर्ष ने सम्पूर्ण नाटचशास्त्र पर वार्त्तिक नहीं लिखा था। क्योंकि अभिनवभारती में छठे अध्याय के बाद वार्त्तिक का कोई अंश प्राप्त नहीं है[6]। किन्तु डॉ० राघवन् का यह मत स्वीकार्य नहीं है; क्योंकि

---

१. सुबन्धुर्नाटकस्यापि लक्षणं प्राह पञ्चधा।
पूर्णं चैव प्रशान्तं च भास्वरं ललितं तथा।
समग्रमपि विज्ञेया नाटके पञ्च जातयः॥
(भावप्रकाशन : शारदातनय, पृ० २३८)

२. तथैव त्रोटकं भेदो नाटकस्येति हर्षवाक्। (भावप्रकाशन, पृ० २३८)

३. श्रीहर्षविक्रमनराधिप···(नाटकलक्षणरत्नकोश, पृ० ३०६)

४. राजतरङ्गिणी (कल्हण) ३।२६०, २६२, ३२०।

5. A large fragment of Vartika on angaharas of about 2000 granthas recently acquired will be published as an appendix. (नाटचशास्त्र : गायकवाड, भाग २ भूमिका पृ० २३)

६. जर्नल् आफ ओरियण्टल रिसर्च, मद्रास, भाग ६ पृ० २०५।

अभिनवभारती टीका भी सम्पूर्ण नाटचशास्त्र पर उपलब्ध नहीं है और यह भी सिद्ध नहीं होता कि नाटचशास्त्र के अन्य अध्यायों पर वार्त्तिक नहीं लिखा गया था। दूसरे पूरा वार्त्तिक भी उपलब्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त शारदातनय ने त्रोटक के प्रसङ्ग में तथा सागरनन्दी ने नाटकलक्षणरत्नकोश में वार्त्तिककार हर्ष का उल्लेख किया है। डॉ० शङ्करन् ने वार्त्तिककार हर्ष और कन्नौज के सम्राट् हर्षवर्धन को एक ही व्यक्ति माना है[1], किन्तु उनका यह मत समीचीन नहीं प्रतीत होता।

हर्ष की मान्यताएँ--अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती के प्रथम अध्याय में 'नेपथ्यभूमौ मित्रस्तु' की व्याख्या के प्रसङ्ग में लिखा है कि 'आदित्य के अर्थ में मित्र शब्द पुल्लिङ्ग है'। इससे वार्त्तिककार ने जो कहा है कि 'स्त्रियों की लज्जा के परिहार के लिए नपुंसक नट को नेपथ्यगृह में नियुक्त करना चाहिए' यह कथन अविचारपूर्ण है[2]। इसके अतिरिक्त अभिनव ने नाटचमण्डप में स्तम्भ-स्थापन के प्रसङ्ग में स्तम्भों की संख्या के विषय में वार्त्तिककार के कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं[3]। नाटच-नृत्त के निरूपण के प्रसङ्ग में अभिनवगुप्त वार्त्तिककार का मत उद्धृत करते हुए कहते हैं कि वार्त्तिककार श्रीहर्ष के अनुसार नाटच और नृत्त में कोई भेद नहीं है, क्योंकि वाच्य के अनुगत नाटच (अभिनय) में अर्थाभिव्यक्ति के लिए गात्र का विक्षेपण होता है और नृत्त में भी गात्र-विक्षेपण होता है। इस प्रकार दोनों में गात्र-विक्षेपण होने से समानता है तो नाटच और नृत्त में अन्तर क्या है?

वार्त्तिककृताऽप्युक्तम्—

'वाच्याऽनुगतेऽभिनये प्रतिपाद्येऽर्थे च गात्रविक्षेपैः।
उभयोरपि हि समाने को भेदो नृत्तनाट्ययोः' ॥

(अभिनवभारती, भाग १ पृ० १७२)

इसी प्रसङ्ग में आगे चलकर वार्त्तिककार कहते हैं कि 'इन राग काव्यों में अवान्तर वाक्यों के द्वारा अथवा सिंहादि के वर्णनों के द्वारा अथवा कहीं अर्थान्तरन्यास के द्वारा उपदेश दिया गया है।'

यद्वार्त्तिकम्—

'एवमवान्तरवाक्यैरुपदेशो रागदर्शनीयेषु।
सिंहादिवर्णनैर्वा क्वचिदप्यर्थान्तरन्यासात्' ॥

(अभिनवभारती, भाग १ पृ० १७४)

इस प्रकार स्वभाव और प्रयोजनों से भिन्न होने के कारण नृत्त नाटच से

---

१. हिस्ट्री आफ थ्योरी आफ रस (रससिद्धान्त का इतिहास), पृ० १३।
२. अभिनवभारती, भाग १ पृ० ३१।
३. वही, पृ० ६७–६८।

भिन्न नहीं है। हर्षवार्त्तिककार का कथन है कि नाटच और नृत्त में 'रस, भाव, दृष्टि, हस्त, शिर आदि अङ्गों का पूर्ण अथवा अपूर्ण रूप से अनुकरण किया जाता है तो तुल्य अनुकरण होने से नृत्त और नाटच में भेद कैसे होता है ?'

'रसभावदृष्टिहस्तशिर आद्यं यद्यङ्गं पूर्णं वा अपूर्णं वा कुत एव नाट्य-नृत्तयोर्भेदस्तुल्यानुकारत्वे--इति वर्षवार्त्तिकम्'।

(अभिनवभारती, भाग १ पृ० २०७)

अभिनवगुप्त ने पूर्वरङ्ग-निरूपण के प्रसङ्ग में भी हर्षवार्त्तिककार का मत उद्धृत किया है और एक गाथा भी उद्धृत की है—

'श्रीहर्षस्तु रङ्गशब्देन तौर्यत्रिकं ब्रुवन् नाट्याङ्गप्रयोगस्य तस्यैव पूर्वरङ्गतां मन्यमानः पूर्वश्चासौ रङ्ग इति समासममंस्त । यदाह—

'दृष्टा येऽवस्थार्थे नाट्ये रङ्गाय पादभागाः स्युः ।
पूर्वं त एव तु यस्मिन् शुद्धाः स्युः पूर्वरङ्गोऽसौ ॥' इत्यादि

(अभिनवभारती, भाग १ पृ० २०९)

इस प्रकार श्रीहर्ष ने रङ्ग को तौर्यत्रिक का पर्याय माना है।

अभिनवगुप्त ने पूर्वरङ्ग के अङ्गों के वर्णन के प्रसङ्ग में वार्त्तिक का एक खण्डित गद्यांश उद्धृत किया है[1]। इसके अतिरिक्त पूर्वरङ्ग की प्रस्तावना के प्रसङ्ग में भी श्रीहर्ष का मत उद्धृत किया है[2]। इसी प्रकार वीणा-वाद्य के दशविध धातु अर्थात् वादन प्रकार के सम्बन्ध में अभिनव ने श्रीहर्ष का निम्न-लिखित उद्धरण उद्धृत किया है—

'अत एव श्रीहर्षेण अङ्गनासमुचितं वाद्यमित्याशयेन व्यक्तिर्व्यञ्जनधातूनां दशविधेत्यत्र प्रलब्धात्मनेत्युक्तम् ॥'

(अभिनवभारती, भाग ४ पृ० १०२)

इस प्रकार उपर्युक्त विवरणों से ज्ञात होता है कि श्रीहर्ष ने नाटचशास्त्र पर वार्त्तिक लिखा था। उनका यह वार्त्तिक आर्या छन्द में लिखा गया था और बीच-बीच में गद्यभाग भी था तथा साहित्य से उद्धरण भी लिये गये थे। किन्तु उनका सम्पूर्ण वार्त्तिक आज उपलब्ध नहीं है।

कात्यायन

अभिनवगुप्त ने छन्दों के निरूपण के प्रसङ्ग में कात्यायन का उल्लेख किया

---

१. अभिनवभारती, भाग १ पृ० २६२।

२. यदाह श्रीहर्षः—अत एव हासो (भासो) नाम कविः कस्मिंश्चिन्नाटके 'दिवं यातश्चित्तज्वरेण कलिरित एवाभिवर्त्तते, अशक्यमस्य पुरतोऽवस्थातुम्' इत्यादि। (अभिनवभारती, भाग १ पृ० २५१)

है। इसके अतिरिक्त सागरनन्दी ने कात्यायन के मत को उद्धृत किया है[1] जिससे ज्ञात होता है कि कात्यायन ने नाटचशास्त्र तथा छन्दःशास्त्र पर ग्रन्थ लिखा होगा। अभिनव ने अभिनवभारती में छन्दों के सम्पत्, विराम, देवता, पाद, स्थान, अक्षर, वर्ण, स्वर, विधि और वृत्त—इन दस विधियों का उल्लेख किया है। इनमें स्थान दो प्रकार के होते हैं—शरीराश्रय से सम्भूत तथा दिगाश्रय से सम्भूत। इनमें गायत्रसंज्ञक छन्द शरीर के आश्रय से सम्भूत है और त्रिष्टुप्संज्ञक छन्द दिगाश्रय से सम्भूत है। जैसा कि कात्यायन का कथन है—

'वीरों के भुजदण्ड के वर्णन में 'स्रग्धरा' छन्द का प्रयोग करना चाहिए। नायिका के वर्णन में वसन्ततिलकादि का, प्राच्यदिगाश्रित व्यक्तियों के वर्णन में शार्दूलविक्रीडित का और दक्षिणदिगाश्रित के वर्णन में मन्दाक्रान्ता का प्रयोग करना चाहिए[2]।'

इस प्रकार कात्यायन नाटच एवं छन्दःशास्त्र के आचार्य थे। ये कात्यायन वैयाकरण कात्यायन से भिन्न प्रतीत होते हैं।

राहुल या राहल

जीवनवृत्त—राहुल एक बौद्ध आचार्य थे। अभिनवगुप्त आचार्य ने इनका उल्लेख किया है। सागरनन्दी ने नाटकलक्षणरत्नकोष में राहुल का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त शार्ङ्गदेव ने भी राहुल का उल्लेख किया है। अभिनवभारती में उल्लिखित 'यथोक्तं राहुलेन'; 'यथाह राहुलः' 'राहुलादिभिः' इत्यादि उद्धरणों से ज्ञात होता है कि राहुल ने नाटचशास्त्र पर कोई ग्रन्थ लिखा होगा। रामकृष्ण कवि के अनुसार राहुल ने नाटचशास्त्र पर वार्त्तिक रूप व्याख्या लिखी थी[3]। उनके ग्रन्थ का नाम 'भरतवार्त्तिक' है। अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने 'भरतवार्त्तिक' से श्लोकों को अपनी रचनाओं में उद्धृत किया है। रामकृष्ण कवि के अनुसार राहुल का समय ५०० ई० या उससे कुछ पूर्व होना चाहिए[4]। कविजी का कहना है कि राहुल बङ्गदेश के ताम्रलिप्ति स्थान पर निवास करते थे[5]।

---

१. अभिनवभारती, भाग २ पृ० २४५।

२. यथोक्तं कात्यायनेन—

> **वीरस्य भुजदण्डानां वर्णने स्रग्धरा भवेत्।**
> **नायिकावर्णने कार्यं वसन्ततिलकादिकम्॥**
> **शार्दूललीला प्राच्येषु मन्दाक्रान्ता च दक्षिणे॥**

३. भरतकोष, पृ० ५५२।

४. वही, भूमिका पृ० ३।

५. वही, पृ० ५५२।

मान्यताएँ—अभिनवगुप्त ने अभिनव-भारती में वैशाखरेचित करण के निरूपण के प्रसङ्ग में एक श्लोक उद्धृत किया है—

यथोक्तं राहुलकेन—

'ग्रीवायां करयोः कस्यां पादयोश्च पृथक् पृथक् । भ्रमणं रेचितं विद्यात् ।' इति[1] ।

इसके अतिरिक्त अभिनव नाटच और नृत्त की अभिन्नता के प्रतिपादन के प्रसङ्ग में राहुल का मत उद्धृत करते हुए कहते हैं कि दश रूपकों में अवान्तर विलक्षणता नहीं है । क्योंकि एक पात्र द्वारा अभिनेय नाटच में प्रियतम, सखी प्रभृति पात्रों के पास न होने पर भी उनकी उक्ति-प्रत्युक्ति आदि आकाशभाषित और भाण आदि रूपकों में रहता है । जैसा कि राहुल ने कहा है—

यथाह राहुलः—

'परोक्षेऽपि हि वक्तव्यो नार्या प्रत्यक्षवत् प्रियः ।
सखी च नाटचधर्मोऽयं भरतेनोदितं द्वयम्' ॥ इति ।[2]

अभिनव नारी के अलङ्कारों के निरूपण के प्रसङ्ग में राहुल के मत को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि ये अलङ्कार इतने ही हैं, ऐसा कोई नियम यहाँ विवक्षित नहीं है । इससे शाक्याचार्य, राहुल आदि आचार्यों द्वारा मौग्ध्य, मद, भाव, विकृत, परितपन आदि का नायिकाओं के अलङ्कारों के रूप में परिगणन विरुद्ध ही है[3] । इस प्रकार राहुल एक प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य थे । उन्होंने नाटच-शास्त्र पर व्याख्या लिखी थी ।

उद्भट (भट्टोद्भट)

जीवनवृत्त—नाटचशास्त्र के व्याख्याकारों में भट्ट उद्भट का नाम विशेष उल्लेखनीय है । इनका पूरा नाम भट्टोद्भट था और ये काश्मीर के निवासी एवं काश्मीर-नरेश जयादित्य के सभापण्डित थे । कल्हण की राजतरङ्गिणी में उद्भट का उल्लेख है, जो जयादित्य की सभा का राजपण्डित था और उनसे प्रतिदिन एक लाख दीनार वेतन पाता था—

विद्वान् दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः ।
भट्टोऽभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्त्तुः सभापतिः ॥

(राजतरङ्गिणी ४।४९५)

शाङ्‌र्गदेव ने संगीतरत्नाकर में नाटचशास्त्र के व्याख्याकार के रूप में

---

१. नाटचशास्त्र (गायकवाड़), भाग १ पृष्ठ ११३ ।

२. वही, पृ० १७० ।

३. न चैतावत एवैत इत्यत्र नियमो विवक्षितः । तेन मौग्ध्यमदभावविकृत-परितपनादीनामपि शाक्याचार्यराहुलादिभिरभिधानं विरुद्धमित्यलं बहुना ।

(अभिनवभारती, भाग ३ पृ० १६४)

उद्भट का उल्लेख किया है[1]। 'आनन्दवर्धन ने आदर के साथ उद्भट को उद्धृत किया है[2]। 'अभिनव गुप्त ने नाट्यशास्त्र के षष्ठ अध्याय में औद्भट-मत का उल्लेख किया है और भट्टलोल्लट ने उनके मत से अपनी असहमति प्रकट की है, इसका भी उल्लेख अभिनव ने किया है[3]। इसके अतिरिक्त अभिनवगुप्त का कथन है कि समवकार नामक रूपक की परिभाषा नाट्यशास्त्रोक्त पाठ से उद्भट का पाठ भिन्न है[4]। इनके अतिरिक्त अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र के छठें, नवें, उन्नीसवें एवं इक्कीसवें अध्यायों में भट्ट उद्भट के विचारों का विस्तार के साथ उल्लेख किया है। इससे प्रतीत होता है कि उद्भट ने सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र पर व्याख्या लिखी है, किन्तु वह आज उपलब्ध नहीं है।

समय--राजतरङ्गिणी के अनुसार उद्भट काश्मीर-नरेश जयादित्य के सभापण्डित थे। जयादित्य का समय ७७९-८१३ ई० के मध्य माना जाता है, अतः उद्भट का समय आठवीं शताब्दी का अन्तिभ भाग मानना चाहिए। इसके अतिरिक्त आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में उद्भट का अनेक बार उल्लेख किया है। कल्हण के अनुसार आनन्दवर्धन अवन्तिवर्मा के शासनकाल में हुआ था। अवन्तिवर्मा का समय ८५५-८८४ ई० के मध्य माना जाता है, अतः आनन्दवर्धन का समय इससे पूर्व नवम शताब्दी का पूर्वार्द्ध सिद्ध होता है[5]। इस आधार पर उद्भट का समय उनसे पूर्व अष्टम शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है।

म० म० काणे महोदय उद्भट का समय ८०० ई० के लगभग मानते हैं[6], विण्टरनिट्ज उद्भट का समय नवम शताब्दी का पूर्वार्द्ध स्वीकार करते हैं। उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर उद्भट का समय ८०० ई० के आस-पास मानना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

रचनाएँ--उद्भट ने सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र पर व्याख्या लिखी थी, किन्तु उनकी वह व्याख्या आज उपलब्ध नहीं है। केवल यत्र-तत्र उद्धरण मिलते हैं। इसके अतिरिक्त उद्भट के निम्नलिखिन तीन ग्रन्थ भी मिलते हैं—

१. काव्यालङ्कारसारसंग्रह।

२. भामह-विवरण (भामह के काव्यालङ्कार की टीका)।

---

१. संगीतरत्नाकर १।१।१९।

२. ध्वन्यालोक (निर्णयसागर), पृ० १०८।

३. अभिनवभारती, भाग १ पृष्ठ २६६।

४. समवकारे सम्यक्प्रयोज्यानि। नैव प्रयोज्यानीत्युद्भटः पठति स्रग्धरादीन्येव प्रयोज्यानि नाल्पाक्षराणीति स व्याचष्टे।

(अभिनवभारती, भाग २ पृ० ४४१)

५. डॉ० पारसनाथ द्विवेदी : काव्यप्रकाश-भूमिका।

६. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (काणे) पृ० ५९।

३. कुमारसम्भव (कालिदास के कुमारसम्भव के आधार पर लिखा गया एक लघु काव्य)।

उद्भट का सिद्धान्त--उद्भट ने भरतोक्त भारती, सात्त्वती, आरभटी और कैशिकी—इन चार वृत्तियों का खण्डन कर केवल तीन वृत्तियों को ही स्वीकार किया है। उद्भट के अनुसार तीन वृत्तियाँ इस प्रकार हैं—न्यायचेष्टा, अन्याय-चेष्टा और फलसंवित्ति[१]। उद्भट के इस कथन पर कि नाटक में सन्धियों एवं सन्ध्यङ्गों का प्रयोग भरत द्वारा परिगणित क्रमानुसार करना चाहिए, अभिनवगुप्त ने इस कथन का खण्डन किया है; क्योंकि यह आगम-विरुद्ध है[२]। हस्त-प्रचार के जिन पाँच प्रकारों का निर्देश अभिनव ने किया है, भट्टोद्भट द्वारा निर्दिष्ट पाँचों प्रकार उनसे भिन्न हैं[३]।

शकलीगर्भ तथा घण्टक

अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में शकलीगर्भ तथा घण्टक का नाटचशास्त्र के व्याख्याकार के रूप में उल्लेख किया है। प्रो० रामकृष्णकवि ने शकलीगर्भ को उद्भट से अभिन्न माना है, किन्तु इस मत को स्वीकार करने में कोई आधार नहीं है। क्योंकि यदि दोनों एक ही व्यक्ति होते तो अभिनव उद्भट को अनेक बार उद्धृत करते समय अन्य नाम को क्यों छोड़ देते? दूसरे वृत्तियों के सम्बन्ध में शकलीगर्भ का उद्भट से मतभेद है। क्योंकि उद्भट तीन वृत्तियाँ स्वीकार करते हैं, जब कि शकलीगर्भ के मतानुसार वृत्तियाँ पाँच होती हैं[४]। भरतोक्त चार वृत्तियाँ और आत्मसंवित्ति नामक पाँचवीं वृत्ति। इन्होंने उद्भट की फलसंवित्ति नामक वृत्ति के स्थान पर आत्मसंवित्ति नामक वृत्ति स्वीकार की है। किन्तु भट्टलोल्लट ने शकलीगर्भ के मत का खण्डन किया है। घण्टक ने नाटचशास्त्र के नायिकाभेद-प्रकरण पर व्याख्या लिखी है।

भट्टलोल्लट

भट्टलोल्लट का परिचय--भट्टलोल्लट नाटचशास्त्र के व्याख्याकार थे।

---

१. ······तस्माच्चेष्टात्मिका न्यायवृत्तिरन्यायवृत्तिर्वाग्रूपा तत्फलभूता फलसंवित्तिरिति त्रयमेव युक्तमिति भट्टोद्भटो मन्यते।

(अभिनवभारती, भाग २ पृ० ४५१)

२. पुनश्शब्दो विशेषद्योतकः, लक्षण एवायं क्रमो न निबन्धन इति यावत्। तेन यदुद्भटप्रभृतयोऽङ्गानां सन्धौ क्रमे च नियममाहुस्तद्युक्त्यागमविरुद्धमेव। (अभिनवभारती, भाग ३ पृ० ३६)

३. उत्तानोऽधस्तलस्त्र्यश्रोऽग्रगोऽधोमुख एव च।
पञ्च प्रचारा हस्तस्येति भट्टोद्भटः पठति॥

(अभिनवभारती, भाग २ पृ० ४५१)

४. अभिनवभारती, भाग २ पृ० ४५२।

आचार्य मम्मट ने इन्हें रससूत्र का व्याख्याता माना है। अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में षष्ठ, द्वादश, त्रयोदश, अष्टादश तथा एकविंश अध्यायों में भट्टलोल्लट का उल्लेख किया है। इन्होंने उद्भट-मत की आलोचना की है, अतः ये उद्भट के बाद हुए हैं। लोल्लट मीमांसक और रस के सम्बन्ध में उत्पत्तिवादी आचार्य हैं। भट्टलोल्लट के अनुसार रसों की संख्या आठ या नौ ही नहीं है, अपितु रस अनेक हैं,[१] किन्तु अभिनव ने उनके मत का खण्डन किया है। अभिनवगुप्त ने नाटिका के सम्बन्ध में कहा है कि लोल्लट के मत से नाटिका षट्पदा होती है और शङ्कुक के मत से अष्टपदा[२]। इसी प्रकार अभिनवभारती में ध्रुवताल के सम्बन्ध में लोल्लट के मत का उल्लेख है[३]। इससे स्पष्ट होता है कि लोल्लट ने नाटचशास्त्र के कुछ अध्यायों की व्याख्या लिखी है।

हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में भट्टलोल्लट के दो श्लोकों को उद्धृत किया है[४]। माणिक्यचन्द्र ने काव्यप्रकाश की संकेत टीका में लोल्लट का उल्लेख किया है[५]। डॉ० राघवन् के अनुसार ये अपराजित के पुत्र थे। इनका दूसरा नाम 'अपाराजिति' था, क्योंकि राजशेखर ने काव्यमीमांसा में अपाराजिति के नाम से उद्धरण उद्धृत किया है[६]। इस प्रकार भट्टलोल्लट काश्मीर के निवासी नाटचशास्त्र के व्याख्याकार आचार्य थे। भट्टलोल्लट उद्भट के परवर्त्ती आचार्य थे। उद्भट का समय ८१३ ई० के पूर्व माना जाता है, अतः भट्टलोल्लट का समय उसके बाद ८०० से ८४० ई० के मध्य होना चाहिए।

भट्टलोल्लट का रस-सिद्धान्त--भट्टलोल्लट मीमांसक और अभिधावादी आचार्य थे। वे अभिधाशक्ति को ही काव्यार्थ का साधन मानते हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार धनुर्धर द्वारा छोड़ा गया बाण कवच का भेदन कर फिर शरीर में प्रवेश कर, मर्मस्थल को विदीर्ण कर प्राण का अपहरण कर लेता है, उसी प्रकार सुकवि द्वारा प्रयुक्त एक ही शब्द अभिधा-व्यापार के द्वारा पहले अभिधेय अर्थ का बोध कराकर फिर विवक्षित अर्थ लक्ष्य अथवा व्यङ्ग्यार्थ का बोध कराता है। लोल्लट दीर्घदीर्घतरव्यापारवादी आचार्य हैं। उनका यह दीर्घदीर्घतर व्यापार दूरगामी होता है अर्थात् उनके मतानुसार एक ही अभिधा शक्ति के द्वारा वाच्य, लक्ष्य एवं व्यङ्ग्य तीनों का बोध होता है[७]।

---

१. अभिनवभारती, भाग १ पृष्ठ २११।

२. वही, भाग २ पृष्ठ ४३६।

३. वही, भाग २ पृष्ठ १९६।

४. काव्यानुशासन ५।२१५।

५. न वेत्ति यस्य गाम्भीर्यं गिरितुङ्गोऽपि लोल्लटः।

(काव्यप्रकाश — संकेतटीका, पृ० १४७)

६. काव्यमीमांसा (राजशेखर), पृ० ४५।

७. भट्टलोल्लट के रस-सिद्धान्त की विशेष जानकारी के लिए लेखक

भट्टलोल्लट उत्पत्तिवादी आचार्य हैं। उन्होंने भरत के रससूत्र पर व्याख्या लिखी है। उनके द्वारा प्रतिपादित रस-सिद्धान्त परम्परागत प्रतीत होता है, जिसे भट्टलोल्लट ने सुव्यवस्थित किया है। उन्होंने भरतसूत्र के 'संयोग' पद का अर्थ कार्य-कारणभाव सम्बन्ध और 'निष्पत्ति' का अर्थ 'उत्पत्ति' माना है। उनके अनुसार विभाव, अनुभाव, सञ्चारीभाव के संयोग अर्थात् कार्य-कारणभाव सम्बन्ध से रस की निष्पत्ति (उत्पत्ति) होती है। उनका कहना है कि जिस प्रकार रज्जु को देखकर सर्प न होने पर भी सर्प समझ लेने से भय का उदय होता है, उसी प्रकार राम की सीता-विषयक रति विद्यमान न होने पर भी नट की निपुणता से नट में प्रतीत होती हुई सहृदयों के हृदय में चमत्कार को अर्पित करती हुई 'रस' की पदवी को प्राप्त होती है[1]। इस प्रकार भट्ट लोल्लट के अनुसार कार्य-कारणभाव सम्बन्ध से स्थायीभाव रस रूप में उत्पन्न होता है। उनका कहना है कि रस की स्थिति रामादि अनुकार्यों में होती है, किन्तु गौण रूप से अनुकर्त्ता नट में भी उसकी प्रतीति होती है। गोविन्द ठक्कुर के अनुसार नट में अनुकार्य की तुल्यता के अनुसन्धान के कारण सामाजिक अनुकर्त्ता नट में अनुकार्य रामादि का आरोप कर लेता है। इसीलिए इस मत को 'आरोपवाद' भी कहा जाता है।

भट्टलोल्लट के अनुसार रसों की संख्या आठ या नौ ही नहीं होती, बल्कि इसके और भेद भी हो सकते हैं। अभिनव ने इनके मत का खण्डन किया है। अभिनव के अनुसार भट्टलोल्लट ने नाटिका को 'षट्पदा' कहा है। इसी प्रकार ध्रुवताल के सम्बन्ध में भी लोल्लट के मत का उल्लेख है।

श्रीशङ्कुक

जीवनवृत्त—श्रीशङ्कुक अनुमितिवादी आचार्य हैं। इनका मत न्याय-सिद्धान्त का अनुसरण करता है। इन्होंने भट्टलोल्लट के रस-सिद्धान्त की आलोचना की है और अपने 'अनुमितिवाद' सिद्धान्त की स्थापना की है। अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में शङ्कुक के मत का अनेक बार उल्लेख किया है। अभिनवगुप्त और मम्मट के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि शङ्कुक ने भरत के रससूत्र पर व्याख्या लिखी थी, किन्तु उनकी वह व्याख्या आज उपलब्ध नहीं है।

डॉ० पारसनाथ द्विवेदी कृत काव्यप्रकाश की हिन्दी व्याख्या चतुर्थ उल्लास में देखिए।

१. यथा असत्यपि सर्पे सर्पतयाऽवलोकिताद् दाम्नोऽपि भीतिरुदेति, तथा सीताविषयिणी अनुरागरूपा रामरतिरविद्यमानाऽपि नर्तके नाट्यनैपुण्येन तस्मिन् स्थितेव प्रतीयमाना सहृदयहृदये चमत्कारमर्पयन्त्येव रसपदवीमारोहति।

(वामनाचार्य : काव्यप्रकाश, पृ० ८८)

श्रीशङ्कुक का समय—शार्ङ्गधरपद्धति और सूक्तिमुक्तावली में शङ्कुक को बाणभट्ट के समकालीन मयूरशतक के रचयिता मयूर का पुत्र बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त उनके कई श्लोक भी उद्धृत किये गये हैं। इस आधार पर कहा जाता है कि वे एक कवि थे और बाण के समकालीन रहे हैं। कल्हण की राजतरङ्गिणी में अजितापीड के वर्णन के प्रसङ्ग में शङ्कुक का एक कवि के रूप में उल्लेख किया गया है, जिसने 'भुवनाभ्युदय' नामक काव्य की रचना की है[1]। इस उल्लेख के आधार पर शङ्कुक अजितापीड के समकालीन थे। अजितापीड का समय ८१३ ई० के आसपास माना जाता है[2]। अतः इनका समय नवम शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जा सकता है। चूँकि श्रीशङ्कुक भट्टलोल्लट के पश्चाद्वर्त्ती हैं और भट्टलोल्लट का समय ८०० ई० के आसपास माना जाता है, अतः शङ्कुक का समय इसके बाद नवम शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जा सकता है।

डॉ० सुशीलकुमार दे शङ्कुक का समय नवीं शती का प्रथम चरण मानते हैं[3]। म० म० काणे शङ्कुक का समय ८४० ई० मानते हैं[4]। मेरे विचार से शङ्कुक का समय नवम शताब्दी का पूर्वार्द्ध मानना अधिक युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है।

शङ्कुक के प्रमुख सिद्धान्त—अभिनवगुप्त ने नाटचमण्डप के निर्माण के प्रसङ्ग में शङ्कुक के मत का उल्लेख किया है[5]। इसके अतिरिक्त मण्डलनिर्माण में भी शङ्कुक का मत उद्धृत किया गया है[6]। अभिनव ने नाटक के लक्षण के सम्बन्ध में शङ्कुक के मत का उल्लेख किया है[7]। इसके अतिरिक्त अभिनव ने अभिनवभारती में नाटक-लक्षण के प्रसङ्ग में **'नृपतीनां यच्चरितं नानारसभावचेष्टितं बहुधा'**[8] इत्यादि श्लोक में पठित **'नृपतीनाम्'** पद की व्याख्या के सम्बन्ध में शङ्कुक का मत उद्धृत किया है। शङ्कुक के अनुसार

---

१. कविर्बुधमनःसिन्धुः शशाङ्कः शङ्कुकाभिधः।
यमुद्दिश्याकरोद् काव्यं भुवनाभ्युदयाभिधम्॥
(राजतरङ्गिणी ४।७०४)

२. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (दे), पृ० ३७।

३. वही, पृ० ३७।

४. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (काणे), पृ० ५४।

५. तमेव विकृष्टे त्रिकोणेषु स्वबुद्धचा योजयेदिति श्रीशङ्कुकाद्याः।
(अभिनवभारती, भाग १ पृ० ६६)

६. तेन शङ्कुकादिभिः षोडशहस्तावकाशाभावः आसनस्तम्भादिवशात्।
(अभिनवभारती, भाग १ पृ० ७४)

७. प्रख्यातोदात्तेति शङ्कुकः। (अभिनवभारती, भाग २ पृ० ४११)

८. नाटचशास्त्र (गायकवाड़) १८।१२।

'नृपतीनाम्' पद का आशय है कि विजिगीषु राजा, उसका शत्रु, मध्यस्थ, उदासीन मित्र, मित्र का मित्र—इन छः प्रकार के राजाओं का चरित[1]।

अभिनवगुप्त नाटिका-लक्षण के प्रसङ्ग में शङ्कुक के मत को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि "भट्टलोल्लट के मत में नाटिका 'षट्पदा' होती है, किन्तु शङ्कुक के मत में उसे 'अष्टधा' (आठ प्रकार का) स्वीकार किया गया है"[2]। इसके अतिरिक्त गर्भसन्धि,[3] विमर्शसन्धि,[4] प्रतिमुखसन्धि[5] एवं सामान्याभिनय[6] आदि अनेक प्रसङ्गों में अभिनव ने शङ्कुक तथा उनके मत को उद्धृत किया है।

अभिनय के भेदों की चर्चा करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं कि अभिनय के अनेक भेद होते हैं, शङ्कुक ने अभिनय के जो चालीस हजार भेद बतलाये हैं, वह ठीक नहीं है[7]। इन उल्लेखों से ज्ञात होता है कि श्रीशङ्कुक ने सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र पर टीका लिखी है।

शङ्कुक का रस-सिद्धान्त—शङ्कुक का रस-सिद्धान्त 'अनुकरणवाद' या 'अनुमितिवाद' पर आधारित है। उनके मतानुसार भरतसूत्र में निर्दिष्ट 'संयोग' पद का अर्थ 'अनुमाप्य-अनुमापकभाव' सम्बन्ध है और 'निष्पत्ति' पद का अर्थ 'अनुमिति' है। इस सिद्धान्त के अनुसार 'रस' अनुमेय है, विभावादि साधन है, सहृदय अनुमितकर्त्ता है। रत्यादि स्थायीभाव अनुकार्य में विद्यमान रहते हैं। अनुकर्त्ता विभावादि के द्वारा अनुमाप्य-अनुमापकभाव सम्बन्ध से 'रस' का अनुमान करता है। रत्यादि स्थायीभाव ही विभावादि के द्वारा अनुमित होकर 'रस' कहलाता है। इस प्रकार अनुमीयमान रत्यादि स्थायीभाव ही 'रस' है।

---

१. श्रीशङ्कुकस्तु व्याचष्टे—विजिगीषुररिर्मध्यमोदासीनौ मित्रं मित्रमित्रमिति। एषां चरितमिति बहुवचनेन लभ्यते।
(अभिनवभारती, भाग २ पृ० ४१४)

२. षट्पदेयं नाटिकेति सङ्ग्रहानुसारिणो भट्टलोल्लटाद्याः। श्रीशङ्कुकस्त्वयुक्तमेतदित्यभिधायाष्टधेति व्याचष्टे। (अभिनवभारती, भाग २ पृ० ४३६)

३. समुदाय एव विशेष्य इति श्रीशङ्कुकः।
(अभिनवभारती, भाग ३ पृ० ५२)

४. अभिनवभारती, भाग ३ पृ० २८।

५. उद्घाटितत्वाद्बीजस्य स्तोकमात्रं तु शङ्कुकादिभिरुदाहृतं यत्तदेकदेशलक्षणमिति द्रष्टव्यम्। (अभिनवभारती, भाग ३ पृ० २५)

६. अभिनवभारती, भाग ३ पृ० २२९।

७. न तु यथा शङ्कुकेनोक्तं चत्वारिंशत्सहस्राणीत्यादि।
(अभिनवभारती, भाग ३ पृ० १८०)

मम्मट ने भी अपने काव्यप्रकाश में शङ्कुक का मत उद्धृत किया है। उनके मतानुसार रसानुमिति में विभावादि की प्रतीति 'चित्रतुरगन्याय' से होती है। इस प्रकार कृत्रिम रामादिरूप नट के द्वारा कृत्रिम कटाक्षादिरूप अनुभावों के प्रकाशन से अनुमान के द्वारा रस की प्रतीति होती है। शङ्कुक के अनुसार यद्यपि अनुमीयमान रस कृत्रिम रामादिरूप नट में नहीं रहता और न सामाजिक में ही रहता है, किन्तु वासना के बल से सामाजिक अनुमीयमान रस का आस्वादन करता है।

वामनाचार्य का कथन है कि "जिस प्रकार कुहरे से आवृत स्थान में कुहरे को धुआँ समझने के कारण धुएँ के साथ रहने वाली अग्नि का अनुमान होता है, उसी प्रकार नट के द्वारा निपुणतापूर्वक विभावादि को प्रकाशित किये जाने के कारण अविद्यमान विभावादि के द्वारा उनमें नियत रति का अनुमान होने पर भी अपने सौन्दर्य के कारण सामाजिकों द्वारा आस्वाद का विषय बनती और चमत्कार का आधान करती रसत्व को प्राप्त होती है"।

निष्कर्ष यह है कि रसबोध में अनुकृति एक आवश्यक तत्त्व है और सहृदय का रसबोध अनुमित अर्थ है तथा अनुमान का आधार नट है, जिसमें स्थायीभाव रूप रस अनुकृत है। नट अनुकारक है। सहृदय नट में अनुमान करके वस्तु-सौन्दर्य के बल से रस-बोध प्राप्त करता है। इस प्रकार नट द्वारा अनुकृत और सहृदय द्वारा अनुमित रत्यादि स्थायीभाव 'रस' है—यह श्रीशङ्कुक का अभिप्राय है।

भट्टनायक

जीवनवृत्त—नाट्यशास्त्र के व्याख्याकारों में भट्टनायक का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है। भट्टनायक काश्मीर के निवासी और भरत के रस-सूत्र के व्याख्याता थे। उन्होंने ध्वन्यालोक में प्रतिपादित ध्वनि-सिद्धान्त के खण्डन के उद्देश्य से 'हृदयदर्पण' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। कुछ आचार्य हृदयदर्पण को नाट्यशास्त्र की टीका मानते हैं। रुय्यक ने विभिन्न मतों की समीक्षा करते हुए भट्टनायक का टीकाकार के रूप में नहीं, अपितु एक स्वतन्त्र लेखक के रूप में उल्लेख किया है और उन्हें एक नवीन मत का प्रवर्त्तक भी बतलाया है[1]। महिमभट्ट का कथन है कि उन्होंने सहृदयदर्पण को देखे बिना ही ध्वनि-सिद्धान्त के खण्डन का यश पाने के लिए व्यक्तिविवेक की रचना की है[2]।

---

१. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (दे), पृ० ३९।

२. सहसा यशोऽभिसर्त्तुं समुद्यतादृष्टदर्पणा मम धीः।
स्वालङ्कारविकल्पप्रकल्पने वेत्ति कथमिवावद्यम्॥ (व्यक्तिविवेक १.४)
दर्पणो हृदयदर्पणाख्यो ध्वनिध्वंसग्रन्थोऽपि।
(व्यक्तिविवेक की टीका १.४)

इससे ज्ञात होता है कि उनके ध्वनि-सिद्धान्त का खण्डन मौलिक था। जयरथ ने भट्टनायक को 'हृदयदर्पण' का रचयिता माना है[१]।

अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोकलोचन तथा अभिनवभारती में भट्टनायक के निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किये हैं—

शब्दप्रधानमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः।
अर्थतत्त्वेन युक्तं तु वदन्त्याख्यानमेतयोः॥
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यगीर्भवेत्।

(ध्वन्यालोकलोचन, पृ० ३२ तथा अभिनवभारती, भाग २ पृ० २९८)

हेमचन्द्र ने भी इन श्लोकों को उद्धृत किया है[२]। माणिक्यचन्द्र ने भी काव्यप्रकाश की सङ्केत टीका में इन श्लोकों का उल्लेख किया है[3]। अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में सहृदयदर्पण और उसका निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

'इति सहृदयदर्पणे पर्यग्रहीत्। यदाह—

'नमस्त्रैलोक्यनिर्माणकवये शम्भवे यतः।
प्रतिक्षणं जगन्नाट्यप्रयोगरसिको जनः'॥

(अभिनवभारती, भाग १ पृष्ठ ५)

इनके अतिरिक्त अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में रस-सूत्र की व्याख्या में भट्टनायक के मत के प्रतिपादन के प्रसङ्ग में सहृदयदर्पण से दो श्लोक उद्धृत किये हैं—

अभिधा भावना चान्या तद्भोगीकृतिरेव च।
अभिधाधामतां याते शब्दार्थालङ्कृती सतः॥
भावनाभाव्य एषोऽपि शृङ्गारादिगणो मतः।
तद्भोगीकृतरूपेण व्याप्यते सिद्धिमान्नरः॥

(अभिनवभारती, भाग १ पृ० २७९)

ये दोनों श्लोक हेमचन्द्रकृत काव्यानुशासन[४] तथा रुय्यक के अलङ्कारसर्वस्व की विमर्शिनी[५] टीका में भी किञ्चित् परिवर्त्तन के साथ उद्धृत हैं। इनके अतिरिक्त अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोकलोचन में अनेक स्थलों पर भट्टनायक तथा उनके मतों को उद्धृत किया है और उनका खण्डन किया है। भट्टनायक मीमांसक एवं एक महान् आचार्य थे। वे साधारणीकरण सिद्धान्त के प्रवर्त्तक थे।

---

१. अलङ्कारसर्वस्व (रुय्यक) की टीका, पृ० १५।
२. काव्यानुशासन, पृ० ३-४।
३. काव्यप्रकाश की सङ्केत टीका (माणिक्यचन्द्र), पृ० ६।
४. काव्यानुशासन (विवेक), पृ० ९६–९७।
५. अलङ्कारसर्वस्व (विमर्शिनी), पृ० ११।

भट्टनायक का समय

भट्टनायक ने ध्वन्यालोक के रचयिता आनन्दवर्द्धन के ध्वनि-सिद्धान्त का खण्डन किया है और अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोकलोचन एवं अभिनवभारती में भट्टनायक के सिद्धान्त की आलोचना की है। अभिनवगुप्त ने बार-बार भट्टनायक का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि भट्टनायक ध्वनिकार आनन्दवर्धन के बाद और अभिनवगुप्त के पहले हुए हैं। आनन्दवर्धन काश्मीर-नरेश अवन्तिवर्मा के राज्य के एक प्रसिद्ध कवि थे। अवन्तिवर्मा का समय ८५५ ई० से ८८५ ई० के मध्य माना जाता है[१] और आनन्दवर्धन का समय नवम शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है[२]। अतः भट्टनायक आनन्द-वर्द्धन के बाद हुए होंगे और अभिनवगुप्त का समय ९८०–१०२५ ई० के मध्य माना जाता है[३]। इस आधार पर भट्टनायक का समय नवम शताब्दी के अन्तिम चरण और दशम शताब्दी के प्रथम चरण में माना जा सकता है।

डॉ० कीथ ने भट्टनायक को शङ्करवर्मन् के समय का विद्वान् माना है। कल्हण ने राजतरङ्गिणी में शङ्करवर्मा को कश्मीर-नरेश अवन्तिवर्मा का पुत्र बतलाया है। शङ्करवर्मा का समय ८८३–९०२ ई० माना जाता है, अतः भट्टनायक का समय नवम शताब्दी का उत्तरार्द्ध मानना चाहिए। म० म० काणे ने सहृदयदर्पण के रचयिता भट्टनायक और राजतरङ्गिणी में उल्लिखित भट्टनायक को अलग-अलग माना है, किन्तु पीटर्सन दोनों को अभिन्न मानते हैं। मेरे विचार से दोनों एक ही व्यक्ति हैं और इनका समय नवम शताब्दी का उत्तरार्द्ध तथा दशम शताब्दी का पूर्वार्द्ध मानना चाहिए। क्योंकि इतना तो निश्चित है कि ये आनन्दवर्द्धन के बाद और अभिनवगुप्त के पहले हुए हैं। आनन्दवर्धन का समय नवम शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है, अतः भट्टनायक का समय नवम शताब्दी का अन्त तथा दशम शताब्दी का पूर्वार्द्ध मानना ही युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है।

भट्टनायक की रचनाएँ

भरत के रससूत्र के चार प्रमुख व्याख्याकारों में भट्टनायक का नाम विशेष उल्लेखनीय है, किन्तु वह आज अनुपलब्ध है। भट्टनायक को 'सहृदयदर्पण' नामक ग्रन्थ का रचयिता माना जाता है। प्रो० सोवानी ने भट्टनायक के हृदय-दर्पण को नाटचशास्त्र की टीका मानी है[४]। डॉ० यस० के० दे ने अपने

---

१. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (दे), पृ० ९४।

२. ध्वन्यालोक : आलोचनात्मक अध्ययन (डॉ० पारसनाथ द्विवेदी), पृ० १४।

३. नाटचशास्त्र(डॉ० पारसनाथ द्विवेदी)-भूमिका, पृ० ६१।

४. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (काणे), पृ० २७९।

'संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास' नामक पुस्तक पृ० १६४ की पादटिप्पणी में लिखा है कि 'हृदयदर्पण वास्तव में भरत के नाटचशास्त्र की टीका थी, जिसमें भट्टनायक ने आनुषङ्गिक रूप से ध्वन्यालोक की आलोचना की थी। किन्तु इससे इस ग्रन्थ में विद्यमान श्लोकों का स्पष्टीकरण नहीं होता, जिन्हें अभिनव गुप्त तथा अन्य आचार्यों ने उनके मत की व्याख्या करते समय उनके ग्रन्थ से उद्धृत किया है।'

इसके अतिरिक्त इन्होंने एक और पक्ष प्रस्तुत किया है, जिसके अनुसार यह नाटचशास्त्र की टीका नहीं है, अपितु गद्य-पद्यमय एक मौलिक रचना है। उनका कहना है कि 'सहृदयदर्पण गद्य-पद्यमय एक मौलिक रचना थी। इसमें भट्टनायक ने ध्वन्यालोक के विपक्ष में अपने मत का प्रतिपादन किया था। इससे रस-सिद्धान्त तथा भरत के पठन से सम्बन्धित चर्चा का होना ऐसी बात नहीं है जिसका स्पष्टीकरण न हो सकता हो। सम्भवतः भट्टनायक ने अपने सामान्य सिद्धान्त के प्रसङ्ग में उनका विवेचन किया हो। यह स्पष्टीकरण अधिक सम्भव है'।

म० म० काणे का कथन है कि यह (सहृदयदर्पण) रचना नाट्यशास्त्र की टीका नहीं है,[1] बल्कि वह भट्टनायक की स्वतन्त्र रचना है। क्योंकि भट्टनायक को आनन्दवर्द्धन के ध्वनि-सिद्धान्त का खण्डन कर रस-सिद्धान्त की स्थापना करना था। इसी उद्देश्य से उन्होंने 'हृदयदर्पण' की रचना की थी।

भट्टनायक के प्रमुख सिद्धान्त

शब्द, आख्यान और काव्य

भट्टनायक ने शब्द, आख्यान और काव्य में कहा है कि शास्त्र में शब्द का प्राधान्य होता है और आख्यान (इतिहास-पुराण) में अर्थ की प्रधानता होती है तथा काव्य में कवि-व्यापार का प्राधान्य होता है तथा शब्द और अर्थ दोनों ही गुणीभूत होते हैं। अभिनव का कहना है कि शब्दाश्रित काव्य अन्य प्रकार के शब्दाश्रित निबन्धों से इसलिए भिन्न होता है कि इसमें तीन शक्तियाँ रहती हैं—अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व। इनमें से अभिधा वाच्याश्रित होती है, भावकत्व रसाश्रित होता है तथा भोजकत्व श्रोताश्रित होता है[2]। इस प्रकार काव्य की तीन शक्तियाँ होती हैं।

ध्वनि-सिद्धान्त का खण्डन

भट्टनायक ने ध्वनि का महत्त्व नहीं स्वीकारा है। उन्होंने ध्वनि-सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए 'सहृदयदर्पण' की रचना की है। उन्होंने ध्वनि का

---

१. वही, पृ० २७९।

२. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (दे), पृ० १६५।

खण्डन कर रस को मुख्य तत्त्व स्वीकार किया है। उनका कहना है कि वस्तुतः रसध्वनि ही काव्य की आत्मा है,[१] वस्तु और अलङ्कार ध्वनि तो रस में ही पर्यवसित होते हैं। वे ध्वनि को काव्य की आत्मा मानने को तैयार नहीं है। उनके मतानुसार 'रसचर्वणा' या 'रसभोग' ही काव्य की आत्मा है। उन्होंने ध्वनि नामक व्यञ्जना-व्यापार को काव्य का एक अंश माना है। इस प्रकार उनके अनुसार ध्वनि या व्यञ्जना में काव्यांशत्व है, काव्यरूपता नहीं। भट्टनायक के अनुसार काव्य के तीन अंश हैं—अभिधा, भावना और रसचर्वणा या भोग। इनमें 'रसचर्वणा' काव्य का प्राणभूत तत्त्व है। उनके मतानुसार ध्वनि व्यञ्जनात्मक व्यापार है, जो अभिधा एवं भावना से भिन्न है। भट्टनायक ने उसे काव्य का एक अंश कहा है। इस प्रकार भट्टनायक के अनुसार अभिधा के द्वारा वाच्यार्थ की प्रतीति होती है और भावकत्व व्यापार द्वारा विभावादि का साधारणीकरण होता है, तत्पश्चात् भोजकत्व व्यापार के द्वारा स्वसंवेद्य रस का आस्वादन होता है। यही रसास्वाद रसचर्वणा ही काव्य की आत्मा है।

रस-सिद्धान्त

भट्टनायक रसवादी आचार्य हैं। उनका सिद्धान्त सांख्यदर्शन पर आधारित है। उन्होंने भरत के रससूत्र में निर्दिष्ट 'संयोग' पद का अर्थ भोज्य-भोजकभाव सम्बन्ध और 'निष्पत्ति' पद का अर्थ 'भुक्ति' माना है। उनके मतानुसार विभावादि के द्वारा भोज्य-भोजकभाव सम्बन्ध से रस की निष्पत्ति (भुक्ति) होती है अर्थात् सामाजिक द्वारा रस का भोग (आस्वादन) किया जाता है। रसभोग के लिए उन्होंने अभिधा के अतिरिक्त भावकत्व और भोजकत्व नामक दो नवीन व्यापारों को स्वीकार किया है। इनमें अभिधा के द्वारा काव्य का अर्थमात्र समझा जाता है अर्थात् अभिधा द्वारा उत्पन्न अर्थ व्यक्ति-विशेष से सम्बद्ध होता है। फिर भावकत्व व्यापार उस अभिजन्य अर्थ को परिष्कृत कर व्यक्ति-विशेष से उसका सम्बन्ध हटाकर साधारणीकरण कर देता है। भाव यह है कि भावकत्व व्यापार के द्वारा साधारणीकृत विभावादि व्यक्ति-विशेष के सम्बन्ध से उन्मुक्त होकर सामाजिक से सम्बद्ध हो जाते हैं, तब उसमें व्यक्तिगत विशेषताएँ नहीं रह जातीं। इस प्रकार भावकत्व व्यापार के द्वारा विभावादि के साधारणीकरण हो जाने पर भोजकत्व व्यापार उस साधारणीकृत रत्यादि स्थायीभाव का रस के रूप में भोग करवाता है। भाव यह है कि भट्टनायक के अनुसार भाव्यमान (साधारणीकृत) रत्यादि स्थायीभाव सामाजिकों के हृदय में स्थित रजस् एवं तमस् अभिभूत करके सत्त्वगुण का उद्रेक होने से वेद्यान्तरसम्पर्कशून्य भोजकत्व व्यापार से आस्वादित किया जाता है। इस प्रकार प्रकाशमय और आनन्दरूप यह आस्वाद ही रसभोग है। यही

१. ध्वन्यालोक (लोचन), पृ० ४०।

आनन्दानुभव वेद्यान्तरसम्पर्कशून्य, ब्रह्मास्वादसविध रसानुभूति है, यही रसानुभूति 'भुक्ति' है[१]।

भट्टतौत

जीवनवृत्त—भट्टतौत आचार्य अभिनवगुप्त के गुरु थे। उन्होंने अभिनवगुप्त को नाट्यवेद की शिक्षा दी थी। अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती, ध्वन्यालोक की लोचन टीका तथा नाट्यशास्त्र की व्याख्या के प्रसङ्ग में अनेक बार भट्टतौत का उल्लेख अपने उपाध्याय (अस्मदुपाध्यायाः) अथवा गुरु (अस्मद्गुरवः) के रूप में किया है तथा उनकी मान्यताओं को भी स्थापित किया है। अभिनवगुप्त ने अपने आचार्य भट्टतौत से साहित्यशास्त्र की शिक्षा प्राप्त की थी। उनका कथन है कि मैंने अपने साहित्यशास्त्र के गुरु भट्टतौत के मुख से जो कुछ व्याख्यान सुना है उसी का अपने ग्रन्थ में प्रतिपादन कर रहा हूँ[२]। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि भट्टतौत का सिद्धान्त अभिनवगुप्त को बहुत प्रभावित किया है। नाट्यरस का विवेचन, रस की अनुकरणात्मकता का खण्डन, शान्त-रस को स्वीकार करना, सन्धियों का निरूपण, रस की चमत्कारप्राणता एवं लोकोत्तरता का प्रतिपादन आदि प्रसङ्गों के विवेचन में अभिनवगुप्त की विचारधारा भट्टतौत से पूर्णरूप से प्रभावित प्रतीत होती है[3]।

भट्टतौत नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार और एक परम्परा के प्रवर्त्तक थे। अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में लक्षणों के विवेचन में लिखा है कि 'प्रकृत पाठ में लक्षणों के नाम-संकीर्तन का जो क्रम है वह हमारे उपाध्याय की परम्परा से हमें प्राप्त हुआ है'[४]। इससे प्रतीत होता है कि नाट्यशास्त्र के व्याख्याकारों एवं पाठ-भेद की जो परम्पराएँ थीं, उनमें एक परम्परा भट्टतौत की थी, अभिनवगुप्त ने उसी परम्परा का अनुसरण किया है। कुछ विद्वानों की धारणा है कि भट्टतौत द्वारा लिखित 'काव्यकौतुक' नाट्यशास्त्र पर लिखा गया भाष्य है, किन्तु इस विषय में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। विभिन्न उद्धरणों से प्रतीत होता है कि यह उनकी स्वतन्त्र रचना है। इसके अतिरिक्त

---

१. भट्टनायक के रस-विवेचन के विशेष विवरण के लिए डॉ० पारसनाथ द्विवेदी कृत काव्यप्रकाश की हिन्दी व्याख्या पृ० १३७-१४० पर देखिए।

२. सद्विप्रतोतवदनोदितनाटचवेदतत्त्वार्थमर्थिजनवाञ्छितसिद्धिहेतोः ।
माहेश्वराभिनवगुप्तपदप्रतिष्ठः सङ्क्षिप्तवृत्तिविधिना विशदीकरोति ॥
(अभिनवभारती, प्रस्तावना, श्लोक ४)

३. अभिनवभारती, भाग १ पृ० २९०, ३०९; भाग २ पृ० २९२ तथा भाग ३ पृ० १५३।

४. पठितोद्देशक्रमस्तु अस्मदुपाध्यायपरम्परागतः।
(अभिनवभारती, भाग २ पृ० २०८)

अभिनव ने रस को चमत्कारप्राण, अलौकिक एवं वैचित्र्यसार माना है। अपने मत के समर्थन में उन्होंने भट्टतौत के छः पद्य उद्धृत किये हैं[१]। क्षेमेन्द्र[२] तथा माणिक्यचन्द्र[३] ने 'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता' प्रतिभा की इस महत्त्वपूर्ण परिभाषा को भट्टतौत के नाम से उद्धृत किया है। हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में इसी परिभाषा को विना नाम दिये उद्धृत किया है[४]। व्यक्तिविवेक में भी यही किञ्चित् परिवर्तन के साथ उल्लिखित है[५]। इसके अतिरिक्त हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में काव्यकौतुक से तीन पद्य उद्धृत किये हैं[६]। सोमेश्वर ने काव्यप्रकाश की टीका में इन पद्यों को उद्धृत किया है[७]। इससे प्रतीत होता है कि भट्टतौत उस समय तक एक आचार्य के रूप में विख्यात हो चुके थे। ये अभिनवगुप्त के उपाध्याय के रूप में इतिहास में प्रसिद्ध हैं।

भट्टतौत का समय—भट्टतौत के समय-निर्धारण में कोई कठिनाई नहीं प्रतीत होती है। क्षेमेन्द्र, हेमचन्द्र आदि आचार्यों ने भट्टतौत तथा उनके श्लोकों को अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है। क्षेमेन्द्र का समय ग्यारहवीं शताब्दी का मध्यभाग माना जाता है, अतः भट्टतौत का समय इसके पूर्व होना चाहिए। इसके अतिरिक्त भट्टतौत अभिनवगुप्त के गुरु के रूप में प्रख्यात हैं और अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती तथा ध्वन्यालोकलोचन में अनेक स्थलों पर भट्टतौत का अपने गुरु तथा उपाध्याय के रूप में उल्लेख किया है और उनके सिद्धान्तों एवं उद्धरणों को उद्धृत भी किया है। अभिनवगुप्त का समय ९८० से १०२५ ई० के मध्य अर्थात् दशम शताब्दी का अन्तिम भाग तथा एकादश शताब्दी का

१. अलौकिकवैचित्र्यसारो हि रसः। (अभिनवभारती, भाग ३ पृ० ७८)

२. प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता। (औचित्यविचारचर्चा, ३५)

३. प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।
तदनुप्राणनाज्जीवद्वर्णना निपुणः कविः॥
तस्य कर्म स्मृतं काव्यम्—।
(माणिक्यचन्द्र कृत काव्यप्रकाश की संकेत टीका, पृ० ७)

४. काव्यानुशासन (हेमचन्द्र), पृ० ६।

५. व्यक्तिविवेक (व्याख्या), पृ० १६।

६. नाग ऋषिर्कविरित्युक्तमृषिश्च किल दर्शनात्।
विचित्रभावधर्मांशतत्त्वप्रख्या च दर्शनम्॥
स तत्त्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कविः।
दर्शनाद्वर्णनाच्चाथ रूढालोके कविश्रुतिः॥
तथाहि दर्शने स्वच्छे नित्येऽप्यादिकवेर्मुनेः।
नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना॥
(काव्यानुशासन, पृ० ४३२)

७. सोमेश्वरकृत काव्यप्रकाश की टीका।

प्रारम्भिक भाग माना जाता है। अतः भट्टतौत का समय दशम शताब्दी का मध्यभाग माना जा सकता है।

रचनाएँ—भट्टतौत ने नाटचशास्त्र पर भाष्य लिखा है, किन्तु उनका वह भाष्यग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। केवल उद्धरण मात्र से उसकी सत्ता जानी जाती है। उन्होंने 'काव्यकौतुक' नामक ग्रन्थ की रचना की थी और अभिनवगुप्त ने उस पर विवरण नामक टीका लिखी थी। अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती एवं ध्वन्यालोकलोचन में काव्यकौतुक का उल्लेख किया है और उससे अनेक उद्धरण उद्धृत किये हैं। इसके अतिरिक्त हेमचन्द्र, क्षेमेन्द्र, सोमेश्वर, माणिक्यचन्द्र आदि आचार्यों ने भी काव्यकौतुक से उद्धरण उद्धृत किये हैं। इससे ज्ञात होता है कि 'काव्यकौतुक' एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ था, जिसमें रस एवं नाटच सम्बन्धी विषयों पर महत्त्वपूर्ण विवेचन किया गया था। किन्तु दुर्भाग्य है कि वह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है और न उस पर लिखा गया 'विवरण' ही उपलब्ध है।

भट्टतौत के प्रमुख सिद्धान्त

नाटचरस—'तस्मान्नाटचरसाः स्मृताः' की व्याख्या करते हुए अभिनव ने अपने गुरु भट्टतौत का मत उद्धृत किया है। उनका कहना है कि "नाटच से अर्थात् समुदाय रूप से रस आविर्भूत होता है। भाव यह है कि विभावादि समुदाय रूप से 'रस' व्यक्त होता है अथवा नाटच ही रस है। रस-समुदाय ही नाटच है। केवल नाटच में ही रस नहीं होता, अपितु काव्य में भी नाटचायमान रस होता है। काव्यार्थ के विषय में साक्षात्कारकल्पज्ञान के उदय होने पर रस का उदय होता है। यह हमारे उपाध्याय भट्टतौत का मत है"। इस प्रकार भट्टतौत के अनुसार साक्षात्कारकल्पज्ञान के उदय होने पर रस का उदय होता है। जैसा कि काव्यकौतुक में कहा गया है—

'अभिनय के प्रयोग रूप को प्राप्त हुए बिना काव्य में रस का आस्वाद सम्भव नहीं है'।

'वर्णन-शैली के प्रस्फुटन तथा विस्तार की प्रौढोक्ति से अच्छी तरह से अर्पित उद्यान, कान्ता, चन्द्रमा आदि भाव प्रत्यक्ष के समान होते हैं'।

'रससमुदायो हि नाटचम्। न च नाटच एव रसः काव्येऽपि नाटचायमान एव रसः। काव्यार्थविषये हि प्रत्यक्षकल्पसंवेदनोदये रसोदय इत्युपाध्यायाः'।

यदाहुः काव्यकौतुके—

'प्रयोगत्वमनापन्ने काव्ये नास्वादसम्भवः'।
'वर्णनोत्कलिता भोगप्रौढोक्त्या सम्यगर्पिताः।
उद्यानकान्ताचन्द्राद्या भावाः प्रत्यक्षवत्स्फुटाः'॥

उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि जब कवि वस्तु को अपनी अद्भुत वर्णना-शक्ति के कौशल से पाठकों के समक्ष इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि

मानों वह उनकी आँखों के समक्ष प्रत्यक्ष प्रतीत हो रहा है तभी काव्यरस का आस्वादन होता है। इस प्रकार भट्टतौत के अनुसार नाट्य और काव्य में भी नाट्यायित रस होता है, नाट्यायमान के बिना अर्थात् अभिनय-प्रयोग के बिना रस का आस्वादन नहीं हो सकता।

अभिनवगुप्त एक अन्य स्थल पर अपने उपाध्याय का मत प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि 'रस प्रीतिरूप होता है, वही नाट्य है और नाट्य ही वेद है; यह हमारे उपाध्यायजी का मत है'[१]। इस प्रकार भट्टतौत के अनुसार प्रीति रूप रस नाट्य से भिन्न नहीं है।

भट्टतौत के अनुसार नायक, कवि और श्रोता का अनुभव एक जैसा होता है[२]। उन्होंने रस की अनुकरणरूपता का खण्डन किया है। उनका कहना है कि जो शङ्कुक आदि आचार्य रस को अनुकरण रूप मानते हैं (**अनुकरणरूपो रसः**), वह ठीक नहीं है, क्योंकि रस अनुकरण रूप नहीं होता। अनुकरण उपहासात्मक होता है और रस आनन्द रूप। अतः रस को अनुकरण रूप नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त भट्टतौत का यह कथन है कि जब करुण विप्रलम्भ का अङ्ग नहीं होता अर्थात् वह स्वतन्त्र रूप से प्रवृत्त होता है तो सभी प्राणियों में उसकी स्थिति समान रूप से होती है[३]।

शान्त रस—शान्त रस के सम्बन्ध में भट्टतौत का सिद्धान्त है कि यह शान्त रस मोक्ष रूप फल को देने वाला (मोक्षफलप्रद) होने के कारण तथा परमपुरुषार्थनिष्ठ होने से सभी रसों में प्रधानतम है[४]। अपने गुरु भट्टतौत के मत का अनुसरण करते हुए अभिनव का कहना है कि मोक्ष रूप अध्यात्म का निमित्त, तत्त्वज्ञान के अर्थ रूप हेतु से युक्त और निःश्रेयस रूप धर्म से युक्त शान्त रस होता है[५]। इस प्रकार शान्त रस मोक्ष रूप अध्यात्म का कारण है। यही समस्त रसों की प्रकृति है।

---

१. प्रीत्यात्मा च रसस्तदेव नाट्यं नाट्यमेव च वेद इत्यस्मदुपाध्यायाः।
(ध्वन्यालोकलोचन, पृ० १८४)

२. नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः।
(ध्वन्यालोकलोचन, पृ० ३४)

३. तदुक्तमस्मदुपाध्यायभट्टतौतेन—
'स्वातन्त्र्येण प्रवृत्तौ तु सर्वप्राणिषु सम्भवः।

४. मोक्षफलत्वेन चायं परमपुरुषार्थनिष्ठत्वात् सर्वरसेभ्यः प्रधानतमः। स चायमस्मदुपाध्यायभट्टतौतेन काव्यकौतुके, अस्माभिश्च तद्विवरणे बहुतरकृतनिर्णयपूर्वपक्षसिद्धान्त इत्यलं बहुना॥ (ध्वन्यालोकलोचन, पृ० २२१)

५. मोक्षाध्यात्मनिमित्तस्तत्त्वज्ञानार्थहेतुसंयुक्तः।
निःश्रेयसधर्मयुतः शान्तरसो नाम विज्ञेयः॥
(अभिनवभारती, भाग १ पृ० ३४०)

भट्टतौत के अनुसार 'काव्य में किसी भी भाषा का प्रयोग तथा नाट्य में किसी भी प्रकार के प्रयोग पर प्रतिबन्ध नहीं है, किन्तु प्रकरण के अनुसार सैन्धवी भाषा का प्रयोग होना चाहिए'[१]। म० म० काणे ने भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीटयूट की प्रतिलिपि पृष्ठ ५०३ के आधार पर अपने संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में लिखा है कि 'जहाँ पर भाषा का नियम नहीं कहा गया है वहाँ संस्कृत भाषा का ही प्रयोग करना चाहिए। अन्य आचार्य कहते हैं कि इच्छानुसार किसी भी भाषा का प्रयोग करे। दूसरे आचार्य कहते हैं कि प्राकृत भाषा का प्रयोग करना चाहिए। आचार्य भट्टतौत का मत है कि प्रकरण के अनुसार सैन्धवी भाषा का प्रयोग करना चाहिए। जैसा कि भट्टतौत ने काव्यकौतुक में कहा है—

'जहाँ भाषा के प्रयोग का नियम न हो वहाँ काव्य में सैन्धवी भाषा का प्रयोग करे।'[२]

भट्टतौत का कथन है कि 'जहाँ पर काम की अवस्थाएँ होती हैं वहाँ शृङ्गार नहीं होता है, किन्तु कहीं शृङ्गार कामावस्था का अङ्ग हो जाता है। भाव यह है कि जो संभुक्ता नायिका होती है, उनको कामावस्था का शृङ्गार अङ्ग होता है और कहीं-कहीं सम्भोग न करने पर भी कामावस्था में शृङ्गार अङ्ग हो जाता है। जैसे—सागरिका और वत्सराज की कामावस्थाओं में शृङ्गार की अङ्गिता दिखायी गई है[३]।

इनके अतिरिक्त भट्टतौत के सम्बन्ध में और भी बहुत से विवरण प्राप्त होते हैं, किन्तु विस्तार के भय से उनका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है।

अभिनवगुप्त

अभिनवगुप्त का जीवनवृत्त

अभिनवगुप्त-द्वय——शङ्कर-दिग्विजय के अनुसार अभिनवगुप्त नामक एक शाक्तभाष्यकार कामरूप आसाम में रहते थे, जिन्हें शङ्कराचार्य ने शास्त्रार्थ में

---

१. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (काणे), पृ० २७४-७५।

२. यत्र भाषानियमो नोक्तस्तत्र प्राथम्यात् संस्कृतैव, यथेच्छमित्यन्ये स्त्रीपुम्भावाश्रयत्वात्, प्राकृतभाषैवेत्यपरे, सैन्धव्येव प्रकरणादिति भट्टतौतः। यदाह काव्यकौतुके—

'न भाषानियमः पात्रे काव्ये स्यात् सैन्धवीमिति।' (वही, पृ० २७५)

३. तथा च भट्टतौतेनोक्तम्—

कामावस्था न शृङ्गारः क्वचिदासां तदङ्गता।

पूर्वप्राप्तसम्भोगितायामपि शृङ्गारतेति यावत्। अप्राप्तसम्भोगित्वेऽपि हि सागरिकावत्सराजयोर्दर्शितः शृङ्गारः। (अभिनवभारती, भाग ३ पृ० १९९)

पराजित किया था[1]। डॉ० आफरेक्ट ने इन्हीं शाक्तभाष्यकार अभिनवगुप्त को अभिनवभारती और ध्वन्यालोक की 'लोचन' टीका का रचयिता मान लिया। उनके अनुसार दोनों एक ही व्यक्ति थे, किन्तु उनका यह कथन युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। क्योंकि अभिनवभारतीकार अभिनवगुप्त शैव थे और काश्मीर के निवासी थे, जब कि शाक्तभाष्यकार अभिनवगुप्त शाक्त थे और आसाम के निवासी थे। इसके अतिरिक्त दोनों के कार्य-काल में पर्याप्त अन्तर दिखायी देता है। शङ्कराचार्य का समय ७८८ ई० से ८२० ईसवी के मध्य माना जाता है। अतः शाक्तभाष्यकार अभिनवगुप्त का समय भी वही होना चाहिए। जब कि अभिनवभारतीकार अभिनवगुप्त का समय उनके लगभग दो सौ वर्ष दशम शताब्दी का उत्तरार्द्ध और एकादश शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। इस प्रकार दोनों के समय में लगभग दो सौ वर्ष का अन्तराल और दोनों के भिन्न-भिन्न स्थान के निवासी होने के कारण एक व्यक्ति नहीं हो सकते। इस प्रकार दोनों अभिनवगुप्त भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं।

अभिनवभारतीकार अभिनवगुप्त के पूर्वज अत्रिगुप्त गङ्गा और यमुना के मध्यक्षेत्र अन्तर्वेदी के रहने वाले थे। अत्रिगुप्त अद्भुत प्रतिभाशाली विद्वान् और सर्वशास्त्रपारंगत ज्ञानी पुरुष थे[2]। राजतरङ्गिणी के अनुसार उस समय कन्नौज में यशोवर्मा (७३०-७४० ई०) राज्य करता था और उसी समय (७२५-७६१ ई० में) काश्मीर में ललितादित्य नामक राजा राज्य करता था। इस ललितादित्य ने कन्नौज पर चढ़ाई कर यशोवर्मा को पराजित किया था। ललितादित्य अत्रिगुप्त की विद्वत्ता और ख्याति को सुनकर बहुत प्रभावित हुआ और उन्हें अपने राज्य में आने के लिए आमन्त्रित किया।

---

१. (क) तदनन्तरमेव कामरूपानधिगत्याभिनवोपशब्दगुप्तम्।
अजयत् किल शाक्तभाष्यकारं स तं भग्नो मनसेदमालुलोचे ॥
(शङ्करदिग्विजय १५।१५८)

(ख) स च भग्नोऽभिनवगुप्तपादाचार्यो मनसा इदं वक्ष्यमाणं विचारयामास। (शङ्करदिग्विजय १५।१५८ की टीका)

२. (क) अन्तर्वेद्यामत्रिगुप्ताभिधानः प्राप्योत्पत्तिं प्राविशत् प्राग्जन्मा।
श्रीकाश्मीरांश्चन्द्रचूडावतारनिःसंख्याकैः पावितोपान्तभागान् ॥
(परात्रिंशिका-विवरण, २८०)

(ख) निःशेषशास्त्रसदनं किल मध्यदेशः,
तस्मिन्नजायत गुणाभ्यधिको द्विजन्मा।
कोऽप्यत्रिगुप्त इति नामनिरुक्तगोत्रः
शास्त्रार्थचर्वणकलोद्यदगस्त्यगोत्रः ॥
(तन्त्रालोक, अ० २७)

इसके बाद अत्रिगुप्त को काश्मीर में बुलाकर वितस्ता नदी के पावन तट पर बसाया[1]।

इसी अत्रिगुप्त के वंश में लगभग १५० वर्ष पूर्व वराहगुप्त का जन्म हुआ। यह वराहगुप्त अभिनवगुप्त का पितामह था। वराहगुप्त का पुत्र नरसिंहगुप्त था। यही नरसिंहगुप्त अभिनवगुप्त का पिता था। नरसिंहगुप्त का अपर नाम चुखुल था[2]। परात्रिंशिकातत्त्वविवरण में उन्हें चुखल और तन्त्रालोक में चुखलक नाम से अभिहित किया गया है। ब्यूलर की काश्मीर-रिपोर्ट में विचुलख और अभिनवभारती में दुःखल तथा सुखल नाम भी आया है। तन्त्रालोक के अनुसार अभिनवगुप्त के पिता का नाम नरसिंहगुप्त और माता का नाम विमलकला या विमला था[3]। अभिनवगुप्त की माता विमला सरस्वती के समान विदुषी थी और पिता शिव के समान कान्तिमान् थे। जयरथ ने अभिनवगुप्त के पिता का नाम नरसिंहगुप्त और माता का नाम विमला बताया है। अभिनवगुप्त के चाचा का नाम वामनगुप्त और भाई का नाम मनोरथगुप्त था।

जयरथ के अनुसार अभिनवगुप्त के जन्म का नाम माहेश्वर था[4] और अभिनवगुप्त उनका गुरुप्रदत्त नाम था। गुरुजनों ने अपने अभिनव शिष्य की अभिनव प्रतिभा एवं अभिनव कीर्त्तिमान् देखकर अभिनव कहना प्रारम्भ कर दिया होगा और धीरे-धीरे उनका अभिनव नाम पड़ गया होगा अथवा आदि गुरु माता-पिता के अभिनव पुत्र अभिनव सृष्टि के कारण उन्हें 'अभिनव' कहा जाने लगा होगा।

जयरथ के अनुसार अभिनवगुप्त अपने माता-पिता के 'योगिनी-भूः' पुत्र थे। क्योंकि 'योगिनी-भूः' पुत्र के समस्त लक्षण उनमें पाये जाते हैं। जयरथ के अनुसार 'गर्भावस्था में जो शिशु यामल कला से कलित होता है, उसे 'योगिनी-भूः' कहते हैं'। अभिनव सरस्वतीरूपा सिद्ध योगिनी रूप माँ विमलकला और पञ्चमुख शिवरूप पिता के यामल पुत्र थे, अतएव त्रिकशास्त्र के सारभूत आकर ग्रन्थ लिखने में समर्थ थे[5]।

---

१. तमथ ललितादित्यो राजा स्वकं पुरमानयत्।
प्रणयरभसात् काश्मीराख्यं हिमालयमूर्धगम्॥ (तन्त्रालोक)

२. तस्यान्वये महति कोऽपि वराहगुप्तनामा बभूव भगवान् स्वयमन्तकाले।
तस्यात्मजः चुखुलकेति जने प्रसिद्धश्चन्द्रावदातधिषणो नरसिंहगुप्तः॥

३. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (काणे), पृ० २९६।

४. नन्दन्ति पितरस्तस्य नन्दन्ति च पितामहाः।
अद्य माहेश्वरो जातः सोऽस्मान्तारयिष्यति॥
(तन्त्रालोक १।१ की जयरथ की टीका)

५. तन्त्रालोक १।१ की टीका।

अभिनवगुप्त का एक नाम 'अभिनवगुप्तपाद' है और उसके साथ आचार्य लगाया जाता है। इस प्रकार सम्मान के लिए उन्हें 'अभिनवगुप्तपादाचार्य' भी कहा जाता है। काव्यप्रकाश के व्याख्याकार वामनाचार्य 'अभिनवगुप्तपाद' नाम का रहस्य बताते हुए कहते हैं कि अभिनव का अर्थ नवीन या शिशु और गुप्तपाद का अर्थ सर्प है। अमरकोष में भी 'गूढपाद्' (गुप्तपाद) को सर्प का पर्याय बताया गया है (**कुण्डलीगूढपाच्चक्षुःश्रवाः**)। यह सर्प के समान बालकों को डराया करता था, इसीलिए गुरुजनों ने बालकों को सर्प (भुजङ्ग) के समान भयप्रद होने के कारण इनका नाम 'अभिनवगुप्तपाद' रख दिया होगा[1]। इसके अतिरिक्त अभिनवगुप्त को शेषावतार भी माना जाता है।

अभिनवगुप्त आजीवन ब्रह्मचारी एवं शिव के परम भक्त थे। वे भारतीय विद्या की विभूति और सरस्वती के मूर्त्तिमान् प्रतीक थे। उन्होंने ज्ञान-प्राप्ति के लिए अनेक गुरुजनों के चरणों में बैठकर अध्ययन किया था। व्याकरण, दर्शन, तन्त्र, ब्रह्मविद्या, काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र आदि विद्याओं का अध्ययन उन्होंने अलग-अलग गुरुओं से किया था। उन्होंने शिव के चरणों में अध्यात्मज्ञान प्राप्त किया था। ब्रह्मविद्या का ज्ञान उन्होंने भूतिराज से प्राप्त किया था। आचार्य लक्ष्मणगुप्त से इन्होंने प्रत्यभिज्ञादर्शन का अध्ययन किया था। अपने पिता नरसिंहगुप्त से उन्होंने साधना की विधि का अभ्यास किया था। महात्मा वामननाथ उनके तन्त्रशास्त्र के गुरु थे। तन्त्रशास्त्र के गुरुओं की परम्परा में सुमतिनाथ, शम्भुनाथ, सोमानन्द, सोमदेव आदि प्रमुख थे। अभिनवगुप्त के काव्यशास्त्र के गुरु भट्टेन्दुराज (इन्दुराज) थे और नाट्यशास्त्र की शिक्षा उन्होंने भट्टतौत से ग्रहण की थी। (इस प्रकार असाधारण प्रतिभा से प्रतिभासमान श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्तपाद तन्त्रशास्त्र, व्याकरण, शैवदर्शन, ब्रह्मविद्या, योगशास्त्र, काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र एवं सङ्गीतशास्त्र के प्रामाणिक आचार्य थे।)

अभिनवगुप्त का समय

अभिनवगुप्त के समय-निर्धारण में कोई कठिनाई प्रतीत नहीं होती। अभिनवगुप्त ने 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी' की रचना-तिथि ग्रन्थ के अन्त

---

१. इदमत्र रहस्यम् — पुरा किल क्वचिद्वलभौ पठतां बहूनां ब्राह्मणबालकानामध्ययनशालासीत्। तत्र पठन् कश्चित् गौडबालोऽपि सौबुद्ध्यान्मुखरत्वाच्च निखिलानां बालानां भयप्रदत्वेन बालवलभीभुजङ्ग इति गुरुणा व्यपदिष्टः। स चार्यतामुपगतः इति सकलरहस्याभिज्ञः श्रीवाग्देवतावतारो (मम्मटः) गूढं तन्नाम 'अभिनवगोपानसीगुप्तपाद' इति वैदग्ध्यमुखेनाभिव्यनक्ति।

(काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास)

में दी है। तदनुसार इस ग्रन्थ की रचना १०१५ ई० में हुई थी[1]। इसी प्रकार उन्होंने क्रम-स्तोत्र की रचना सन् ९९०-९१ ई० में की थी[2]। अभिनवगुप्त ने 'भैरव-स्तोत्र' के अन्त में उस ग्रन्थ का रचना-काल ९९२-९९३ ई० बताया है[3]। इनके अतिरिक्त अभिनवगुप्त ने अपने शिष्य कर्ण के लिए परात्रिंशिका पर टीका लिखी है। कर्ण राजा यशस्कर के मन्त्री का पुत्र था। यशस्कर की मृत्यु ९४८ ई० में हुई थी। तन्त्र के सिद्धान्तों को समझने के लिए कर्ण की प्रौढ़ावस्था होनी चाहिए। अतः परात्रिंशिका की रचना के समय उनकी अवस्था ३० वर्ष के आसपास होनी चाहिए। यदि कर्ण का जन्म ९५० ई० के लगभग मान लिया जाय तो परात्रिंशिका के रचना का समय ९८० ई० से ९९० ई० के मध्य होना चाहिए।

इनके अतिरिक्त क्षेमेन्द्र ने बृहत्कथामञ्जरी एवं भारतमञ्जरी के अन्त में लिखा है कि उन्होंने साहित्य का अध्ययन अभिनवगुप्तपाद से किया है—

श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात्साहित्यं बोधवारिधेः।

(बृहत्कथामञ्जरी, पृ० ३७)

---

१. इति नवतितमेऽस्मिन् वत्सरेऽन्ते युगांशे,
तिथिशशिजलधिस्थे मार्गशीर्षावसाने।
जगति विहिबोधामीश्वरप्रत्यभिज्ञां
व्यवृणुत परिपूर्णां प्रेरितः शम्भुपादैः॥

(ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, १५)

इस उद्धरण से ज्ञात होता है कि अभिनवगुप्त ने ४११५ कलिवर्ष बीत जाने पर ९० सप्तर्षि संवत्सर में मार्गशीर्ष के अन्त में ईश्वरप्रत्यभिज्ञा की व्याख्या पूर्ण की। यह सप्तर्षि संवत्सर कलिसंवत् से २५ वर्ष बाद प्रारम्भ होता है। सप्तर्षि संवत् ४०९० (४११५−२५=४०९०) को अभिनव ने 'नवतितमेऽस्मिन्' अर्थात् संवत् ९० कहा है। इस प्रकार कलिसंवत्सर ४११५ सप्तर्षि संवत् ९० (४०९०), विक्रमी संवत् १०७१ और ईसवी सन् १०१४-१५ था। अतः ई० १०१४-१५ में यह रचना पूर्ण हुई, यह निष्कर्ष निकलता है।

२. षट्षष्टिनामके वर्षे नवम्यामसितेऽहनि।
मयाभिनवगुप्तेन मार्गशीर्षे स्तुतः शिवः॥ (अभिनवगुप्त, पृ० ४१२)

अर्थात् सप्तर्षि संवत् ६६ में क्रमस्तोत्र की रचना हुई। यह संवत् ६६ (४०६६ सप्तर्षि संवत्) ईसवी सन् ९९०-९१ था।

३. वसुरसपौषे कृष्णदशम्यामभिनवगुप्तः स्तवमिममकरोत्।

(ब्यूलर की काश्मीर-रिपोर्ट, पृ० CLXII)

इस प्रकार सप्तर्षि संवत् ६८ में अर्थात् ईसवी सन् ९९२-९३ में यह रचना पूर्ण हुई।

क्षेमेन्द्र ने १०५० ई० में 'समयमातृका' की और १०६६ ई० में दशावतारचरित की रचना की थी। समयमातृका के अन्त में उन्होंने लिखा है कि उसकी रचना राजा अनन्त के शासनकाल में हुई। इसी प्रकार दशावतारचरित के अन्त में लिखा है कि उसकी रचना कलश के शासनकाल में हुई। राजा अनन्त का शासन काल १०२८-१०६३ ई० के मध्य माना जाता है। राजा अनन्त के पुत्र कलश ने १०६३-१०८९ ई० तक शासन किया, अतः क्षेमेन्द्र का साहित्यिक रचना का समय १०३० से १०७० ई० के मध्य माना जाता है। इस आधार पर क्षेमेन्द्र का गुरु होने के कारण अभिनवगुप्त का समय क्षेमेन्द्र के पहले होना चाहिए।

अतः अभिनवगुप्त का समय ९८० ई० से लेकर १०२५ ई० के मध्य मानने में कोई कठिनाई नहीं प्रतीत होती। इस प्रकार अभिनव का समय दशम शताब्दी का अन्तिम भाग तथा एकादश शताब्दी का प्रथम भाग माना जा सकता है।

निर्वाण—अभिनवगुप्त के निर्वाणकाल के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे काश्मीर की परम्परा के अनुसार अपने बारह सौ शिष्यों के साथ भैरवी-स्तोत्र का पाठ करते हुए भैरव-कन्दरा नामक गुफा में प्रविष्ट होकर वहीं अन्तर्धान हो गये थे। डॉ० ग्रियर्सन के मतानुसार यह गुफा श्रीनगर से १३ मील दक्षिण-पश्चिम की ओर श्रीनगर-गुलमर्ग के बीच बीरू नामक स्थान पर स्थित है। इस स्थान का प्राचीन नाम 'बहुरूपा' है। यह गुफा आज भी पायी जाती है।

अभिनवगुप्त की रचनाएँ

अभिनव ने अनेक शास्त्रों की रचना की है। उनकी लगभग ४० रचनाएँ हैं, किन्तु कुछ विद्वान् ४१ रचनाएँ मानते हैं। उनका साहित्य सामान्यतः चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

१. तन्त्रसाहित्य।

२. स्तोत्रसाहित्य।

३. प्रत्यभिज्ञाशास्त्र।

४. काव्यशास्त्र एवं नाट्यशास्त्र।

(१) इनमें प्रथम वर्ग में तन्त्र-विषयक साहित्य आते हैं। इनमें तन्त्रालोक प्रमुख एवं विशाल ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त मालिनी-विजय वार्त्तिक, तन्त्रालोकसार, परात्रिंशिकाविवरण, तन्त्रवटधानिका आदि प्रमुख ग्रन्थ भी इसी वर्ग में आते हैं।

(२) द्वितीय वर्ग में स्तोत्र-साहित्य आते हैं। इनमें क्रम-स्तोत्र, भैरव-स्तोत्र, अनुभव-निवेदन, देहस्थ-देवताचक्रस्तोत्र, शिवभक्त्यविनाभावस्तोत्र आदि ग्रन्थ प्रमुख हैं।

(३) तृतीय वर्ग में प्रत्यभिज्ञादर्शन से सम्बन्धित ग्रन्थ हैं। इस वर्ग के प्रमुख ग्रन्थ ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी (बृहती-वृत्ति) आदि प्रमुख ग्रन्थ हैं।

(४) चतुर्थ वर्ग में काव्यशास्त्र एवं नाटचशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ आते हैं। इनमें अभिनवभारती, ध्वन्यालोकलोचन, काव्यकौतुकविवरण प्रमुख हैं।

यहाँ हम नाटचशास्त्रसम्बन्धी ग्रन्थ अभिनवभारती के सम्बन्ध में विचार कर रहे हैं—

अभिनवभारती—अभिनवगुप्त ने नाटचशास्त्र पर 'अभिनवभारती' नामक टीका लिखी है। इस टीका का नाम 'नाटचवेदविवृति' भी है। यह टीका अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण होने से विद्वत्समाज में अत्यन्त समादरणीय है। नाटच-शास्त्र पर लिखी गई टीकाओं में यही टीका एकमात्र उपलब्ध है। इसमें अनेक प्राचीन नाटचाचार्यों एवं संगीताचार्यों के मतों की समीक्षा की गई है। इसमें नाटचकला, सङ्गीतकला, नृत्यकला आदि विविध विषयों पर विचार किया गया है। यह टीका केवल टीका ही नहीं, अपितु नाटचशास्त्र का एक स्वतन्त्र मौलिक ग्रन्थ के रूप में मान्य है। इसकी आदरणीयता किसी मौलिक ग्रन्थ से कम नहीं है। इस प्रकार अभिनवभारती नाटचशास्त्र का मूर्द्धन्य ग्रन्थ है।

अभिनवभारती टीका का अन्वेषण मद्रास सरकार द्वारा नियुक्त एक अन्वेषक दल ने किया। अन्वेषक दल ने मालावार में मलयालम् लिपी में लिखी अभिनवभारती की हस्तलिखित प्रति तीन खण्डों में अलग-अलग स्थानों से प्राप्त की। यह हस्तलिखित प्रति ताड़पत्र पर लिखित थी। प्रथम खण्ड में १–१९ अध्याय हैं, द्वितीय खण्ड में २०–२८ अध्याय मात्र अभिनवभारती है और तृतीय खण्ड २९–३१ मात्र तीन अध्याय केबल अभिनवभारती प्राप्त हुई। इसके अतिरिक्त अभिनवभारती की एक दूसरी प्रति तिरुवाङ्कुरम् के महाराज के पुस्तकालय में प्राप्त हुई है। इन दोनों हस्तलिखित प्रतियों में पाठभेद के अतिरिक्त विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता। ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों प्रतियाँ किसी एक ही ग्रन्थ के आधार पर तैयार की गयी थी।

प्रो० रामकृष्ण कवि ने दोनों हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर अभिनव-भारती टीका के साथ नाटचशास्त्र का चार भागों में सम्पादन किया। जिसका प्रथम भाग १–७ अध्याय बड़ौदा ओरियण्टल संस्कृत सीरिज, बड़ौदा से १९२६ ई० में प्रकाशित हुआ। इसके बाद द्वितीय भाग ८–१८ अध्याय का प्रकाशन १९३४ ई० मे प्रकाशित किया गया। तृतीय भाग १९–२७ अध्याय तक का प्रकाशन १९५४ ई० में हुआ। इसके बाद चतुर्थ भाग २८–३७ तक १९५४ ई० में प्रकाशित हुआ। तदनन्तर रामास्वामी ने अभिनवभारती के प्रथम भाग का संशोधित द्वितीय संस्करण १९५६ ई० में प्रकाशित किया। इस प्रकार अभिनव-भारती के साथ नाटचशास्त्र का चार भागों में पूर्ण प्रकाशन किया गया।

इसके अतिरिक्त हिन्दी अनुवाद के साथ अभिनवभारती के दो अधूरे संस्करण प्रकाशित हुए हैं। प्रथम मधुसूदन शास्त्री ने अभिनवभारती के साथ नाटचशास्त्र के १-१८ अध्याय तक हिन्दी अनुवाद के साथ दो भागों में प्रकाशित किया है। द्वितीय आचार्य विश्वेश्वर ने प्रथम, द्वितीय एवं षष्ठ अध्यायों की हिन्दी-व्याख्या प्रकाशित की है।

सम्प्रति सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के पूर्व साहित्य-संस्कृतिसंकायाध्यक्ष डॉ० पारसनाथ द्विवेदी ने सम्पूर्ण अभिनवभारती एवं नाटचशास्त्र का पाठ-शोधन कर हिन्दी अनुवाद एवं समालोचनात्मक विस्तृत व्याख्या लिखी है। यह व्याख्या अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं पठनीय है। ऐसी व्याख्या हिन्दी में अभी तक नहीं लिखी जा सकी है। इसके दो भाग छप चुके हैं, शेष भाग प्रकाशनाधीन हैं। यह ग्रन्थ ५ या ६ भागों में पूर्ण होगा।

अभिनवगुप्त के प्रमुख सिद्धान्त

रससिद्धान्त—अभिनवगुप्त के रस-सिद्धान्त का विस्तृत विवरण के लिए इस ग्रन्थ के लेखक डॉ० पारसनाथ द्विवेदी द्वारा व्याख्यात नाटचशास्त्र एवं अभिनवभारती की षष्ठ अध्याय में रससूत्र की व्याख्या देखिए। यहाँ हम केवल संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं। अभिनवगुप्त के अनुसार नट के द्वारा अभिनय के प्रभाव से प्रत्यक्ष के समान प्रतीयमान एकाग्र मन की निश्चलता से अनुभवनीय नाटक एवं काव्य-विशेष से प्रकाश्य अर्थ 'नाटच' है। यह नाटच विभावादि के अनन्त होने के कारण अनन्त विभावादि रूप है, किन्तु सभी विभावों के ज्ञान में पर्यवसित होने से तथा ज्ञान का भोक्ता में और भोक्ता का प्रधान भोक्ता (नायक) में पर्यवसान होने से नायक की रत्यादि रूप स्थायीभावात्मक चित्तवृत्ति रूप अर्थ नाटच है[1]। यह चित्तवृत्ति स्वकीय-परकीय भेद से रहित लौकिक गीत, गेयपदादि, लास्य के दस अङ्ग से युक्त, स्वीकृत लक्षणसम्पन्न, गुण, अलङ्कार, गीत, वाद्य आदि के संयोग से मनोहारित्व को प्राप्त होकर काव्य की महिमा एवं प्रयोग-परम्परा के अभ्यास-विशेष के प्रभाव से साधारणीकरण की भूमि को प्राप्त कर सामाजिकों को भी अपनी सीमा में प्रविष्ट कराकर तथा दोनों की चित्तवृत्ति में तादात्म्य होने के कारण अनुमान, आगम एवं परकीय लौकिक चित्तवृत्ति से विलक्षण रूप में प्रतीत होने वाली नायक के अपने परिमित स्वरूप के आश्रय से प्रतीत न होने के कारण लौकिक अङ्गना

---

१. नाटचं नाम नटगताभिनयप्रभावसाक्षात्कारायमाणैकघनमानसनिश्चलाध्यवसेयः समस्तनाटकाद्यन्यतमकाव्यविशेषाच्च द्योतनीयोऽर्थः। स च यद्यप्यनन्तविभावाद्यात्मा, तथापि सर्वेषां जडानां संविदि, तस्याश्च भोक्तरि भोक्तृवर्गस्य च प्रधाने भोक्तरि पर्यवसानान्नायकाभिधानभोक्तृविशेषस्थायिचित्तवृत्तिस्वभावः।

(अभिनवभारती, भाग १ पृ० २६६)

आदि से उत्पन्न अपनी रति एवं शोक के समान अन्य चित्तवृत्ति को उत्पन्न करने में असमर्थ होने से निर्बाध अनुभूति नामक व्यापार के द्वारा गृहीत होने से 'रस' शब्द से अभिहित होती है[1]।

इस प्रकार अभिनव के अनुसार नाट्य ही रस है और रस ही 'नाट्य' है, क्योंकि नाट्य की पूर्णतः अनुभूति रस में ही होती है। इस नाट्य-रस के अन्तर्गत अन्य सभी रसों की स्थिति गौण होती है और ये प्रधान रस का ज्ञान समुदाय रूप में करवाते हैं। यह रस नाट्य-समुदाय से व्यक्त होता है अथवा नाट्य ही रस है। इस प्रकार रससमुदाय ही नाट्य है। केवल नाट्य में ही रस नहीं होता है अपितु दृश्य काव्य में भी नाट्य रूप ही 'रस' होता है[2]।

इस प्रकार अभिनवगुप्त के अनुसार लौकिक सुख-दुःखात्मक भाव के सदृश उन्हीं संस्कारों से सम्पृक्त समुदाय रूप अर्थ नाट्य है और अभिनय भी उसी नाट्य का एक भाग है। अभिनय या नाट्य ही तादात्म्यप्रतीति है और तादात्म्यप्रतीति ही वह महारस है जो दर्शकों को आनन्द रस में निमग्न कर देता है। इस प्रकार यह नाट्यरस आनन्दरूप है। अभिनव की दृष्टि में रसरूप में आनन्दमय ज्ञानरूप आत्मा का ही आस्वादन होता है। आत्मा आनन्द रूप है और रस भी आस्वाद्यता के कारण आनन्दरूप है[3]। इस प्रकार तादात्म्य रूप आस्वाद्यता नाट्य है और नाट्य ही रस है। इस विषय में विशेष विवरण इस पुस्तक के रससिद्धान्त-विवेचन प्रकरण में देखिए।

अभिनवगुप्त नाट्यरस को सुख-दुःखात्मक मानते हैं। उनके अनुसार शृङ्गार, हास्य, वीर और अद्भुत—ये चार रस सुखात्मक हैं, किन्तु उनमें भी दुःख का किञ्चिदंश रहता है। करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक—ये चार रस दुःखात्मक हैं, किन्तु इनमें भी सुख का किञ्चिदंश विद्यमान रहता है। इनके अतिरिक्त अभिनव ने 'शान्त' नामक नवाँ रस भी स्वीकार किया है और उसे सब रसों का मूल माना है। शान्त रस का स्थायीभाव 'शम' है। उन्होंने शान्त रस को नितान्त सुखात्मक माना है। इस प्रकार अभिनवगुप्त के अनुसार रस नौ हैं।

अभिव्यक्तिवाद—रस-निष्पत्ति के सम्बन्ध में अभिनव ने अनेक व्याख्याकारों के मतों को अभिनवभारती में उद्धृत किया है। उनमें भट्टलोल्लट, श्रीशङ्कुक,

---

१. वही, भाग १ पृ० २६६-६७।

२. नाट्यात्समुदायाद्रसाः। यदि वा नायमेव रसाः। रससमुदायो हि नाट्यम्। नाट्य एव च रसाः। काव्येऽपि नाट्यायमान एव रसः।

(वही, भाग १ पृ० २९)

३. अभिनवभारती, भाग १ पृ० २९२।

भट्टनायक, भट्टतौत प्रमुख हैं। अभिनव ने उनके मतों की आलोचना करते हुए खण्डन कर भट्टनायक के 'भुक्तिवाद' से प्रेरणा लेकर 'अभिव्यक्तिवाद' की स्थापना की है। उनके अनुसार भरत के रससूत्र के 'संयोग' पद का अर्थ 'व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव सम्बन्ध' और 'निष्पत्ति' पद का अर्थ 'अभिव्यक्ति' है। उनके मतानुसार विभावादि के साथ व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव से रत्यादि स्थायीभाव रस के रूप में अभिव्यक्त होता है।

रस की अलौकिकता—अभिनवगुप्त के अनुसार रस अलौकिक होता है। उनका कहना है कि रस की निष्पत्ति विभावादि कारणों से नहीं होती, अतः रस कार्य नहीं है और विभावादि उसके कारक हेतु नहीं है; क्योंकि विभावादि ज्ञान के नष्ट हो जाने पर भी रस की सम्भावना बनी रहती है (**अत एव विभावादयो न निष्पत्तिहेतवो रसस्य, तद्बोधापगमेऽपि रससम्भवप्रसङ्गात्**)। इसी प्रकार रस ज्ञाप्य भी नहीं है और न विभावादि रस के ज्ञापक हेतु हैं। क्योंकि पूर्वसिद्ध घट के समान प्रमेयभूत रस का पूर्व अस्तित्व नहीं रहता (**नापि ज्ञप्तिहेतवः, येन प्रमाणमध्ये पतेयुः। सिद्धस्य कस्यचित् प्रमेयभूतस्य रसस्याभावात्**)। इस प्रकार चर्वणा के उपयोगी यह विभावादि व्यवहार अलौकिक है और लौकिक विषयों से भिन्न होना रस की अलौकिकता-सिद्धि का भूषण है। अतः रस न कार्य है और न ज्ञाप्य है, अपितु दोनों से विलक्षण है, अलौकिक वस्तु है।

इस प्रकार रस लौकिक ज्ञान से सर्वथा विलक्षण स्वसंवेदन का विषय है और स्वसंवेदन रूप होने के कारण सत्य है, अप्रामाणिक नहीं। अतः रसना (चर्वणा) बोध रूप है, किन्तु विभावादि उपायों के लौकिक विलक्षणता के कारण अन्य लौकिक प्रमाणों से विलक्षण है, भिन्न है, अलौकिक है, अनिर्वचनीय है और आनन्द रूप है। क्योंकि विभावादि के योग से रसना (आस्वादन) की निष्पत्ति होती है। अतएव उस प्रकार के (रसना) (आस्वाद) का विषयभूत लोकोत्तर अर्थ 'रस' है। यह अभिनवगुप्त का अभिप्राय है[१]।

नाट्यसिद्धान्त

रूपक एवं उपरूपक—अभिनवगुप्त के अनुसार 'नाट्य' शब्द नमनार्थक 'नट्' धातु से निष्पन्न होता है। इसमें अभिनेता स्व-भाव को त्याग कर पर-भाव को ग्रहण करता है, रूप धारण करता है, अतः वह नाट्य या रूपक

---

१. रस-विषयक विस्तृत विवरण लेखक डॉ० पारसनाथ द्विवेदी द्वारा व्याख्यात नाट्यशास्त्र एवं अभिनवभारती की व्याख्या (षष्ठ अध्याय) में तथा लेखक द्वारा कृत काव्यप्रकाश की व्याख्या पृ० १४४-१४६ पर देखिए।

कहलाता है[1]। अभिनव के अनुसार रूपक के दस भेद हैं—नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, वीथी, प्रहसन, ईहामृग और अङ्क।

उपरूपक—अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में डोम्बिका, भाण, प्रस्थान, भाणिका, षिद्गक (शिल्पक), रामाक्रीड, हल्लीस और रासक—इन आठ प्रकार के नृत्तात्मक रागकाव्यों का उल्लेख किया है और उनका संक्षिप्त लक्षण भी प्रस्तुत किया है। ये रागकाव्य उपरूपक कहे जाते हैं। अभिनव के अनुसार ये नृत्तगीतप्रधान रूपक हैं। इन्हें ही उपरूपक कहते हैं। इतिवृत्तविधान एवं पात्रविवेचन में उन्होंने भरत का अनुसरण किया है।

पूर्वरङ्गविधान—अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती के पञ्चम अध्याय में पूर्वरङ्गविधान का विस्तृत विवेचन किया है। अभिनव के अनुसार रङ्ग पर जो पहले (पूर्व में) प्रयोग किया जाता है उसे 'पूर्वरङ्ग' कहते हैं (**पूर्वो रङ्गे इति पूर्वरङ्गः**)। इस प्रकार नाट्य-प्रयोग के पूर्व सम्पन्न होने वाली विधियों को 'पूर्वरङ्ग' कहा जाता है। भरत ने पूर्वरङ्ग के उन्नीस अङ्गों का निर्देश किया है। इनमें प्रत्याहार, अवतरण, आरम्भ, आश्रवणा, वक्त्रपाणि, परिघट्टना, संघोटना, मार्गासारित और आसारित—इन नौ पूर्वरङ्ग-विधियों का यवनिका (जवनिका) के अन्तर्गत प्रयोग होता है। इसके बाद यवनिका को हटाकर पूर्वरङ्ग की गीतक, उत्थापन, परिवर्त्तन, नान्दी, शुष्कावकृष्ट, रङ्गद्वार, चारी, महाचारी, त्रिगत तथा प्ररोचना—इन दस अङ्गों का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार यवनिका के बहिर्भूत गीतक आदि दस अङ्गों का प्रयोग किया जाना चाहिए। इसके बाद वर्धमानक और वर्धमानक के बाद ध्रुवागीतों का प्रयोग करना चाहिए।

नाट्यमण्डप—अभिनवगुप्त ने रङ्गपीठ और रङ्गशीर्ष को अलग-अलग मानकर नाट्यमण्डप की रूपरेखा प्रस्तुत की है। उनके अनुसार विकृष्ट (आयताकार) मध्यम नाट्यमण्डप की रचना चौसठ हाथ लम्बी और बत्तीस हाथ चौड़ी भूमि पर करनी चाहिए। पहले भूमि को दो भागों में बाँट कर एक भाग प्रेक्षकों के बैठने के लिए निर्धारित करे। फिर दूसरे भाग के भी बराबर दो खण्ड करे। उनमें आठ लम्बे और बत्तीस हाथ चौड़े एक भाग में रङ्गपीठ और आठ लम्बे बत्तीस हाथ चौड़े दूसरे भाग में रङ्गशीर्ष की रचना करे। फिर बचे हुए सोलह हाथ लम्बे और बत्तीस हाथ चौड़े भाग में नेपथ्य-गृह बनाये।

मत्तवारणी—मत्तवारणी का अर्थ है बरामदा। अभिनव के अनुसार रङ्गपीठ के दोनों ओर आठ हाथ लम्बी और आठ हाथ चौड़ी समचतुरस्र मत्तवारणी बनानी चाहिए। मत्तवारणी की ऊँचाई डेढ़ हाथ होनी चाहिए।

---

१. नट नताविति नमनं स्वभावत्यागेन प्रह्वीभावलक्षणम्।
(अभिनवभारती, भाग ३ पृ० ८०)

प्रथम षड्दारक से समन्वित रङ्गशीर्ष का निर्माण करे। इसके बाद रङ्गपीठ का निर्माण करे; किन्तु रङ्गशीर्ष रङ्गपीठ की अपेक्षा ऊँचा होना चाहिए[1]।

सङ्गीत-सिद्धान्त

स्वर––अभिनवगुप्त के अनुसार जो स्वयं अपने में जाति, राग, भाषा आदि भेदों में राजित होता है वह 'स्वर' है (**स्वयं स्वेषु जातिरागभाषाभेदेषु राजन्त इति स्वराः**)। अभिनवगुप्त अभिनवभारती में अनेक आचार्यों के मतों के प्रस्तुत करने के पश्चात् अपना मत प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि श्रुतिस्थान पर आघात से उत्पन्न शब्दों से प्रभावित अनुरणन रूप स्निग्ध एवं मधुर नाद ही 'स्वर' है। इस प्रकार श्रुतियाँ ही स्वरों की जननी हैं। सङ्गीत के सात स्वर हैं—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद। अभिनवगुप्त का कथन है कि वास्तव में स्वर तीन हैं—षड्ज, ऋषभ और गान्धार; और पञ्चम, धैवत और निषाद—ये तीन स्वर तो षड्ज, ऋषभ और गान्धार के परिणामों के आवृतिमात्र हैं तथा मध्यम तो इन स्वरों के मध्य में होने के कारण ध्रुवस्थानीय है। उच्चत्व के कारण चतुःश्रुति स्वर उदात्त है, नीचैस्त्व के कारण द्विश्रुति स्वर अनुदात्त है और मध्यवर्त्ती होने के कारण त्रिश्रुति स्वर स्वरित होते हैं। श्रोत्रिय स्वरित में ही कम्पत्व का व्यवहार करते हैं। इस प्रकार स्वरों के क्रमशः दो त्रिक बनते हैं—प्रथम त्रिक में षड्ज, ऋषभ और गान्धार हैं और द्वितीय त्रिक में पञ्चम, धैवत और निषाद हैं। मध्यम तो इन दोनों के मध्यस्थानीय होने के कारण ध्रुवस्थानीय है।

स्वरों के आरोहावरोहण क्रम को मूर्च्छना कहते हैं। मूर्च्छना दो प्रकार की होती है—सप्तस्वरमूर्च्छना और द्वादशस्वरमूर्च्छना। सप्तस्वरमूर्च्छनाओं के आधार ग्राम हैं। ग्राम दो होते हैं—षड्ज ग्राम और मध्यम ग्राम। प्रत्येक ग्राम में सात स्वर कुल चौदह स्वर होते हैं। प्रत्येक स्वर में चार-चार मूर्च्छनाएँ होती हैं। इस प्रकार कुल छप्पन मूर्च्छनाएँ होती हैं। मतङ्ग आदि आचार्य द्वादशस्वरमूर्च्छना मूर्च्छना मानते हैं, किन्तु अभिनवगुप्त द्वादशस्वरमूर्च्छना को नहीं मानते हैं। उन्होंने द्वादशस्वरमूर्च्छनावाद का खण्डन किया है।

अभिनवगुप्त के अनुसार स्वरों के चार प्रकार हैं—वादी, संवादी, विवादी और अनुवादी। इनमें वादी स्वर राजा की तरह मुख्य होता है, संवादी स्वर अमात्यस्थानीय होता है, विवादी स्वर शत्रु के समान होते हैं और अनुवादी स्वर परिजन की तरह वादी स्वर के सहायक होते हैं। अभिनवगुप्त के अनुसार राग दो होते हैं—शुद्ध राग और देशी राग। राग के द्वारा श्रोता के मन का

---

१. नाट्यमण्डप के निर्माण के सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिए लेखक डॉ० पारसनाथ द्विवेदी व्याख्यात नाट्यशास्त्र एवं अभिनवभारती की हिन्दी व्याख्या में द्वितीय अध्याय में देखिए।

अनुरञ्जन होता है। राग के तीन स्वर प्रधान हैं—ग्रह, अंश और न्यास। सङ्गीत का आरम्भिक स्वर 'ग्रह' होता है। स्वरों में प्रधान स्वर 'अंश' स्वर कहलाता है। अंश स्वर के प्रयोग होने पर ही राग की अभिव्यक्ति होती है। गीत के परिसमाप्ति काल का स्वर 'न्यास' होता है।

कीर्त्तिधर

जीवनवृत्त—कीर्त्तिधर रस और सङ्गीत के प्रामाणिक आचार्य एवं नाटच-शास्त्र के व्याख्याता रहे हैं। शार्ङ्गदेव ने नाटचशास्त्र के टीकाकार के रूप में इनका उल्लेख किया है[१]। अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में सम्मानसूचक 'कीर्त्तिधराचार्य' के नाम से सम्मानित किया है। अभिनवगुप्त ने नाटच और नृत्त के भेदाभेद-निरूपण के प्रसङ्ग में कीर्त्तिधराचार्य का मत प्रस्तुत किया है। कीर्त्तिधराचार्य के अनुसार 'चित्राभिनय के द्वारा अथवा अन्य किसी प्रकार से करणों का प्रयोग होता है। अभिनय आदि पदों का प्रयोग तो नाटच की तरह नृत्त में भी होता है'। अतः नृत्त भी नाटच ही है अर्थात् नाटच और नृत्त में भेद नहीं है[२]। अभिनवगुप्त का कथन है कि 'मैंने नन्दिकेश्वर का ग्रन्थ नहीं देखा है, किन्तु कीर्त्तिधराचार्य ने नन्दिकेश्वर के मतानुसार 'चित्रपूर्वरङ्गविधि' का निरूपण किया है। अतः मैं नाटचशास्त्र के प्रामाणिक आचार्य कीर्त्तिधर के वर्णन पर विश्वास करके नन्दिकेश्वर के मत का उल्लेख कर रहा हूँ'[३]। इस प्रकार अभिनव ने नाटच, नृत्त और गेयाधिकार के प्रसङ्ग में कीर्त्तिधराचार्य का उल्लेख किया है।

प्रो० रामकृष्ण कवि के अनुसार कीर्त्तिधर नाटचशास्त्र के व्याख्याता रहे हैं। अभिनव ने इनके मत को प्रामाणिक रूप में उद्धृत किया है। जयसेनापति ने करण-लक्षण के प्रसङ्ग में अनेक बार इनका नाम स्मरण किया है[४]। इससे ज्ञात होता है कि ये संगीत के भी प्रामाणिक आचार्य थे। रामकृष्ण कवि के अनुसार कीर्त्तिधराचार्य के ग्रन्थ का नाम 'कीर्त्तिधरीयम्' है। यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। कीर्त्तिधर की दूसरी रचना का नाम 'भरतोत्तरम्' है। सर्वेश्वर ने

---

१. सङ्गीतरत्नाकर।

२. चित्राभिनयेन वान्ये(बाल्ये)न करणप्रयोग एव। अभिनेयपदादीनां च नाटचेऽपि सक्तेति नाटचमेवेदमिति कीर्त्तिधराचार्यः।

(अभिनवभारती, भाग १ पृ० २०६)

३. यत्कीर्त्तिधरेण नन्दिकेश्वरमतागमित्वेन दर्शितं तदस्माभिः साक्षान्न दृष्टम्। तत्प्रत्ययात्तु लिख्यते सङ्क्षेपतः।······एवं नन्दिकेश्वरमतानुसारेणायं चित्रपूर्वरङ्गविधिर्निबद्धः।

(अभिनवभारती, भाग ४ पृ० १२०, १२२)

४. भरतकोष, पृ० १३७ तथा ४३१।

इस ग्रन्थ का स्मरण किया है। यह ग्रन्थ भी आज उपलब्ध नहीं है। धनञ्जय ने इसकी व्याख्या लिखी थी, किन्तु वह भी आज उपलब्ध नहीं है।

प्रो० रामकृष्ण कवि के अनुसार कीर्त्तिधर का समय ९०० विक्रमी संवत् माना जाता है। मेरे विचार से उनका समय सप्तम शताब्दी मानना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

कीर्त्तिधराचार्य का मत—अभिनवगुप्त ने कीर्त्तिधर के मतों का उल्लेख अभिनवभारती में किया है। उन्होंने उनतीसवें अध्याय में पूर्वरङ्ग के अङ्गों के विवेचन के प्रसङ्ग में कीर्त्तिधर का मत तथा उनका एक श्लोक भी उद्धृत किया है—

'एवमगस्त्यादिचतुष्केण गुरुलघुरन्यक्रमेण यथाक्रमं सप्तसु ध्रुवासु गीतास्वपरिग्रहात्मावतरणप्रयुक्तं भवति। अव्यवधानेन भवतीति कीर्त्तिधराचार्येण लिखितम्'। (अभिनवभारती, भाग ४ पृ० १११)

तथा एतदुक्तम्—

'प्राह्लमेककलं साम द्विकलं वह्निजं तथा।
चान्द्रं तु द्विकलं शुष्कं पूर्वयोः सार्थकं पदम्॥
(अभिनवभारती, भाग ४ पृ० १११)

इति कीर्तिधराचार्यः।

कुम्भ ने कीर्त्तिधराचार्य का मत उद्धृत करते हुए लिखा है—

अव्युत्पन्नमिदं सूत्रमिति कैश्चिदनूनुदत्।
अहेतुत्वेन भावानां हेतुत्वस्यानुकीर्त्तनात्॥
प्रमाद्यं लोल्लटोऽत्राह घटतेदं यदा भवेत्।
षष्ठी समासः किन्त्वत्र समासोऽयं तृतीयया॥
विभावाद्यैः स्थायिनोऽत्र संयोगस्तन्मते मतः।
अर्थाक्षिप्तस्थायिनोऽत्र भवेत्सापेक्षिता ततः॥
सापेक्ष्यमसमर्थं स्यात्सामर्थ्याभावतस्ततः।
समासाभावतः षष्ठीसमासः सम्मतस्त्विह।
इति कीर्त्तिधराचार्यमतस्यानुमतेन हि॥
(भरतकोष, पृ० ८१८)

नान्यदेव

जीवनवृत्त—भरतभाष्य के अनुसार नान्यदेव मिथिला के राजा थे। उक्त ग्रन्थ के पुष्पिकालेख में उन्हें 'महासामन्ताधिपति', 'धर्मावलोक', 'मिथिलाधिपति' आदि विशेषणों से विभूषित कहा गया है[1]। प्रो० रामकृष्ण कवि के

१. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (दे), पृ० ४२।

अनुसार नान्यदेव मिथिला के कर्णाटकजातीय राष्ट्रकूटवंशीय राजाओं में अन्यतम थे। दे के अनुसार ये कर्णाटक (मैथिल) राजवंश के संस्थापक थे। इनके भाई कीर्त्तिराज काशी के राजा थे और नान्यदेव मिथिला के राजा थे। नान्यदेव ने अपने भाई कीर्त्तिराज को नेपाल के राजसिंहासन पर प्रतिष्ठित किया था। ये मोहनमुरारि, क्ष्मापालनारायण, राजनारायण आदि विरुद से प्रतिष्ठित थे[1]।

रचनाएँ—नान्यदेव की प्रमुख रचना 'सरस्वतीहृदयालङ्कार' है। इसी का दूसरा नाम 'भरतभाष्य' है। कई जगह इसे भरतवार्त्तिक' भी कहा गया है। यह ग्रन्थ भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना के हस्तलिखित ग्रन्थों का सूचीभाग १२, पृष्ठ ३७७-३८३, संख्या १११, १८६९-७० के रूप में उपलब्ध है। पुष्पिकाओं में इसके रचयिता का नाम नान्यपति अथवा नान्यदेव बताया गया है। इस ग्रन्थ के देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें अभिनय के चार प्रकारों के वृहद् रूप में विवेचन की योजना रही होगी, किन्तु केवल वाचिक अभिनय की चर्चा है और मुख्य रूप से यह नाट्यशास्त्र के अट्ठाइसवें अध्याय से लेकर तैंतीसवें अध्याय तक के अध्यायों से सम्बन्धित है, जिसमें संगीत की चर्चा है। इसके सतरह अध्यायों में से पन्द्रह अध्याय ही उपलब्ध हैं। इसमें पाँचवें, सोलहवें एवं सतरहवें अध्यायों का लोप दिखायी देता है। यह हस्तलिखित प्रति अत्यन्त त्रुटिपूर्ण है, फिर भी विषय-विचार की दृष्टि से यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ में आपिशलि, पाणिनि, विशाखिल, काश्यप, मतङ्ग, याष्टिक, शतातप, दत्तिल, नारद, देवराज, स्वाति, तुम्बुरु आदि आचार्यों के उद्धरण उद्धृत किये गये हैं[2]।

नान्यदेव ने 'ग्रन्थमहार्णव' नामक अपनी एक अन्य कृति का भी उल्लेख किया है।

नान्यदेव का समय

नान्यदेव के समय-निर्धारण में एक कठिनाई है कि उनके ग्रन्थ सरस्वती-हृदयालङ्कार में निःशङ्कदेव का दो बार उल्लेख हुआ है[3]। यह निःशङ्कदेव सङ्गीतरत्नाकर का रचयिता निःशङ्कशार्ङ्गदेव प्रतीत होता है। शार्ङ्गदेव का समय १२३३–१२७० ई० के मध्य माना जाता है। इस आधार पर नान्यदेव

---

१. भरतकोष, पृ० ३२६।

२. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (दे), पृ० ४२ तथा (काणे) पृ० ७६।

३. लक्ष्यप्रधानं खलु शास्त्रमेतन्निःशङ्कदेवोऽपि तदेव वक्ति ॥ ४ ॥
नोपाधिदेवस्य विकारभेदं निःशङ्कसूरिः खलु कूटताने ॥ २३ ॥
(भरतभाष्य ४, २३)

का समय इसके बाद होना चाहिए, किन्तु इस विषय में कोई प्रमाण नहीं है कि भरतभाष्य में उल्लिखित निःशङ्कदेव निःशङ्कशार्ङ्गदेव ही हैं। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि मिथिला का राजा कोई और नान्यदेव रहा होगा। अथवा भरतभाष्य में निःशङ्कदेव का उल्लेख प्रक्षिप्त हो सकता है। क्योंकि डॉ० यस० के० दे के अनुसार मिथिला के राजा नान्यदेव ही कर्णाटक राजवंश के संस्थापक थे और उन्होंने १०९७–११४७ तक मिथिला में राज्य किया था[१]। म० म० काणे ने भी इसी मत को स्वीकार किया है[२]। प्रो० रामकृष्ण कवि का भी कहना है कि नान्यदेव ने १०८० ई० के आसपास मिथिला में राज्य किया था[3]। अतः नान्यदेव का समय १०८० ई० के बाद मानना अधिक युक्तिसंगत है।

डॉ० आर० सी० मजूमदार का कथन है कि राजा विजयसेन १०९५ ई० में बंगाल की राजगद्दी पर आरूढ़ हुआ था। उसका शासनकाल १०९५ से ११५८ ई० तक माना जाता है। उसने मिथिलानरेश नान्यदेव को हराया था[४]। इससे प्रतीत होता है कि नान्यदेव ग्यारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में विद्यमान था। अतः नान्यदेव का समय १०८० से ११५० ई० के मध्य मानना चाहिए।

नान्यदेव का सङ्गीत-सिद्धान्त

स्वर––नान्यदेव के अनुसार जो स्वयं अपने को अनुरञ्जित करता है वह स्वर है।

'स्वयमात्मानं रञ्जयति निपातनादिति स्वरनिरुक्तिः'।

(नान्यदेव : भरतकोष, ७५५)

उन्होंने स्वर के छः अङ्ग बताये हैं—विच्छेद, अर्पण, विसर्ग, उद्दीपन, अनुबन्ध और प्रसङ्ग[५]।

ग्राम––ग्राम शब्द समूहवाची है। ग्राम तीन हैं—षड्ज ग्राम, मध्यम ग्राम और गान्धार ग्राम। इनमें भरत ने षड्ज और मध्यम ग्राम को स्वीकार किया है। नारद का कथन है कि गान्धार ग्राम का प्रयोग केवल स्वर्ग में ही होता है। नारद तथा नान्यदेव ने गान्धार ग्राम तथा तज्जन्य रागों का वर्णन किया है। नान्यदेव ने लौकिक विनोद के लिए गान्धार ग्रामजन्य रागों का प्रयोग

---

१. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (दे), पृ० ४२।

२. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (काणे), पृ० ७७–७८।

३. भरतकोष, पृ० ३८६।

४. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (काणे), पृ० ७८।

५. विच्छेदोऽर्पणो विसर्गोऽनुबन्धोद्दीपने प्रसङ्गमिति षडङ्गानि।

(भरतकोष ७५६)

उपयुक्त बताया है, किन्तु सोमेश्वर ने लौकिक विनोद (व्यवहार) के लिए गान्धार-ग्राम राग का प्रयोग निषिद्ध बताया है[1]। नवतन्त्री वीणा पर भरतोक्त स्वर-व्यवस्था के सम्बन्ध में नान्यदेव का विचार निम्नलिखित है—

विपञ्च्यां नवतन्त्रीषु स्वराः सप्त तथापरौ ।
काकल्यन्तरसंज्ञौ च द्वौ स्वरावित्यमानि च ॥ (नान्यदेव)

नान्यदेव का कथन है कि श्रुतियाँ, स्वर, मूर्च्छनाएँ और नाना प्रकार के तानें सभी एकतन्त्री वीणा में प्रतिष्ठित हैं[2]। उनके अनुसार एकतन्त्री वीणा का अपर नाम 'ब्रह्मवीणा' है[3]।

मूर्च्छना—मूर्च्छना के सम्बन्ध में नान्यदेव का कथन है कि जिस स्वर से आरोह (उच्छ्राय) होता है उसी स्वर से जब समाप्ति होती है तब मूर्च्छना होती है। जैसे षड्ज ग्राम में प्रथम मूर्च्छना का स्वरसन्निवेश 'स रि ग म प ध नि स' होने पर 'षड्ज' मूर्च्छित होता है—

'तत्र येनैव स्वरेणोच्छ्रायः प्रवर्त्तते, तेनैव स्वरेण यदा समाप्तिरपि भवति, तदा मूर्च्छना जायते। यथा षड्जग्रामे प्रथमायां मूर्च्छनायां 'स रि ग म प ध नि से'ति स्वरसन्निवेशे सति षड्जो मूर्च्छति'।

(भरतकोष, पृ० ५०२)

इनके अतिरिक्त नान्यदेव ने जाति-लक्षण के विवेचन में अपने मौलिक विचार प्रस्तुत किये हैं।

गीति—नान्यदेव के अनुसार वर्ण पद से गीति का ग्रहण होता है, वर्ण से अक्षर-विशेष का ग्रहण नहीं होता है और न वर्ण शब्द से षड्ज आदि सात स्वरों का ग्रहण होता है। पदग्राम में नियम न होने से ये स्वेच्छा से प्रयोग किये जाते हैं। षड्ज आदि भी अविशेष रूप से अवरोहादि धर्म के आश्रित पाये जाते हैं। अतः वर्ण ही गीति है। यह गीति चार प्रकार की होती है—मागधी, अर्धमागधी, सम्भाविता और पृथुला[4]।

---

१. गान्धारग्रामस्य केवलं स्वर्गे प्रयुक्तत्वं नारदेनाभिहितम्। नारदेन तदनुसारिणा नान्यदेवेन च गान्धारग्रामजातरागा निर्दिष्टाः। नान्यदेवेन लौकिकविनोदे च ते प्रयोज्यन्ते। ते लौकिकप्रयोगेष्वप्रशस्ता इति सोमेश्वरेणोक्तम्।
(भरतकोष, पृ० ५४२)

२. श्रुतयोऽथ स्वरा मूर्च्छास्ताना नानाविधास्तथा।
एकतन्त्रीवीणायां सर्वमेतव् प्रतिष्ठितम् ॥
(भरतकोष, पृ० ८९)

३. इयं ब्रह्मवीणेत्यपि कथ्यते। (भरतकोष, पृ० ८९)

४. 'अत्र वर्णशब्देन गीतिरभिधीयते। नाक्षरविशेषः। नापि षड्जादि सप्तस्वराः। पदग्राम त्वनियमादेव स्वेच्छया प्रयुज्यन्ते। षड्जादिस्वरान्तानाम-

हरिपाल

जीवनवृत्त––हरिपाल सौराष्ट्र देश का चालुक्यवंशीय स्वतन्त्र राजा था। इनकी राजधानी अभिनवपुर (नवानगर) थी। हरिपाल भीमदेव का पुत्र था और विचारचतुर्मुख, हरिप्रिय आदि विरुदों से अलङ्कृत था[1]। रामकृष्ण कवि के अनुसार इनका समय ११७५ ई० माना जाता है। इन्होंने श्रीरङ्गम् में कावेरी नदी के तट पर नाटचविद्या से सम्बद्ध नारियों के लिए 'सङ्गीत-सुधाकर' नामक ग्रन्थ की रचना की थी[2]। 'सङ्गीतसुधाकर' में कुल पाँच अध्याय थे। प्रथम अध्याय में नृत्त का विवेचन है। द्वितीय और तृतीय अध्याय में वाद्य का विवेचन किया गया है। चतुर्थ अध्याय में गीत का प्रतिपादन है और पञ्चम अध्याय में वृत्तियों पर विचार किया गया है।

मान्यताएँ—हरिपाल ने वीणा के चार प्रकार बताये हैं—किन्नरी वीणा, कैलास वीणा, पिनाकी वीणा और आकाश वीणा। हरिपाल के अनुसार एक-तन्त्री वीणा स्वरों की सारणा बाँस की बनी हुई एक बारह अंगुल की सलाई से की जाती थी, जिसे 'कम्रिका' कहा जाता था[3]।

हरिपाल ने पाँच प्रकार की वृत्तियों का उल्लेख किया है। उन्होंने भारती, सात्वती, आरभटी और कैशिकी के अतिरिक्त ब्राह्मी वृत्ति भी स्वीकार की है—

ब्राह्मी नाम भवेद्वृत्तिर्ब्रह्मशान्ताद्भुताश्रया।
ब्राह्मी ब्रह्मोद्भवा तत्र शेषा नारायणोद्भवा॥

(भरतकोष-भूमिका, पृ० ७)

हरिपाल ने शुद्ध, छायालग आदि वर्गीकरण और रागाङ्ग, भाषाङ्ग, क्रियाङ्ग आदि पर भी विचार किया है। इन्होंने सत्तर रागों का निदर्शन भी किया है। करणों का विवेचन महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने १३० करणों को स्वीकार किया है। करण और नृत्त प्रकरण में नन्दिकेश्वर एवं कीर्त्तिधर का अनुसरण किया है। यद्यपि ये भरत के अनुयायी प्रतीत होते हैं, तथापि नन्दिकेश्वररचित

प्यविशेषेण वाऽवरोहादिधर्माणं प्रत्येव समुपलभ्यते। अतो वर्ण एव गीतिरिति व्यवस्थितम्। सोऽपि चतुर्विधो मागध्यादिः।' (भरतभाष्यम्)

(अभिनवभारती, भाग १ पृ० २५३)

१. भरतकोष।

२. स सर्वविद्याश्रमवेदिनीनां गोपायिता धूर्जरचक्रवर्त्ती।
व्यधत्त सङ्गीतसुधाकराख्यं प्रबन्धमालोडितपूर्वशास्त्रः॥

(भरतकोष-भूमिका, पृ० ७)

३. भरतकोष, पृ० ४२७।

भरतार्णव से बहुत कुछ लिया है। इन्होंने अपने ग्रन्थ में तुम्बुरु और कोहल को भी उद्धृत किया[1]।

भट्टगोपाल

आर्यावर्त्तदेश में मेरूत्तर प्रदेश के माठरपूजा नामक ग्राम में भट्टगोपाल के पितामह लक्ष्मण निवास करते थे। लक्ष्मण धार्मिक प्रवृत्ति के विद्वान् थे। उन्होंने वेदों पर 'वेदभूषण' नामक 'भाष्य' लिखा था। लक्ष्मण का पुत्र श्रीकृष्ण हुआ। श्रीकृष्ण समस्त वेदों और शास्त्रों का ज्ञाता था। उसने पुत्र-प्राप्ति की कामना से वाराणसी में शिव की आराधना की और शिव की कृपा से भट्टगोपाल नामक सुन्दर पुत्र की प्राप्ति हुई। भट्टगोपाल अठारह विद्याओं में निष्णात था। उसने शारदा देवी की उपासना से एक गुणवान् पुत्र प्राप्त किया था, जिसका नाम शारदातनय था[2]। इस प्रकार भट्टगोपाल शारदातनय का पिता था। शारदातनय नाट्यशास्त्र का अधिकारी विद्वान् था। शारदातनय का समय १२०० ई० से १२५० ई० के मध्य अर्थात् तेरहवीं शती का पूर्वार्द्ध माना जाता है[3]। अतः भट्टगोपाल का समय इससे कुछ पूर्व अर्थात् बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है।

भट्टगोपाल अठारह विद्याओं का ज्ञाता था। उसने नाट्यशास्त्र पर भाष्य लिखा था। अभिनव के अनुसार वह ताल का प्रामाणिक आचार्य था। ध्रुवाताल तथा त्रिमूढ नामक लास्याङ्ग के सम्बन्ध में उनके मत को अभिनव ने अभिनव-भारती में उद्धृत किया है। इनके एक ग्रन्थ 'तालदीपिका' का उल्लेख अभिनव ने किया है। 'तालदीपिका' में ताल पर विस्तार से विचार किया गया है।

अभिनव ने 'त्रिमूढक' नामक लास्याङ्ग के विवेचन के प्रसङ्ग में 'यथामार्ग' शब्द की व्याख्या करते हुए भट्टगोपाल के मत को उद्धृत किया है—

'अन्ये तु यथोचितो मार्गो 'यथामार्ग' इति विग्रहेण सुकुमारत्वात् ध्रुवक एवात्रोह्य इत्याहुः। यथाहि—भट्टगोपालेन स्वाभिप्रायेण ध्रुवके विधिरिति भेदः प्रोक्तः'। (अभिनवभारती, भाग ४ पृ० २७९)

अभिनव ने ध्रुवाताल के विनियोग के प्रसङ्ग में भट्टगोपाल के मत को उद्धृत करते हुए लिखा है कि 'गति के अनुसार ताल की विधि होती है, किन्तु अन्य आचार्य कहते हैं कि कला एवं लय के साथ ताल की विधि गति के अनुसार होती है। इसीलिए इस मत का अनुसरण करने वाले भट्टगोपाल आदि आचार्यों ने भङ्ग, उपभङ्ग और विभङ्ग के विषय में 'तालदीपिका' आदि ग्रन्थों में चिरन्तन-सम्मत ध्रुवाताल के विनियोग को विस्तार के साथ दूषित किया

---

१. भरतकोष, पृ० ५००।
२. भावप्रकाशन (शारदातनय), पृ० २।
३. नाट्यशास्त्र का इतिहास।

है'[१]। इसके अतिरिक भट्टगोपाल ने प्राचीन मत का खण्डन कर नवीन मत की स्थापना की है।

भट्टयन्त्र

अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में नाटच की परिभाषा के सम्बन्ध में भट्टयन्त्र का उल्लेख किया है। भट्टयन्त्र के अनुसार नृत्त नाटच से भिन्न एक स्वतन्त्र कला है और नाटच का अङ्गभूत होने के कारण अभ्यास के योग्य है[२]। अर्थात् नाटच का अङ्ग होने के कारण नाटच-सिद्धि के लिए नृत्त का अभ्यास करना चाहिए। इसके अतिरिक्त शार्ङ्गदेव ने सङ्गीतरत्नाकर में भट्टयन्त्र का नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार के रूप में उल्लेख किया है[3]। इससे ज्ञात होता है कि भट्टयन्त्र ने नाटचशास्त्र पर कोई टीका लिखी होगी, किन्तु यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने सम्पूर्ण नाटचशास्त्र पर टीका लिखी थी अथवा उसके किसी भाग पर। इतना तो स्पष्ट है कि भट्टयन्त्र नाटच एवं नृत्त के आचार्य थे।

भट्टवृद्ध या भट्टवृद्धि

भट्टवृद्ध को कहीं भट्टवृद्धि और कहीं भट्टवृद्ध कहा गया है। भट्टवृद्ध ताल के अधिकारी विद्वान् थे। इन्होंने ताल पर कोई लक्षण-ग्रन्थ लिखा था, जिसका संकेत अभिनवगुप्त की अभिनवभारती से मिलता है। अभिनव ने ताल-निरूपण के प्रसङ्ग में भट्टवृद्ध का उल्लेख किया है[४]। नाटचशास्त्र के अनुसार ताल के अन्तर्गत कलाप्रस्तार द्विकल से लेकर एकादश कल तक किया जा सकता है, किन्तु भट्टवृद्ध के मतानुसार कलाप्रस्तार भरतोक्त मत से एकादश कल से भी अधिक किया जा सकता है।

---

१. तेनायमर्थः — ध्रुवातालेऽपि गत्यनुसार्येव कलाविधिर्लयविधिश्च। अत एवैतदनुसारेण भट्टगोपालादिभिर्भङ्गोपभङ्गविभङ्गविषये तालदीपिकादौ चिरन्तनसम्मतो ध्रुवातालानां विनियोगः प्रपञ्चतो दूषितः।

(अभिनवभारती, भाग २ पृष्ठ १३४)

२. 'शिक्षार्हस्वेच्छान्यनृत्तकतिपयनाटचाङ्गकृतं नृत्तमभ्यासफलम्'। इति भट्टयन्त्रः।

(अभिनवभारती, भाग १ पृ० २०६)

३. सङ्गीतरत्नाकर, भाग १।

४. तथा च भट्टवृद्धदत्तादिपाणितललयभङ्गलक्षणपुस्तकेषु सर्वत्र 'शता' इति प्रस्तारो दृश्यते।

(अभिनवभारती, भाग ४ पृ० ३०७)

भट्टसुमनस्

भट्टसुमनस् तालशास्त्र के आचार्य थे। अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में उनका उल्लेख किया है,[१] जिससे ज्ञात होता है कि नाटचशास्त्र के इकतीसवें अध्याय के चौबीसवें और पचीसवें श्लोक पर उनकी व्याख्या उपलब्ध रही है। इन प्रसङ्गों से ज्ञात होता है कि भट्टसुमनस् ने तालशास्त्र पर कोई ग्रन्थ लिखा होगा अथवा नाटचशास्त्र पर व्याख्या लिखी होगी।

---

१. भट्टसुमनसा तु श्लोकद्वयस्यायं वाक्यैकवाक्यतया महता प्रबन्धेनार्थो व्याख्यातो मिश्रणामिश्रणात्।

(अभिनवभारती, भाग ४ पृष्ठ १६१)

छः

परवर्ती नाट्याचार्य

धनञ्जय एवं धनिक

जीवनवृत्त

धनञ्जय--धनञ्जय नाटचशास्त्र के प्रतिष्ठित विद्वान् थे। वे मालवानरेश वाक्पतिराज मुञ्ज के दरबार के राजपण्डित थे। उनके पिता का नाम विष्णु था। उन्होंने नाटचशास्त्र के आधार पर दशरूप नामक ग्रन्थ की रचना की थी। जैसा कि उन्होंने अपने ग्रन्थ के अन्त में अपना परिचय दिया है—

विष्णोः सुतेनापि धनञ्जयेन विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतुः।
आविष्कृतं मुञ्जमहीशगोष्ठी वैदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत् ॥

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि मुञ्जराज के सभापण्डित धनञ्जय ने दशरूप की रचना की थी। मुञ्ज स्वयं विद्या-व्यसनी एवं सहृदय विद्वान् था। वह एक वीर योद्धा एवं कवि भी था। कवि होने के कारण वह 'वाक्पतिराज' के नाम से विख्यात था। इसके अतिरिक्त वह अमोघवर्ष, वाक्पति, पृथ्वीवल्लभ, श्रीवल्लभ आदि नामों से भी अभिहित किया जाता था। एक शिलालेख में उन्हें 'उत्पलराज' कहा गया है। क्षेमेन्द्र ने भी उन्हें 'उत्पलराजा' कहा है और शाङ्गंधर ने भी वाक्पतिराज या उत्पलराज के नाम से अभिहित किया है[1]। नवसाहसाङ्क के रचयिता पद्मगुप्त ने उन्हें सरस्वतीरूपी कल्पलता का कन्द, कविबान्धव तथा कविमित्र कहा है[2]। धनञ्जय के अतिरिक्त और भी विद्वान् और कवि उनके दरबार में विद्वत्परिषद् के सदस्य थे। अवलोककार धनिक, तिलकमञ्जरी के रचयिता धनपाल और कोषकार हलायुध भी उनके दरबारी विद्वान् थे।

धनञ्जय ने नाटचशास्त्र के आधार पर 'दशरूपक' नामक एक ग्रन्थ की रचना की है। इसमें उन्होंने रूपकों के दश भेदों का वर्णन किया है। उन्होंने इस ग्रन्थ में नाटच-सम्बन्धी सामान्य सिद्धान्तों को व्यावहारिक एवं सुव्यवस्थित रूप में संक्षेप में प्रतिपादन किया है। यही कारण है कि उनका ग्रन्थ इतना महनीय हो गया कि कालान्तर में परवर्त्ती आचार्य दशरूप को आधारभूत ग्रन्थ मानने लगे। साहित्यशास्त्र के प्रमुख विद्वान् विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ साहित्य-

---

१. औचित्यविचारचर्चा १६, कविकण्ठाभरण २।१, सुवृत्ततिलक २।६।
२. नवसाहसाङ्कचरित १।७--८ तथा २।९३।

दर्पण में नाटक-निरूपण के प्रसङ्ग में धनञ्जय को अपना आधार बनाया है और उनके प्रति आभार प्रकट किया है (**एषा प्रक्रिया दशरूपोक्तरीत्यनुसारेण**)। इसके अतिरिक्त साहित्यदर्पण के तृतीय परिच्छेद में नायक-नायिका भेद-निरूपण पर धनञ्जय का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

विद्यानाथ ने प्रतापरुद्रीययशोभूषण में नायक-नायिकाभेद निरूपण के प्रसङ्ग में धनञ्जय के दशरूपक से अनेक कारिकाओं एवं पद्यों को उद्धृत किया है। उसके अतिरिक्त भानुदत्त की 'रसमञ्जरी' एवं 'रसतरङ्गिणी' तथा भावमिश्र की 'रससरसी' आदि ग्रन्थों में भी नायक-नायिका भेद निरूपण में धनञ्जय का प्रभाव परिलक्षित होता है। इनके अतिरिक्त रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने नाट्यदर्पण और शारदातनय ने भावप्रकाशन के लेखन धनञ्जय के दशरूपक से बहुत कुछ सहायता ली है। इसकी महत्ता इससे भी प्रतीत होती है कि धनिक, बहुरूप, नृसिंहभट्ट, देवपाणि, क्षौणीश्वर मिश्र तथा कूरवीराम आदि विद्वानों ने इस पर टीका लिखी है।

धनिक—धनिक धनञ्जय का भाई और विष्णु का पुत्र था। उसने दशरूपक पर 'अवलोक' नामक टीका लिखी है। वह धनञ्जय का समकालीन एक प्रसिद्ध विद्वान् था। अवलोक के प्रत्येक प्रकाश के अन्त की पुष्पिका में धनिक ने अपने को विष्णु का पुत्र और दशरूपावलोक का कर्त्ता बताया है[1]। हाल ने दशरूपक की भूमिका में कहा है कि दशरूपकावलोक की एक हस्तलिखित प्रति में धनिक को उत्पलराज का एक अधिकारी बताया गया है। इसके अतिरिक्त बूलर ने उदयपुर प्रशस्ति में बताया है कि धनिक उत्पलराज वाक्पति का महासाध्यपाल था। यह उत्पलराज वाक्पतिराज मुञ्ज ही था, जो धनञ्जय का आश्रयदाता था।

इस प्रकार धनिक साहित्यशास्त्र एवं नाट्यशास्त्र का मर्मज्ञ विद्वान् था। उनका वैदुष्य दशरूपावलोक में सर्वत्र झलकता है। उन्होंने अपनी अवलोक टीका में लगभग ३०० उद्धरण उद्धृत किये हैं, उनमें से चौबीस उद्धरण उनके स्वयं के हैं, जिसमें चार प्राकृत के हैं। इससे ज्ञात होता है कि वे संस्कृत एवं प्राकृत दोनों भाषा के विद्वान् थे।

कुछ विद्वानों एवं आलोचकों की धारणा है कि दशरूपक की कारिकाएँ एवं वृत्तिभाग एक ही व्यक्ति की रचनाएँ हैं। उनका कहना है कि दशरूपक का लेखक और उसका टीकाकार एक ही व्यक्ति था। उनके अनुसार कारिकाकार धनञ्जय और वृत्तिकार धनिक दोनों एक व्यक्ति के दो नाम हैं। दोनों को अभिन्न मानने वाले विद्वानों में जैकोबी का कथन है कि दशरूपक में

---

१. इति श्रीविष्णुसूनोर्धनिकस्य कृतौ दशरूपकावलोके प्रथमः प्रकाशः समाप्तः।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में कारिकाओं के साथ मङ्गलाचरण किया गया है, वृत्ति के साथ कोई अलग से मङ्गलाचरण नहीं है[१]। दूसरे साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने नामसाम्य एवं एक पिता के आधार पर साहित्यदर्पण में धनञ्जय-रचित पद्य को धनिक-रचित मान लिया है। विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण के षष्ठ परिच्छेद में धनञ्जय की 'न चातिरसतो वस्तु' इत्यादि कारिका को धनिक के नाम से उद्धृत किया है—

यदुक्तं धनिकेन—

न चातिरसतो वस्तु दूरं विच्छिन्नतां नयेत्।
रसं वा न तिरोदध्याद्वस्त्वलङ्कारलक्षणैः॥[२]

प्रस्तुत श्लोक दशरूपक में कारिका के रूप में उल्लिखित है। इसी प्रकार विद्यानाथ ने दशरूपक से कारिकाओं को ही उद्धृत किया है। उनके टीकाकार कुमारस्वामी ने एक स्थान पर धनञ्जय-रचित एक पद्य को धनिक के नाम से उद्धृत किया है[3]। औफ्रेक्ट की बोडलीन कैटलाग संख्या २०३ में अवलोक की एक पाण्डुलिपि में एक मङ्गलपद्य ढूँढा है, जिसे हाल (Hall) ने बहुत घटिया स्तर का होने के कारण कल्पित माना है[४]। इनके अतिरिक्त दशरूपक के चतुर्थ प्रकाश में पैंतीसवीं कारिका की टीका में अवलोककार धनिक अपने को कारिकाकार धनञ्जय से अभिन्न बताते हुए कहते हैं कि 'हमलोग अर्थात् वृत्तिकार और कारिकाकार शम के स्थायित्व का निषेध करते हैं'[५]। इन आधारों पर यह कहा जा सकता है कि कारिका और वृत्तिभाग दोनों एक ही व्यक्ति की रचना है और धनञ्जय और धनिक दोनों एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं।

किन्तु कुछ आचार्य उपर्युक्त मत से सहमत नहीं दिखाई देते। उनका कहना है कि कारिका और वृत्ति भाग के लेखक एक नहीं हो सकते, दोनों अलग-अलग व्यक्ति हैं। क्योंकि कारिका और अवलोकवृत्ति में कुछ ऐसे स्थल मिलते हैं जहाँ कारिकाकार और वृत्तिकार में मतभेद दिखायी देता है[६]। वे

---

१. जर्नल् आफ एशियाटिक सोसाइटी, १८८६ पृष्ठ २२१।

२. दशरूपक ३।३२-३३ तथा साहित्यदर्पण ६।६४।

३. प्रतापरुद्रीययशोभूषण, पृष्ठ २९।

४. दशरूपावलोक की पाण्डुलिपि (बोडलीन कैटलाग २०३), पृ० ४ टिप्पणी।

५. 'अस्माभिः शमस्य स्थायित्वं निषिध्यते'। (अवलोककार धनिक)
'पुनर्नाटचेषु नैतस्य'। (कारिकाकार धनञ्जय)

६. दशरूपक २।२२, ३।३६, ४।३५।

स्थल इस बात का स्पष्ट संकेत करते हैं कि कारिकाकार और वृत्तिकार अलग-अलग व्यक्ति हैं।

और जो जैकोबी आदि विद्वान् यह कहते हैं कि अवलोक टीका में मङ्गलाचरण नहीं है, अतः कारिकाकार और वृत्तिकार एक ही व्यक्ति हैं; इसलिए अलग से मङ्गलाचरण नहीं किया है, किन्तु यह कथन उचित नहीं प्रतीत होता। मङ्गलाचरण के आधार पर दोनों को एक व्यक्ति नहीं माना जा सकता। क्योंकि मम्मट, जो कारिका और वृत्ति दोनों के लेखक हैं, ने वृत्ति में अलग से मङ्गलाचरण नहीं किया है और वामन, रुय्यक आदि आचार्यों ने कारिका और वृत्ति दोनों जगह अलग-अलग मङ्गलाचरण किया है। अतः मङ्गलाचरण का अस्तित्व या अनस्तित्व को कारिका एवं वृत्ति के लेखक के एकत्व-अनेकत्व में निर्णायक नहीं माना जा सकता[1]।

इसके अतिरिक्त शार्ङ्गधर ने अपने संग्रह-ग्रन्थ में धनिक-रचित अनेक श्लोक उद्धृत किये हैं, जिन्हें धनिक ने अवलोकटीका में स्वरचित बताया है और दशरूपक के चतुर्थ प्रकाश के अन्त में अन्तिम कारिका में **'विष्णोः सुतेनापि धनञ्जयेन···आविष्कृतम्···दशरूपमेतत्'** लिखा है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक प्रकाश के अन्त में पुष्पिका में 'धनञ्जयकृतदशरूपकस्य' लिखा है। इससे ज्ञात होता है कि कारिका भाग का लेखक धनञ्जय हैं और दशरूपावलोक के प्रत्येक प्रकाश के अन्त में पुष्पिकालेख में **"इति श्रीविष्णुसूनोर्धनिकस्य कृतौ दशरूपकावलोके"** उल्लेख मिलता है, जिसके आधार पर स्पष्ट कहा जा सकता है कि दशरूपावलोक के रचयिता धनिक हैं और उसके पिता का नाम विष्णु है। इस प्रकार स्पष्ट प्रतीत होता है कि धनञ्जय और धनिक दोनों अलग-अलग व्यक्ति हैं तो धनिक धनञ्जय के भाई हो सकते हैं और धनञ्जय के कारिका-निर्माण में सहायता की होगी।

धनञ्जय का समय

दशरूपक का रचयिता धनञ्जय विष्णु का पुत्र और वाक्पतिराज मुञ्ज का राजसभासद था। मुञ्ज मालवा के परमारवंश का सप्तम राजा था। 'नवसाहसाङ्कचरित' बूलर द्वारा लिखित लेख इण्डियन एण्टीक्वेरी में प्रकाशित भाग ३६ पृ० १४९–१७२ पर वाक्पतिराज मुञ्ज का वर्णन आया है। इण्डियन एण्टीक्वेरी के भाग ६ पृ० ५१–५२ पर वाक्पतिराज (९७४ ई०) का एक शिलालेख मिलता है। इस शिलालेख में अहिच्छत्रा से आये धनिक के पुत्र वसन्ताचार्य को भूमि दिये जाने की स्वीकृति का उल्लेख है। इण्डियन एण्टीक्वेरी के भाग १४ पृ० १५९–१६१ पर ९७९ का एक ताम्रस्वीकृतिपत्र का उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि वाक्पतिराज ने देवी भट्टेश्वरी के नाम

---

१. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (दे), पृ० ११५।

पर उज्जयिनी में एक गाँव दान में दिया था। इण्डियन एण्टीक्वेरी भाग ७ पृ० २७०, भाग २१ पृ० १६७–१६८, भाग ३३ पृ० १७० में उल्लिखित चालुक्य-शिलालेखों के अनुसार तैलप द्वितीय ने मुञ्ज को पराजित कर उसे बन्दी बनाया और उसका वध कर दिया था[१]। इन शिलालेखों से ज्ञात होता है कि मुञ्ज हर्षदेव सीयक का पुत्र था। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् ९७४ ई० में वह राजगद्दी पर बैठा था और ९९५ ई० तक राज्य किया था[२]।

पीटर्सन ने कन्नौज-नरेश यशोवर्मा (अठारहवीं शती पूर्वार्द्ध) के समय के गौड़वहो के लेखक वाक्पतिराज को मुञ्ज मानने की भारी भूल की है[3]। क्योंकि ग्यारहवीं शती के क्षेमेन्द्र ने मुञ्ज के तीन पद्य उद्धृत किये हैं और उन्हें 'उत्पलराज' कहा है[४]। धनञ्जय के समकालिक धनिक ने दशरूपावलोक में एक श्लोक को दो बार उद्धृत किया है। पहली बार ४।५८ में वाक्पतिराज के नाम से, दूसरी बार ४।६० में मुञ्ज के नाम से उद्धृत किया है। तिलक-मञ्जरी में धनपाल ने वाक्पतिराज और मुञ्ज को एक ही व्यक्ति माना है। मुञ्ज के एक उत्तराधिकारी अर्जुनवर्मा (१३वीं शती का प्रथम चरण) ने मुञ्ज का एक श्लोक उद्धृत किया है और कहा है कि 'यह श्लोक उनके पूर्वज मुञ्ज ने रचा था, उनका दूसरा नाम वाक्पतिराज था[५]।

धनिक का समय

धनिक विष्णु का पुत्र, धनञ्जय का भाई और वाक्पतिराज मुञ्ज का दरबारी पण्डित था। इस आधार पर वह मुञ्ज का समकालिक प्रतीत होता है। धनिक ने पद्मगुप्त या परिमल के नवसाहसाङ्कचरित से उद्धरण उद्धृत किये हैं। नवसाहसाङ्क को ही सिन्धुराज कहते हैं। सिन्धुराज का ही दूसरा नाम नवसाहसाङ्क था। सिन्धुराज वाक्पतिराज मुञ्ज का उत्तराधिकारी हुआ और मुञ्ज की मृत्यु के बाद ९९५ ई० में राजगद्दी पर बैठा[६]। अतः धनिक इसके बाद रहे होंगे। भोज (११वीं शती उत्तरार्द्ध) ने सरस्वतीकण्ठाभरण में धनिक का उल्लेख किया है, अतः धनिक मुञ्ज के बाद और भोज के पहले हुए होंगे। ९७४ ई० के एक शिलालेख में धनिक पण्डित के पुत्र वसन्ताचार्य को भूमि दिये जाने की स्वीकृति का उल्लेख है। यदि वसन्ताचार्य के पिता धनिक

---

१. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (काणे), पृ० ३०७।

२. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (दे), पृ० ११२।

३. वही।

४. औचित्यविचारचर्चा १६, कविकण्ठाभरण २।१, सुवृत्ततिलक २।६।

५. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (दे), पृ० ११२।

६. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (दे), पृ० ११२।

पण्डित और दशरूपावलोक के रचयिता धनिक दोनों को एक ही व्यक्ति बताना बहुत कठिन है। यदि धनिक और धनिक पण्डित को एक मान लें तो यह मानना पड़ेगा कि अवलोक की रचना के समय धनिक अत्यन्त वृद्ध हो गये होंगे[1]। उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर धनिक को १००० ई० के आसपास मानना चाहिए।

धनञ्जय एवं धनिक की रचनाएँ

दशरूपक—धनञ्जय की एकमात्र रचना 'दशरूप' या 'दशरूपक' है। इस ग्रन्थ का प्रथम प्रकाशन १८६५ ई० में हाल द्वारा बी० आई० सीरिज से हुआ था तथा द्वितीय संस्करण १९१२ ई० में न्यूयार्क में हास द्वारा भूमिका और व्याख्या के साथ प्रकाशित हुआ। इसका एक प्रामाणिक संस्करण १९४१ ई० में निर्णयसागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित हुआ था। धनञ्जय ने भरत के नाट्यशास्त्र के आधार पर दशरूपक की रचना की थी, किन्तु उन्होंने केवल वस्तु, नेता, रस और रूपकों के दश भेदों का ही विवेचन किया है। उन्होंने ग्रन्थ के प्रारम्भ में स्वयं लिखा है कि नाट्यशास्त्र एक बृहद् ग्रन्थ है, अतः मन्दबुद्धि वालों को उसमें भ्रम हो जाता है। इसलिए नाट्यवेद का संक्षेप करके उन्हीं के पदों से सरल रीति से प्रस्तुत किया जा रहा है। इस प्रकार उन्होंने नाट्यशास्त्र के विषय को संक्षिप्त करके उनके सामान्य सिद्धान्तों को व्यावहारिक एवं सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया है। दशरूपक में कुल चार प्रकाश हैं—

प्रथम प्रकाश—प्रथम प्रकाश में सर्वप्रथम मङ्गलाचरण तथा अनुबन्ध-चतुष्टय का निरूपण करने के पश्चात् नाट्य, नृत्य एवं नृत्य की परिभाषा दी गई है। तदनन्तर रूपक के दश भेदों का नाममात्र से कथन कर वस्तु, नेता, रस रूपक के भेदक तत्त्वों का निरूपण किया गया है। इसके इतिवृत्त के आधिकारिक और प्रासङ्गिक दो भेदों का निरूपण करने के बाद पाँच अर्थप्रकृतियों, पाँच अवस्थाओं, पाँच सन्धियों, चौसठ सन्ध्यङ्गों का विस्तृत विवेचन किया गया है। इसके बाद प्रकारान्तर से इतिवृत्त के दो भेद सूच्य और असूच्य (अभिनेय), अर्थोपक्षेपकों तथा संवादों के भेदों का निरूपण किया है।

द्वितीय प्रकाश—द्वितीय प्रकाश में नायक-नायिकाओं एवं सहायक-सहायिकाओं के भेदों का विवेचन किया गया है। इसी प्रकाश में नायिकाओं के बीस अलङ्कारों एवं अभिनयोचित चार वृत्तियों का विवेचन किया गया है।

तृतीय प्रकाश—तृतीय प्रकाश में प्रस्तावना के प्रकारों तथा भारती वृत्ति के अङ्गों-प्रत्यङ्गों का विवेचन किया गया है। उसके बाद प्रस्तावना के तीन

---

१. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (काणे), पृ० ३०७–३०८।

प्रकारों तथा वीथी के तेरह अङ्गों का निरूपण किया गया है। इसके पश्चात् रूपक के दस भेदों एवं नाटिका के लक्षणों का विवेचन किया गया है।

चतुर्थ प्रकाश—चतुर्थ प्रकाश अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें रस का विस्तृत विवेचन किया गया है। यहाँ से रस का स्वरूप प्रतिपादित करने के बाद विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव एवं व्यभिचारी भावों का विस्तार से वर्णन किया गया है। तदनन्तर रत्यादि आठ स्थायीभावों के लक्षण एवं भेदों का प्रतिपादन किया गया है। यहाँ शम नामक स्थायीभाव का निषेध किया गया है।

दशरूपावलोक--धनिक ने दशरूपक पर 'अवलोक' नामक टीका लिखी है। इस टीका में धनिक का वैदुष्य सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। इस टीका का महत्त्व इतना अधिक हो गया कि यह मूलग्रन्थ के समान प्रतिष्ठित हो गया।

काव्यनिर्णय--काव्यनिर्णय धनिक का दूसरा ग्रन्थ है। धनिक ने 'अवलोक' टीका के चतुर्थ प्रकाश में इस ग्रन्थ का उल्लेख करते हुए सात कारिकाएँ उद्धृत की हैं (**यदवोचाम काव्यनिर्णये**)। सम्भवतः यह ग्रन्थ कारिकाओं में लिखा गया था, किन्तु यह ग्रन्थ आज अप्राप्य है।

धनञ्जय के नाटच-सिद्धान्त

रूपक-भेद एवं भेदक तत्त्व--धनञ्जय ने अवस्थानुकृति को 'नाटच' कहा है (**अवस्थानुकृतिर्नाटचम्**)। नाटच अभिनय का पर्यायवाची है। दृश्यमान होने से उसे 'रूप' कहा गया है और नट में रूप का आरोप होने से उसे 'रूपक' कहा जाता है। यह रूपक दस प्रकार का होता है—

नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः।
व्यायोगसमवकारौ वीथ्यङ्केहामृगा इति॥

अवलोककार धनिक यहाँ प्रश्न उठाते हैं कि डोम्बी, श्रीगदित आदि अन्य रूपकों के रहते हुए कारिकाकार दस ही रूपक क्यों कहते हैं? इस शङ्का का निवारण करते हुए धनिक कहते हैं कि डोम्बी, श्रीगदित, भाण, भाणी, प्रस्थान, रासक और काव्य—ये सात नृत्य हैं; इन्हें उपरूपक भी कहते हैं। नाटच और नृत्य में अन्तर बताते हुए वे कहते हैं कि नृत्य भाव पर आश्रित होता है और नृत्त ताल एवं लय पर आश्रित होता है। नाटच इन दोनों से भिन्न होता है और वह रस पर आश्रित होता है। इस प्रकार रसाश्रय नाटच भावाश्रय नृत्य और ताललयाश्रित नृत्त से भिन्न होता है। यह विषयगत भेद है। नृत्य में आङ्गिक अभिनय की प्रधानता होती है और नाटच में चारों प्रकार के अभिनय होते हैं। यह स्वरूपगत भेद है। नृत्य करने वाले को नर्तक कहते हैं और नाटच का अभिनय करने वाले को 'नट' कहते हैं। यह दृष्टिगत भेद है। नृत्य दृश्य होता है और नाटच दृश्य-श्रव्य दोनों होता है। इस प्रकार नृत्य नाटच से भिन्न होता है। डोम्बी, श्रीगदित आदि सात नृत्य रूपक या उपरूपक कहलाते हैं

और रसाश्रय होने से नाटकादि दस रूपक (नाट्य) होते हैं। नृत्य और नृत्त में पुनः प्रकारान्तर से भेद बताते हैं। नृत्य भावाश्रय होता है और नृत्त ताल-लय पर आश्रित होता है। नृत्य मार्ग कहलाता है और नृत्त देशी। ये दोनों पुनः दो प्रकार के होते हैं—मधुर और उद्धत। इनमें मधुर नृत्य लास्य कहलाता है और उद्धत नृत्त ताण्डव कहलाता है। ये दोनों नाटकादि के उपकारक हैं।

इतिवृत्त-विधान

रूपकों में एक-दूसरे से भिन्न करने वाले तीन भेदक तत्त्व हैं—वस्तु, नेता और रस। वस्तु-भेद, नायक-भेद और रस-भेद की दृष्टि से इनमें परस्पर भेद होता है। इनमें वस्तु दो प्रकार की होती है—आधिकारिक और प्रासङ्गिक। इनमें मुख्य कथावस्तु को आधिकारिक कहते हैं और अङ्गरूप कथावस्तु को प्रासङ्गिक कहते हैं। प्रासङ्गिक के भी दो भेद होते हैं—पताका और प्रकरी। इनमें अनुबन्धसहित दूर तक चलने वाली प्रासङ्गिक कथावस्तु को 'पताका' और एकदेश तक सीमित कथावस्तु को 'प्रकरी' कहते हैं। इस प्रकार इतिवृत्त तीन प्रकार का होता है—आधिकारिक, पताका और प्रकरी। ये तीनों पुनः तीन-तीन प्रकार के होते हैं—प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र।

धनञ्जय ने बीज, विन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य—इन पाँच अर्थप्रकृतियों का निर्देश किया है। इसके बाद पाँच कार्यावस्थाएँ बतायी गई हैं—आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम। फिर पाँच सन्धियों का वर्णन हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और उपसंहार। इस प्रकार समस्त इतिवृत्त को पाँच अर्थप्रकृतियों, पाँच अवस्थाओं और पाँच सन्धियों में विभाजित किया जाता है। अर्थप्रकृतियाँ नाटकीय इतिवृत्त के पाँच तत्त्व हैं और अवस्थाएँ नाटकीय इतिवृत्त की गति को सूचित करती हैं। इन पाँच अर्थप्रकृतियों एवं पाँच अवस्थाओं के मिश्रण से पाँच सन्धियाँ तैयार होती हैं। इन पाँच सन्धियों को चौसठ सन्ध्यङ्गों में विभाजित किया गया है।

धनञ्जय ने अन्य प्रकार से भी इतिवृत्त का विभाजन किया है। तदनुसार इतिवृत्त दो प्रकार के होते हैं—सूच्य और अभिनेय। सूच्य इतिवृत्त को पाँच अर्थोपक्षेपकों के द्वारा सूचित किया जाता है। पाँच अर्थोपक्षेपक हैं—विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अङ्कास्य और अङ्कावतार। अतीत और भावी घटनाओं का ज्ञापक विष्कम्भक' कहलाता है। विष्कम्भक दो प्रकार का होता है—शुद्ध और मिश्र। प्रवेशक भी विष्कम्भक के समान होता है। अन्तर केवल इतना है कि इसके सभी पात्र निम्नश्रेणी के होते हैं और यह सदा दो अङ्कों के मध्य में रखा जाता है। यवनिका (परदे) के भीतर से पात्रों के द्वारा सूचना देना 'चूलिका' है। अङ्क के अन्त में पात्रों द्वारा अगले अङ्क के आरम्भ की सूचना 'अङ्कास्य' है। नाट्यधर्म की दृष्टि से इतिवृत्त के और भी तीन प्रकार होते हैं—सर्व-

श्राव्य, अश्राव्य और नियतश्राव्य। इनमें सर्वश्राव्य को प्रकाश, अश्राव्य को स्वगत कहते हैं। नियतश्राव्य के दो भेद होते हैं—जनान्तिक और अपवारित।

नेता--रूपकों का दूसरा भेदक तत्त्व नेता या नायक है। नायक नाटक का प्रधानपात्र होता है। ललित, शान्त, उदात्त और उद्धत भेद से नायक चार प्रकार के होते हैं। नाटकादि में नायक में धैर्य होना आवश्यक है। इसलिए प्रत्येक नायक के साथ 'धीर' शब्द विशेषण के रूप में लगाया जाता है। इस प्रकार नायक के चार प्रकार माने जाते हैं—धीरललित, धीरशान्त, धीरोदात्त और धीरोद्धत।

धनञ्जय ने एक अन्य प्रकार से नायकों का वर्गीकरण किया है। शृङ्गारी नायक की तीन अवस्थाएँ होती हैं—दक्षिण, शठ एवं धृष्ट। दक्षिण नायक पूर्व नायिका के प्रति सहृदय रहता है। पूर्व नायिका के छिपे रूप में अप्रिय करने वाला 'शठ' नायक होता है। जिसके अङ्गों में पूर्व नायिका के साथ रमण के चिह्न अङ्कित हो, वह 'धृष्ट' नायक कहलाता है। इनके अतिरिक्त एक और नायक होता है जिसे 'अनुकूल' नायक कहते हैं। एक ही नायिका में आसक्त रहने वाला 'अनुकूल' नायक कहा जाता है।

अब नायक के सहायकों को बतलाते हैं। नायक का प्रधान सहायक 'पताका-नायक' कहलाता है। इसे पीठमर्द कहते हैं। इसके अतिरिक्त नायक के सहायक एक विद्या का ज्ञाता 'विट' हास्यकारी विदूषक होता है। नायक के आठ प्रकार के सात्त्विक गुण होते हैं—शोभा, विलास, माधुर्य, गाम्भीर्य, स्थैर्य, तेज, लालित्य और औदार्य।

नायिका-भेद--धनञ्जय के अनुसार नायक के समान गुणों वाली नायिका तीन प्रकार की होती है—स्वकीया, परकीया और साधारण-स्त्री। इनमें स्वकीया नायिका तीन प्रकार की होती है—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा। इनमें मध्या और प्रगल्भा नायिका के मानवृत्ति के आधार पर तीन-तीन भेद होते हैं—धीरा, अधीरा और धीराधीरा। इन मध्या और प्रगल्भा नायिका के इन छः भेदों के प्रत्येक के ज्येष्ठा और कनिष्ठा दो-दो भेद होने से कुल बारह भेद होते हैं। इस प्रकार मुग्धा नायिका के एक भेद और मध्या एवं प्रगल्भा के बारह भेद, कुल मिलकर स्वकीया नायिका तेरह प्रकार की होती है। परकीया नायिका कन्या (अनूढ़ा) और परोढ़ा भेद से दो प्रकार की होती है। सामान्या नायिका गणिका होती है। इस प्रकार स्वीया के १३ भेद, परकीया के दो भेद और सामान्या का एक भेद (१३ + २ + १ = १६) कुल सोलह भेद होते हैं।

धनञ्जय के अनुसार इन सोलह प्रकार की नायिकाएँ अवस्था-भेद से आठ प्रकार की होती हैं—स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितपतिका और अभिसारिका। दूती, दासी,

सखी, कारु, धात्रेयी, प्रतिवेशिनी (पड़ोसिन), सन्यासिनी तथा शिल्पिनी—ये सभी नायिकाओं की सहायिकाएँ होती हैं।

(धनञ्जय के अनुसार नायिकाओं के यौवन में सत्त्व के उत्पन्न बीस अलङ्कार होते हैं।) उनमें हाव, भाव, हेला ये तीन शरीरज अलङ्कार है; शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, अप्रगल्भता, औदार्य और धैर्य ये सात अयत्नज अलङ्कार हैं और लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्चित्, मोट्टायित, कुट्टमित, बिब्बोक, ललित और विहृत—ये दस स्वभावज अलङ्कार हैं। इस प्रकार कुल बीस अलङ्कार हैं।

वृत्ति-विचार—धनञ्जय के अनुसार नाटचवृत्तियाँ चार प्रकार की होती हैं—कैशिकी, सात्त्वती, आरभटी और भारती। इनमें कैशिकी वृत्ति के चार अङ्ग होते हैं—नर्म, नर्मस्फिञ्ज, नर्मस्फोट और नर्मगर्भ। सात्त्वती वृत्ति के भी चार अङ्ग होते हैं—संलापक, उल्लापक, सांघात्य और परिवर्त्तक। आरभटी वृत्ति के भी चार अङ्ग होते हैं—संक्षिप्तिका, सम्फेट, वास्तूत्थापन और अवपातन। चौथी वृत्ति का नाम भारती है। भारती वृत्ति प्रमुख वृत्ति है। इसके भी चार भेद हैं—प्ररोचना, वीथी, प्रहसन और आमुख। इनमें प्रशंसा के द्वारा प्रेक्षकों को उन्मुख करना 'प्ररोचना' है। 'वीथी' के तेरह भेद होते हैं—उद्घात्यक, अवगलित, प्रपञ्च, त्रिगत, छल, वाक्केलि, अधिबल, गण्ड, अवस्यन्दित, नालिका, असत्प्रलाप, व्याहार और मृदव। प्रहसन भाण के समान होता है। इसके तीन भेद हैं—शुद्ध, विकृत और सङ्कर। आमुख को प्रस्तावना कहते हैं। इसके तीन भेद हैं—कथोद्घात, प्रवृत्तक और प्रयोगातिशय।

(१) **रूपक-भेद**—जैसा कि दशरूपक के प्रथम प्रकाश में बताया जा चुका है कि रूपक के दस भेद होते हैं और वहीं पर धनिक ने उपरूपक या नृत्यरूपक के सात भेद बताये हैं। यहाँ हम दश रूपकों का निरूपण करते हैं। प्रथम नाटक का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि नाटक का नायक धीरोदात्त एवं प्रतापी होता है तथा प्रसिद्ध कुल में उत्पन्न राजर्षि या देवता होता है। नाटक का वृत्त प्रख्यात होना चाहिए। इतिवृत्त पाँच सन्धियों एवं चौसठ सन्ध्यङ्गों से युक्त होना चाहिए। प्रारम्भ में विष्कम्भक का प्रयोग करना चाहिए और नायक का चरित्र प्रत्यक्ष होना चाहिए। इसमें वीर और शृङ्गार में से किसी एक रस की प्रधानता, कैशिकी या सात्त्वती वृत्ति का प्रयोग तथा पाँच से दश अङ्क होने चाहिए।

(२) **प्रकरण**—प्रकरण का नायक धीरप्रशान्त, इतिवृत्त कवि-कल्पित किन्तु सामान्य जन-जीवन से सम्बद्ध, शेष सन्धि, रसादि विधान नाटक के समान होना चाहिए। किन्तु नायिका कुलस्त्री या गणिका होती है। यह प्रकरण तीन प्रकार का होता है—कुलजानिष्ठ, गणिकानिष्ठ तथा उभयानिष्ठ।

नाटिका—धनञ्जय ने दस रूपकों में नाटिका का परिगणन नहीं किया है,

किन्तु उन्होंने नाटिका का लक्षण प्रतिपादित किया है। उनके अनुसार नाटक और प्रकरण के मिश्रण से नाटिका का निर्माण होता है। नाटिका का इतिवृत्त तो प्रकरण के समान कविकल्पित होता है, किन्तु नायक नाटक के समान प्रख्यात और धीरललित राजा होता है। स्त्रीप्राय दो नायिकाएँ और चार अङ्क होते हैं। धनिक के अनुसार नाटक और प्रकरण के मिश्रण से नाटी बनती है, जिसके दो भेद होते हैं—नाटिका और प्रकरणिका। उन्होंने प्रकरणिका को उपरूपक का भेद नहीं माना है।

(३) **भाण**––भाण एक एकाङ्की रूपक होता है। इसका कथानक कवि-कल्पित और धूर्तचरितपरक होता है। इसका नायक विट उक्ति-प्रत्युक्ति का प्रयोग आकाशभाषित के द्वारा करता है। इसमें शौर्य और सौभाग्य के वर्णन से वीर और शृङ्गार रस की सूचना दी जाती है। इसमें भारती वृत्ति का प्रयोग और मुख एवं निर्बहण सन्धियाँ होती हैं। इसमें लास्य के दस अङ्गों का सन्निवेश भी रहता है। लास्य के दश अङ्ग इस प्रकार हैं—

(१) गेयपद, (२) स्थित-पाठ्य, (३) आसीन, (४) पुष्पगण्डिका, (५) प्रच्छेदक, (६) त्रिगूढ़, (७) सैन्धव, (८) द्विगूढक, (९) उत्तमोत्तमक और (१०) उक्त-प्रत्युक्त।

(४) **प्रहसन**––प्रहसन भाण के समान होता है। इसमें भाण के समान इतिवृत्त, सन्धि, सन्ध्यङ्ग, लास्याङ्ग आदि होते हैं। इसके तीन भेद होते हैं—शुद्ध, विकृत और सङ्कर।

(५) **डिम**––डिम का कथानक प्रख्यात होता है। इसमें कैशिकी को छोड़कर शेष तीन वृत्तियाँ होती हैं। इसमें देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, नाग, भूत, प्रेत, पिशाच आदि सोलह उद्धत नायक होते हैं। इसमें हास्य और शृङ्गार को छोड़कर शेष छः रस होते हैं। इसमें विमर्श सन्धि को छोड़कर शेष सन्धियाँ होती हैं। इसका मुख्य रस रौद्र होता है। यह माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, घबड़ाहट, सूर्य-चन्द्रग्रहण, उल्कापात आदि वर्णनों से युक्त होता है।

(६) **व्यायोग**—व्यायोग का कथानक प्रख्यात होता है। यह पुरुष-प्रधान रूपक है। इसमें गर्भ और विमर्श सन्धियाँ नहीं होतीं। यह एकाङ्की रूपक है। इसमें स्त्री के कारण के बिना युद्ध होता है। इसमें रस-योजना डिम के समान होती है। इसकी घटना एक दिन की होती है।

(७) **समवकार**––समवकार में नाटक के समान आमुख होता है। इसमें देव और असुरों से सम्बन्धित प्रख्यात इतिवृत्त होता है और विमर्श सन्धि को छोड़कर शेष चार सन्धियाँ होती हैं तथा कैशिकी को छोड़कर शेष वृत्तियाँ होती हैं और प्रहसन के समान वीथ्यङ्गों का प्रयोग होता है। इसमें देव-दानव से सम्बन्धित बारह नायक होते हैं और वे सभी धीरोदात्त और प्रख्यात होते हैं। इसमें वीर रस की बहुलता होती है। इसमें तीन प्रकार के कपट, तीन

प्रकार के शृङ्गार और तीन प्रकार के विद्रव होते हैं। इसकी प्रथम अङ्क की घटना चौबीस घड़ी की दो सन्धियों से युक्त होनी चाहिए। दूसरे अङ्क की आठ घड़ी और तीसरे अङ्क की चार घड़ी की घटना होनी चाहिए। इसमें नगर का घिराव, युद्ध, तूफान, अग्नि आदि के कारण विद्रव होता है और शत्रु से उत्पादित कपट होता है। धर्म, अर्थ, काम से युक्त तीन प्रकार का शृङ्गार पाया जाता है। इसमें बिन्दु और प्रवेशक नहीं होते।

(८) **वीथी**—वीथी कैशिकी वृत्ति से युक्त एकाङ्की रूपक है। इसमें सन्धि, अङ्ग और अङ्क भाण के समान होते हैं। इसमें शृङ्गाररस सूच्य होता है और अन्य रस भी अङ्ग रूप में सूच्य होते हैं। इसमें प्रस्तावना के अङ्ग उद्घात्यक प्रयुक्त होते हैं और एक या दो पात्र होते हैं।

(९) **ईहामृग**—ईहामृग का कथानक मिश्र होता है। इसमें चार अङ्क और तीन सन्धियाँ (मुख, प्रतिमुख, निर्बहण) होती हैं। इसका नायक और प्रतिनायक इतिहासप्रसिद्ध और धीरोद्धत होते हैं, किन्तु इनके सम्बन्ध में कोई नियम नहीं है। इसमें दिव्य स्त्री के जबर्दस्ती अपहरण आदि के द्वारा कुछ-कुछ शृङ्गाराभास का प्रदर्शन करना चाहिए। नायक और प्रतिनायक के आवेश को सर्वोच्च स्थिति में लाकर किसी बहाने युद्ध को टाल देना चाहिए और यदि वध की स्थिति आ जाय तो महात्मा का वध नहीं होने देना चाहिए।

(१०) **अङ्क या उत्सृष्टिकाङ्क**—यह एकाङ्की रूपक है। इसका कथानक प्रख्यात होना चाहिए और कल्पना के द्वारा उसका विस्तार कर लेना चाहिए। इसका अङ्गी (मुख्य) रस करुण होता है और नायक सामान्य पुरुष होता है। इसमें सन्धि, वृत्त और लास्याङ्ग भाण के समान होते हैं। इसमें स्त्रियों का रोदन, वाग्युद्ध और जय-पराजय का वर्णन होता है।

इनके अतिरिक्त धनिक ने सात उपरूपकों या नृत्यरूपकों का निर्देश किया है किन्तु उनका लक्षण नहीं बताया है।

रस-मीमांसा

रस का स्वरूप—धनञ्जय के अनुसार विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और व्यभिचारीभाव के द्वारा आस्वाद्य बनाया गया स्थायीभाव ही 'रस' कहा गया है[1]। भरत ने भी कहा है कि विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है, किन्तु उन्होंने रससूत्र में सात्त्विक भाव का समावेश नहीं किया है। उन्होंने सात्त्विक भावों को अनुभावों में परिगणित किया है, किन्तु धनञ्जय ने उसे अलग से भाव माना है। इसीलिए वे रस-स्वरूप की व्याख्या में सात्त्विक भावों को भी भाव मानते हैं।

---

१. विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायीभावो रसः स्मृतः॥ (दशरूपक ४।१)

विभाव और अनुभाव—जो भाव परिज्ञात होकर भावों को पुष्ट करता है वह विभाव है। विभाव दो प्रकार के होते हैं—आलम्बन और उद्दीपन। रत्यादि भावों को सूचित करने वाला विकार अनुभाव कहा जाता है। ये दोनों विभाव और अनुभाव रस के प्रति कारण और कार्य के रूप हैं, लौकिक व्यवहार से इनका स्वरूप सिद्ध है[१]।

सात्त्विकभाव—सात्त्विक भाव अनुभाव रूप है। इसीलिए भरत ने रस-स्वरूप के व्याख्यान में विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभावों के साथ इसका सन्निवेश नहीं किया है। धनञ्जय आदि ने अनुभावों को इसे अलग से भाव के रूप में प्रतिपादन किया है। ये सत्त्व से उत्पन्न होते हैं इसलिए सात्त्विक भाव कहे जाते हैं। सात्त्विक भाव आठ प्रकार के हैं—स्तम्भ, प्रलय, रोमाञ्च, स्वेद, वैवर्ण्य, वेपथु, अश्रु और वैस्वर्य[२]।

व्यभिचारीभाव—व्यभिचारीभाव विशेष रूप से स्थायीभाव में उत्पन्न और विलीन होते रहते हैं, इसलिए व्यभिचारीभाव कहे जाते हैं। जिस प्रकार समुद्र में लहरें उठती हैं और विलीन हो जाती हैं उसी प्रकार व्यभिचारीभाव रत्यादि स्थायीभावों में उन्मग्न और निमग्न होते हैं। ये रत्यादि भावों में नानारूप से विचरण करते हैं इसलिए व्यभिचारीभाव या सञ्चारीभाव कहलाते हैं। ये व्यभिचारीभाव तैंतीस होते हैं—निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, श्रम, धृति, जड़ता, हर्ष, दैन्य, औग्र्य, चिन्ता, त्रास, ईर्ष्या, अमर्ष, गर्व, स्मृति, मरण, मद, सुप्त, निद्रा, विबोध, क्रीड़ा, अपस्मार, मोह, सुमति, अलसता, वेग, तर्क, अवहित्था, व्याधि, उन्माद, विषाद, औत्सुक्य और चपलता[३]।

स्थायीभाव—जो भाव अपने विरुद्ध और अनुकूल भावों से विच्छिन्न नहीं होता और समुद्र के समान सभी भावों को आत्मसात् कर लेता है वह स्थायी-भाव कहलाता है। भाव यह है कि जिस प्रकार समुद्र सभी प्रकार के जलों को आत्मसात् कर स्वरूप (खारा) बना लेता है उसी प्रकार स्थायीभाव सभी अनुकूल-प्रतिकूल भावों को आत्मसात् करके आत्मरूप बना लेता है[४]। **धनिक** के अनुसार जो सजातीय और विजातीय भावों से तिरस्कृत नहीं होता, वह स्थायीभाव कहलाता है। इस प्रकार स्थायीभाव अपने अनुकूल और प्रतिकूल सभी भावों को आत्मसात् कर अपने अनुकूल बना लेता है और स्वयं लुप्त नहीं होता। इसलिए वह स्थायीभाव है।

धनञ्जय के अनुसार रति, उत्साह, जुगुप्सा, क्रोध, हास, विस्मय, भय,

---

१. दशरूपक ४।२–३।

२. वही, ४।४–५।

३. वही, ४।५–६।

४. वही, ४।७।

और शोक। उन्होंने अन्य आचार्य के मत से 'शम' स्थायीभाव का भी उल्लेख किया है, किन्तु नाट्य में उसकी पुष्टि नहीं होती[१]। इस प्रकार नाट्य में आठ ही स्थायीभाव मान्य हैं।

धनिक शान्त रस के विषय में विभिन्न मत प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार कुछ लोग कहते हैं कि 'शान्त रस होता ही नहीं'; क्योंकि भरत ने न तो उसके विभावादि का वर्णन किया है और न उसकी परिभाषा ही बतलायी है। दूसरे आचार्य शान्त रस का वास्तविक अभाव मानते हैं। उनका कहना है कि शान्त रस की स्थिति तभी सम्भव है जब राग-द्वेषादि विगलित हो जायँ। किन्तु अनादि काल से प्रवाह-परम्परा से चले आ रहे राग-द्वेषादि का विनाश असम्भव है। अन्य आचार्य शान्त का वीर, बीभत्स आदि में अन्तर्भाव मानते हैं[२]। इस प्रकार ये आचार्य शान्त रस को नहीं मानते और न 'शम' स्थायीभाव को स्वीकार करते हैं।

धनञ्जय कहते हैं कि निर्वेदादि में ताद्रूप्य न होने से उन्हें स्थायीभाव कैसे कहा जा सकता है? अस्थायी होने से रसास्वादन कैसे संभव है? भाव यह है कि पहले बताया जा चुका है कि जो भाव अपने विरुद्ध और अविरुद्ध भावों से विच्छिन्न नहीं होता और वह अन्य सभी भावों को समुद्र की तरह अपने में आत्मसात् कर उन्हें आत्मरूप बना देता है, वह स्थायीभाव है। इस प्रकार का तादात्म्यभाव निर्वेदादि में नहीं पाया जाता, अतः वह स्थायीभाव नहीं हो सकता। इसलिए आठ ही स्थायीभाव माने गये हैं[३]।

अब प्रश्न यह होता है कि इन भावों का काव्य के साथ क्या सम्बन्ध है? इनमें वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध नहीं माना जा सकता है, क्योंकि रस, भाव का स्व-शब्द से कथन नहीं किया जाता। शृंगारादि रसयुक्त काव्यों में शृंगारादि रस वाचक शब्द अथवा रत्यादि स्थायीभाववाचक शब्द नहीं सुने जाते, जिससे उन भावों की अथवा भावपरिपोषात्मक रसों की अभिधेयता (वाच्यता) हो सके। इसके अतिरिक्त जहाँ कहीं भी स्वशब्द से भावों का अभिधान होता भी है वहाँ भी विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव के द्वारा ही रसरूपता पायी जाती है; रत्यादि अथवा शृंगारादि शब्दों से वाच्य होने से रसरूपता नहीं होती[४]।

---

१. रत्युत्साहजुगुप्साः क्रोधो हासः स्मयं भयं शोकः।
शममपि केचित्प्राहुः पुनर्नाट्येषु नैतस्य॥ (दशरूपक ४।३५)

२. दशरूपकावलोक ४।३५ की टीका।

३. निर्वेदादिरताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम्।
वैरस्यायैव तत्पोषस्तेनाष्टौ स्थायिनो मताः॥ (दशरूपक ४।३६)

४. दशरूपकावलोक ४।३६ की टीका।

रत्यादि भावों और काव्य में लक्ष्य-लक्षकभाव सम्बन्ध भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि यहाँ न काव्य लक्षक है और न रस लक्ष्य। काव्य में सामान्य रसादि के वाचक किसी लक्षक पद का प्रयोग नहीं देखा जाता। जैसे 'गङ्गायां घोषः' में गङ्गा पद का अभिधेय अर्थ गङ्गा का प्रवाह है, किन्तु गङ्गा के प्रवाह में घोषों का रहना असम्भव है। अतः गङ्गा शब्द सामीप्य सम्बन्ध से अपने अर्थ से सम्बद्ध (अविनाभूत) गङ्गातट रूप अर्थ को लक्षित करता है। किन्तु काव्य और रसादि के सम्बन्ध में यह कहना ठीक नहीं है। काव्य में नायकादि शब्दों में स्वार्थ में स्खलद्गति नहीं है, मुख्यार्थ का बाध नहीं है तो वे अन्य अर्थ लक्ष्यार्थ की प्रतीति कैसे करायेंगे ? वे लक्ष्यार्थ को कैसे लक्षित कर सकते हैं ? साथ ही लक्षणा के प्रयोग में रूढ़ि अथवा प्रयोजन का होना आवश्यक है। 'गङ्गायां घोषः' में तो शैत्य-पावनत्व रूप प्रयोजन है। अतः गङ्गा पद से तट रूप अर्थ में लक्षणा हो सकती है। किन्तु यहाँ न स्खलद्गति (मुख्यार्थ का बाध) है और न कोई प्रयोजन ही दिखाई देता है, अतः निमित्त एवं प्रयोजन के बिना मुख्यार्थ के रहते कौन व्यक्ति लाक्षणिक अर्थ का प्रयोग करेगा ? इसलिए 'सिंहो माणवकः' आदि के समान गौणी वृत्ति से भी रस की प्रतीति नहीं हो सकती। क्योंकि गौणी वृत्ति मुख्यार्थबाध आदि तीनों हेतुओं के रहने पर होती है। 'सिंहो माणवकः' में तीनों हेतु हैं। यहाँ मुख्यार्थ-बाध का कारण विद्यमान है और शौर्यादि की प्रतीति लक्षणा का प्रयोजन है, किन्तु रस और काव्य के सम्बन्ध में कोई ऐसा प्रयोजन न होने से लक्षणा नहीं हो सकती[1]।

इसके अतिरिक्त यदि भाव के वाच्य होने से रस की प्रतीति होती है तो केवल वाच्य-वाचकभाव मात्र का ज्ञान रखने वाले अरसिक जनों को भी रसास्वादन हो सकता, जब कि वाच्य-वाचकभाव मात्र का ज्ञान हो जाने से अरसिक जनों को रसास्वाद नहीं होता। कुछ लोग रसादि की प्रतीति को काल्पनिक मानते हैं, किन्तु यह मत भी तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता है; क्योंकि सभी सहृदयों को बिना किसी बाधा के एक जैसी रस की अनुभूति होती है। अन्य आचार्य (ध्वनिवादी आचार्य) अभिधा, लक्षणा और गौणीवृत्तियों से सर्वथा भिन्न व्यञ्जकत्व-व्यापार (व्यञ्जनाशक्ति) से रस, अलङ्कार और वस्तु रूप अर्थ की प्रतीति मानते हैं[2]।

कुछ आचार्य अर्थापत्ति से व्यङ्ग्यार्थ रस की प्रतीति मानते हैं। अन्यथा-नुपपत्ति को अर्थापति कहते हैं। ध्वनिवादियों का कहना है कि रस की प्रतीति अर्थापत्ति से नहीं हो सकती है, क्योंकि अनुपपन्न अर्थ में ही अर्थापत्ति होती है। किन्तु यहाँ अनुपपद्यमान अर्थ की अपेक्षा ही नहीं है, अतः यहाँ अर्थापत्ति

---

१. दशरूपकावलोक (४।३६ की टीका)।

२. वही।

है ही नहीं। व्यङ्ग्यरूप रसादि को वाक्यार्थ भी नहीं माना जा सकता। क्योंकि वह तृतीय कक्षा का विषय है अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति तृतीय क्षण में होती है। जैसे—'भ्रम धार्मिक' इत्यादि उदाहरण में अभिधा के द्वारा प्रथम अभिधा शक्ति से पदार्थ (वाच्यार्थ) का बोध होता है। यह प्रथम कक्षा है। फिर क्रिया-कारक के संसर्ग (अन्वय) से वाक्यार्थ की प्रतीति होती है (हे धार्मिक! तुम स्वतन्त्रतापूर्वक घूमो)। यह द्वितीय कक्षा है। फिर इसके बाद निषेध रूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है, अतः यह वाक्यार्थ नहीं हो सकता। इस प्रकार यह न वाच्यार्थ है और न वाक्यार्थ, अपितु उनसे विलक्षण व्यङ्यार्थ है[1]।

तात्पर्य में व्यञ्जना का समावेश करने वाला तात्पर्यवादी कहता है कि 'विषं भुङ्क्ष्व, मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः' अर्थात् 'विष खा लो, पर इसके घर मत खाना'। यहाँ पर 'विषं भुङ्क्ष्व' का तात्पर्य निषेध में है। अर्थात् यहाँ वाक्यार्थ का तात्पर्य निषेध रूप है। यहाँ अभिप्राय रूप वाक्यार्थ व्यञ्जना का विषय नहीं है, क्योंकि व्यञ्जना तात्पर्याशक्ति से भिन्न है। किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि स्वार्थ (वाक्यार्थ) की द्वितीय कक्षा में जब तक समाप्ति नहीं हो जाती तब तक तृतीय कक्षा नहीं होती। दूसरी कक्षा में ही निषेध रूप अर्थ समाविष्ट है। वहाँ द्वितीय कक्षा में विधिरूप अर्थ लेने पर क्रिया और कारक का सम्बन्ध अनुपपन्न होगा। इस प्रकरण के अनुसार यहाँ पर वक्ता पिता है और कोई पिता अपने पुत्र को विष-भक्षण का आदेश नहीं दे सकता। अतः यहाँ वक्ता का तात्पर्य निषेध रूप अर्थ में है[2]।

इस पर धनञ्जय कहते हैं कि 'जिस प्रकार वाच्य अथवा प्रकरणादि के द्वारा बुद्धिस्थ क्रिया ही कारकयुक्त होकर वाक्य का अर्थ होती है, उसी प्रकार विभावादि से युक्त होकर स्थायीभाव ही रस या वाक्यार्थ होता है'।

भाव यह है कि जिस प्रकार लौकिक वाक्यों में 'गामभ्याज' इत्यादि में श्रूयमाण और कहीं 'द्वारं द्वारम्' इत्यादि में अश्रूयमाण क्रिया वाले वाक्यों में क्रमशः वाचक शब्द के प्रयोग से अथवा प्रकरण आदि के कारण बुद्धिस्थ क्रिया ही कारक से अन्वित होकर वाक्यार्थ रूप में प्रतीत होती है, उसी प्रकार काव्य में भी कहीं 'प्रीत्यै नवोढा' इत्यादि में स्थायीभाव के वाचक 'प्रीति' शब्द का उपादान होने से और कहीं प्रकरणवश अथवा नियताभिहित विभावादि के अविनाभाव सम्बन्ध से सहृदयों के चित्त में स्थायी साक्षात् रस रूप में स्फुरित होता हुआ रत्यादि स्थायी अपने-अपने विभाव, अनुभाव, संचारीभाव से सहृदय के संस्कारवशपरक प्रौढ़ता को प्राप्त होता हुआ वाक्यार्थ होता है[3]।

---

१. दशरूपकावलोक।

२. वही।

३. वही।

पूर्वपक्षी कहता है जो पदार्थ नहीं है वह वाक्यार्थ कैसे हो सकता है? क्योंकि तात्पर्या शक्ति का पर्यवसान कार्य में होता है। जैसे कि संसार में पौरुषेय-अपौरुषेय सभी वाक्यों का तात्पर्य कार्य में होता है। यदि किसी वाक्य का तात्पर्य कार्य में न हो तो वह पागलों के प्रलाप के समान अग्राह्य होगा। काव्य शब्द का अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा निरतिशय आनन्दानुभूति के अतिरिक्त और कोई प्रयोजन नहीं दिखायी देता। अतः निरतिशयानन्दप्रतीति ही काव्य का प्रयोजन है। इस प्रकार आनन्दानुभूति का कारण विभावादि-संवलित स्थायीभाव है। इसलिए वाक्य की अभिधान शक्ति उन-उन रसों से आकृष्ट होती हुई उन-उन रसरूप स्वार्थ के लिए अपेक्षित विभावादि के प्रतिपादन द्वारा पर्यवसित होती है। इस प्रकार जिस रस का काव्य वाक्य है उसके विभावादि पदार्थ स्थानीय हैं और रत्यादिभाव वाक्यार्थस्थानीय हैं[1]।

पुनः पूर्वपक्षी कहता है कि सुखजनक होते हुए भी गीतादि के समान वाच्य-वाचकभाव का कोई उपयोग नहीं होगा। भाव यह है कि गीतादि के श्रवण से आनन्द तो मिलता है, किन्तु गीतादि उस सुख (आनन्द) के वाचक नहीं है और न सुख गीतादि का वाच्य है; उसी प्रकार काव्य तथा आनन्दानुभूतिरूप रस में वाच्य-वाचकभाव का कोई उपयोग नहीं रह जाता। इस पर सिद्धान्तवादी कहता है कि विशिष्ट विभावादि सामग्री को जानने वाले तथा उस प्रकार की रत्यादि की भावना से युक्त सहृदयों को रसपरक आन्दानुभूति होती है। इस कथन से अरसिकों को भी वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध से रसानुभूति होने लगेगी। इस प्रकार के अतिव्याप्ति दोष का निराकरण भी हो जाता है। इस प्रकार अरसिकों को आनन्दानुभूति नहीं होती[2]।

इस प्रकार वाक्यार्थ का निर्णय हो जाने पर परिकल्पित (प्रसिद्ध) अभिधा, लक्षणा, तात्पर्या शक्ति के द्वारा समस्त वाक्यार्थ का बोध हो जाने से व्यञ्जना शक्ति की कल्पना व्यर्थ प्रयासमात्र है। जैसा कि धनिक ने अपने 'काव्यनिर्णय' नामक ग्रन्थ में कहा है—

'व्यञ्जनीय अथवा प्रतीयमान अर्थ तात्पर्यरूप अर्थ से भिन्न नहीं होता अर्थात् व्यञ्जनीय अर्थ का समावेश तात्पर्यार्थ में हो जाता है। अतः व्यञ्जनीय अर्थ की प्रतीति तात्पर्या शक्ति के द्वारा हो जाती है। अतः व्यञ्जना शक्ति (ध्वनि) की कल्पना निरर्थक है'।

इस प्रकार धनिक के अनुसार रसादि का काव्य के साथ व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भाव सम्बन्ध नहीं होता। न काव्य व्यञ्जक है और न रसादि व्यङ्ग्य है। तो इनका कौन-सा सम्बन्ध है? इस पर कहते हैं कि इनसे दोनों में (काव्य और

---

१. दशरूपकावलोक।

२. वही।

रस में) भाव्य-भावकभाव सम्बन्ध है। काव्य भावक है और रसादि भाव्य है। वे रसादि भावकों (सहृदयों) में स्वतः विद्यमान रहते हैं और विशिष्ट विभावादि के द्वारा काव्य से भावित होते हैं[1]। धनिक के इस सिद्धान्त पर भट्टनायक का प्रभाव परिलक्षित होता है। भट्टनायक ने विभावादि और रस में 'भोज्य-भोजकभाव' सम्बन्ध माना है। इसके लिए उन्होंने अभिधा के अतिरिक्त 'भावकत्व' और 'भोजकत्व' दो अन्य व्यापारों की कल्पना की है। इसी आधार पर धनिक ने 'भाव्य-भावकभाव' सम्बन्ध की कल्पना की है।

भोजदेव या भोजराज

भोज का जीवनवृत्त एवं व्यक्तित्व

धारानरेश भोज संस्कृत-साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् एवं कवियों के सच्चे मित्र थे। वे परमारवंशीय मालव-नरेश सीयकदेव के पौत्र एवं सिन्धुराज के पुत्र तथा वाक्पतिराज मुञ्ज के भतीजे थे। भोज के पिता सिन्धुराज सिन्धुल के नाम से प्रसिद्ध थे। भोज की माता का नाम सावित्री था। विश्वेश्वरनाथ रेऊ के अनुसार भोज का दूसरा नाम त्रिलोकनारायण या त्रिभुवननारायण था[2]। किन्तु यह नाम कल्पित प्रतीत होता है, वास्तविक नहीं; क्योंकि भोज के शिलालेखों, ग्रन्थों या अन्यत्र कहीं इस नाम का उल्लेख नहीं मिलता। भोज मालव देश का राजा था, किन्तु उन्होंने अपनी राजधानी धारा नगरी बनायी थी।

भोज का व्यक्तित्व विलक्षण था। वे स्वयं कवि, कवियों के संरक्षक एवं वास्तविक दानवीर थे। उन पर सरस्वती और लक्ष्मी दोनों की कृपा थी। वे अनेक विद्याओं के ज्ञाता, चतुष्षष्टिकलानिष्णात, कुशल प्रशासक, समराङ्गण-सूत्रधार, वास्तविक आचार्य, कवि और दार्शनिक, दानवीर, कवियों एवं विद्वानों के आश्रयदाता थे। उनके व्यक्तित्व में प्रौढ़ प्रतिष्ठा, परिनिष्ठित ज्ञान, पाण्डित्य एवं विदग्धता के साथ विनय का अद्भुत सामञ्जस्य भी था। बल्लालसेन ने भोज के लिए **'प्रत्यक्षरलक्षं ददौ'** सदृश वाक्यों का प्रयोग किया है। उन्होंने भोज के यश, शौर्य, दान, विद्याप्रेम आदि की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

भोज का समय

विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से भोज का समय निर्धारित

---

१. अतो न रसादीनां काव्येन सह व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभावः। किं तर्हि भाव्य-भावकसम्बन्धः। काव्यं हि भावकं भाव्या रसादयः। ते हि स्वतो भवन्त एव भावकेषु विशिष्टविभावादिमता काव्येन भाव्यन्ते।

(दशरूपकावलोक ४।३७ की वृत्ति)

२. राजा भोज (विश्वेश्वरनाथ रेऊ), पृ० ८२।

करने का प्रयास किया है और अपनी अलग-अलग मान्यताएँ प्रस्तुत की हैं। अल्बेरुनी ने 'अल्बेरुनी का भारत' नामक ग्रन्थ में भोज को धारा नगरी का शासक बताया है। अल्बेरुनी १०३० ई० में भारत आया था। इससे ज्ञात होता है कि भोज १०३० ई० में धारा नगरी के राजसिंहासन पर आरूढ़ था। भोज द्वारा राजमृगाङ्क की रचना शक संवत् ९६४ तथा ईसवी सन् १०४२–१०४३ में की गयी थी[1]। इस आधार पर डॉ० भण्डारकर ने भोज का समय ग्यारहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना है।

कल्हण ने राजतरङ्गिणी में भोज को कलशराज के समकालीन बताया है। कलशराज का समय विक्रमाब्द ११२०–११४६ तथा ईसवी सन् १०६३–१०८९ ई० माना जाता है। इस आधार पर ब्यूलर ने भोज का समय १०६३ ई० तक माना है। डॉ० सुशील कुमार दे ने भोज का समय १०१० ई० से १०५५ ई० के मध्य माना है[2]।

भोजप्रबन्ध के अनुसार एक भविष्यवाणी हुई थी कि भोज ५५ वर्ष तक राज्य करेंगे[3]। भोज का चाचा मुञ्ज ९९४–९९७ के मध्य तैलप के द्वारा मारा गया था। मुञ्ज का उत्तराधिकारी उसका भाई सिन्धुराज (सिन्धुल) बना। भोज सिन्धुराज का पुत्र था। भोज के उत्तराधिकारी जयसिंह का एक शिलालेख १०५५–५६ ई० का प्राप्त होता है[4]। इसके अतिरिक्त भोज का एक अन्य शिलालेख १०२१ ई० का मिलता है[5]। इनके अतिरिक्त १०१९ ई० का बाँसवाड़ा शिलालेख भी प्राप्त होता है[6]। इन शिलालेखों से ज्ञात होता है कि सिन्धुराज वाक्पतिराज का उत्तराधिकारी था और उसे परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर की उपाधि मिली थी। इस आधार पर भोज का समय १०५० ई० के पूर्व ग्यारहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध मानना अधिक युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है।

---

१. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (दे), पृ० १२५।

२. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (दे), पृ० १२५।

३. पञ्चाशतपञ्चवर्षाणि सप्तमासं दिनत्रयम्।
भोजराजेन भोक्तव्यः सगौडो दक्षिणापथः॥
(सरस्वतीकण्ठाभरण की भूमिका, पृ० १७)

४. 'धारानरेश जयसिंह का मान्धाता-शिलालेख' (ई० आई० भाग ३ पृ० ४६–५०)।

५. उज्जैन शिलालेख विक्रमी संवत् १०७८ आई० ए० ६ पृ० ५३।

६. धारानरेश जयसिंह का मान्धाता-शिलालेख विक्रमी संवत् १११२ तथा बाँसवाड़ा-शिलालेख ई० आई० ११ पृ० १८१ तिथि १०७६ विक्रमी संवत् एवं बेतम-शिलालेख विक्रमी संवत् १०७६ ई० आई० १८ पृ० ३२० (संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास : काणे, पृ० ३२६)।

भोज की रचनाएँ

भोज ने अनेक विषयों पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है। आजाद के अनुसार भोज ने मध्यकालीन भारत के सभी वैज्ञानिक विषयों पर चौरासी ग्रन्थ लिखे हैं, जो उनके एक-एक विरुद के नाम पर अङ्कित हैं। प्रो० कीथ ने उन सभी रचनाओं को भोज-रचित नहीं माना है, किन्तु डॉ० राघवन् ने कीथ के मत से सहमत न होते हुए सभी रचनाओं को भोज-रचित माना है[1]। उनका कहना है कि भोज कवि-हृदय, अगाध विद्वान्, नीतिज्ञ, शूरवीर एवं धर्मात्मा था। इसीलिए उसने लेखन जैसा मानसिक श्रम किया और अनेक विषयों पर अनेक ग्रन्थों की रचना कर डाली। इसके अतिरिक्त अन्य प्रमाणों से भी ज्ञात होता है कि उन सभी ग्रन्थों की रचना भोज ने ही की थी।

भोज की काव्यशास्त्र सम्बन्धी दो रचनाएँ हैं—

(१) सरस्वतीकण्ठाभरण।

(२) शृङ्गारप्रकाश।

ये दोनों ही विशाल ग्रन्थ हैं। सरस्वतीकण्ठाभरण पाँच परिच्छेदों में विभक्त है। प्रथम परिच्छेद में काव्यलक्षण, काव्यभेद, दोष एवं गुणों का विवेचन है। द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ परिच्छेद में अलङ्कारों का वर्णन है। पञ्चम परिच्छेद में नाटच से सम्बन्धित विषयों का विवेचन है। इसमें रस, भाव, नायक-नायिकादि भेद, सन्धियों एवं वृत्तियों का विवेचन है।

शृङ्गारप्रकाश इनकी दूसरी रचना है। यह भारतीय साहित्यशास्त्र पर लिखी पुस्तकों में सम्भवतः सबसे विशाल ग्रन्थ है। इसमें कुल छत्तीस प्रकाश है, किन्तु छत्तीसवां प्रकाश अभी तक उपलब्ध नहीं है। इसके बारहवें प्रकाश में नाटच का विवेचन है। अन्य प्रकाशों में काव्यशास्त्र और नाटचशास्त्र दोनों का ही विवेचन हुआ है। शृङ्गारप्रकाश के प्रतिपाद्य विषयों का विवरण इस प्रकार है—'प्रथम आठ प्रकाशों में अभिव्यक्ति के साधन शब्द और अर्थ के स्वरूप, व्याकरण की समस्या तथा शब्द की विभिन्न शक्तियों पर विचार किया गया है। नवें एवं दशवें प्रकाश में गुण, दोष एवं अलङ्कारों का विवेचन है। ग्यारहवें प्रकाश में रस और बारहवें में नाटक सम्बन्धी चर्चाएँ हैं। शेष प्रकाशों में शृङ्गारादि रस एवं भावों की चर्चा, शृङ्गार के भेद, रत्यादि भाव तथा धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष शृङ्गार की चर्चा की गयी है'।

भोज के नाटच-सिद्धान्त

रूपक-निरूपण—भोज ने द्वादश रूपकों का निरूपण किया है। उन्होंने भरतोक्त नाटक और प्रकरण के योग से 'नाटी' के दो भेद किये हैं—नाटिका

---

१. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (काणे), पृ० ३२७।

और प्रकरणिका। उनमें नाटिका प्रख्यात है और प्रकरणिका अप्रख्यात[1]। इस प्रकार भोज के अनुसार दश रूपकों में नाटिका और प्रकरणिका इन दोनों भेदों के मिला देने से रूपक के बारह भेद होते हैं।

सट्टक—सट्टक एक रूपक-भेद है। यह नाटिका के समान होता है। भोज ने नाटिका और सट्टक को नाटक और प्रकरण की अपेक्षा किञ्चित् न्यून बतलाया है। इसमें विष्कम्भक और प्रवेशक का प्रयोग नहीं होता। सट्टक में एक ही भाषा का प्रयोग होता है। वह भाषा प्राकृत हो या अपभ्रंश? यह स्पष्ट नहीं है। कुछ विद्वान् भोज की परिभाषा में प्रयुक्त 'अप्राकृतसंस्कृतया' पद के आधार पर सट्टक में अपभ्रंश भाषा का प्रयोग बताते हैं। अन्य विद्वान् 'प्राकृतयासंस्कृतया' पाठ मानकर सट्टक में संस्कृत से भिन्न प्राकृत भाषा का प्रयोग मानते हैं। उनके अनुसार सट्टक की रचना प्राकृत भाषा में होनी चाहिए—

नाटके लक्षणं यत्तु तत्स्यात्प्रकरणेऽपि च।
सट्टकनाटिकायां च किञ्चिदूनं तदुच्यते॥
विष्कम्भप्रवेशकरहितो यस्त्वेकभाषया भवति।
अप्राकृत(प्राकृतया)संस्कृतया (?) स सट्टको नाटकप्रतिमः॥

(शृङ्गारप्रकाश : भोज, पृ० ५४०–४१)

उपरूपक—भोज ने बारह रूपकों के समान बारह उपरूपक भी माने हैं—उनके अनुसार श्रीगदित, दुर्मल्लिका, प्रस्थान, काव्य, भाण, भाणिका, गोष्ठी, हल्लीसक, नर्तक, प्रेक्षणक, रासक और नाट्यरासक—ये बारह उपरूपक हैं[2]। प्राचीन काल में रूपकों की दो परम्पराएँ प्रचलित थीं—साहित्यिक और लौकिक परम्पराएँ। साहित्यिक परम्परा के रूपक 'रूपक' और लोक-परम्परा के रूपक गीत-नृत्यप्रधान उपरूपक के रूप में विकसित हुए।

अभिनय—भोज ने छः प्रकार के अभिनयों का उल्लेख किया है—आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक, आहार्य, सामान्य और चित्राभिनय।

अङ्गवाक्सत्त्वआहार्यः सामान्यश्चित्र इत्यमी।
षट्चित्र इत्यभिनयाः तद्वत् अभिनयं वचो विदुः॥

(सरस्वतीकण्ठाभरण २।१५७ तथा शृङ्गारप्रकाश, भाग २ पृ० २८३)

भोज ने षड्विध अभिनयों में चित्राभिनय को स्वीकार किया है, किन्तु इसे वे आङ्गिक अभिनय से भिन्न नहीं मानते[3]। रामचन्द्र-गुणचन्द्र, धनञ्जय, विश्वनाथ, शिङ्गभूपाल आदि चित्राभिनय को स्वीकार नहीं करते।

---

१. नाटी संज्ञया द्वे काव्ये। एको भेदः प्रख्यातः नाटिकाख्यः। इतरस्तु अप्रख्यातः प्रकरणिकासंज्ञः। (शृङ्गारप्रकाश, पृ० ५८९)

२. शृङ्गारप्रकाश, अध्याय ४।

३. सरस्वतीकण्ठाभरण, २।१५०।

वृत्ति-विचार--भोज ने चेष्टाविन्यासक्रम को 'वृत्ति' माना है और उसे अनुभाव के रूप में बुद्ध्यारम्भव्यापार बताया है। ये वृत्तियाँ चार हैं—भारती, सात्त्वती, आरभटी और कैशिकी। किन्तु भोज ने प्रबन्ध-अङ्गों के विवेचनक्रम में परम्परागत चार वृत्तियों के अतिरिक्त 'विमिश्रा' नामक पाँचवीं वृत्ति भी स्वीकार कर ली है[1]। 'विमिश्रा' वृत्ति उक्त चारों वृत्तियों का मिश्रित रूप है। इस प्रकार भोज के अनुसार वृत्तियाँ पाँच हैं—भारती, आरभटी, कैशिकी, सात्त्वती और विमिश्रा। भोज ने शब्दालङ्कारों का विभाजन समान रूप से छः प्रकारों में किया है। अतः उसके अनुक्रम में मध्यमा कैशिकी और मध्यमा आरभटी इन दो वृत्तियों की अतिरिक्त कल्पना कर वृत्तियों की संख्या छः स्वीकार कर लिया[2]। इस प्रकार भोज ने तीन रूपों में वृत्तियों की संख्या स्वीकार की है। उनके अनुसार वृत्तियाँ मूल रूप से अनुभाव हैं[3]।

प्रवृत्ति-विचार—भोज ने 'वेशविन्यासक्रम' को प्रवृत्ति कहा है (**वेशविन्यासक्रमः प्रवृत्तिः**)। उन्होंने एक स्थान पर चार प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है,[4] किन्तु पाँच सन्धियों के क्रम में पाँच प्रवृत्तियों की परिगणना की है। उन्होंने पौरस्त्या, औड्रमागधी, दाक्षिणात्या और आवन्त्या—इन चार प्रवृत्तियों के अतिरिक्त 'पाञ्चाली' नामक पाँचवीं प्रवृत्ति स्वीकार कर ली है। भोज के अनुसार लोक में वेष-भूषा केवल पात्रों की भिन्नता के कारण ही नहीं, अपितु अनेकानेक कारणों और अवस्थाओं से परिवर्त्तित होती रहती है[5]। यह उनकी मौलिक परिकल्पना है। उन्होंने चौबीस प्रवृत्ति-हेतुओं का वर्णन किया है—देश, काल, पात्र, वय, शक्ति, साधन, अभिप्राय, व्याघात, विपरिणाम, निमित्त, विहार, उपहार, छल, छन्द, आश्रय, जाति, व्यक्ति, रस, भाव और विभाव आदि हेतुओं से पात्रों की वेश-भूषा में परिवर्तन होता है[6]।

रस-निरूपण--भोज के मतानुसार आत्मा का अहङ्कार-विशेष ही शृङ्गार

---

१. सोऽयं पञ्चप्रकारोऽपि चेष्टाविशेषविन्यासक्रमो वृत्तिरित्याख्यायते। मुखादिषु सन्धिषु व्याप्रियमाणानां नायकोपनायकादीनां मनोवाक्कायकर्मनिबन्धना पञ्च वृत्तयो भवन्ति—भारती, आरभटी, कैशिकी, सात्त्वती, विमिश्रा चेति। (शृङ्गारप्रकाश, भाग २ पृ० ४५९)

२. भरत और भारतीय नाट्यकला, पृ० ४३७।

३. भोज का शृङ्गारप्रकाश, पृ० १९५–१९७।

४. वेषविन्यासक्रमः प्रवृत्तिः। साऽपि चतुर्धा—पौरस्त्या, दाक्षिणात्या, औड्रमागधी आवन्त्या च। (शृङ्गारप्रकाश, १२ पृ० ४५९–६०)

५. भरत और भारतीय नाट्यकला, पृ० ४४५।

६. शृङ्गारप्रकाश, १२ पृ० ४५९–६०।

है और वह सहृदयों के द्वारा रस्यमान होने से 'रस' कहलाता है[१]। इसे श्रृङ्गार इसलिए कहा जाता है कि क्योंकि यह मनुष्य को श्रृङ्ग तक पहुँचा देता है। यह श्रृङ्गार स्त्री-पुरुष का वासनात्मक प्रेम या रति का प्रकर्ष नहीं है, अपितु मानव का आत्मनिष्ठ निरपेक्ष प्रेम है। भोज के अनुसार यह अहङ्कार ही रत्यादि भावों को उत्पन्न करता है। इसी अहङ्कार से मानव में अपने व्यक्तित्व का आभास होता है। यह अहङ्कार ही रस है। अभिमान अहङ्कार का ही एक रूप है। इसे अभिमान इसलिए कहते हैं कि यह अभितः मनोऽनुकूल होता है। इसमें समस्त सुख-दुःखात्मक अनुभूतियाँ आनन्दप्रद होने के कारण अभिमत हो जाती हैं। यहाँ पर मनुष्य का अभिमान उत्तेजनाजन्य मिथ्या गर्व नहीं है, वह तो आत्मस्थित विशेष गुण है, जो रस्यमान होने से 'रस' कहलाता है। इस प्रकार भोज के रस-विवेचन पर अग्निपुराण का प्रभाव परिलक्षित होता है।

अग्निपुराण का अनुसरण करते हुए भोज ने श्रृङ्गार को ही एकमात्र रस माना है (**श्रृङ्गारमेव रसनाद्रसमामनामः**[२])। आत्मप्रतीति या आत्मज्ञान का नाम अहङ्कार है और अहङ्कार आत्मा का विशेष गुण है, वही अभिमान है, वही श्रृङ्गार है और वही रस है (**रसोऽभिमानोऽहङ्कारः श्रृङ्गार इति गीयते**)[3]। अभिनव ने भी इसी आत्मप्रतीति को रस कहा है। भोज ने इसी आत्मस्थित अहङ्काररूप श्रृङ्गार को रसराज माना है। इसी श्रृङ्गार से हास्यादि अन्य रस अभिव्यक्त होते हैं। इस प्रकार भोज के अनुसार श्रृङ्गार ही एकमात्र मान्य रस है। एकावली के रचयिता विद्याधर के अनुसार भोज-राज ने श्रृङ्गारप्रकाश में श्रृङ्गार को ही एकमात्र रस स्वीकार किया है (**राजा तु श्रृङ्गारमेकमेव श्रृङ्गारप्रकाशे रसमुररीचकार**)[४]। कुमारस्वामी का भी कथन है कि श्रृङ्गारप्रकाशकार भोज ने श्रृङ्गार को ही एकमात्र रस माना है (**श्रृङ्गार एक एव रस, इति श्रृङ्गारप्रकाशकारः**)[५]। भोज ने श्रृङ्गार को चतुर्वर्ग का कारण बताया है। इस आधार पर उन्होंने श्रृङ्गार के चार भेद किये हैं—धर्मश्रृङ्गार, कामश्रृङ्गार, अर्थश्रृङ्गार और मोक्षश्रृङ्गार।

भोज ने सरस्वतीकण्ठाभरण में प्रचलित नौ रसों के अतिरिक्त प्रेयान्, उदात्त और उद्धत रसों को भी स्वीकार किया है—

---

१. आत्मनोऽहङ्कारविशेषः सचेतसा रस्यमानो रस उच्यते।
(श्रृङ्गारप्रकाश)

२. श्रृङ्गारप्रकाश १।६–७।

३. सरस्वतीकण्ठाभरण ५।१।

४. एकावली, पृ० ९८।

५. रत्नापण, पृ० २२१।

श्रृङ्गारवीरकरुणरौद्राद्भुतभयानकाः ।
बीभत्सहास्यप्रेयांसः शान्तोदात्तोद्धता रसाः ।।

(सरस्वतीकण्ठाभरण ५।१६४)

भोज ने चार नये रसों की उद्भावना नायक-भेद के आधार पर किया है। नायक चार प्रकार के होते हैं—उदात्त, उद्धत, शान्त और ललित। भोज के अनुसार उदात्त धीरोदात्त, उद्धत धीरोद्धत, शान्त धीरप्रशान्त और प्रेयान् धीरललित नायक से सम्बद्ध है। इनके अतिरिक्त उन्होंने स्वातन्त्र्य, आनन्द, प्रशम, पारवश्य, साध्वस, विलास, अनुराग तथा सङ्गम रसों की भी चर्चा की है। डॉ० राघवन् के अनुसार भोज रसों की अनन्तता में विश्वास रखते हैं।

सागरनन्दी

जीवन-परिचय

नाटकलक्षणरत्नकोश के अन्त में दिये गये विवरण के अनुसार नन्दीवंश के किसी सागर ने रत्नकोश नामक ग्रन्थ की रचना की थी, जिसमें नाटकीय तत्त्व का विवरण दिया गया है। सम्भवतः यह रत्नकोश नाटकलक्षणरत्नकोश ही हों और इसके लेखक सागरनन्दी किसी 'नन्दी' वंश के राजघराने से सम्बद्ध रहे हों अथवा किसी राजवंश में उत्पन्न हुए हों या 'नन्दी' उपाधि से विभूषित हुए हों और इनका असली नाम सागर हो तथा नन्दी उपाधि से विभूषित होने के कारण सागरनन्दी नाम पड़ गया हो अथवा नन्दीवंशीय होने के कारण इनका नाम सागरनन्दी रहा हो। कुछ विद्वान् इन्हें बौद्ध लेखक मानते हैं।

सागरनन्दी ने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण में गौरीपति शिव की वन्दना की है। इनका कारण यह प्रतीत होता है कि श्रीशिव नाट्य के आद्य प्रवर्त्तक हैं और ये नाट्यशास्त्र का ग्रन्थ लिखने जा रहे हैं, अतः इन्होंने शिव की वन्दना की है। इस आधार पर कुछ विद्वान् इन्हें शैवमतावलम्बी मानते हैं।

सागरनन्दी का समय

नाटकलक्षणरत्नकोश में प्राप्त अन्तः साक्ष्यों और बाह्य साक्ष्यों के आधार पर सागरनन्दी का समय सरलता से निर्धारित किया जाता है। सागरनन्दी ने नाटकलक्षणरत्नकोश में राजशेखर की काव्यमीमांसा से एक श्लोक उद्धृत किया है। राजशेखर का समय दशम शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है, अतः सागरनन्दी का समय दशम शताब्दी के पहले का नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त नाटकलक्षणरत्नकोश में पद्मश्री-रचित नागरसर्वस्व से उद्धरण उद्धृत किये गये हैं। पद्मश्री का समय नवम शताब्दी का अन्तिम भाग और दशम शताब्दी का प्रारम्भ भाग माना जाता है। अतः सागरनन्दी का समय पद्मश्री

के बाद माना जाना चाहिए। रायमुकुट ने अमरकोश की टीका पदार्थचन्द्रिका में नाटकलक्षणरत्नकोश से उद्धरण लिया है। रायमुकुट का समय १४३१ ई० माना जाता है। इस आधार पर सागरनन्दी का समय १४३१ ई० के पहले होना चाहिए। इसके अतिरिक्त अमरकोष के सुप्रसिद्ध टीकाकार भानुजी दीक्षित ने अपनी 'सुधा' टीका में नाटकलक्षणरत्नकोश से उद्धरण लिये हैं। इनका समय १६३० ई० के आस-पास माना जाता है। भानुदीक्षित के अतिरिक्त विक्रमोर्वशीय के टीकाकार रङ्गनाथ दीक्षित ने सागरनन्दी एवं नाटकलक्षण-रत्नकोश से नामोल्लेखपूर्वक उद्धरण लिये हैं। रङ्गनाथ दीक्षित का समय सतरहवीं शती का उत्तरार्द्ध माना जाता है। इससे प्रतीत होता है कि सोलहवीं शती तक नाटकलक्षणरत्नकोश एक प्रामाणिक नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था।

इनके अतिरिक्त सुभूतिचन्द एवं सर्वानन्द ने अमरकोष की टीका में नाटकलक्षणरत्नकोश से अनेक उद्धरण लिये हैं। सर्वानन्द की टीका का रचना काल ११५८-५९ ई० है, अतः सागरनन्दी का समय इसके पूर्व का होना चाहिए। विश्वनाथ सागरनन्दी से परिचित थे। इनका समय १३०० ई० से १३५० ई० के मध्य माना जाता है। दशरूपक के व्याख्याकार बहुरूप मिश्र ने नाटकलक्षण-रत्नकोश का उल्लेख किया है। बहुरूप मिश्र का समय १२५० ई० के आस-पास माना जाता है, अतः सागरनन्दी का समय इसके पूर्व होना चाहिए।

नाटकलक्षणरत्नकोश की ताड़पत्र पर लिखित एक हस्तलिखित प्रति नेपाल में सिल्वालेवी को प्राप्त हुई थी। इस पाण्डुलिपि की प्रतिलिपि चौदहवीं शती में की गई थी। अतः सागरनन्दी का समय चौदहवीं शताब्दी के बाद कथमपि नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सागरनन्दी का समय राजशेखर दशवीं शताब्दी के बाद और बहुरूप मिश्र एवं सर्वानन्द १२५० ई० के पहले रहा होगा। मेरे विचार से सागरनन्दी का समय ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध मानना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

सागरनन्दी की रचनाएँ

सागरनन्दी की एकमात्र रचना 'नाटकलक्षणरत्नकोश' है। सर्वप्रथम १९२२ ई० में सिल्वालेवी ने नेपाल में नाटकलक्षणरत्नकोश की एक पाण्डु-लिपि प्राप्त की थी, जिसका विवरण उन्होंने १९२३ ई० में जर्नल् एशियाटिक सोसाइटी में प्रकाशित कराया। उसके बाद १९३७ ई० में एम० डिल्लन ने लन्दन से इस ग्रन्थ का एक सुसम्पादित संस्करण प्रकाशित कराया। उसके बाद तीसरा संस्करण हिन्दी व्याख्या के साथ चौखम्बा संस्कृत सीरिज से १९७३ ई० में प्रकाशित हुआ।

इस ग्रन्थ में रूपक तथा उसके दस भेद, पाँच अर्थप्रकृतियाँ, पाँच अवस्थाएँ, पाँच उपक्षेपक, पाँच सन्धियाँ तथा सन्धि के इक्कीस प्रदेश, चार पताका-स्थानक, चार वृत्तियाँ और उनके भेद, नायक के गुण, छत्तीस नाटचलक्षण, दस गुण, चौबीस नाट्यालङ्कार, रस तथा भाव, नायक-नायिका भेद तथा रूपक के उपभेद वर्णित हैं।

सागरनन्दी की मान्यताएँ

सागरनन्दी ने प्राचीन आचार्यों के मतों का अनुकरण किया है। प्राचीन आचार्यों में कोहल का नाम विशेष उल्लेखनीय है। सागरनन्दी ने नामोल्लेख-पूर्वक कोहल का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु उनके सिद्धान्तों का निदर्शन अपने ग्रन्थ में विस्तार से किया है। अभिनवगुप्त द्वारा निर्दशित नाट्यशास्त्रीय विवरणों से ज्ञात होता है कि नाटिका, सट्टक आदि रूपक-प्रभेद कोहलाचार्य द्वारा प्रतिपादित हैं जिसे सागरनन्दी ने निर्दशित किया है। कुछ विद्वानों की धारणा है कि नाट्यशास्त्र के मूलभाग में कोहल की अनेक कारिकाएँ प्रविष्ट हैं। सागरनन्दी ने रूपक के उन सभी प्रकारों को अपने ग्रन्थ में निर्दशित किया है। इनमें से कुछ कोहल द्वारा और कुछ हर्ष, विक्रम, मातृगुप्त, गर्ग, अश्मकुट्ट, नखकुट्ट तथा बादरायण आदि आचार्यों द्वारा उद्भावित थे। सागरनन्दी ने इन रूपक-प्रभेदों का विस्तार से निरूपण किया है। सागरनन्दी के पश्चाद्वर्त्ती आचार्य शारदातनय, विश्वनाथ आदि ने कोहलोक्त रूपक-प्रभेदों का विस्तार से निरूपण किया है। सागरनन्दी ने रूपकों के दस भेदों के अतिरिक्त अन्य प्रभेदों का सोदाहरण स्वरूप प्रदर्शित किया है।

इसके अतिरिक्त सागरनन्दी ने अनेक स्थलों पर अपनी स्वतन्त्र विचार-धाराओं का भी परिचय दिया है। नाटक के नायक के सम्बन्ध में सागरनन्दी का मत है कि वर्तमान काल के राजा को नाटक का नायक बनाया जा सकता है, किन्तु अभिनवगुप्त का कथन है कि प्रख्यात-चरित राजा को ही नाटक का नायक बनाना चाहिए; वर्तमानकालिक राजा को नाटक का नायक नहीं बनाया जाना चाहिए।

वृत्ति-निरूपण—सागरनन्दी ने वृत्तियों के निरूपण के प्रसङ्ग में भरत का अनुसरण न करके कोहल के मत का अनुसरण किया है। तदनुसार वीर, अद्भुत और हास्य रस के लिए भारती वृत्ति; अद्भुत, वीर और रौद्र रस के लिए सात्त्वती; शृङ्गार, हास्य और करुण रस के लिए कैशिकी तथा भयानक और रौद्र रस के लिए आरभटी वृत्ति का प्रयोग किया जाता है।

रूपक-भेद—प्राचीन आचार्यों ने रूपक के दस भेद प्रदर्शित किये हैं, किन्तु सागरनन्दी ने दस भेदों के अतिरिक्त अन्य भेद भी प्रदर्शित किये हैं। उनके अनुसार नाटक के अतिरिक्त रूपक के नाटिका, त्रोटक, प्रकरण, व्यायोग, अङ्क, डिम, समवकार, ईहामृग, भाण, प्रहसन, वीथी, गोष्ठी, संलाप, शिल्पक,

प्रस्थान, काव्य, हल्लीसक, श्रीगदित, भाणिका, भाणी, दुर्मल्लिका, प्रेक्षणक, सट्टक, रासक, नाट्यरासक, उल्लाप्यक आदि भेद भी होते हैं। सागरनन्दी ने लास्य या भाण के दस अङ्गों का विवेचन किया है। भाण के दस अङ्ग इस प्रकार हैं—

"गेयपद, स्थितपाठ्य, आसीनपाठ्य, वैमूढक, पुष्पगण्डिका, प्रच्छेदक, सैन्धवक, उक्त-प्रत्युक्तक, उत्तरोत्तरक, द्विमुक्तक।"

इतिवृत्त-विधान—सागरनन्दी ने इतिवृत्त को दो विभागों में कल्पित किया है—**उपात्त और प्रतिसंस्कृत**। इतिहास-पुराण में प्रसिद्ध घटना को **'उपात्त'** इतिवृत्त कहते हैं। मूल कथा में कल्पित घटनाओं का संयोजन **'प्रतिसंस्कृत'** इतिवृत्त कहलाता है। इतिवृत्त के अन्य भेदों का वर्णन उन्होंने नहीं किया है। इतिवृत्त में पाँच अवस्थाओं, पाँच अर्थप्रकृतियों, पाँच सन्धियों, चौसठ सन्ध्यङ्गों, अर्थोपक्षेपकों तथा चार पताकास्थानकों का विवेचन किया गया है।

नायक-नायिका—सागरनन्दी ने नायक के चार भेद किये हैं—धीरललित, धीरोदात्त, धीरप्रशान्त और धीरोद्धत। इनमें राजा धीरललित, सेनापति और अमात्य धीरोदात्त, श्रोत्रिय और सार्थवाह धीरप्रशान्त और देवता धीरोद्धत होते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य पात्र सङ्कीर्ण कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त दिव्याङ्गना, महारानी, कुलीन कन्या और वेश्या आदि नायिकाएँ होती हैं।

सागरनन्दी ने नायक के आठ गुणों का निर्देश किया है—शोभा, विलास, माधुर्य, स्थैर्य, गाम्भीर्य, ललित, औदार्य और तेज। इसके अतिरिक्त छत्तीस प्रकार के लक्षण, चौंतीस अलङ्कार, दस प्रकार के गुण बताये गये हैं। इस प्रकार जिसमें पाँच अवस्थाएँ, पाँच अर्थप्रकृतियाँ, चौसठ सन्ध्यङ्ग, चार वृत्तियाँ, आठ नायक-गुण, इक्कीस सन्ध्यन्तर, छत्तीस लक्षण तथा नब्बे नाट्यालङ्कार हों, उसे 'नाटक' समझना चाहिए।

पञ्चाङ्गाभिनय—सागरनन्दी के अनुसार नाटकीय तथ्यों को प्रकट करने के लिए अभिनय में पाँच विधाओं का प्रयोग किया जाता है, उसे पञ्चाङ्ग अभिनय कहते हैं। पञ्चाङ्ग अभिनय है—वाक्याभिनय, सूचाभिनय, अङ्कुराभिनय, शाखाभिनय और निवृत्त्यङ्कुराभिनय। इन पञ्चाङ्गाभिनयों को भरत ने शारीराभिनय माना है। भरत के अनुसार शारीराभिनय के पाँच प्रकार हैं—वाक्य, सूचा, अङ्कुर, शाखा और निवृत्त्यङ्कुर। सागरनन्दी ने इन पाँचों को पञ्चाङ्गाभिनय माना है। सागरनन्दी का यह विवरण प्राचीन आचार्यों के विवरण से भिन्न है।

सागरनन्दी ने नायिका के सात सहज गुण बताये हैं—शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, धैर्य, प्रागल्भ्य और औदार्य। इसके बाद यौवन की चार अवस्थाओं का वर्णन किया है। फिर मान के चार प्रकार और काम की दस

अवस्थाओं का वर्णन किया गया है। काम की दस अवस्थाएँ हैं—अभिलाष, चिन्ता, अनुस्मरण, गुणकथा, उद्वेग, विलाप, आतङ्क, उन्माद, जड़ता और मरण। सागरनन्दी के अनुसार नायिका के आठ भेद होते हैं—वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, खण्डिता, विप्रलब्धा, कलहान्तरिता, प्रोषितभर्तृका, स्वाधीनपतिका और अभिसारिका। उनके अनुसार नायिका की दस चेष्टाएँ होती हैं—लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्चित्, मोट्टायित, कुट्टमित, विव्वोक, ललित और विकृत। इसके अतिरिक्त हाव, हेला, विक्षेप, मौग्ध्य, मद और तपन—ये चेष्टालङ्कार हैं। राहुल के मतानुसार इन्हें चेष्टालङ्कार कहा गया है।

रस-मीमांसा—सागरनन्दी के अनुसार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव के संयोग से विकास को प्राप्त होकर स्थायीभाव रस कहलाता है। उनके अनुसार रस आठ प्रकार के होते हैं—

शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतमित्येवमष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः॥

सागरनन्दी के अनुसार मुख्य रस चार हैं—शृङ्गार, रौद्र, वीर और बीभत्स। शृङ्गार का अनुगामी हास्य, रौद्र का कार्य करुण, वीर रस का परिणाम अद्भुत और बीभत्स का फल भयानक रस होता है। इस प्रकार मुख्य रस चार और उनके अनुगामी चार रस कुल आठ रस होते हैं। सागरनन्दी के अनुसार आठ स्थायीभाव, तैंतीस व्याभिचारीभाव, आठ सात्त्विकभाव—कुल उनचास भाव होते हैं।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र

जीवनवृत्त-परिचय

भारतीय नाट्यपरम्परा में रामचन्द्र-गुणचन्द्र का विशिष्ट स्थान है। ये दोनों प्रसिद्ध जैन विद्वान् हेमचन्द्राचार्य के शिष्य थे। रामचन्द्र हेमचन्द्र के उत्तराधिकारी हुए। रामचन्द्र-गुणचन्द्र दोनों अलग-अलग व्यक्ति थे। ये दोनों गुजरात-नरेश सिद्धराज, कुमारपाल और अजयपाल के राज्यकाल में विद्यमान थे। कहा जाता है कि एक बार किसी कारण गुर्जरनरेश अजयपाल रामचन्द्र पर नाराज हो गया था और उसने रामचन्द्र को प्राणदण्ड की सजा दे दी थी। इससे ज्ञात होता है कि यह गुजरात का निवासी था। यह परम विद्वान् और प्रतिभाशाली लेखक था। रामचन्द्र के एक ही आँख थी। गुणचन्द्र रामचन्द्र का सहपाठी और हेमचन्द्र का शिष्य था। गुणचन्द्र के किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ के अस्तित्व का पता नहीं चलता। इन दोनों ने मिलकर एक नाट्यविषयक ग्रन्थ लिखा था, जिसका नाम 'नाट्यदर्पण' है। इन दोनों में रामचन्द्र प्रबन्धशतकर्त्ता की उपाधि से भूषित है।

विष्णुशर्मा के पुत्र धनञ्जय ने चार प्रकाशों में दशरूपक नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया था। धनञ्जय के इस ग्रन्थ की प्रतिद्वन्द्विता में रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने 'नाट्यदर्पण' की रचना की थी। उन्होंने अपने ग्रन्थ नाट्यदर्पण में धनञ्जय के मतों की स्थान-स्थान पर आलोचना की है। किन्तु उन्होंने अपने ग्रन्थ में धनञ्जय का उल्लेख नहीं किया है। इन्होंने अपने ग्रन्थ में सर्वत्र 'केचित्' 'अपरे' 'अन्ये' इत्यादि शब्दों का उल्लेख कर प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्तों की आलोचना की है। इनका नाट्यदर्पण इसलिए और महत्त्वपूर्ण हो गया है कि इसमें उन्होंने अनेक काव्यों एवं नाटकों को उद्धृत किया है। विशाखदत्त कृत 'देवीचन्द्रगुप्त' जैसे महत्त्वपूर्ण नाटक का पता इसी ग्रन्थ से लगता है।

विक्रमोर्वशीय के टीकाकार रङ्गनाथ ने और भट्टिकाव्य की टीका में भरतमल्लिक ने नाट्यदर्पण से उद्धरण उद्धृत किये हैं। इस सम्बन्ध में कुछ आलोचकों का कहना है कि वे उद्धरण वर्तमान नाट्यदर्पण में उपलब्ध नहीं है। सम्भव है कि किसी अन्य लेखक ने 'नाट्यदर्पण' नामक ग्रन्थ लिखा हो जो आज अप्राप्य है।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र का समय

रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने अपने ग्रन्थ की वृत्ति में हेमचन्द्र का अपने गुरु के रूप में सादर उल्लेख किया है। हेमचन्द्र ने ११४० ई० के लगभग नाट्यदर्पण की रचना की थी। प्रभावकचरित के अनुसार हेमचन्द्र का जन्म १०८८ ई० में हुआ था और ११७३ ई० में ८४ वर्ष की अवस्था में उनकी मृत्यु हो गई थी। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि रामचन्द्र-गुणचन्द्र का समय बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध रहा होगा। डॉ० यस के दे ने रामचन्द्र का समय १००० ई० से ११७५ ई० के मध्य माना है।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र दोनों ही सिद्धराज, कुमारपाल और अजयपाल के समकालीन रहे हैं। सिद्धराज ने १०९३ से ११४३ ई० तक शासन किया था। उसके बाद उनके उत्तराधिकारी कुमारपाल राजगद्दी पर बैठा। उसने ११४३–११७२ ई० तक राज्य किया। उसके बाद अजयपाल ने ११७२ से ११७५ तक शासन किया। इन्हीं के शासन-काल में रामचन्द्र रहे हैं। कहा जाता है कि अजयपाल किसी बात पर रामचन्द्र से नाराज हो गया था और उसे प्राणदण्ड की सजा दे दी। १९७५ ई० में तावे की चद्दर को लाल गरम करके उस पर उसे खड़ा करके प्राणदण्ड दिया गया था। इन आधारों पर अनुमान लगाया जाता है कि बारहवीं शताब्दी के मध्यकाल में ये रहे होंगे। रामचन्द्र की मृत्यु ११७५ ई० में हुई है, अतः ११०० ई० से ११७५ ई० तक इनका जीवनकाल माना जा सकता है।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र की रचनाएँ

नाट्यदर्पण— रामचन्द्र-गुणचन्द्र की सम्मिलित रचना 'नाट्यदर्पण' है। यह

ग्रन्थ भरतनाट्यशास्त्र के आधार पर लिखा गया है। नाट्यदर्पण की रचना कारिका में हुई है और उन दोनों ने उस पर अपनी वृत्ति लिखी है। संक्षेप होने के कारण कई स्थलों पर कारिकाएँ समझ में नहीं आती, इसलिए उन दोनों ने उस पर वृत्ति लिखी है। संक्षिप्तता में यह दशरूपक के समान है। ऐसा कहा जाता है कि यह ग्रन्थ धनञ्जय के दशरूपक की प्रतिस्पर्धा में लिखा गया है। इस ग्रन्थ में चार विवेक हैं—

प्रथम विवेक में रूपक के प्रथम भेद नाटक का लक्षण, इतिवृत्त के भेद, अवस्था, सन्धि, सन्ध्यङ्गादि का विवेचन है। द्वितीय विवेक में रूपक के अन्य भेदों का विवेचन है। तृतीय विवेक में चार वृत्तियों, रस, भाव और अभिनय पर विचार किया गया है। चतुर्थ विवेक में रूपक के सामान्य तत्त्व नान्दी, ध्रुवा तथा नायक-नायिका के गुण एवं भेदों पर विचार किया गया है।

रामचन्द्र के अन्य ग्रन्थ

इसके अतिरिक्त रामचन्द्र ने अन्य बहुत से ग्रन्थ लिखे हैं। जैन साहित्य में इन्हें प्रबन्धशतकर्त्ता कहा गया है। नाट्यदर्पण में रामचन्द्र द्वारा लिखित ग्यारह नाटकों का उल्लेख प्राप्त होता है—

१. रघुविलास (नाटक)।
२. नलविलास (नाटक)।
३. यादवाभ्युदय (नाटक)।
४. राघवाभ्युदय (नाटक)।
५. सत्यहरिश्चन्द्र (नाटक)।
६. सुधाकलश (नाटक)।
७. कौमुदी-मित्रानन्द (प्रकरण)।
८. मल्लिका-मकरन्द (प्रकरण)।
९. रोहिणीमृगाङ्क (प्रकरण)।
१०. निर्भयभीम (व्यायोग)।
११. वनमाला (नाटिका)।

डॉ० सुशीलकुमार दे ने उनके 'रघुविलाप' नामक नाटक का उल्लेख किया है।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र के नाट्य-सिद्धान्त

रूपक-निरूपण—रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने रूपक के बारह भेद किये हैं। धनञ्जय ने रूपक के दस भेद और एक नाटिका-भेद किये हैं। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने ग्यारह भेद दशरूप के अनुसार और बारहवाँ भेद प्रकरणी स्वतन्त्र किया है। इस प्रकार उनके अनुसार रूपक के बारह भेद कहे गये हैं—

१. नाटक, २. प्रकरण, ३. नाटिका, ४. प्रकरणी, ५. व्यायोग, ६. समवकार, ७. डिम, ८. भाण, ९. प्रहसन, १०. अङ्क, ११. ईहामृग, १२. वीथी[1]।

इस प्रकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने प्रसिद्ध दस रूपकों के साथ नाटिका और प्रकरणी का रूपक-भेद के रूप में उल्लेख किया है। इस प्रकार उनके मत से रूपक बारह होते हैं। अन्य रूपकों का उल्लेख नाट्यदर्पण में नहीं है। ग्रन्थ के अन्त में वृत्ति में लिखा है—**'अन्यान्यपि रूपकाणि दृश्यन्ते'**। उसके बाद उन्होंने सट्टक, श्रीगदित, दुर्मिलिता, प्रस्थान, गोष्ठी, हल्लीसक, प्रेक्षणक, रासक, नाट्यरासक, काव्य, भाण और भाणिका—इन तेरह उपरूपकों का संक्षिप्त विवरण दिया है।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने नाट्यदर्पण में नायिका देवी (परिणीता) और कन्या (अपरिणीता) की प्रसिद्धि और अप्रसिद्धि के आधार पर नाटिका के चार भेद किये हैं[2]।

१. देवी अप्रसिद्धा कन्या प्रसिद्धा।
२. देवी अप्रसिद्धा कन्या भी अप्रसिद्धा।
३. देवी प्रसिद्धा कन्या अप्रसिद्धा।
४. देवी प्रसिद्धा कन्या भी प्रसिद्धा।

किन्तु इस प्रकार का विभाजन युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर तो अनेक भेद हो सकते हैं। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने प्रकरणी (प्रकरणिका) नामक भेद स्वीकार किया है। उन्होंने कहा है कि प्रकरणी नाटिका के समान होती है, केवल इसका नायक प्रकरण के समान होता है[3]।

इतिवृत्त-विधान––रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने इतिवृत्त के दो प्रकार बताये हैं—मुख्य और प्रासङ्गिक। इनमें मुख्य इतिवृत्त को आधिकारिक कहते हैं और अङ्गभूत कथावस्तु को प्रासङ्गिक कहते हैं। पुनः यह दो प्रकार का होता है—पताका और प्रकरी। वह इतिवृत्त पुनः चार प्रकार का होता है—सूच्य, प्रयोज्य, ऊह्य और उपेक्ष्य। नीरस और अनुचित कथावस्तु को विष्कम्भादि के द्वारा सूचित करना चाहिए। ये विष्कम्भादि अर्थोपक्षेपक होते हैं और सूच्य अर्थ के उपस्थापक। सरस और उचित कथावस्तु को अभिनय के द्वारा प्रदर्शित करना चाहिए, यह वस्तु प्रयोज्य कहलाती है। सूच्य और प्रयोज्य के अविनाभूत इतिवृत्त को स्वयं समझ लेना चाहिए, यह 'ऊह्य' इतिवृत्त है। जो वस्तु जुगुप्सित हो अर्थात् उपेक्ष्य, ऐसे इतिवृत्त की उपेक्षा कर देनी चाहिए।

इनके अतिरिक्त इतिवृत्त के दो अन्य भेद होते हैं—प्रकाश्य और स्वगत।

---

१. नाट्यदर्पण १।३-४।
२. अख्याति-ख्यातितः कन्या देव्योर्नाटी चतुर्विधा। (नाट्यदर्पण २।६)
३. एवं प्रकरणी किन्तु नेता प्रकरणोदितः। (नाट्यदर्पण २।८)

इनमें ज्ञाप्य को प्रकाश और हृदिस्थित को 'स्वगत' कहते हैं। इनके अतिरिक्त अपवारित और जनान्तिक दो भेद होते हैं। प्रकाश सर्वश्राव्य होता है और स्वगत अश्राव्य। एक अन्य भेद नियतश्राव्य दो प्रकार का होता है—अपवारित और जनान्तिक। रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अनुसार जो कथावस्तु नायक अथवा रस के विरुद्ध हो उसका परित्याग कर देना चाहिए अथवा उसमें परिवर्त्तन कर लेना चाहिए। नाटक में पाँच अर्थोपक्षेपकों, पाँच अवस्थाओं, पाँच सन्धियों एवं सन्ध्यङ्गों का प्रयोग करना चाहिए। उनका विस्तृत विवेचन नाट्यदर्पण के प्रथम विवेक में वर्णित है।

पात्र-योजना—नाटक में स्त्री और पुरुष दोनों प्रकार के पात्र उत्तम, मध्यम और अधम भेद से तीन-तीन प्रकार के होते हैं। उनमें उत्तम पुरुष-पात्र का लक्षण इस प्रकार है—

शरण्यो दक्षिणस्त्यागी लोकशास्त्रविचक्षणः।
गाम्भीर्य-धैर्य-शौण्डीर्य-न्यायवानुत्तमः पुमान्॥ (नाट्यदर्पण ४।४)

मध्यम गुण वाले पात्र मध्यम और नीच-प्रकृतिक पात्र अधम होते हैं। उत्तमा स्त्री-पात्र का लक्षण इस प्रकार हैं—

लज्जावती मृदुर्धीरा गम्भीरा स्मितहासिनी।
विनीता कुलजा दक्षा वत्सला योषिदुत्तमा॥ (नाट्यदर्पण ४।६)

मध्यम पात्र के पुरुष के समान मध्यमा स्त्री होती है और इतिवृत्त के अनुसार अधम स्त्री-पात्र होती है।

इसके बाद नायक के गुणों का वर्णन किया गया है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अनुसार नायक में तेज, माधुर्य, विलास, शोभा, स्थैर्य, गम्भीरता, उदारता और ललित—ये आठ सात्त्विक गुण होने चाहिए। विदूषक, नपुंसक, शकार, विट, किङ्कर, श्याल, शकार आदि राजा के सहायक हैं। नाटयदर्पण में नायिका के मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा ये तीन भेद बताये गये हैं। वहाँ अवस्था के अनुसार नायिका के आठ भेद बताये गये हैं—प्रोषिता, विप्रलब्धा, खण्डिता, कलहान्तरिता, विरहोत्कण्ठिता, वासकसज्जा, स्वाधीनभर्तृका और अभिसारिका। नायिकाओं के बीस अलङ्कार बताये गये हैं—

१. **अङ्गज अलङ्कार**—हाव, भाव, हेला।

२. **स्वभावज अलङ्कार**—विभ्रम, विलास, विच्छित्ति, लीला, विव्वोक, विहृत, ललित, कुट्टमित, मोट्टायित, किलकिञ्चित्।

३. **अयत्नज अलङ्कार**—शोभा, कान्ति, दीप्ति, धैर्य, प्रगल्भता।

नायिकाओं की सहायिकाएँ—धात्री, परिव्राजिका, प्रतिवेशिनी, शिल्पिनी, दासी, सखी आदि। उन्होंने भाषा के प्रकार और नायिकाओं के नाम-निर्देश आदि का भी वर्णन किया है। उनके अनुसार चार प्रकार की वृत्तियाँ होती हैं—भारती, सात्त्वती, कैशिकी और आरभटी।

रस-मीमांसा

रामचन्द्र-गुणचन्द्र रस को सुख-दुःखात्मक मानते हैं (सुख-दुःखात्मको रसः[१])। उनके अनुसार विभावादि से आविर्भूत, अनुभावों से प्रतीतियोग्य बनाया गया और व्यभिचारी भावों से परिपुष्ट हुआ सुख-दुःख स्वभाव वाला रत्यादि स्थायीभाव ही 'रस' है। भरत के अनुसार लोक के सुख-दुःखसमन्वित स्वभाव, अङ्गादि अभिनयों से उपेत होने पर 'नाट्य' कहा जाता है। इस प्रकार नाट्य सुख-दुःखात्मक स्वभाव वाला होता है। अभिनव ने नाट्य को 'रस' कहा है, अतः नाट्य-रस का स्वभाव सुख-दुःखात्मक होता है।

कुछ आचार्य रस को सुखात्मक मानते हैं। धनिक, विश्वनाथ, भट्टनायक आदि आचार्य रस की सुखात्मकता का प्रतिपादन करते हैं। उनकी दृष्टि में सभी रस सुखात्मक हैं, किन्तु रामचन्द्र-गुणचन्द्र रसों की सुखरूपता को स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि सुख-दुःखात्मक जीवन की अनुरूपता के कारण रस भी सुख-दुःख उभयात्मक होता है। उनमें कुछ सुखात्मक होते हैं और कुछ दुःखात्मक। उनमें इष्ट विभावादि के द्वारा स्वरूप-सम्पत्ति को प्रकाशित करने वाले शृङ्गार, हास्य, वीर, अद्भुत और शान्त सुखात्मक होते हैं और अनिष्ट विभावादि के द्वारा स्वरूप को प्राप्त करने वाले करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक—ये चार रस दुःखात्मक हैं[२]। जो लोग सभी रसों को सुखात्मक मानते हैं उनका यह मत समीचीन नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि भयानक, बीभत्स, करुण, रौद्र—इन रसों की क्लेशादि दशा को देखकर सहृदय सामाजिक उद्विग्न तो होता ही है और सुखास्वाद से उद्विग्न नहीं होता है। इष्ट विनाशादि से जो करुणा उत्पन्न होती है उसमें दुःख की ही आस्वाद्यता होती है। इस प्रकार करुण आदि रस दुःखात्मक हैं।

अब प्रश्न होता है कि यदि करुण आदि रस दुःखात्मक हैं तो सामाजिकों की उस ओर प्रवृत्ति क्यों होती है? इस पर कहते हैं कि कवि, नट आदि के शक्ति-कौशल से चमत्कृत होकर सहृदय उसके प्रेक्षण में प्रवृत्त होते हैं। इस प्रकार कवि और नटों की शक्ति से उत्पन्न चमत्कार के द्वारा विद्वान् लोग करुण आदि दुःखात्मक रसों में भी परम आनन्द को प्राप्त करते हैं और रसास्वादन के लोभ से सामाजिक भी उसमें प्रवृत्त होते हैं[३]।

---

१. नाट्यदर्पण ३।७।

२. तत्रेष्टविभावादिप्रथितस्वरूपसम्पत्तयः शृङ्गारहास्यवीराद्भुतशान्ताः पञ्चसुखात्मनोऽपरे पुनरनिष्टविभावाद्युपनीतात्मानः करुणरौद्रबीभत्सभयानकाश्चत्वारो दुःखात्मानः। (नाट्यदर्पण ३।७ की वृत्ति)

३. अनेनैव च सर्वाङ्गाह्लादकेन कविनटशक्तिजन्मना चमत्कारेण विप्रलब्धाः परमानन्दरूपतां दुःखात्मकेष्वपि करुणादिषु सुमेधसः प्रतिजानीते। एतदास्वाद्यलौल्येन प्रेक्षका अपि एतेषु प्रवर्त्तन्ते। (वही)

कवि लोग सुख-दुःखात्मक संसार की दशा को देखकर सुख-दुःखात्मक रसानुकूल ही रामादि के चरित का ग्रथन करते हैं और सहृदय पानक रस के समान तीक्ष्ण आस्वाद के द्वारा सुख का अनुभव करते हैं। जिस प्रकार गुड़, मरिच, अम्ल आदि के सम्मिश्रण से तैयार पानक रस में अपूर्व आनन्द मिलता है, किन्तु तीक्ष्ण मरिचादि का स्वाद किसी के लिए उद्वेजक भी होता है; उसी प्रकार सुख-दुःखात्मक काव्य में सहृदय अलौकिक आनन्द की अनुभूति करते हैं, किन्तु कुछ लोग दुःखात्मक वर्णन से दुःख का भी अनुभव करते हैं।

जैसे—नाटक में सीता का हरण, द्रौपदी का केशाकर्षण, लक्ष्मण का शक्ति-भेदन, रोहिताश्व का मरण आदि देखकर किस सहृदय को सुख (आनन्द) का आस्वादन होगा ? वहाँ भी अनुकार्यगत करुण आदि रस दुःखात्मक ही होते हैं। यदि नाटकगत अनुकरण को सुखात्मक मानेंगे तो अच्छी तरह अनुकरण ही नहीं होगा अर्थात् यथार्थ अनुकरण नहीं होगा और जो इष्ट के विनाश से उत्पन्न दुःखात्मक करुण के अभिनय में सुख का अनुभव होता है वह भी वास्तव में दुःखात्मक ही होता है। इसी प्रकार विप्रलम्भ-श्रृङ्गार दुःखात्मक होने पर भी सम्भोग की सम्भावना होने से सुखात्मक ही होता है। भाव यह है कि सुखात्मक रसों से आनन्द मिलता है और दुःखात्मक रसों से दुःख का अनुभव होता है। इसीलिए रामचन्द्र-गुणचन्द्र रसों को सुख-दुःखात्मक मानते हैं (सुखदुःखात्मको रसः)[1]।

रस-भेद—रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने नाटचदर्पण में नौ रस निर्दिष्ट किये हैं—श्रृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त।

> **श्रृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः।**
> **बीभत्साद्भुतशान्ताश्च रसाः सद्भिर्नव स्मृताः॥**[2]

इनमें सर्वजातिसुलभ और अत्यन्त परिचित होने के कारण तथा हृद्य होने से श्रृङ्गार का सर्वप्रथम उपादान किया गया है। इसके बाद श्रृङ्गार का अनुगामी होने से हास्य रस का वर्णन किया गया है और उसके बाद हास्य का विरोधी होने से करुण रस का वर्णन किया गया है। उसके बाद काम के अर्थसम्भव होने से अर्थप्रधान रौद्र रस का निरूपण किया गया है। काम और अर्थ दोनों धर्मजन्य हैं, इसलिए रौद्र के बाद धर्मप्रधान वीर रस का कथन किया गया है। तदनन्तर भयभीत को अभय प्रदान करने में समर्थ होने से भयानक का वर्णन है। सात्त्विक व्यक्तियों के द्वारा भीत को घृणित समझने के कारण भयानक के बाद बीभत्स रस का वर्णन किया गया है। बीभत्स का

---

१. नाटचदर्पण ३।७ की वृत्ति।

२. वही, ३।९।

विस्मय से परिहार होने के कारण बीभत्स के बाद अद्भुत रस का कथन किया गया है। धर्म का मूल 'शम' है। इसलिए सबसे अन्त में शम-प्रधान शान्त रस का वर्णन किया गया है।

इनके अतिरिक्त रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने गर्द्ध-स्थायीभावात्मक लौल्य रस, आर्द्रता-स्थायीभावात्मक स्नेह, आसक्ति-स्थायीभावात्मक व्यसन, अरति-स्थायीभावात्मक दुःख, सन्तोष-स्थायीभावात्मक सुख रस का भी उल्लेख किया है, किन्तु पूर्वोक्त नव रसों में इनका अन्तर्भाव हो जाने से अतिरिक्त रस के रूप में उन्हें मान्यता नहीं मिल सकी।

ध्रुवा-निरूपण——रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने नाट्य के प्रसङ्ग में पाँच प्रकार की ध्रुवाओं का निर्देश किया है। ये पाँच ध्रुवाएँ इस प्रकार हैं—प्रवेश, निष्क्राम, आक्षेप, प्रसाद और चित्रार्थ। भरत ने भी पाँच प्रकार की ध्रुवाएँ निर्दिष्ट की हैं, किन्तु उनके नामों में अन्तर है। वे रामचन्द्र-गुणचन्द्र द्वारा निर्दिष्ट पाँचवीं ध्रुवा 'चित्रार्थ' के स्थान पर 'अन्तरा' ध्रुवा स्वीकार करते हैं।

शारदातनय

शारदातनय का जीवनवृत्त

भारतीय नाट्य-परम्परा में शारदातनय का विशिष्ट स्थान है। उनका जन्म आर्यावर्त्त देश के मेरूत्तर जनपद के माठरपूज्य नामक ग्राम में कश्यप-गोत्रीय एक ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। भावप्रकाशन के अनुसार इनके पूर्वज मेरूत्तर जनपद के माठरपूज्य ग्राम में रहते थे। यह मेरूत्तर जनपद 'मेरठ' कहा जा सकता है[1]। शारदातनय के प्रपितामह का नाम लक्ष्मण था। ये एक धार्मिक प्रवृत्ति के विद्वान् थे। इन्होंने वेदों पर 'वेदभूषण' नामक टीका लिखी थी। लक्ष्मण का पुत्र श्रीकृष्ण समस्त वेदों एवं शास्त्रों का ज्ञाता था। उनके शिव की आराधना से भट्टगोपाल नामक पुत्र हुआ। भट्टगोपाल ने माँ शारदा की उपासना से एक गुणवान् पुत्ररत्न प्राप्त किया। शारदा देवी के नाम पर उस बालक का नाम 'शारदातनय' रखा गया[2]।

कुछ विद्वान् शारदातनय को दक्षिण का निवासी बताते हैं। उनका कहना है कि मेरूत्तर जनपद का माठरपूज्य ग्राम दक्षिण का 'मातापूपी' नामक ग्राम हो सकता है। मातापूपी एक गोत्रसूचक नाम है, जिसके आधार पर गाँव का नाम 'मातापूपी' पड़ गया होगा और मेरूत्तर दक्षिण भारत का 'उत्तरमेरु' नामक ग्राम हो सकता है जो मद्रास से लगभग बीस मील की दूरी पर स्थित है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह 'मेरूत्तर' ही कालान्तर में उत्तरमेरु हो गया

---

१. जर्नल् आफ द आन्ध्र हिस्टोरिकल रिसर्च सोसाइटी, द्वितीय भाग, पृ० ३२।

२. भावप्रकाशन, पृ० १-२।

होगा। किन्तु यह मत ठीक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि आर्यावर्त्तदेश उत्तर में है न कि दक्षिण में और आर्यावर्त्त में मेरूत्तर (मेरठ) जनपद है। मेरठ जनपद में माठर ब्राह्मण रहते थे। अतः माठरों के नाम से माठरपूजा या माठरपूज्य ग्रामवसा होगा, जहाँ शारदातनय के पूर्वज रहते होंगे।

शारदातनय के गुरु का नाम दिवाकर था। दिवाकर एक नाटचशाला के निर्देशक थे। शारदातनय ने नाटचवेद के विशेषज्ञ अपने गुरु से नाटचवेद की शिक्षा प्राप्त की थी। उन्होंने बाल्यावस्था में ही समस्त वेद-वेदाङ्गों की शिक्षा प्राप्त कर ली थी। कहा जाता है कि एक बार वे शारदादेवी की उपासना के लिए देवी-मन्दिर गये। वहाँ चैत्रयात्रामहोत्सव मनाया जा रहा था। नृत्यशाला में देवी को प्रणाम कर वे पार्श्व में प्रेक्षकों के साथ बैठ गये। वहाँ भावाभिनय-कोविदों के द्वारा प्रयुज्यमान तीस प्रकार के भिन्न-भिन्न रूपक-प्रयोगों को देखकर उन्होंने देवी से नाटचवेद की ज्ञानप्राप्ति के लिए प्रार्थना की। तब देवी ने नाटचशालाध्यक्ष दिवाकर नामक द्विज को नाटचवेद के अध्यापन के लिए नियुक्त किया। तब दिवाकर ने सदाशिव, शिव, पार्वती, वासुकि, वाग्देवी, नारद, अगस्त्य, व्यास, आञ्जनेय और भरतपुत्रों के मत-मतान्तरों की शिक्षा शारदातनय को दी। तब शारदातनय ने उनके सिद्धान्तों का सार ग्रहण कर नाटचविदों के कल्याण के लिए 'भावप्रकाशन' नामक ग्रन्थ तैयार किया[1]। उनका यह भावप्रकाशन नाटचशास्त्र का अनुपम ग्रन्थ है।

शारदातनय का समय

शारदातनय ने भावप्रकाशन में भोजकृत शृङ्गारप्रकाश और मम्मट के काव्यप्रकाश से अनेक उद्धरण उद्धृत किये हैं। इस आधार पर शारदातनय का समय भोज, मम्मट के बाद निर्धारित किया जा सकता है। भोज का समय ग्यारहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है और मम्मट का समय ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है, अतः शारदातनय का समय इनके बाद का होना चाहिए। इसके अतिरिक्त शिङ्गभूपाल ने अपने ग्रन्थ रसार्णवसुधाकर में शारदातनय के भावप्रकाशन से अनेक उद्धरण उद्धृत किये हैं, अतः शारदातनय का समय शिङ्गभूपाल के पहले मानना चाहिए। शिङ्गभूपाल का समय १३३० ई० माना जाता है, अतः शारदातनय के समय की निचली सीमा १३०० ई० के पहले मानी जा सकती है। इस प्रकार शारदातनय का समय १००० ई० से १३०० ई० के मध्य निर्धारित किया जा सकता है[2]।

शारदातनय के भावप्रकाशन में भोज के साथ सोमेश्वर नामक एक

---

१. भावप्रकाशन, पृ० १-२।

२. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (दे), पृ० २२१।

आचार्य का भी उल्लेख प्राप्त होता है[1], किन्तु साहित्य के क्षेत्र में चार सोमेश्वर प्रसिद्ध हैं। उनमें से किस सोमेश्वर का शारदातनय ने उल्लेख किया है यह विवादास्पद है। यहाँ उसकी समीक्षा आवश्यक है। चार सोमेश्वर हैं—

१. काव्यादर्श (काव्यप्रकाश की टीका) का लेखक सोमेश्वर।

२. कीर्त्तिकौमुदी और सुरथोत्सव का लेखक सोमेश्वर।

३. मानसोल्लास का लेखक सोमेश्वर।

४. संगीतरत्नावली का लेखक सोमेश्वर।

इनमें प्रथम सोमेश्वर भरद्वाजकुलोत्पन्न भट्टदेवक का पुत्र था। उसने काव्यप्रकाश पर काव्यादर्श नामक टीका लिखी है। इस टीका का दूसरा नाम 'संकेत' भी है। द्वितीय सोमेश्वर 'कीर्त्तिकौमुदी' और 'सुरथोत्सव' का लेखक था। ये दोनों सोमेश्वर एक ही समय में हुए हैं। पीटर्सन और ओफ्रेक्ट ने दोनों को एक ही व्यक्ति माना है। उनका कहना है कि काव्यप्रकाश की टीका काव्यादर्श और कीर्त्तिकौमुदी एवं सुरथोत्सव का लेखक एक ही सोमेश्वर था और उनका समय तेरहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना है[2]। किन्तु दोनों सोमश्वरों को एक मानना सन्देहात्मक प्रतीत होता है, क्योंकि काव्यादर्श के लेखक सोमेश्वर के पिता का नाम भट्टदेवक था और कीर्त्तिकौमुदी एवं सुरथोत्सव के लेखक सोमेश्वर के पिता का नाम कुमार था। किन्तु इन दोनों का ही सम्बन्ध शारदातनय से नहीं रहा होगा। क्योंकि इनके ग्रन्थों में नाट्य तथा सङ्गीत विषयक कोई भी सामग्री नहीं प्राप्त होती है।

मानसोल्लास का लेखक सोमेश्वर चालुक्यवंशी राजा त्रिभुवनमल्ल का प्रतापी पुत्र था। उसने अपने पिता के यशोगान में 'विक्रमाभ्युदय'[3] नामक ग्रन्थ की रचना की थी। त्रिभुवनमल्ल को जयसिंह, विक्रमाङ्कदेव एवं परमर्दी के नाम से भी अभिहित किया गया है। शार्ङ्गदेव और जगदेकमल्ल ने सोमेश्वर का मत उद्धृत किया है। जगदेकमल्ल सोमेश्वर का पुत्र था। सोमेश्वर ने 'अभिलषितार्थचिन्तामणि'[4] और 'संगीतरत्नावली'[5] नामक ग्रन्थों का भी प्रणयन किया है। इन दोनों ग्रन्थों में संगीत-विषयक अनेक तत्त्वों पर विचार किया गया है। इस प्रकार संगीतरत्नावली का लेखक सोमेश्वर और मान-

---

१. उक्तास्ता वृत्तयः साङ्गा भोजसोमेश्वरादिभिः।

(भावप्रकाशन, पृ० १२)

इतः परं विशेषास्तु भोजसोमेश्वरादिभिः। (भावप्रकाशन, पृ० १९४)

२. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (दे), पृ० २२१।

३. मानसोल्लास (गायकवाड़) १ भूमिका, पृ० ६।

४. वही।

5. Ragas and Raginis (O. C. Gangoly.) p. 20।

सोल्लास का लेखक सोमेश्वर एक ही व्यक्ति प्रतीत होता है। क्योंकि सोमेश्वर चालुक्यवंशी राजा था और उसका समय बारहवीं शताब्दी का मध्यभाग माना जाता है। इतिहासकारों ने सोमेश्वर का राज्यकाल ११२७ ई० से ११३८ के मध्य माना है[1], अतः शारदातनय का समय इसके बाद होना चाहिए। इस आधार पर शारदातनय का समय बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध अथवा १३०० ई० के आसपास माना जा सकता है, क्योंकि १३३० ई० में शिङ्ग-भूपाल ने शारदातनय को उद्धृत किया है। अतः उनके पूर्व इनका समय होना चाहिए।

डॉ० सुशीलकुमार दे के अनुसार भावप्रकाशन में उल्लिखित कल्पलता अरिसिंह द्वारा रचित काव्यकल्पलता और देवेश्वर द्वारा रचित कविकल्पलता से भिन्न है, क्योंकि शारदातनय के अनुसार काव्यप्रकाश में उसकी सामग्री का उपयोग किया गया है;[2] और शारदातनय द्वारा उद्धृत कल्पलता में जिन सन्दर्भों का प्रतिपादन है, अरिसिंह और देवेश्वर रचित कल्पलता में वर्णित भिन्न प्रतीत होता है। शारदातनय ने कल्पलता की बहुत-सी मान्यताओं को भावप्रकाशन में उद्धृत किया है। इस कथन से कल्पलता का समय मम्मट से पूर्ववर्त्ती सिद्ध होता है, अतः शारदातनय का समय मम्मट के बाद का मानना चाहिए।

अल्लराज ने रसरत्नदीपिका में अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों के उल्लेख के साथ भावप्रकाशन का भी उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि शारदा-तनय अल्लराज के पहले हुए हैं। अल्लराज रणथम्बौर के चौहान राजा हमीर का पुत्र था। उसका राज्यकाल १२८३–१३०० ई० माना जाता है[3], अतः शारदातनय का समय इसके पूर्व तेरहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध १२०० ई० से १२५० ई० के मध्य माना जा सकता है।

शारदातनय की रचनाएँ

शारदातनय के दो ग्रन्थों के अस्तित्व का पता चलता है। डॉ० पारसनाथ द्विवेदी के अनुसार शारदातनय के दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं[4]—

१. भावप्रकाशन।

२. शारदीयम्।

(१) **भावप्रकाशन**—भावप्रकाशन इनका नाट्चपरक ग्रन्थ है, किन्तु इसके एक अध्याय में सङ्गीत-विषयक सिद्धान्त साररूप में दिये गये हैं। शारदा-

१. मानसोल्लास : एक अध्ययन, पृ० ८।

२. भावप्रकाशन, पृ० १७५।

३. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (दे), पृ० २५२।

४. डॉ० पारसनाथ द्विवेदी : काव्यप्रकाश की भूमिका, पृ० ३०।

तनय ने इस ग्रन्थ में सदाशिव, वासुकि, नारद, कुम्भ, व्यास, भरत, अगस्त्य, कोहल, सुबन्धु, मातृगुप्त, नन्दिकेश्वर, आञ्जनेय आदि आचार्यों का उल्लेख किया है। भावप्रकाशन का प्रथम प्रकाशन १९३० ई० में गायकवाड़ ओरियण्टल संस्कृत सीरिज, बड़ौदा द्वारा किया गया है। मेलकोट के यदुगिरि यदुराज तथा के० एस० रामास्वामी ने भावप्रकाशन के हस्तलिखित प्रति की खोज की। चीड़ के पत्रों पर लिखी हुई एक प्राचीन पाण्डुलिपि, जो जीर्ण-शीर्ण अवस्था में दक्षिण में प्राप्त हुई थी, ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीटच्यूट, बड़ौदा के पुस्तकालय में सुरक्षित है।

भावप्रकाशन में कुल दस अधिकरण हैं। प्रथम अधिकरण में प्रथम भाव का विवेचन किया गया है। शारदातनय के अनुसार रस रूपी साध्य की प्राप्ति के लिए भावरूपी साधन (कारण) की अपेक्षा होती है। इसीलिए उन्होंने रस के पहले भावों का विवेचन किया है। इस अधिकरण में उन्होंने भाव के भेद, विभाव, अनुभाव, सात्त्विकभाव तथा व्यभिचारीभावों का विवेचन किया है। द्वितीय अधिकरण में स्थायीभाव तथा नाटचरस का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसी अधिकरण में विभावादि के लक्षण एवं रसोत्पत्ति-विषयक मत भी प्रतिपादित हैं। तृतीय अधिकरण में रसोत्पत्ति के प्रतिपादन के साथ रसों के भेद प्रदर्शित किये गये हैं। चतुर्थ अधिकरण में रत्यादि भावों एवं शृङ्गाररस के भेदोपभेद प्रतिपादन के साथ नायक-नायिकादि के स्वरूप एवं भेदों का निरूपण किया गया है। पञ्चम अधिकरण में यौवन के भेद, काम के भेद, वैशिक नायक के स्वरूप एवं भेद, सत्त्वभेद से नायिकाओं के भेद एवं छत्तीस प्रकार की दृष्टियों पर विचार किया गया है।

षष्ठ अधिकरण में रसानुभूति, रसाभास, शान्तरस, सम्भोग-शृङ्गारादि के स्वरूप एवं प्रकार के विवेचन के साथ शब्दशक्तियों पर भी विचार किया गया है। सप्तम अधिकरण में नाटच, नृत्त, नृत्य तथा रूपक के लक्षण तथा पूर्वरङ्ग-विधान एवं इतिवृत्त-विधान के निरूपण के साथ वर्ण, श्रुति, स्वर, ग्राम, मूर्च्छना, राग, जाति, गीत, वाद्य आदि सङ्गीत-विषयक तत्त्वों पर भी विचार किया गया है। अष्टम अधिकार में तीस प्रकार के रूपक, चौसठ प्रकार के अलङ्कार, नट, प्रेक्षक, प्राश्निक आदि के लक्षण, भारतीवृत्ति एवं अङ्क-निरूपण के साथ नाटकादि के लक्षण एवं उदाहरण वर्णित किये गये हैं। नवम अधिकार में उपरूपक या नृत्य के बीस प्रकारों के लक्षण एवं उदाहरण तथा पात्रोचित भाषा-नियम निर्दिष्ट हैं। दशम अधिकरण में नाटचावतरण की कथा, नाटच-प्रयोक्ताओं के स्वरूप, ताण्डव एवं लास्य नृत्यों के लक्षण एवं भेद, ध्रुवा का स्वरूप एवं भेद आदि विषयों पर विचार किया गया है।

(२) **शारदीयम्**—शारदातनय का एक अन्य ग्रन्थ 'शारदीयम्' है। यह संगीत-विषयक ग्रन्थ प्रतीत होता है। इसमें सङ्गीत के सभी अङ्गोपाङ्गों पर

विचार किया गया है, किन्तु यह ग्रन्थ आज अप्राप्य है। शारदातनय ने भावप्रकाशन में इस ग्रन्थ का नामोल्लेख किया है। उनका कहना है कि मैंने 'शारदीयम्' नामक ग्रन्थ में सङ्गीत एवं उनके भेदों का अच्छी तरह से निरूपण किया है। विद्वानों को वहीं पर सङ्गीत एवं उनके भेदों को देख लेना चाहिए—

मयाऽपि शारदीयाख्ये प्रबन्धे सुष्ठु दर्शितम् ।
सङ्गीतं तस्य भेदाश्च तत्रैवालोक्यतां बुधैः ।।

(भावप्रकाशन, पृ० १९४)

शारदातनय की मान्यताएँ

(१) **नाट्योत्पत्ति-विषयक मान्यता**—शारदातनय नाट्य-सर्जना का श्रेय शिव को देते हैं, जब कि भरतादि आचार्य नाट्य का उद्‌गम ब्रह्मा के द्वारा मानते हैं। शारदातनय के अनुसार शिव ने नाट्य का सृजन कर नन्दिकेश्वर को पढ़ाया और नन्दिकेश्वर ने ब्रह्मा को नाट्यवेद की शिक्षा दी। तब ब्रह्मा ने भरतों को नाट्यवेद की शिक्षा देकर भूलोक में प्रयोग एवं प्रसारित करने का आदेश दिया था।

(२) **भाव एवं रस**—शारदातनय का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विवेचन 'भाव' है। उनके अनुसार रस की प्राप्ति का साधन भाव है। बिना भाव के रसानुभूति की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसीलिए शारदातनय ने भावों का विवेचन पहले किया है। उन्होंने दार्शनिक दर्पण में भाव का प्रतिबिम्ब देखा है और उसी परिप्रेक्ष्य में भावों पर विचार किया है। उनकी चिन्तन-धारा में भावों का चिन्तन प्रमुख है। उन्होंने भाव के पाँच विभाग किये हैं—विभाव, अनुभाव, स्थायीभाव, सञ्चारीभाव और सात्त्विकभाव[1]।

शारदातनय ने प्रथम विभाव के दो भेद किये हैं—आलम्बन और उद्दीपन। फिर शृङ्गारादि रसों के आधार पर विभाव के आठ भेद किये हैं—ललित, ललिताभास, स्थिर, चित्र, रूक्ष, खर, निन्दित और विकृत[2]। यह उनकी मौलिक कल्पना है। इस प्रकार उन्होंने मन, वाणी, गात्र एवं बुद्धि के आधार पर अनुभाव के चार प्रकार बताये हैं—मन-आरम्भानुभाव, वागारम्भानुभाव, गात्रारम्भानुभाव और बुद्ध्यारम्भानुभाव[3]। उन्होंने इनके अवान्तर भेद भी किये हैं। उन्होंने हाव, भाव, हेला आदि सात्त्विक अलङ्कारों को मन-आरम्भानुभाव के अन्तर्गत स्वीकार किया है। वागारम्भानुभाव के अन्तर्गत

---

१. विभावाश्चानुभावाश्च स्थायिनो व्यभिचारिणः ।
सात्त्विकाश्चेति कथ्यन्ते भावभेदाश्च पञ्चधा ।।
(भावप्रकाशन, पृ० ३)

२. भावप्रकाशन, पृ० ३–४।

३. वही, पृ० ६।

आलाप-प्रलाप आदि बारह भेद गिनाये गये हैं। गात्रारम्भानुभाव के अन्तर्गत स्त्रियों के दस और पुरुषों के आठ—कुल अठारह भेद वर्णित किये गये हैं। बुद्ध्यारम्भानुभाव के अन्तर्गत रीति, वृत्ति तथा प्रवृत्तियों का निरूपण किया गया है[१]।

स्थायीभाव—स्थायी रूप से हृदय में प्रसुप्त वासना जब उद्‌बोधक तत्त्वों के द्वारा जागृत होती है तो वे स्थायीभाव रस कहलाते हैं। शारदातनय के अनुसार चित्त में स्थायी रूप से विद्यमान रहने वाले भाव स्थायीभाव कहलाते हैं। स्थायीभाव आठ होते हैं—रति, हास, उत्साह, विस्मय, क्रोध, शोक, जुगुप्सा और भय[२]।

व्यभिचारीभाव—जो भाव रसनिष्पत्ति में स्थायी के अनुकूल सञ्चरण करते हैं वे 'व्यभिचारीभाव' कहलाते हैं। ये संख्या में तैंतीस होते हैं—निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, व्रीडा, मोह, स्मृति, धृति, हर्ष, चपलता, आवेग, जड़ता, औत्सुक्य, विषाद, गर्व, अमर्ष, अवहित्थ, मद, निद्रा, अपस्मृति, सुप्ति, प्रबोध, औग्र्य, व्याधि, मरण, भास, उन्माद और वितर्क[३]।

सात्त्विकभाव—सत्त्वगुण या समाहित मन से उत्पन्न भाव 'सात्त्विकभाव' कहलाते हैं। शारदातनय के अनुसार सभी भावों के मूल में सत्त्व रहता है। किन्तु जो भाव बिना किसी प्रयत्न के स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होकर सभी भावों की स्वसत्ता को विभाषित करते हैं वे 'सात्त्विकभाव' कहलाते हैं। ये सात्त्विकभाव आठ होते हैं—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वर-भेद, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु तथा प्रलय[४]।

रस-निरूपण—शारदातनय का रस-विवेचन स्वतन्त्र है। उन्होंने काव्य एवं नाट्य दोनों दृष्टियों से रस का विवेचन किया है। उनके अनुसार काव्य की प्रत्येक विधा में रस का उत्कर्ष आवश्यक है; क्योंकि रस ही काव्य का प्राण है। शारदातनय का कहना है कि जब विभाव, अनुभाव, सात्त्विकभाव एवं व्यभिचारीभावों के द्वारा स्थायीभाव आस्वाद्यता को प्राप्त होता है तो 'रस' कहलाता है। जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यञ्जन एवं औषधि (मसाले) का संयोग (सम्मिश्रण) अन्न (खाद्य-पदार्थ) को स्वादिष्ट बना देता है, उसी प्रकार स्थायीभाव पर आश्रित रसत्व को विभावादि आस्वाद्य के

---

१. वही, पृ० ११।

२. भावप्रकाशन, पृ० ४–८।

३. वही, पृ० ४ तथा पृ० १५।

४. वही, पृ० ४ तथा पृ० ६।

योग्य बना देते हैं[१]। वृद्धभरत ने इसी को गद्य में कहा है[२]। इससे ज्ञात होता है कि वृद्धभरत ने रस का विवेचन गद्य में किया था।

शारदातनय भावों से रस की निष्पत्ति मानते हैं। उन्होंने अपने मत के समर्थन में अन्य आचार्यों का भी उल्लेख किया है। उनका कहना है कि 'जिस प्रकार विभिन्न प्रकार के द्रव्य, औषधि (मसाले) एवं पाक से नाना प्रकार के व्यञ्जन भाषित होते हैं उसी प्रकार अभिनयों के साथ भाव भी रसों को भावित करते हैं।' इस प्रकार वासुकि के मत में भी भावों से रस की उत्पत्ति बताई गई है[३]। वासुकि के इस मत को नारद ने भी प्रकारान्तर से कहा है[४]। नारद के अनुसार मन जब सत्त्वादि गुणों के साथ सांसारिक वस्तुओं के सम्पर्क में आता है तो उस समय जो विशेष प्रकार की अनुभूति होती है वही रस है। सांख्यदर्शन के अनुसार समस्त अनुभूतियों का आश्रय अन्तःकरण का मूल अहङ्कार है। इस अहङ्कार के कारण मनुष्य को अपने व्यक्तित्व का आभास होता है। जैसे किसी कामिनी के द्वारा स्निग्ध दृष्टि से देखे जाने पर पुरुष में आत्मज्ञान, आत्मविश्वास या आत्मानुराग की भावना जाग्रत होकर उसे सहज आनन्द में विभोर कर देती है, यही अहङ्कार है; यह अहङ्कार ही रस है। शारदातनय ने भी अहङ्कार को रस माना है। सामाजिक जब नाटक का अवलोकन करता है तो वह अपने अहङ्कार के द्वारा अभिनेय की मनःस्थिति में पहुँच जाता है। उस समय वह अपने सुख-दुःख को भूलकर अभिनेय के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझने लगता है, तब वह रसत्व की स्थिति में पहुँच जाता है। इसी प्रकार का सिद्धान्त वासुकि ने भी प्रतिपादित किया है और नारद ने भी इसी मत को प्रकारान्तर से स्वीकार किया है[५]। इस प्रकार नारद और शारदातनय ने भी अहङ्कार के परिवर्त्तित रूप को 'रस' माना है। शारदातनय के अनुसार रस आठ है। यही पद्मभू (ब्रह्मा) का भी मत है।

पात्र-योजना—शारदातनय के अनुसार रस को सामाजिक के अन्तःकरण

---

१. विभावैश्चानुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
आनीयमानः स्वादुत्वं स्थायीभावो रसः स्मृतः।
व्यञ्जनौषधिसंयोगो यथान्नं स्वादुतां नयेत्।।
एवं नयन्ति रसतमितरे स्थायिनं श्रिताः। (भावप्रकाशन, पृ० ३६)

२. तथा भरतवृद्धेन कथितं गद्यमीदृशम्। (वही)

३. इति वासुकिनाऽप्युक्तो भावेभ्यो रससम्भवः। (भावप्रकाशन, पृ० ३७)

४. उत्पत्तिस्तु रसानां या पुरा वासुकिनोदिता।
नारदस्योच्यते सैषा प्रकारान्तरकल्पिता।। (वही, पृ० ४७)

५. वही।

तक पहुँचाने हेतु पात्रों की आवश्यकता होती है। उन्होंने भावप्रकाशन में पात्रों के चरित्र का विश्लेषण मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया है। उन्होंने नायक, नायिका, उपनायक, विदूषक, विट, सखी आदि पात्रों की योजना रसोन्मुख रूप में प्रतिपादित की है। नायिका-वर्णन के प्रसङ्ग में उन्होंने गणिका के प्रति विशेष सहानुभूति दिखाई है, जो आज के समाज में हेय की दृष्टि से देखी जाती है। उन्होंने नायिका के दो भेद किये हैं—स्वीया और अन्या। इनमें स्वीया केवल भोगाभिलाषिणी होती है और अन्या भोग के साथ धनाभिलाषिणी भी होती है। इस दृष्टि से उन्होंने नारी की तीन अवस्थाएँ बतायी हैं—विरहोत्कण्ठिता, अभिसारिका और विप्रलब्धा[1]। उनका यह प्रयोग मौलिक प्रतीत होता है।

इतिवृत्त-विधान—शारदातनय के अनुसार इतिवृत्त नाटच का शरीर कहा गया है। जिस प्रकार आत्मा के अधिष्ठान के लिए शरीर की आवश्यकता होती है उसी प्रकार नाटचात्मा रस के लिए इतिवृत्त रूप नाटच-शरीर की आवश्यकता है। शारदातनय के अनुसार इतिवृत्त के दो प्रकार हैं—आधिकारिक और प्रासङ्गिक। इसी प्रसङ्ग में उन्होंने पाँच अर्थप्रकृतियाँ, पाँच अवस्थाएँ एवं पाँच सन्धियाँ भी वर्णित की हैं[2]। शारदातनय का इतिवृत्त-विधान सैद्धान्तिक होने के साथ व्यावहारिक भी है।

सङ्गीत-विधान—सङ्गीत के अन्तर्गत नृत्य (नृत्त), वाद्य और गीत तीनों का समावेश होता है[3]। शारदातनय ने नाटच के उपरञ्जक नृत्य, वाद्य एवं गीत आदि तत्त्वों पर भी विचार किया है। शारदातनय के अनुसार नृत्य नाटच का उपकारक तत्त्व है। उन्होंने नृत्य के दो प्रकार बताये हैं—ताण्डव और लास्य। उनके अनुसार नृत्य से उपरूपक का ग्रहण होता है। उपरूपकों के मूल प्रवर्तक कोहल माने जाते हैं, किन्तु शारदातनय ने उपरूपक के बीस प्रकार बताये हैं। उनका क्रमबद्ध विवेचन भावप्रकाशन में ही बताया गया है। उन्होंने ताण्डव और लास्य को उपरूपक के अन्तर्गत न मानकर नृत्य का भेद माना है[4]।

शारदातनय ने ताण्डव को उद्धत और लास्य को सुकुमार नृत्य कहा है। उनके अनुसार ताण्डव के तीन प्रकार होते हैं—चण्ड, प्रचण्ड और उच्चण्ड

---

१. भावप्रकाशन, पृ० ९५–९६।

२. वही, पृ० २०१, २०४, २०५, २०६, २०७।

३. गीतं वाद्यं च नृत्तं च त्रयं सङ्गीतमुच्यते।

(संगीतरत्नाकर, भाग १ पृ० २१)

४. भावप्रकाशन, पृ० ४–६।

और लास्य के चार भेद होते हैं—शृङ्खला, लता, पिण्डी और मेद्यक[१]। इनके अतिरिक्त शारदातनय ने लास्य के गेयपदादि दस अङ्ग भी स्वीकार किये हैं। शारदातनय के अनुसार पिण्डीबन्धों से युक्त ताण्डव के अनेक भेद हो सकते हैं[२]।

शारदातनय ने शुद्ध और देशी भेद से नृत्य के दो प्रकार बताये हैं। उनमें मार्ग में ध्रुवा का प्रयोग होता है। ध्रुवा पाँच प्रकार की होती है—प्रावेशिकी, आक्षेपिकी, प्रासादिकी, आन्तरा और नैष्क्रायिकी[३]। ध्रुवा में अलङ्कार, लय, वर्ण, गीति, यति, वाणि का प्रयोग होता है। शारदातनय ने ध्रुवा में भावाभिनय का निर्देश किया है[४]। इस प्रकार नृत्य-विधान के वर्णन में उन्होंने ताण्डव और लास्य का जो विस्तृत विवेचन किया है वैसा अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता है। नाटचप्रयोक्ताओं के वर्णन में उनकी दृष्टि सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों रही है।

गीत-विधान—शारदातनय गीत-विधान में अनेक मौलिक तत्त्वों का वर्णन करते हैं। शारदातनय के अनुसार इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना—इन तीन आभ्यन्तर नाड़ियों में सुषुम्ना मध्यमा नाड़ी जब अग्निशिखा के समाश्रित होती है, तब प्राणवायु से मिलकर 'नाद' नाम से स्फुट होती है[५]। नाद के दो भेद हैं—आहत और अनाहत नाद। इनमें आहत नाद संगीतोपयोगी होता है। नाद धमनियों के आधार पर श्रुतियों को उत्पन्न करता है और श्रुतियों से स्वर उत्पन्न होता है। धमनियों की संख्या के अनुसार श्रुतियों की भी संख्या निर्धारित होती है। शारदातनय के अनुसार धमनियाँ चौबीस होती हैं, अतः श्रुतियाँ भी चौबीस होती हैं[६]। प्राणादि पञ्चवायु के द्वारा धमनियों के संसर्ग से धातुओं में प्रज्वालिताग्नि से 'नाद' प्रवृत्त होता है। यही नाद 'स्वर' कहलाता है[७]। रस, रक्त, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा और शुक्र—ये सात धातुएँ हैं। इन सात धातुओं से सात स्वर उत्पन्न होते हैं[८]। ये स्वर सात होते हैं—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद। इन्हीं का संक्षिप्त नाम 'स रि ग म प ध नि' है।

---

१. भावप्रकाशन, पृ० २९७–९८।
२. वही, पृ० २९८।
३. वही, पृ० २९८।
४. वही, पृ० ३०३।
५. वही, पृ० १८४।
६. वही, पृ० १८६–८७।
७. वही, पृ० १८७।
८. वही, पृ०।

शारदातनय ने दो ग्रामों का निर्देश किया है—मध्यम और षड्ज। उन्होंने गान्धार ग्राम को स्वीकार नहीं किया है। उनके अनुसार दोनों ग्रामों के आधार पर तीन तानों में सप्तस्वरमूर्च्छनाएँ और तीन तानों के भेद से बारह स्वरों के आधार पर द्वादशस्वरमूर्च्छनाएँ होती हैं[1]। इस प्रकार शारदातनय सप्तस्वरमूर्च्छना और द्वादशस्वरमूर्च्छना दोनों प्रकार की मूर्च्छनाओं को स्वीकार करते हैं।

शारदातनय ने श्रुतियों को षडङ्गों से युक्त बतलाया है। ये छः अङ्ग हैं—स्मृति, व्यवसित, आरम्भ, स्पर्श, भिन्न तथा लय। ये श्रुतियाँ पुनः भिन्न, न्यून और अधिक भेद से तीन प्रकार की होती हैं[2]। श्रुति के इन तीन भेदों के आधार पर शारदातनय ने पाँच ग्रामरागों का उल्लेख किया है। वे पाँच ग्रामराग हैं—शुद्ध, गौड़, बेसर, भिन्न और साधारण[3]। राग के तीन स्थान हैं—मन्द्र, मध्य और तार। शारदातनय के अनुसार ग्रह, अंश, तार, मन्द्र, षाडव, औडवित, अलपत्व, बहुत्व, न्यास तथा उपन्यास—ये दस जाति-लक्षण कहे गये हैं। सात स्वरों से युक्त राग को पूर्ण कहते हैं और पूर्ण रागों से सम्बद्ध तानें उनचास हैं[4]।

रूपक-निरूपण—शारदातनय ने तीस प्रकार के रूपकों का वर्णन किया है—१. नाटक, २. प्रकरण, ३. भाण, ४. प्रहसन, ५. डिम, ६. व्यायोग, ७. समवकार, ८. वीथी, ९. अङ्क, १०. ईहामृग, ११. तोटक, १२. नाटिका, १३. गोष्ठी, १४. सल्लाप, १५. शिल्पक, १६. डोम्बी, १७. श्रीगदित, १८. भाणी, २०. प्रस्थान, २१. काव्य, २२. सट्टक, २३. नाट्यरासक, २४. लासक, २५. उल्लोप्यक, २६. हल्लीसक, २७. दुर्मल्लिका, २८. मल्लिका, २९. कल्पवल्ली तथा ३०. परिजातक[5]।

इनमें प्रारम्भ के दस रसात्मक होते हैं, इसलिए उन्हें रूपक कहते हैं। इस प्रकार रूपक दस हैं। शेष बीस भावात्मक होते हैं, इसलिए उन्हें उपरूपक कहते हैं। उपरूपकों को नृत्यरूपक भी कहते हैं। ये उपरूपक बीस हैं। इस प्रकार शारदातनय ने नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी, अङ्क और ईहामृग—इन दस रूपकों का विवेचन किया है। शेष बीस उपरूपकों (नृत्यभेदों) के वर्णन में वे विशेष सक्रिय दिखायी देते हैं। उन्होंने इन उपरूपकों को 'नृत्यभेद' कहा है।

---

१. भावप्रकाशन, पृ० १८८।
२. वही, १८८-१८९।
३. वही, पृ० १८९।
४. वही, पृ० १९०।
५. वही, पृ० २२१।

नाट्यवृत्तियाँ--शारदातनय के अनुसार वृत्तियाँ चार हैं—भारती, सात्त्वती, कैशिकी और आरभटी। उन्होंने इन चारों वृत्तियों को चारों वेदों से समुद्भूत माना है। शारदातनय ने भारती वृत्ति को सर्वाधिक व्यापक बताया है। उनके अनुसार "नट के द्वारा प्रयक्त संस्कृत भाषा वाला व्यापार 'भारती वृत्ति' है"। उन्होंने भारती वृत्ति के चार भेद बताये हैं—प्ररोचना, वीथी, प्रहसन और आमुख। सात्त्वती वृत्ति सात्त्विक गुणों से युक्त होती है। आरभटी वृत्ति आङ्गिक अभिनय से पूर्ण होती है।

शार्ङ्गदेव

जीवनवृत्त

काश्मीर के एक ब्राह्मण कुल का तेजस्वी विद्वान् भास्कर दक्षिण में जाकर बस गया। उसका पुत्र सोड्ढल बड़ा विद्वान् एवं बुद्धिमान् था। उसने देवगिरि के यादव-नरेश भिल्लम तत्पश्चात् उनके पुत्र सिंहण के आश्रय में रहकर खूब यश अर्जित किया। सोड्ढल राजा को प्रसन्न कर उनसे अर्जित धन से ब्राह्मणों को तृप्त करता था। वह धार्मिक एवं महादानी था। उसने अपना सब कुछ दान में दे दिया था। शार्ङ्गदेव उसी सोड्ढल का पुत्र था। शार्ङ्गदेव देवताओं की आराधना एवं गुरुओं की सेवा में रत था। उसने गुरुओं से समस्त शास्त्रों का अध्ययन किया और उनके मर्म को समझा। वह परम विनोदी, उदार एवं समस्त शास्त्रों का ज्ञाता था। उसने धन के द्वारा ब्राह्मणों का, विद्यादान से जिज्ञासुओं का और रसायन से रोग-पीड़ितों का दुःख दूर करके समस्त लोकों के तापत्रय के उन्मूलन की इच्छा से शाश्वत धर्म, कीर्त्ति एवं मोक्ष की प्राप्ति के लिए 'सङ्गीतरत्नाकर' की रचना की थी[1]।

शार्ङ्गदेव का समय

शार्ङ्गदेव के सङ्गीतरत्नाकर के प्रमुख टीकाकार शिङ्गभूपाल है। इनके अतिरिक्त कल्लिनाथ एवं विट्ठल ने भी सङ्गीतरत्नाकर पर टीका लिखी है। सङ्गीतरत्नाकर के टीकाकार शिङ्गभूपाल वेङ्कटगिरि का राजा था और शिङ्गम नायडू के नाम से विख्यात था। शेषगिरि शास्त्री ने शिङ्गभूपाल और शिङ्गम नायडू को अभिन्न माना है और उनका राज्यकाल १३३० ई० के लगभग बताया है[2]। रामकृष्ण भण्डारकर ने आन्ध्रनरेश शिङ्गभूपाल और देवगिरि के यादवनरेश 'सिंघण' को एक ही व्यक्ति माना है। शाङ्र्गदेव ने इसी सिंघण के आश्रय में सङ्गीतरत्नाकर की रचना की थी। शिङ्गभूपाल का समय १३३० ई० से १४०० ई० के मध्य माना जाता है[3]। अतः शाङ्र्ग-

१. सङ्गीतरत्नाकर, भाग १ श्लोक सं० ६-१४।

२. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (दे), पृ० २२२।

३. डॉ० पारसनाथ द्विवेदी : काव्यप्रकाश की भूमिका, पृ० ३३।

देव का समय इससे कुछ पूर्व अर्थात् तेरहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है।

इनके अतिरिक्त सङ्गीतरत्नाकर के दूसरे टीकाकार कल्लिनाथ का समय १३१० ई० के बाद माना जाता है। अतः शाङ्र्गदेव का समय इससे कुछ पहले होना चाहिए। इस प्रकार शाङ्र्गदेव का समय तेरहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध सिद्ध होता है।

शाङ्र्गदेव ने सङ्गीतरत्नाकर में अपने पूर्ववर्त्ती जिन आचार्यों का उल्लेख किया है, उनमें सबसे परवर्त्ती आचार्य जगदेकमल्ल हैं। जगदेकमल्ल ने सङ्गीत पर 'सङ्गीतचूड़ामणि' नामक ग्रन्थ लिखा है, जिसके लेखन का समय बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि तेरहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक उनका ग्रन्थ सङ्गीतशास्त्र में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर चुका था और सङ्गीतशास्त्र के आचार्यों में उनकी पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी। तभी तो शाङ्र्गदेव ने सङ्गीत-रत्नाकर में मान्य सङ्गीताचार्य के रूप में उनका उल्लेख किया होगा। इससे यह तथ्य उजागर होता है कि शाङ्र्गदेव जगदेकमल्ल के बाद में हुए हैं। जगदेकमल्ल का समय बारहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है, अतः शाङ्र्गदेव का समय तेरहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध (१२५०–१३००) मानना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

सङ्गीतरत्नाकर में दी गई सङ्गीतशास्त्रीय सामग्री के अवलोकन से ज्ञात होता है कि जिस व्यक्ति का शास्त्रीय ज्ञान इतना उच्चकोटि का है तो उसकी कला व्यवहार-जगत् में कितनी उच्चकोटि की होगी? शाङ्र्गदेव अत्यन्त उदार, विनोदप्रिय एवं विद्वान् पुरुष थे। उन्होंने अपने पूर्ववर्त्ती समस्त विद्वानों की रचनाओं का गहन अध्ययन किया और उनका मन्थन कर नवनीत निकाल कर सङ्गीतरत्नाकर में भर दिया। इसीलिए उनका सङ्गीतरत्नाकर सङ्गीत-शास्त्र का सबसे महत्त्वपूर्ण एवं आदरणीय ग्रन्थ माना जाता है। शाङ्र्गदेव ने स्वयं अपने को 'निःशङ्क' कहा है (निःशङ्कशाङ्र्गदेवविरचितेत्यादि)।

शाङ्र्गदेव की रचनाएँ

शाङ्र्गदेव की सबसे महत्त्वपूर्ण रचना 'सङ्गीतरत्नाकर' है। इसके अतिरिक्त 'सङ्गीतशास्त्र' नामक पुस्तक में शाङ्र्गदेव के 'अध्यात्म-विवेक' नामक एक ग्रन्थ के अस्तित्व का पता चलता है। किन्तु यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। सङ्गीत-रत्नाकर इनकी मुख्य रचना है। सङ्गीत-रत्नाकर में गायन, वादन, नृत्य आदि सङ्गीत की सभी विधाओं पर विचार किया गया है। सङ्गीतरत्नाकर चार खण्डों में विभाजित है। इसमें कुल सात अध्याय हैं।

सङ्गीतरत्नाकर के प्रथम खण्ड के प्रथम स्वरगताध्याय में नाद, श्रुति, स्वर, कुल, जाति, वर्ण, ग्राम, मूर्च्छना, तान, प्रस्तार, अलङ्कार तथा अनेक प्रकार की गीतियों पर विचार किया गया है। द्वितीय रागविवेकाध्याय में ग्राम-

राग, उपराग, राग, भाषा, विभाषा, अन्तरभाषा, भाषाङ्ग, क्रियाङ्ग, उपाङ्ग आदि सभी विषयों पर विचार किया गया है। तृतीय अध्याय में वाग्गेयकार, गान्धर्व, स्वर, गायन-गायनी के गुण-दोष, शब्द एवं शरीर के गुण-दोष, गमक, स्थायी, आलप्ति, वृन्द आदि तत्त्वों का विवेचन है। चतुर्थ अध्याय प्रबन्धाध्याय में धातु, अङ्ग, जाति, प्रबन्धों के प्रकार—शुद्ध, सूड़ और छायालग, आलिक्रम, सूडस्थ, आलिसंश्रय, विप्रकीर्ण आदि तत्त्वों पर विचार किया गया है। पञ्चम तालाध्याय में मार्गताल, कला, पातमार्ग, गुरु-लघ्वादि मान, परिवर्त्त, लय, यति तथा मद्रक आदि गीत एवं देशी तालों का विवेचन है। षष्ठ अध्याय में वाद्य एवं वाद्य के प्रकारों का उल्लेख है। सप्तम नर्तनाध्याय में नाटच, नृत्य, नृत्त आदि नर्तन, रस और भाव आदि का विवेचन किया गया है।

शार्ङ्गदेव के प्रमुख सिद्धान्त

शाङ्र्गदेव नृत्य, गीत और वाद्य के समन्वित रूप को 'संगीत' कहते हैं[१]। अर्थात् गायन, वादन और नर्तन का समन्वित रूप सङ्गीत है। इनमें गीत की प्रधानता है, वाद्य उसका उपकारक है और नृत्य उपरञ्जक। शाङ्र्गदेव ने सङ्गीत के दो प्रकारों का उल्लेख किया है—मार्गी और देशी। जिस सङ्गीत का अन्वेषण ब्रह्मा आदि ने और प्रयोग भरत आदि ने किया वह 'मार्गी' सङ्गीत है और जो विभिन्न देशों में जनरुचि के अनुसार हृदयरञ्जक होता है वह 'देशी' सङ्गीत कहलाता है[२]। शाङ्र्गदेव के अनुसार सङ्गीत का प्रथम तत्त्व नाद है। नाद से वर्ण व्यक्त होता है, वर्ण से पद, पद से वाक्य और वाक्य (वचन) से ही समस्त जगत् का व्यवहार चलता है, अतः सारा जगत् इसी नाद के अधीन है। नाद दो प्रकार का होता है—आहत नाद और अनाहत नाद[3]। इनमें हृदयाकाश में रहने वाला अनाहत नाद योगि-गय होता है और वह रञ्जक नहीं होता। आहत नाद आघातोत्पन्न ध्वनि है, वह रञ्जक होता

---

१. गीतं वाद्यं च नृत्यं च त्रयं सङ्गीतमुच्यते।
(संगीतरत्नाकर, स्वरगताध्याय १।२५)

२. मार्गी देशीति तद् द्वेधा तत्र मार्गः स उच्यते।
यो मार्गितो विरञ्च्याद्यैः प्रयुक्तो भरतादिभिः॥
देवस्य पुरतः शम्भोर्नियताभ्युदयप्रदः।
देशे देशे जनानां यद्रुच्या हृदयरञ्जकम्।
गीतं च वादनं नृत्तं तद्देशीत्यभिधीयते॥
(सङ्गीतरत्नाकर, स्वरगताध्याय १।२१-२४)

३. नादेन व्यज्यते वर्णः पदं वर्णात्पदाद्वचः।
वचसा व्यवहारोऽयं नादाधीनमतो जगत्॥
(सङ्गीतरत्नाकर, स्वरगताध्याय २।२)

है। आहत नाद भी दो प्रकार का होता है—संगीतोपयोगी और तद्व्यतिरिक्त[1]। वस्तुतः सङ्गीतोपयोगी नाद ही नाद (ध्वनि) है। यही आहत नाद भारतीय सङ्गीत का आधार है।

श्रुति एवं स्वर—नाद का जो प्रथम श्रवण होता है उसे 'श्रुति' कहते हैं और श्रुतियों के अनन्तर जो अनुरणन होता है वह 'स्वर' कहलाता है। इस प्रकार श्रुतियों से उत्पन्न स्वर अनुरणनात्मक होता है, जो मन का रञ्जन करने के कारण स्वर (स्वन्) कहलाता है[2]। स्वर सात हैं—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत एवं निषाद। स्वरों के समूह को 'ग्राम' कहते हैं। जिस प्रकार समस्त कुटुम्बी एक साथ मिलकर रहते हैं, उसी प्रकार सभी स्वरों के समूह को ग्राम कहते हैं। शाङ्‌र्गदेव के अनुसार मूर्च्छना आदि के आश्रयभूत स्वर-समूह 'ग्राम' कहलाता है[3]। ग्राम दो हैं—षड्ज और मध्यम। कुछ आचार्य गान्धार ग्राम को भी मानते हैं, किन्तु नारद ने गान्धार ग्राम को स्वर्गस्थित माना है।

मूर्च्छना—शाङ्‌र्गदेव के अनुसार सात स्वरों का क्रम से आरोहावरोहण 'मूर्च्छना' कहलाता है[4]। शाङ्‌र्गदेव के अनुसार प्रत्येक मूर्च्छना चार प्रकार की होती हैं। गान्धार ग्राम की मूर्च्छनाओं के नाम नहीं बताये हैं, क्योंकि इन मूर्च्छनाओं का प्रचलन स्वर्ग में है। अतः षड्ज एवं मध्यम ग्राम की चौदह मूर्च्छनाओं का चार प्रकार होने से कुल छप्पन मूर्च्छनाएँ होती हैं। मूर्च्छनाओं के चार प्रकार हैं—शुद्धा, काकलीसहिता, सान्तरा और साधारणकृता। इस प्रकार शाङ्‌र्गदेव ने सप्तस्वरमूर्च्छनावाद को स्वीकार किया है।

वर्ण एवं अलङ्कार—शाङ्‌र्गदेव गान-क्रिया को वर्ण कहते हैं। उनके अनुसार वर्ण चार हैं—स्थायी, आरोही, अवरोही और संचारी[5]। उन्होंने विशिष्ट वर्ण-समुदाय को अलङ्कार कहा है[6]।

---

१. आहतोऽनाहतश्चेति द्विधा नादो निगद्यते। (वही २।३)

२. श्रुत्यनन्तरभावी यः स्निग्धोऽनुरणनात्मकः।
स्वतो रञ्जयति श्रोतुश्चित्तं स स्वर उच्यते॥ (वही १।२४-२५)

३. ग्रामः स्वरसमूहः स्यान्मूर्च्छनादेः समाश्रयः।
(वही, स्वरगताध्याय ४।१)

४. क्रमात्स्वराणां सप्तानामारोहश्चावरोहणम्।
मूर्च्छनेत्युच्यते······················॥
(सङ्गीतरत्नाकर, स्वरगताध्याय ४।९)

५. गानक्रियोच्यते वर्णः स चतुर्धा निरूपितः।
स्थाय्यारोह्यवरोही च सञ्चारीत्यथ लक्षणम्॥ (वही, ६।१)

६. विशिष्टं वर्णसन्दर्भमलङ्कारं प्रचक्षते। (वही, ६।३)

गीति––शाङ्र्गदेव वर्ण, पद एवं लय से समन्वित गान-क्रिया को 'गीति कहते हैं। ये गीतियाँ चार हैं—मागधी, अर्धमागधी, सम्भाविता और पृथुला[1]।

ताल––शाङ्र्गदेव के अनुसार तल् धातु से प्रतिष्ठा अर्थ में घञ् प्रत्यय होकर 'ताल' शब्द बनता है, क्योंकि गीत, नृत्य, वाद्य—तीनों ताल में प्रतिष्ठित होते हैं[2]। ताल के मुख्य दस प्राण हैं—काल, अङ्ग, क्रिया, मार्ग, जाति, कला, लय, ग्रह, यति और प्रस्तार। शाङ्र्गदेव ने इनका विस्तार से विवेचन किया है। उन्होंने ताल को दो वर्गों में विभाजित किया है—मार्गताल और देशीताल। मार्गताल के पाँच प्रकार बताये हैं—चंचत्पुट, चाचपुट, षट्पिता-पुत्रक, संपक्वेष्टाक और उद्घट तथा देशीताल के १२० प्रकार बताये हैं। विस्तार के भय से उनका विवरण यहाँ नहीं दिया जा रहा है[3]।

वाद्य––शार्ङ्गदेव ने वाद्य को चार भागों में विभाजित किया है—ततवाद्य, सुषिरवाद्य, अवनद्धवाद्य और घनवाद्य[4]। तन्त्रीवाद्य को ततवाद्य कहते हैं। ततवाद्यों की जननी वीणा है। छिद्रों को फूंककर बजाये जाने वाले वाद्यों को 'सुषिरवाद्य' कहते हैं। सुषिरवाद्यों में बाँसुरी, शंख आदि हैं। चमड़े से मढ़े हुए वाद्य को 'अवनद्ध' वाद्य कहते हैं। इसे 'पुष्कर' वाद्य भी कहते हैं। पुष्करवाद्यों में ढोल, मृदङ्ग, पटह, डमरु आदि प्रमुख हैं। कांस्य धातु से निर्मित झाँस, करताल, घण्टा आदि 'घनवाद्य' कहलाता है।

नाटच एवं नर्तन—शाङ्र्गदेव ने 'नर्तन' शब्द को 'नृत्' धातु से निष्पन्न मानकर उसकी तीन विधाएँ बताई हैं। प्रथम विधा वह है, जिसमें समस्त प्रकार के अभिनयों से रहित केवल अङ्ग-सञ्चालन होता है, उसे 'नृत्त' कहते हैं। जिसमें भाव-प्रदर्शन के साथ अङ्ग-सञ्चालन होता है, उसे 'नृत्य' कहते हैं। यह दूसरी विधा है। नर्तन की तीसरी विधा है, जिसमें समस्त अभिनयों एवं रस की पूरी सामग्री प्रस्तुत की जाती है। इसे 'नाटच' कहते हैं। शाङ्र्ग-

---

१. वर्णाद्यलङ्कृता गानक्रिया पदलयान्विता।
गीतिरित्युच्यते सा च बुधैरुक्ता चतुर्विधा॥
मागधी प्रथमा ज्ञेया द्वितीया चार्धमागधी।
सम्भाविता च पृथुलेत्येतासां लक्ष्म वक्ष्महे॥
(सङ्गीतरत्नाकर, स्वरगताध्याय ८।१४-१६)

२. तालस्तलप्रतिष्ठायामिति धातोर्घञि स्मृतः।
गीतं वाद्यं तथा नृत्तं यतस्ताले प्रतिष्ठितम्॥
(संगीतरत्नाकर, तालाध्याय ५।२)

३. संगीतरत्नाकर (तालाध्याय)।

४. ततं सुषिरं चावनद्धं घनमिति स्मृतम्॥
(संगीतरत्नाकर, वाद्याध्याय ६।४)

देव के अनुसार नाटच में रस का प्रमुख स्थान है[1]। इसीलिए नाटच को रसाश्रित कहा है।

अभिनय—शाङ्र्गदेव के अनुसार अभिनय के चार प्रकार हैं—आङ्गिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक[2]। इसके बाद वे नाटच के दो भेद करते हैं—लोकधर्मी और नाटचधर्मी। शाङ्र्गदेव ने आङ्गिक अभिनय के छः साधन बताये हैं--शिर, वक्षःस्थल, दोनों हाथ, दोनों पार्श्व, दोनों कटि और दोनों पैर।

शिरोऽभिनय--इसमें शाङ्र्गदेव ने चौदह भेद भरतानुसार और पांच भेद अन्य मत से कुल उन्नीस भेद बताये हैं। उनके नाम हैं—धुत, विधुत, आधूत, अवधूत, कम्पित, आकम्पित, उद्वाहित, परिवाहित, अञ्चित, निहञ्चित, परावृत, आक्षिप्त, अधोमुख, लोलित। अन्य मतानुसार पाँच नाम—तिर्यङ्नतोन्नत, स्कन्धानत, आरत्रिक, सम और पार्श्वाभिमुख। इस प्रकार कुल उन्नीस भेद होते हैं।

हस्ताभिनय—हस्ताभिनय के प्रमुख तीन भेद होते हैं--असंयुतहस्त, संयुतहस्त और नृत्तहस्त। इनके भी अनेक भेदोपभेद होते हैं।

वक्षः—इसके पाँच भेद होते हैं—सम, आभुग्न, निभुग्न, प्रकम्पित और उद्वाहित।

पार्श्व--इसके भी पाँच भेद होते हैं—विवर्तित, अपसृत, प्रसारित, नत और उन्नत।

कटि—इसके भी पांच प्रकार बताये हैं—कम्पिता, उद्वाहिता, छिन्ना, विवृता और रेचिता।

स्कन्ध—स्कन्ध के भी पांच प्रकार बताये हैं—एकोच्च, कर्णलग्न, उच्छ्रित, स्रस्त और लोलित।

पादाभिनय--शाङ्र्गदेव ने पाद के तेरह भेद बताये हैं—सम, अञ्चित, कुञ्चित, सूची, अग्रतलसञ्चर, उद्घाटित, ताड़ित, घटितोत्सेध, घट्टित, मर्दित, अग्रग, पार्ष्णिग और पार्श्वग।

प्रत्यङ्ग--शाङ्र्गदेव ने प्रत्यङ्ग के भी छः साधन बताये हैं—ग्रीवा, बाहु, पृष्ठ, उदर, ऊरु और जङ्घा। इनके अतिरिक्त शाङ्र्गदेव अन्य मत से भी मणिबन्ध, जानु और भूषण को प्रत्यङ्गों में उल्लेख करते हैं[3]।

---

१. नाटचशब्दो रसे मुख्यो रसाभिव्यक्तिकारणम्।
चतुर्धाभिनयोपेतं लक्षणावृत्तितो बुधैः।
नर्तनं नाटचमित्युक्तं······ ।। (संगीतरत्नाकर, नर्तनाध्याय ७।१७)

२. आङ्गिको वाचिकस्तद्वदाहार्यः सात्त्विकोऽपरः। (वही, ७।२०)

३. सङ्गीतरत्नाकर, नर्तनाध्याय (७।३९-४०)।

ग्रीवा—शाङ्‌र्गदेव के अनुसार ग्रीवा के नौ भेद हैं—समा, निवृता, वलिता, रेचिता, कुञ्चिता, अञ्चिता, त्र्यस्रा, नता और उन्नता।

बाहु—बाहु के सोलह भेद होते हैं—ऊर्ध्वस्थ, अधोमुख, तिर्यग्गत, अपविद्ध, प्रसारित, अञ्चित, मण्डलगति, स्वस्तिक, उद्वेष्टित, पृष्ठानुसारी, आविद्ध, कुञ्चित, नम्र, सरल, आन्दोलित और उत्सारित।

पृष्ठ एवं उदर--पृष्ठ एवं उदर दोनों के ही चार-चार भेद होते हैं और वे चारों भेद एक ही हैं। क्षाम, खल्ल्व, पूर्ण और रिक्तपूर्ण—ये चारों भेद पृष्ठ और उदर के समान भेद होते हैं।

ऊरु--ऊरु के पाँच प्रकार हैं—कम्पित, वलित, स्तब्ध, उद्वर्त्तित और निर्वत्तित।

जङ्घा--शाङ्‌र्गदेव ने जङ्घा के पांच भेद बताये हैं—आवर्त्तिता, नता, क्षिप्ता, निःसृता और परावर्त्तिता। किन्तु अन्य आचार्यों के मत से उन्होंने पाँच और भेदों का उल्लेख किया है—निःसृता, परावृत्ता, तिरश्चीना, बहिर्गता और कम्पिता। इस प्रकार जंघा के कुल दस भेद होते हैं।

उपाङ्ग--शाङ्‌र्गदेव के अनुसार उपाङ्ग के बारह भेद होते हैं—दृष्टि, भ्रू, पुट, तारा, कपोल, नासिका, अनिल, अधर, दन्त, जिह्वा, चिबुक और वदन। इनके अतिरिक्त दोनों पार्श्व, दोनों घुटने, अंगुलियाँ तथा हाथ-पैर के तलुवे भी कुछ विद्वानों के अनुसार उपाङ्ग माने जाते हैं[1]।

दृष्टि--शाङ्‌र्गदेव के अनुसार दृष्टि तीन प्रकार की होती है—रसदृष्टि, स्थायीभावदृष्टि और व्यभिचारीभावदृष्टि। इनमें रसदृष्टि आठ प्रकार की, स्थायीभावदृष्टि आठ प्रकार की और व्यभिचारीभावदृष्टि बीस प्रकार की होती है।

भ्रू--भ्रू के सात भेद होते हैं—सहजा, पतिता, उत्क्षिप्ता, रेचिता, कुञ्चिता, चतुरा और भ्रूकुटि।

पुट--शाङ्‌र्गदेव ने पुटकर्म के नौ प्रकार बताये हैं—प्रसृत, कुञ्चित, उन्मिषित, निमिषित, विवर्त्तित, स्फुरित, पिहित, विचलित और सम।

तारा--शाङ्‌र्गदेव के अनुसार प्रथम तारा के दो भेद होते हैं—स्वनिष्ठ ताराकर्म और विषयनिष्ठ ताराकर्म। स्वनिष्ठ ताराकर्म के नौ भेद होते हैं—भ्रमण, वलन, पात, चलन, प्रवेशन, विवर्त्तन, समुद्वृत्त, निष्क्राम और प्राकृत। विषयनिष्ठ ताराकर्म के आठ भेद हैं—सम, साचि, अनुवृत्त, अवलोकित, विलोकित, उल्लोकित, आलोकित और प्रविलोकित।

कपोल--कपोलकर्म के छः भेद बताये गये हैं—कुञ्चित, कम्पित, पूर्ण, क्षाम, फुल्ल और सम।

---

१. सङ्गीतरत्नाकर, नर्तनाध्याय ७।४०-४२।

नासाकर्म--नासा के भी छः भेद होते हैं—स्वाभाविकी, नता, मन्दा, विकृष्टा, विकूणिता और सोच्छ्वासा।

अनिल--अनिल (वायु) के दो प्रकार हैं— उच्छ्वास और निःश्वास।

अधर--शार्ङ्गदेव ने अधर के छः भेद बताये हैं— विवर्त्तित, कम्पित, विसृष्ट, विनिगूहित, संदष्टक और समुद्ग। इनके अतिरिक्त अन्य के मतानुसार चार भेद बताये हैं— उद्वृत्त, विकासी, आयत और रेचित।

दन्त--शार्ङ्गदेव के अनुसार दन्त के आठ भेद होते हैं—कुट्टन, खण्डन, छिन्न, चुक्कित, ग्रहण, दष्ट, सम, निष्कर्षण।

जिह्वा--जिह्वा के छः भेद होते हैं--ऋज्वी, सृक्कानुगा, वक्रा, उन्नता, लोला और लेहिनी।

चिबुक--चिबुक कर्म आठ प्रकार के होते हैं--व्यादीर्ण, श्वसित, वक्र, संहत, चलसंहत, स्फुरित, चलित और लोल।

वदन--शाङ्र्गदेव के अनुसार वदन के कर्म छः होते हैं---व्याभुग्न, भुग्न, उद्वाहि, विधुत, विवृत और विनिवृत्त।

अङ्गहार--शाङ्र्गदेव के अनुसार अङ्गहार बत्तीस प्रकार के होते हैं। इनमें सोलह अङ्गहार चतुरस्र मान के अनुसार और सोलह अङ्गहार त्र्यस्रमान के अनुसार होते हैं। चतुरस्र मान के सोलह अङ्गहार इस प्रकार हैं--स्थिर-हस्त, पर्यस्तक, सूचीविद्ध, अपराजित, वैशाखरेचित, पार्श्वस्वस्तिक, भ्रमरक, आक्षिप्त, परिच्छिन्न, मदविलसित, आलीढ़, छुरितक, पार्श्वच्छेद, अपसर्पित, मत्ताक्रीड़, विद्युद्भ्रान्त। त्र्यस्रमान के सोलह अङ्गहार इस प्रकार हैं--विष्कम्भापसृत, मत्तस्खलित, गीतमण्डल, अपविद्ध, विष्कम्भ, उद्घट्टित, आक्षिप्त-रेचित, रेचित, अर्धनिकुट्ट, वृश्चिकापसृत, अलात, परावृत्त, परिवृत्तरेचित, उद्वृत्त, सम्भ्रान्त और स्वस्तिरेचित।

करण—शाङ्र्गदेव ने एक सौ आठ करणों का निर्देश किया है। इनके अतिरिक्त छत्तीस प्रकार के उत्प्लुति करणों का उल्लेख किया है।

चारी--शाङ्र्गदेव ने चारी के दो प्रकार बताये हैं—भौमीचारी और आकाशचारी। इनमें भौमीचारी सोलह प्रकार की और आकाशचारी सोलह प्रकार की होती है। इनके अतिरिक्त चौवन प्रकार की देशीचारी का भी उन्होंने उल्लेख किया है। इसके बाद कोहल के मतानुसार मधुपचारी का भी निर्देश किया गया है।

स्थानक--खड़े होने की मुद्रा को स्थानक कहते हैं। स्थानक के निम्न-लिखित भेद होते हैं—छः प्रकार के पुरुषस्थानक, सात प्रकार के स्त्रीस्थानक, तेईस प्रकार के देशीस्थानक, नौ प्रकार के उपविष्टस्थानक तथा छः प्रकार के सुप्तस्थानक होते हैं। इस प्रकार कुल इक्यावन स्थानक होते हैं।

मण्डल--प्रथम मण्डल दो प्रकार के होते हैं—भौममण्डल और आकाशिक मण्डल। इनमें भौममण्डल दस प्रकार के और आकाशिक मण्डल भी दस प्रकार के होते हैं। इनके अतिरिक्त शार्ङ्गदेव ने लास्य के दस अङ्गों का भी निर्देश किया है।

रस-विवेचन--शार्ङ्गदेव ने परम्परानुसार नौ रसों एवं भावों का निरूपण किया है।

शिङ्गभूपाल या सिंहभूपाल

शिङ्गभूपाल नाट्य एवं संगीत कला के आचार्य के रूप में विख्यात हैं। इनका अवर नाम सिंहभूपाल, शिंगमहीपति, शिङ्गराज, शिंगम नायडू भी कहा गया है। उनके ग्रन्थ रसार्णव-सुधाकर में जो सामग्री उपलब्ध होती है तदनुसार वे आन्ध्रप्रदेश के रेचलवंशीय राजा थे। 'राजाचलम्' इस प्रदेश की वैभव-सम्पन्न राजधानी थी। विंध्याचल पर्वत से लेकर श्रीशैल के मध्यवर्त्ती प्रदेश पर वह शासन करता था। इनके पिता का नाम अनन्त (अनपोत) और माता का नाम अन्नमाम्बा था। पितामह का नाम शिङ्गप्रभु और प्रपितामह का नाम याचम नायक था[१]। शेषगिरि शास्त्री के अनुसार संगीतसुधाकर का रचयिता शिङ्गभूपाल वेङ्कटगिरि का राजा था और शिङ्गम नायडू के नाम से प्रसिद्ध था।

डॉ० रामकृष्णभाण्डारकर के अनुसार आन्ध्रनरेश शिङ्गभूपाल तथा देवगिरि के यादवराज सिंघण दोनों एक ही व्यक्ति थे। इसी सिंघण के आश्रय में शार्ङ्गदेव ने 'संगीतरत्नाकर' की रचना की थी[२]। चमत्कारचन्द्रिका के रचयिता विश्वेश्वर कविचन्द्र ने शिङ्गभूपाल की सात्त्विक प्रवृत्ति एवं प्रज्ञा की भूरि-भूरि प्रशंसा की है और उन्हें सर्वज्ञ कहा है[3]। शिङ्गभूपाल कवियों एवं विद्वानों का आश्रयदाता एवं गुणग्राही था। धुरन्धर विद्वान् होने के साथ वह साहित्यानुरागी भी था। वह युद्ध-कौशल एवं राजनीति विद्या में पूर्ण निष्णात था। शिङ्गभूपाल के आश्रित कवियों में शार्ङ्गदेव, विश्वेश्वर कविचन्द्र तथा बोम्मकण्टुम आदि प्रमुख आचार्य थे। उनके राज्यकाल में साहित्य की विपुल श्रीवृद्धि हुई है।

रसार्णवसुधाकर एवं उनके अन्य ग्रन्थों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि शिङ्गभूपाल एक प्रतिभावान् कवि, विदग्ध रसिक, कुशल प्रबन्धक एवं समर्थ शास्त्रकर्त्ता के रूप में ख्यातिप्राप्त था। प्रसाद की अगाधता, माधुर्य की मधुरता, अलङ्कारों की रमणीयता, कोमलकान्त पदावली का प्रयोग, भाव-सौष्ठव, विषय

---

१. रसार्णवसुधाकर, प्रथम विलास।

२. प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० ३१७।

३. चमत्कारचन्द्रिका ४।२०–२१।

की गम्भीरता आदि उनकी रचनाओं के विशेष गुण थे। उन्होंने अपने अलौकिक रचना-कौशल के द्वारा नारी-सौन्दर्य का अभूतपूर्व चित्रण किया है। नारियों के नख-शिख वर्णन में वे प्रवीण दिखायी देते हैं। वे निष्पक्ष आलोचक, स्वतन्त्र समीक्षक एवं यशस्वी लेखक थे। कलिङ्गराज गजपति की कन्या से उनका विवाह हुआ था[१]। उनका व्यक्तित्व आकर्षक एवं दूरदर्शक था।

शिङ्गभूपाल का समय

शिङ्गभूपाल का समय निर्धारण करने के लिए बाह्य एवं आन्तरिक सामग्री की समीक्षा आवश्यक है। शिङ्गभूपाल के परवर्त्ती आचार्यों में रूपगोस्वामी ने नाटकचन्द्रिका में रसार्णवसुधाकर के श्लोकों को यथास्थान उद्धृत किया है[२]। इसके अतिरिक्त दोनों ग्रन्थों में भाषा और भाव में पर्याप्त साम्य पाया जाता है। रूपगोस्वामी का समय १४९० ई० से १५५३ ई० के मध्य माना जाता है,[३] अतः शिङ्गभूपाल का समय इसके अर्थात् १४९० ई० के पहले होना चाहिए।

अनेक ग्रन्थों के टीकाकार मल्लिनाथ ने अपने टीकाग्रन्थों में अनेक स्थलों पर 'तदुक्तं भूपालेन' 'अत्र शृङ्गारलक्षणं रसार्णवसुधाकरे' लिखकर शिङ्गभूपाल का निर्देश किया है[४]। मल्लिनाथ का समय १४२२ ई० से १४२६ ई० के मध्य माना जाता है, अतः शिङ्गभूपाल का समय इसके पूर्व होना चाहिए।

विश्वेश्वर कविचन्द्र ने शिङ्गभूपाल रचित रसार्णवसुधाकर से अनेक श्लोकों, उदाहरणों एवं वंशावली के श्लोकों को अपने ग्रन्थ में ज्यों का त्यों उद्धृत किया है। इसमें विश्वेश्वर कविचन्द्र ने अपने आश्रयदाता शिङ्गभूपाल के वंश एवं जीवनवृत्त का विस्तृत वर्णन किया है[५]। इनके अतिरिक्त उन्होंने अपने आश्रयदाता की प्रशंसा एवं गुणगान के साथ शिंगभूपाल को सर्वज्ञ बताया है। विश्वेश्वर कविचन्द्र का समय १३०० ई० से १४०० ई० के मध्य माना जाता है। इस आधार पर शिङ्गभूपाल का समय इनके समकालिक होना चाहिए।

शिङ्गभूपाल ने रसार्णवसुधाकर में रुद्रट, भोज, शारदातनय एवं शाङ्र्गदेव के विचारों, सिद्धान्तों का तथा उनके ग्रन्थों से सामग्री का स्पष्ट उपयोग किया है[६]। अतः शिङ्गभूपाल का समय इन आचार्यों के बाद होना

---

१. चमत्कारचन्द्रिका ५।१३।

२. नाटकचन्द्रिका, पृ० १५, १६; रसार्णवसुधाकर ३।८, ११, १३।

३. सुशीलकुमार दे : संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० २३६।

४. मल्लिनाथ की टीका—कुमारसंभव ७।९१ तथा रघुवंश ६।१२।

५. चमत्कारचन्द्रिका, २।४, ३।६, ४।९, ३१, ३४, ४६, ५१; ५।२२, २४।

६. रसार्णवसुधाकर, पृ० ५७, ६९, १६८, १९० (भोज) तथा पृ० १०१, १२१, १३९, १६९, २०२ पर (शारदातनय)।

चाहिए। शारदातनय का समय ११०० ई० से १३०० ई० के मध्य माना जाता है, अतः शिङ्गभूपाल का समय इसके बाद १३०० ई० के बाद होना चाहिए।

ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर शिङ्गभूपाल वेङ्कटगिरि के राजा था और शिङ्गम नायडू के नाम से प्रसिद्ध था। वेङ्कटगिरि के राजाओं के जीवन-वृत्त के आधार पर इनका राज्यकाल १३३० ई० के लगभग था[1]। एम० टी० नरसिंह आयंगर ने शिङ्गम नायडू को विजयनगर प्रौढ़ देवराज के समकालीन माना है। देवराज का समय १४२२ ई० से १४७७ ई० के मध्य माना जाता है, किन्तु पी० आर० भण्डारकर ने इस तिथि की विश्वसनीयता पर सन्देह प्रकट किया है। ए० एन० कृष्ण आयङ्कर उसका समय १३४० ई० से १३६० ई० के मध्य निर्धारित करते हैं[2]। इस आधार पर शिङ्गभूपाल का समय चौदहवीं शताब्दी का मध्य माना जा सकता है।

डॉ० रामकृष्ण भाण्डारकर ने आन्ध्रनरेश शिङ्गभूपाल और देवगिरि का राजा सिंघण दोनों को एक ही व्यक्ति माना है। इसी सिंघण के आश्रय में शाङ्र्गदेव ने संगीतरत्नाकर की रचना की। इनका समय १२१८ ई० से १२४९ ई० के मध्य माना जाता है[3]। शिङ्गभूपाल ने संगीतरत्नाकर पर टीका लिखी है, अतः दोनों समकालिक प्रतीत होते हैं। इस आधार पर शिङ्गभूपाल का समय तेरहवीं शताब्दी मानी जा सकती है।

डॉ० पारसनाथ द्विवेदी ने शिङ्गभूपाल का समय १३३०–१४०० ई० के मध्य माना है[4]। इस प्रकार सभी मत-मतान्तरों की समीक्षा के बाद यह निश्चित किया जा सकता है कि शिङ्गभूपाल का समय १३३० ई० से १४०० ई० के मध्य होना चाहिए।

शिङ्गभूपाल की रचनाएँ

शिङ्गभूपाल के नाम से पाँच ग्रन्थ उपलब्ध हैं—

(१) रसार्णवसुधाकर।
(२) संगीतसुधाकर।
(३) नाटक-परिभाषा।
(४) कुवलयावली।
(५) कन्दर्पसम्भव।

---

१. रसार्णवसुधाकर की भूमिका (त्रिवेन्द्रम् संस्करण, पृ० २–१७)।
२. सुशीलकुमार दे : संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (टिप्पणी), पृ० २२२।
३. प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० ३१७।
४. डॉ० पारसनाथ द्विवेदी : काव्यप्रकाश की भूमिका, पृ० ३३।

(१) **रसार्णवसुधाकर**––रसार्णवसुधाकर में नाटचशास्त्रीय एवं रस-शास्त्रीय विषयों का विशद विवेचन है। इसमें तीन विलास हैं। प्रथम विलास में नाटचलक्षण एवं रसलक्षण प्रस्तुत करते हुए नायक-नायिका के गुणों एवं भेदों के साथ उनकी चेष्टाओं, अलङ्करणों एवं चित्रज-गात्रज विकारों का विशद निरूपण किया गया है। इसके साथ नायक-नायिका के प्रेम-व्यापार में सहायक एवं सहायिकाओं के भी गुणों का विवेचन किया गया है। इसी विलास में गौड़ी, वैदर्भी तथा पाञ्चाली—इन तीन रीतियों, भारती, सात्त्वती, कैशिकी और आरभटी—इन चार वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों और आठ सात्त्विक भावों का आनुषङ्गिक भावों का आनुषङ्गिक विवेचन प्राप्त होता है।

द्वितीय विलास में रस-सामग्री का विश्लेषण किया गया है। इस विलास में आठ स्थायीभावों तथा तैंतीस व्यभिचारीभावों का विशद निरूपण किया गया है। साथ ही स्थायीभावों के रत्यादि भेद, शृङ्गारादि रसों के भेद आदि का विवेचन किया गया है। इसी विलास में शिङ्गभूपाल ने रसानुभूति, रससङ्कर, रसविरोध, रस-परिहार एवं रसाभास का भी विवेचन किया है और इसी विलास में भोज के रस-विषयक मन्तव्यों का खण्डन भी किया गया है।

तृतीय विलास में रूपक एवं उनके भेद, पाँच अर्थप्रकृतियों, पाँच अवस्थाओं, पाँच सन्धियों के विशद वर्णन के साथ नाटचभूषण, प्रयोज्य भाषाएँ एवं विभिन्न पात्रों के नामकरण सम्बन्धी निर्देश आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है।

रसार्णवसुधाकर का प्रथम प्रकाशन त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरिज से १८९५ में सरस्वतीशेष शास्त्री द्वारा किया गया है। दूसरा संस्करण १९०६ में टी० गणपति शास्त्री द्वारा प्रकाशित है।

(२) **सङ्गीतसुधाकर**––सङ्गीतसुधाकर शार्ङ्गदेव के सङ्गीतरत्नाकर की टीका है। संगीतरत्नाकर के मर्म को समझने के लिए शिङ्गभूपाल ने संगीत-सुधाकर नामक टीका लिखी है। उन्होंने इस टीका में संगीतशास्त्रकारों द्वारा उठायी गई शङ्काओं का समाधान भी किया है।

(३) **नाटक-परिभाषा**––नाटक-परिभाषा में नाटकीय तत्त्वों का प्रति-पादन है। शिङ्गभूपाल ने रसार्णवसुधाकर के अन्त में इस विषय पर संक्षिप्त विवेचन किया है। इस ग्रन्थ में २८९ श्लोक हैं। इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि का इण्डिया आफिस कैटलाग, खण्ड ।। संख्या ५२४८ पर उल्लेख है।

(४) **कुवलयावली**––शिङ्गभूपाल की एक कृति 'कुवलयावली' त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरिज से १९४१ ई० में प्रकाशित है। चार अङ्कों में विभाजित यह एक लघु नाटिका है। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में [1]"श्रीमता श्रीशिङ्गभूपालेन

---

१. 'श्रीमता शिङ्गभूपालेन प्रणीतम्' (कुवलयावली २।११) तथा कुवलयावली १।८।

प्रणीतम्'''[1] इत्यादि लेख मिलते हैं, जिससे ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ का लेखक शिङ्गभूपाल है। कुवलयावली नाटिका में कृष्ण और कुवलयावली की कल्पित प्रणय-कथा का चित्रण है।

(५) **कन्दर्पसम्भव**--शिङ्गभूपाल की एक अन्य कृति 'कन्दर्प-सम्भव' है। रसार्णवसुधाकर के द्वितीय विलास में 'कन्दर्प-सम्भव' के श्लोकों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है[1]। इससे ज्ञात होता है कि 'कन्दर्पसम्भव' शिङ्गभूपाल की रचना है। इसके अतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी **'यथा ममैव'** लिखकर कुछ उदाहरण उद्धृत हैं, जिससे उक्त कथन की पुष्टि होती है।

शिङ्गभूपाल के नाट्य-सिद्धान्त

भारतीय नाट्य-परम्परा में शिङ्गभूपाल का महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'रसार्णवसुधाकर' उनकी अनुपम रचना है। इस ग्रन्थ में उन्होंने नाट्यशास्त्रीय तत्त्वों का सुन्दर एवं विस्तृत विवेचन किया है। प्रामाणिकता एवं उपादेयता की दृष्टि से यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

रस-मीमांसा—नाट्य का प्रमुख तत्त्व रस है। सम्भवतः इसीलिए शिङ्ग-भूपाल ने रस का विस्तृत एवं वैज्ञानिक विवेचन किया है। यही नहीं, रस की महत्ता को स्वीकार करते हुए उन्होंने अपने ग्रन्थ का नाम 'रसार्णवसुधाकर' रखा है। यद्यपि उनके रस-विवेचन में मौलिकता दृष्टिगोचर नहीं होती, तथापि व्यवस्थात्मकता है। रस-मीमांसा के क्षेत्र में व्यवस्था का विद्यमान रहना एक आवश्यक गुण है। रस-स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए शिङ्गभूपाल भरत का अनुसरण करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार द्रव्य, औषधि, गुड़, मरिच, दही आदि पदार्थों को अनुपात से मिलाने पर पाक-विशेष के द्वारा एक अपूर्व षाडव रस तैयार होता है उसी प्रकार विभावादि के द्वारा स्थायीभाव आस्वाद्यरूपता को प्राप्त होता है, जिसका आस्वादन कर सहृदय परम आनन्द को प्राप्त करता है;[2] यही रसानुभूति है और यह अनुभूति अलौकिक है।

शिङ्गभूपाल ने भरत के अनुसार नाट्य में शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत—इन आठ रसों को स्वीकार किया है। उन्होंने शान्त रस को स्वीकार नहीं किया है।

शिङ्गभूपाल ने नाट्यरसों में परस्पर विरोधी रसों के वर्णन एवं उनके परिहार का आख्यान किया है। उन्होंने रस-विरोध के परिहार हेतु तीन नियमों का उल्लेख किया है। उनका कथन है कि दो मुख्य रसों का परस्पर विरोध होने पर उनमें अङ्गाङ्गिभाव मान लेने पर दोष का परिहार हो जाता है।

---

१. यथा कन्दर्पसम्भवे ममैव (रसार्णवसुधाकर २।११३)।

२. रसार्णवसुधाकर २।१६१-१६५।

एकाश्रयगत रस-विरोध में भिन्नाश्रय प्रयोग से रस-दोष नहीं रहता। अर्थात् आश्रयैक्य में विरोध होने पर आश्रयभिन्नता से दोष नहीं रहता। नैरन्तर्य रस-प्रयोग के कारण उत्पन्न रस-विरोध की स्थिति में दो विरोधी रसों के मध्य अन्य रस का वर्णन कर देने से रस-दोष का परिहार हो जाता है[१]।

रसाभास—शिङ्गभूपाल के अनुसार अङ्गभूत (अप्रधान) रस को अङ्गीरस (मुख्य, प्रधान रस) की अपेक्षा अधिक प्रतिष्ठा देना 'रसाभास' है। भाव यह है कि प्रधान रस की अपना अप्रधान रस को अधिक महत्त्व देना 'रसाभास' है। इसे 'अनौचित्य' भी कहा है। यह अनौचित्य दो प्रकार का होता है—असत्यत्व और अयोग्यत्व। इनमें अनौचित्य के कारण अचेतनगत रत्यादि का वर्णन रसाभास है। इसी प्रकार नीच, तिर्यक् (पशु-पक्षी) एवं गँवार मनुष्य का रत्यादि भाव अयोग्यता के कारण 'रसाभास' है[२]। शिङ्ग-भूपाल ने शृङ्गारादि आठ रसों के आभास का वर्णन शारदातनय के अनुसार किया है। शिङ्गभूपाल ने रसाभास के अनेक भेदों का भी वर्णन किया है।

भाव-विवेचन—शिङ्गभूपाल के अनुसार रस नाट्यरूपी शरीर का प्राण है और उस रस की प्राप्ति का साधन भाव है। रस साध्य है और भाव साधन। भाव के बिना रसानुभूति असम्भव है, अतः उन्होंने रस के साथ भावों का भी विवेचन किया है। भाव चित्तवृत्ति के रूप में प्राणिमात्र में विद्यमान रहते हैं। चित्तवृत्ति के रूप में विद्यमान भाव आङ्गिकादि अभिनयोपेत होकर काव्यार्थ को भावित करते हैं। भावन-व्यापार के कारण ही वे 'भाव' कहे जाते हैं।

शिङ्गभूपाल ने भरत के अनुसार भावों की संख्या उनचास मानी है। जिनमें आठ स्थायीभाव, तैंतीस व्यभिचारीभाव और आठ सात्त्विक भाव सम्मिलित हैं[३]। शिङ्गभूपाल ने उनचास भावों के विवेचन के साथ विभाव और अनुभाव के भेदोपभेदों के विवेचन की एक नवीन एवं मौलिक विचार-सरणि का सृजन किया है।

विभाव—शिङ्गभूपाल ने रस को आस्वाद्य वनाने वाले कारणरूप विभाव के दो भेद गिनाये हैं—आलम्बन और उद्दीपन। जिसके अवलोकन से हृद्गत भाव प्रकट होते हैं, उसे आलम्बनविभाव कहते है। शिङ्गभूपाल ने आलम्बन-विभाव के अन्तर्गत नायक-नायिका तथा उनके भेद एवं गुणों का विवेचन किया है[४]। जिससे जाग्रत भाव उद्दीप्त होते हैं उसे उद्दीपनविभाव कहते हैं। उद्दीपन-विभाव मुख्यतः आलम्बन एवं देश-काल पर आश्रित होते हैं। इस आधार

---

१. रसार्णवसुधाकर, २।२६०-२६२।

२. वही, २।९८-१०१।

३. एकोनपञ्चाशद्भावा स्युर्मिलिता इमे। (रसार्णवसुधाकर २।१६०)

४. रसार्णवसुधाकर, १।६०-६१।

पर उद्दीपनविभाव के चार भेद होते हैं—(१) आलम्बनाश्रित गुण, (२) आलम्बनगत चेष्टाएँ, (३) आलम्बनाश्रित अलङ्करण और (४) देशकालाश्रित तटस्थता। इनमें आलम्बनाश्रित गुण यौवन, रूप, लावण्य, सौन्दर्य, अभिरूपता, मार्दव और सौकुमार्य हैं। आलम्बनगत चेष्टाएँ दस हैं—लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्चित्, मोट्टायित, कुट्टमित, विव्वोक, ललित और विहृत। आलम्बनगत अलङ्कार चार प्रकार के होते हैं—वस्त्रालङ्कार, भूषालङ्कार, माल्यालङ्कार और अङ्गलेपनालङ्कार। चतुर्थ देशकालाश्रित तटस्थ नामक उद्दीपनविभाव चन्द्रिका, धारागृह, चन्द्रोदय, कोकिलालाप, माकन्द, मन्दमारुत, षट्पदस्वन, लतामण्डप, भूगेह, दीर्घिका, जलदारव, प्रासादगर्भ, सङ्गीत, क्रीड़ाशैल और सरित् आदि हैं[1]।

अनुभाव—जो मनोगत भावों को व्यञ्जित करते हैं उसे 'अनुभाव' कहते हैं। शिङ्गभूपाल ने अनुभाव के चार भेद बताये हैं—चित्तारम्भ, गात्रारम्भ, वागारम्भ और बुद्ध्यारम्भ। शिङ्गभूपाल ने अग्निपुराणोक्त 'मन-आरम्भ' के स्थान पर 'चित्तारम्भ' नाम का प्रयोग किया है। चित्तारम्भ अनुभाव दस प्रकार का होता है—हाव, भाव, हेला, शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रागल्भ्य, धैर्य और औदार्य[2]। उन्होंने इन चित्तज भावों का सम्बन्ध स्त्रियों से माना है। भोजराज ने स्थैर्य और गाम्भीर्य दो अन्य भावों को माना है, किन्तु शिङ्गभूपाल ने इन दोनों को 'धैर्य' नामक चित्तज भाव में अन्तर्भूत माना है।

शिङ्गभूपाल ने गात्रारम्भ अनुभाव के दस भेद बताये हैं—लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्चित्, मोट्टायित, कुट्टमित, विव्वोक, ललित और विहृत[3]। शिङ्गभूपाल हाव-भावादि दस चित्तज अनुभावों और लीला-विलासादि दस गात्रारम्भ अनुभावों को सत्त्वज स्त्री अलङ्कार मानते हैं। उन्होंने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि हाव-भावादि दस चित्तज भाव ही वस्तुतः सत्त्वज भाव हैं और लीला-विलास आदि दस गात्रज अनुभावों को सत्त्वज भाव नहीं माना है, फिर भी हाव-भावादि चित्तज अनुभावों के सहकारी होने के कारण 'छत्रिन्याय' से गात्रज भावों को सात्त्विक मान लिया है। शिङ्गभूपाल ने भोजोक्त 'केलि' और 'क्रीडित' अनुभावों को स्वीकार नहीं किया है[4]। उन्होंने पुरुषों के भी सत्त्वज अनुभावों का विवेचन किया है। उनके अनुसार शोभा, विलास, माधुर्य, धैर्य, गाम्भीर्य, ललित और औदार्य—ये पुरुष के सत्त्वज अनुभाव हैं[5]।

---

१. रसार्णवसुधाकर, १।१६२-१८९।

२. वही, १।१९०-१९२।

३. वही, १।१९९-२००।

४. वही, १।२०८-२१२।

५. वही, १।२१५।

शिङ्गभूपाल के अनुसार वागारम्भ अनुभाव के द्वादश भेद होते हैं—आलाप, विलाप, संलाप, प्रलाप, अनुलाप, अपलाप, सन्देश, अतिदेश, निर्देश, आदेश, उपदेश और व्यपदेश[1]। उनके अनुसार बुद्धचारम्भ अनुभाव के तीन भेद होते हैं—रीति, वृत्ति और प्रवृत्ति। इनमें कोमला, कठिना और मिश्रा भेद से रीति तीन प्रकार की होती है। नाटचगत विभिन्न व्यापारों को वृत्ति कहते हैं। वृत्तियाँ चार होती हैं—भारती, सात्त्वती, कैशिकी और आरभटी[2]।

सात्त्विक भाव—शिङ्गभूपाल ने स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभेद, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय—इन आठ भावों को सात्त्विक नाम से अभिहित किया है[3]।

व्यभिचारीभाव—शिङ्गभूपाल ने वागङ्गसत्त्वोपेत विविध प्रकार से रसों के अनुकूल सञ्चरण करने वाले भावों को 'व्यभिचारीभाव' कहा है। उनके अनुसार व्यभिचारीभाव तैंतीस हैं। किन्तु उन्होंने विषाद, मद, शङ्का, आवेग, व्याधि, धृति आदि व्यभिचारीभावों के उपभेदों का वर्णन कर मौलिकता का परिचय दिया है। क्योंकि अन्य आचार्यों ने इनके उपभेदों का वर्णन नहीं किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने समस्त व्यभिचारीभावों के लक्षणों एवं उदाहरणों के द्वारा बोधगम्य बनाने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। उन्होंने व्यभिचारी-भावों के प्रायोगिक औचित्य के स्वतन्त्र व्यभिचारी और परतन्त्र व्यभिचारी भाव रूप दो नवीन भेदों की कल्पना की है। व्यभिचारी जब स्वतन्त्र रूप से पूर्ण परिपक्वता को प्राप्त होते हैं तो स्वतन्त्र व्यभिचारीभाव कहे जाते हैं और इसके विपरीत अन्य भाव का अङ्ग हो जाने पर स्वतन्त्र व्यभिचारीभाव कहे जाते है[4]। शिङ्गभूपाल की यह कल्पना सर्वथा मौलिक है।

स्थायीभाव—जो भाव सजातीय एवं विजातीय भावों से कभी तिरस्कृत न होते हुए अन्य सभी भावों को समुद्र के समान आत्मसात् (अपने में लीन) कर लेता है उसे 'स्थायीभाव' कहते हैं। स्थायीभाव रसों की संख्या के आधार पर आठ होते हैं—रति, हास, उत्साह, विस्मय, क्रोध, शोक, जुगुप्सा और भय[5]। इस प्रकार शिङ्गभूपाल की रसकल्पना नाटचोन्मुखी प्रतीत होती है।

पात्र-योजना—शिङ्गभूपाल-कृत रसार्णवसुधाकर में रस-ज्ञापन के कारण-भूत विभाव के निरूपण के प्रसङ्ग में आलम्बन रूप नायक-नायिका तथा उनके सहायक-सहायिकाओं की चर्चा की गई है। नाटक में नायक और

---

१. रसार्णवसुधाकर, १।२२०-२२१।
२. वही, २।२२७-२२८, २४४।
३. वही, १।३०१-३०२।
४. वही, २।१–६ तथा २।९६-९७।
५. वही, २।१०४-१०५।

नायिका प्रमुख पात्र माने जाते हैं। शिङ्गभूपाल ने नायक के सामान्य गुणों का विवेचन किया है। तदनुसार नायक को महाभाग्य, औदार्य, स्थैर्य, दक्षता, औज्ज्वल्य, धार्मिकता, कुलीनता, वाग्मिता, कृतज्ञता, नयज्ञ, शुचिता, मानिता, तेजस्विता, कलावान् तथा प्रजारञ्जकता आदि गुणों से समन्वित होना चाहिए। इनमें जो समस्त गुणों से युक्त होते हैं, वे उत्तम नायक कहे जाते हैं, जो कुछ गुणों से हीन होते हैं वे मध्य नायक कहे जाते हैं तथा जो समस्त गुणों से हीन होते हैं वे अधम नायक कहे जाते हैं[१]।

शिङ्गभूपाल ने मानवीय प्रकृति के आधार पर नायक के चार भेद माने हैं—धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त[२]। कामवृत्ति के आधार पर नायक के चार प्रकार बताये गये हैं—अनुकूल, शठ, धृष्ट और दक्षिण। इनमें एक नायिका के प्रति आसक्त रहने वाला 'अनुकूल', ज्येष्ठा नायिका से छल करते हुए कनिष्ठा नायिका के प्रति आसक्त रहने वाला 'शठ', अन्या नायिका के साथ भोग के लक्षण प्रकट होने पर भी निर्भीक होकर ज्येष्ठा नायिका के सामने जाने में लज्जा का अनुभव न करने वाला 'धृष्ट' और अनेक नायिकाओं के साथ समान व्यवहार करने वाला नायक 'दक्षिण' कहलाता है[३]। इनके अतिरिक्त शिङ्गभूपाल ने नायक के तीन अन्य रूपों का उल्लेख किया है—पति, उपपति और वैशिक[४]। इनमें सामाजिक रीति से नायिका के साथ विवाह करने वाला 'पति', छिपकर संकेतित स्थल पर नायिका से मिलने वाला 'उपपति' कहलाता है और वैशिक रूपादि गुणों से विशिष्ट होता है। इस प्रकार शिङ्गभूपाल के अनुसार कुल (३×४×४×३ = १४४) एक सौ चौवालीस नायक होते हैं। अन्य आचार्यों के मत में इनके अतिरिक्त और भी नायक होते हैं।

नायक के सहायक—शिङ्गभूपाल के अनुसार नायक के सहायक पात्र पीठमर्द, विट, चेट, विदूषक होते हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थ में अन्य सहायकों का उल्लेख नहीं किया है। राजा का अनुचर गुणों में नायक से थोड़ा कम 'पीठमर्द' कहलाता है। कुपितस्त्रीप्रसादक एवं कामतन्त्रकलाविद् 'विट' होता है। गूढ रहस्य के सन्धान में कुशल 'चेट' और विकृत वेश-भूषा से हास्य उत्पन्न करने वाला 'विदूषक' कहा जाता है[५]।

नायिका—नायिका नाट्य की प्राणवाहिनी धारा है, जिसमें जीवन का

१. रसार्णवसुधाकर, १।६१-६३ तथा १।७१-७२।
२. वही, १।७२-७३।
३. वही, १।८१।
४. वही, १।७९।
५. वही, १।८९-९२।

मर्मस्पर्शी मधुर रस प्रवाहित होता रहता है। नायक के पूर्वोक्त साधारण गुणों से युक्त नायिका होती है। सामान्य गुणों के आधार पर नायिका तीन प्रकार की होती है—स्वकीया, परकीया और सामान्या[१]। सुख-दुःख में साथ देने वाली शीलार्जवगुणोपेता नायिका 'स्वकीया' होती है। यह स्वकीया नायिका भी तीन प्रकार की होती है—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा। इनमें मध्या और प्रगल्भा (प्रौढ़ा) नायिका के मानवृत्ति के आधार पर तीन-तीन भेद होते हैं—धीरा, अधीरा और धीराधीरा। मध्या एवं प्रगल्भा नायिका के इन छः भेदों के पुनः ज्येष्ठा एवं कनिष्ठा दो भेद होते हैं। इस प्रकार स्वकीया नायिका मुग्धा का एक भेद, मध्या और प्रौढ़ा के बारह भेद—कुल तेरह भेद होते हैं। परकीया नायिका कन्या (अनूढा) और परोढा भेद से दो प्रकार की होती है। सामान्या नायिका गणिका होती है। सामान्या नायिका के दो भेद होते हैं—रक्ता और विरक्ता, किन्तु रुद्रट ने विरक्ता गणिका की अपेक्षा अनुरक्ता गणिका का स्थान शृङ्गार रस की दृष्टि से कुलस्त्री और परकीया से भी श्रेष्ठ माना है। इसलिए अनुरक्ता नायिका का ही नाटकादि में नायिका के रूप में निरूपण किया है। विरक्ता भावहीन एवं निर्लिप्त होने के कारण नाटकादि की नायिका नहीं हो सकती। इस प्रकार सामान्या नायिका एक प्रकार की होती है। इस प्रकार सामान्य गुणों के आधार पर नायिका के १३+२+१=१६ भेद होते हैं।

शिङ्गभूपाल के अनुसार कामदशाओं के आधार पर नायिका के आठ भेद होते हैं—पोषितपतिका, वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, खण्डिता, कलहान्तरिता, अभिसारिका, विप्रलब्धा, स्वाधीनपतिका[२]। ये समस्त नायिकाएँ उत्तमा, मध्यमा और अधमा भेद से तीन-तीन प्रकार की होती है[३]। इस प्रकार कुल १६ नायिकाएँ आठ अवस्थाओं के भेद से १६ × ८ = १२८ होती हैं। पुनः उनके तीन भेद किये गये हैं। इस आधार पर तीन सौ चौरासी (१२८ × ३ = ३८४) नायिकाओं का वर्णन किया गया है[४]।

नायिका की सहायिका—दूती, सखी, चेटी, लिङ्गिनी, प्रतिवेशिनी, धात्रेयी, शिल्पकारी, कुमारी, कथिनी, कारु तथा विप्रश्निका—ये नायिका की सहायिकाएँ होती हैं[५]।

इतिवृत्त-विधान—इतिवृत्त रूपकों का एक प्रमुख भेदक तत्त्व है। शिङ्ग-

---

१. रसार्णवसुधाकर, १।९४।

२. वही, १।१२१–१२२।

३. वही, १।१५१।

४. वही, १।१५८–१५९।

५. वही, १।१६०–१६१।

भूपाल के अनुसार नायक का चरित्र अथवा आत्मवृत्त 'इतिवृत्त' के नाम से जाना जाता है। रूपक की कथावस्तु ही इतिवृत्त है। इसे कथानक भी कहते हैं। शिङ्गभूपाल के अनुसार इतिवृत्त तीन प्रकार का होता है—

१. ख्यात।
२. कल्पित।
३. सङ्कीर्ण।

'ख्यात' इतिवृत्त प्रसिद्ध घटनाओं पर आधारित प्रख्यात इतिहासादि सिद्ध होता है। 'कल्पित' इतिवृत्त कवि द्वारा कल्पित होता है, वह इतिहासप्रसिद्ध नहीं होता। 'ख्यात' और 'कल्पित' दोनों का समन्वित रूप 'सङ्कीर्ण' इतिवृत्त कहलाता है। शिङ्गभूपाल ने इतिवृत्त और कथावस्तु को पर्यायवाची माना है। नाटच-शरीर रूप इतिवृत्त विद्वानों द्वारा पाँच प्रकार का कहा गया है— बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य[१]। अन्य आचार्यों ने इन पाँचों को 'अर्थप्रकृति' के नाम से अभिहित किया है। इतिवृत्त के नायक के द्वारा मुख्य फल की प्राप्ति के लिए जो कार्य-व्यापार किया जाता है उसकी पाँच अवस्थाएँ होती हैं—आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति एवं फलागम[२]। पाँच अर्थप्रकृतियों और पाँच अवस्थाओं के योग से पाँच सन्धियों का सृजन होता है। वे पाँच सन्धियाँ हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्बहण[३]।

सन्ध्यङ्ग—इतिवृत्त के इन पाँच सन्धियों के अतिरिक्त चौसठ सन्ध्यङ्ग भी होते हैं। इनमें मुखसन्धि के द्वादश अङ्ग, प्रतिमुखसन्धि के तेरह अङ्ग, गर्भसन्धि के द्वादश अङ्ग, विमर्शसन्धि के तेरह अङ्ग और निर्बहणसन्धि के चौदह अङ्ग होते हैं। शिङ्गभूपाल के अनुसार मुखादि पाँच सन्धियों एवं उनके अङ्गों के प्रयोग की शिथिलता संभावित होने से सन्ध्यन्तरों की योजना करनी चाहिए। ये सन्ध्यन्तर काव्य में चमत्कार उत्पन्न करते हैं। ये सन्ध्यन्तर इक्कीस होते हैं[४]। रसार्णवसुधाकर में इनके लक्षण एवं उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। अन्य कुछ नाटचशास्त्रीय ग्रन्थों में इनका उल्लेख मात्र मिलता है।

शिङ्गभूपाल ने सौन्दर्याधायक तत्त्व के रूप में छत्तीस भूषणों का उल्लेख किया है[५]। शिङ्गभूपाल ने सूच्य और असूच्य भेद से इतिवृत्त के दो अन्य प्रकारों का उल्लेख किया है। इनमें जो कथावस्तु नीरस होती है उसे 'सूच्य' कहते हैं। विष्कम्भक, चूलिका, अङ्कास्य, अङ्कावतार और प्रवेशक आदि के

---

१. रसार्णवसुधाकर, ३।८।
२. वही, ३।२३।
३. वही, ३।२९।
४. वही, ३।७९–८०।
५. वही, ३।९७–१०१।

द्वारा सामाजिकों को नीरस कथावस्तु की सूचना दी जाती है। सूच्य कथा-वस्तु की सूचना देने वाले विष्कम्भक आदि पाँचों सूचकों को अर्थोपक्षेपक कहते हैं। भूत या भावी घटनाओं का सूचक विष्कम्भक होता है। यह विष्कम्भक दो प्रकार का होता है—शुद्ध और मिश्र। यवनिका के अन्तर्गत सूत-मागधादि पात्रों द्वारा जो सूचना दी जाती है उसे चूलिका कहते हैं। अङ्क की समाप्ति पर प्रविष्ट पात्रों द्वारा भावी अङ्क की कथावस्तु की सूचना 'अङ्कास्य' कहलाता है। पूर्व कार्य का अनुसरण करते हुए पात्रों का बिना किसी विच्छेद के अगले अङ्क में प्रवेश 'अङ्कावतार' कहा जाता है। नीच पात्रों द्वारा दो अङ्कों के बीच में भूत या भावी कथा की सूचना 'प्रवेशक' कहलाता है। शिङ्गभूपाल के अनुसार असूच्य इतिवृत्त दृश्य और श्रव्य दोनों होता है। इनमें श्रव्य स्वगत और प्रकाश दो प्रकार का होता है। इसमें भी प्रकाश दो प्रकार का होता है—नियतप्रकाश और सर्वप्रकाश। नियतप्रकाश इतिवृत्त भी दो प्रकार का होता है—जनान्तिक और अपवारित[1]।

रूपक-निरूपण—शिङ्गभूपाल के अनुसार सात्त्विक आदि अभिनयों के द्वारा नट में नायक के साथ तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करना 'नाट्य' कहा जाता है। इस प्रकार रस के आधार पर अभिनय को नाट्य कहते हैं। इसी को रूपक भी कहते हैं और अत्यन्त प्रवीण नट के अभिनय के आधार पर इसे 'नाट्य' कहा जाता है। जिस प्रकार मुखादि में कमल का आरोप होने से रूपक (अलङ्कार) कहा जाता है, उसी प्रकार नट में नायक का आरोप होने से इसे 'रूपक' भी कहा जाता है। शिङ्गभूपाल के अनुसार नाट्य (रूपक) दस प्रकार का होता है—

(१) नाटक, (२) प्रकरण, (३) भाण, (४) व्यायोग, (५) समवकार, (६) डिम, (७) वीथी, (८) प्रहसन, (९) ईहामृग और (१०) अङ्क।

इनके अतिरिक्त शिङ्गभूपाल ने नाटिका और प्रकरणिका का उल्लेख किया है। नाटक और प्रकरण के लक्षणों के मिश्रण से 'नाटिका' का रूप बनता है। इसमें नायक की कल्पना नाटक के आधार पर और कथावस्तु प्रकरण के समान होती है। नाटिका में स्त्रीपात्रों की बहुलता होती है और दो नायिकाएँ होती हैं। नाटिका के समान ही प्रकरणिका भी होती है। शिङ्गभूपाल ने इन दोनों को रूपक का भेद नहीं माना है। उन्होंने नाटिका में ही प्रकरणिका का अन्तर्भाव कर दिया है। नाटिका नाटक का सङ्कर भेद है। इसीलिए इनकी रूपकों में अलग से गणना नहीं की जाती।

---

१. रसार्णवसुधाकर, ३।१।७६–२०३।

विद्यानाथ

विद्यानाथ ने अपने आश्रयदाता काकतीय नरेश प्रतापरुद्रदेव की प्रशस्ति में 'प्रतापरुद्रीयम्' अथवा 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' नामक ग्रन्थ लिखा था। यह ग्रन्थ दक्षिण भारत में अधिक लोकप्रिय है। प्रतापरुद्र आन्ध्रप्रदेश के काकतीय वंश के राजा थे। उनके पिता का नाम महादेव और माता का नाम मुम्यडि या मुम्मुडम्बा था। आन्ध्रप्रदेश के अन्तर्गत एकशिला उनकी राजधानी थी, जिसे आजकल बारङ्गल कहते हैं। कहा जाता है कि प्रतापरुद्र ने यादववंशीय देवगिरि के छठे राजा रामचन्द्र सेवण को पराजित किया था। उनका समय १२७१-१३०९ ई० के मध्य माना जाता है[1]। इसके अतिरिक्त १२६१-६२ के रुद्रदेव के मलकापुरम्-शिलालेख तथा १३१६-१७ ई० के अरुमल पेरूमल के शिलालेखों से ज्ञात होता है कि प्रतापरुद्र तेरहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण तथा चौदहवीं शताब्दी के प्रथम चरण के मध्य आन्ध्र प्रान्त पर शासन करता था। मुहम्मद तुगलक ने १३२३ ई० में उन्हें गिरफ्तार किया था[2], अतः प्रतापरुद्र का समय १२७० से १३२५ ई० के मध्य होना चाहिए। पिशल ने इनका समय १२९५–१३२३ ई० के मध्य माना है। शेषगिरि शास्त्री ने उनका समय १२६८–१३१९ के मध्य माना है। इन आधारों पर ज्ञात होता है कि प्रतापरुद्रयशोभूषण की रचना चौदहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में हुई होगी। अतः विद्यानाथ का समय चौदहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है। डॉ० य० के० दे ने विद्यानाथ का समय तेरहवीं शताब्दी का अन्तिम भाग तथा चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ की मध्यावधि माना है। कन्हैयालाल पोद्दार उनका समय १२७५–१३२५ के मध्य मानते हैं। मेरे विचार से विद्यानाथ का समय चौदहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध मानना अधिक युक्तिसंगत है।

प्रतापरुद्रयशोभूषण कुमारस्वामी की रत्नापण टीका के साथ मद्रास से १९१४ ई० में प्रकाशित हुआ है। १९५० ई० में इसका तीसरा संस्करण निकला है। इस ग्रन्थ का अन्य संस्करण बम्बई संस्कृत-ग्रन्थमाला के अन्तर्गत श्री के० पी० त्रिवेदी ने प्रकाशित किया है।

प्रतापरुद्रयशोभूषण के तीन भाग हैं—कारिका, वृत्ति और उदाहरण। उदाहरण राजा प्रतापरुद्रदेव के यशोगान में विद्यानाथ द्वारा रचित है। विद्यानाथ ने प्रतापरुद्रयशोभूषण में स्वयं लिखा है कि—

प्रतापरुद्रदेवस्य गुणानाश्रित्य निर्मितः।
अलङ्कारप्रबन्धोऽयं सन्तः कर्णोत्सवोस्तु वः॥ (प्रतापरुद्रीयम् १।९)

---

१. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (दे), पृ० १९२।

२. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (काणे), पृ० ३६६।

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ प्रतापरुद्रदेव की प्रशस्ति में लिखा गया है। इस ग्रन्थ में नौ प्रकरण हैं, जिसके अन्तर्गत नायक, काव्य, नाटक, रस, दोष, गुण, शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और मिश्रालङ्कार वर्णित हैं। इसके तीसरे प्रकरण में नाटक की आवश्यकताओं के अनुरूप 'प्रतापरुद्र-कल्याण' नाटक को आदर्श नाटक के रूप में प्रस्तुत किया है। नाटचशास्त्रीय विषयों के विवेचन में इन्होंने भरत और धनञ्जय का अनुसरण किया है। यह एकावली से इस माने में अधिक विशद है कि इसमें नाटचशास्त्रीय विषय पर चर्चा की गई है।

प्रतापरुद्रयशोभूषण पर कुमारस्वामी की 'रत्नापण' नामक सुन्दर टीका है, जिसमें दशरूपक, नाटकप्रकाश, भावप्रकाश, रसमञ्जरी, रसार्णव, वसन्तराजीय नाटचशास्त्र, शृङ्गारप्रकाश, साहित्यदर्पण, एकावली, कविकल्पद्रुम, पञ्चपादिका, पदमञ्जरी, मानसोल्लास आदि के साथ भोजराज, महिमभट्ट, नरहरि, विद्याधर, हेमचन्द्र, शारदातनय, शिङ्गभूपाल, चक्रवर्ती, गोपाल आदि आचार्यों का भी उल्लेख है। इस ग्रन्थ पर 'रत्नशाण' नामक एक अन्य टीका अपूर्ण उपलब्ध है।

कुमारगिरि

कुमारगिरि के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में यत्र-तत्र बिखरी हुई जो सामग्री प्राप्त होती है तदनुसार वे तेलगू प्रदेश के शासक रहे हैं[1]। उनके पिता का नाम अनपोत और पितामह का नाम वेम रेड्डि था। काढयवेम द्वारा रचित शकुन्तला की टीका की एक पाण्डुलिपि में लेखक की जो वंशावली दी गई है तदनुसार काढयवेम के पिता का नाम काढयभूपति और माता का नाम कोडडाम्बा था। कोड्डाम्बा कुमारगिरि के पितामह वेम रेड्डि की पुत्री थी[2]। काढयवेम ने कुमारगिरि को अपना संरक्षक बताया है। शकुन्तला की उपर्युक्त टीका में उल्लिखित विवरण के अनुसार काढयवेम को वसन्तराज कुमारगिरि का मन्त्री बताया है। कुमारगिरि चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में तेलगू प्रदेश पर शासन करता था। अतः कुमारगिरि का समय चौदहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है।

कुमारगिरि ने नाटचशास्त्र पर पद्यमय एक ग्रन्थ लिखा था। कुमारस्वामी ने 'वसन्तराजीय नाटचशास्त्र' के नाम से उसका उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त मल्लिनाथ ने शिशुपालवध की टीका में और सर्वानन्द ने अमरकोश की टीका में इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है[3]। किन्तु यह ग्रन्थ आज

---

१. पार्वतीपरिणय (वाणीविलास) १९०६।

२. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (दे), २५६।

३. वही, पृ० २५५।

उपलब्ध नहीं है, अतः उसके प्रतिपाद्य विषय के सम्बन्ध में कुछ विवरण नहीं दिया जा सकता।

विश्वनाथ

जीवन-परिचय

विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ में अपना संक्षिप्त परिचय दिया है। तदनुसार उनका जन्म उत्कल प्रदेश के एक ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम चन्द्रशेखर और पितामह का नाम नारायण पण्डित था। विश्वनाथ ने काव्यप्रकाश की टीका काव्यप्रकाशदर्पण में नारायण पण्डित को अपना पितामह कहा है—

'यदाहुः श्रीकलिङ्गभूमण्डलाखण्डलमहाराधिराजश्रीनरसिंहदेवसभायां धर्मदत्तं स्थगयन्तः सकलसहृदयगोष्ठीगरिष्ठकविपण्डितास्मत्पितामहश्रीनारायणपादाः'। (काव्यप्रकाशदर्पण-भूमिका, पृ० २१)

इस उद्धरण से ज्ञात होता है कि इनके पितामह नारायण पण्डित कलिङ्ग-नरेश श्रीनरसिंहराव देव की सभा में प्रतिष्ठित पद पर आसीन थे। वहाँ उन्होंने धर्मदत्त को पराजित किया था। नारायण पण्डित स्वयं एक बहुत बड़े विद्वान् थे और उन्होंने अलङ्कारशास्त्र पर एक ग्रन्थ लिखा था। विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में नारायण पण्डित को अपना वृद्ध प्रपितामह बताया है—

"तत्प्राणत्वं चास्मद्वृद्धप्रपितामहसहृदयगोष्ठीगरिष्ठकविपण्डितमुख्यश्रीनारायणपादैरुक्तम्।" (साहित्यदर्पण ३।२३)

'तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्'।

(साहित्यदर्पण ३।२।३ की व्याख्या)

वस्तुतः नारायण पण्डित विश्वनाथ के वृद्ध प्रपितामह थे। संक्षेप में उन्हें पितामह कह दिया गया है। ये नारायण पण्डित साहित्यशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् थे। वे विद्वानों में अग्रगण्य कविशिरोमणि रसिक कवि थे। उनके संरक्षण में रसिक-समाज की गोष्ठी हुआ करती थी, जिसमें अनेक सहृदय कवि एवं विद्वान् भाग लिया करते थे। नारायण पण्डित के लघुभ्राता चण्डीदास थे, जिन्होंने 'काव्यप्रकाश' पर 'दीपिका' नामक टीका लिखी है[1]। श्रीविश्वनाथ ने अपने को 'श्रीमन्नारायणचरणारविन्दमधुव्रत' कहा है। इससे ज्ञात होता है कि विश्वनाथ ने अपने पितामह नारायण के चरणों में बैठकर विद्याध्ययन किया था।

साहित्यदर्पणकर्त्ता विश्वनाथ के पिता का नाम चन्द्रशेखर था। चन्द्रशेखर

---

१. इहास्मत्पितामहानुजकविपण्डितमुख्यचण्डीदासपादैरुक्तम्।

(साहित्यदर्पण १०।१०)

स्वयं विद्वान् एवं कवि थे और कलिङ्गराज के यहाँ एक उच्च अधिकारी थे। कलिङ्गनरेश ने उन्हें सान्धिविग्रहिक महापात्र की उपाधि से विभूषित किया था। विश्वनाथ ने स्वयं अपने पिता को चतुर्दशभाषाविलासिनीभुजङ्ग, महाकवीश्वर, सान्धिविग्रहिक, महापात्र आदि उपाधियों से विभूषित किया है[1]। विश्वनाथ ने स्वयं अपने को चन्द्रशेखर का पुत्र और साहित्यदर्पण का रचयिता बताया है[2]। विश्वनाथ अपने पिता के समान कवि, आचार्य और विद्वान् था और वह अपने पिता के समान ही कलिङ्गराज के यहाँ अधिकारी एवं सान्धिविग्रहिक महापात्र की उपाधि से विभूषित था। उसने साहित्यदर्पण में अपने पिता चन्द्रशेखर की 'पुष्पमाला' और 'भाषार्णव' नामक दो कृतियों का उल्लेख किया है[3]। इससे ज्ञात होता है कि विश्वनाथ के पिता चन्द्रशेखर नाटककार और प्राकृत भाषा के विद्वान् थे।

विश्वनाथ ने काव्यप्रकाश की टीका काव्यप्रकाशदर्पण में 'चिङ्कु' पद का उल्लेख किया है। 'चिङ्कु' पद उड़िया भाषा का शब्द है[4]। इसके अतिरिक्त और भी बहुत से संस्कृत शब्दों को उड़िया पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख कर उनकी व्याख्या की है। इससे ज्ञात होता है कि वे 'उत्कल' के निवासी थे। विश्वनाथ वैष्णव मत के अनुयायी एक प्रसिद्ध कवि थे। वे संस्कृत, प्राकृत आदि अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे। प्राकृत भाषा का ज्ञान तो उन्हें पैतृक-परम्परा से प्राप्त हुआ था। वे अठारह भाषाओं के ज्ञाता थे। इसीलिए उन्हें 'अष्टादशभाषावारविलासिनीभुजङ्ग' कहा गया है। साहित्यदर्पण में उन्हें कविसूक्तसुधाकर, अष्टादशभाषाविलासिनीभुजङ्ग, सान्धिविग्रहिक, महापात्र, साहित्यार्णवकर्णधार, नारायणचरणारविन्दमधुव्रत, महाकवीश्वर तथा काव्यप्रकाशदर्पण में ध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्य, आलङ्कारिकचक्रवर्त्ती आदि विरुदों से सम्मानित किया है[5]।

---

१. यथा मम तातपादानां महापात्रचतुर्दशभाषाविलासिनीभुजङ्गमहाकवीश्वरश्रीचन्द्रशेखरसान्धिविग्रहिकाणाम्।

२. श्रीचन्द्रशेखरमहाकविचन्द्रसूनुश्रीविश्वनाथकविराजकृतं प्रबन्धम्।
(साहित्यदर्पण १०।१००)

३. यथा मम तातपादानां पुष्पमालायाम्। (सा० द० ६।२५)
भाषालक्षणानि मम तातपादानां भाषार्णवे। (सा० द० ६।१६९)

४. वैपरीत्यं रुचिङ्कुर्विति पाठः। अत्र चिङ्कुपदं······उत्कलादिभाषायां 'धृतवांडकद्रव' इत्यादि।

५. श्रीमन्नारायणचरणारविन्दमधुकरालङ्कारिकचक्रवर्त्तिध्वनिप्रस्थापनाचार्याष्टादशभाषाविलासिनीभुजङ्गसङ्गीतविद्याविद्याधरकलाविद्यामालतीमधुकरविविधविद्यार्णवकर्णधारसान्धिविग्रन्हिकमहापात्रश्रीविश्वनाथकविराजकृतौ काव्यप्रकाशदर्पणेऽलङ्कारनिर्णयो नाम दशमोऽध्वाकः। (का० प्र० भू० पृ० २६)

वेबर और एगलिङ्ग का कहना है कि साहित्यदर्पण की रचना पूर्वी बंगाल में ब्रह्मपुत्र नदी के तट पर हुई थी। किन्तु उन्होंने कोई ऐसा तथ्य प्रस्तुत नहीं किया है जिससे उक्त कथन पर विश्वास किया जा सके। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि विश्वनाथ उत्कल के निवासी थे। विश्वनाथ ने अपने पूर्वज नारायण को कलिङ्गनरेश नरसिंहदेव की राजसभा का सदस्य बताया है। नारायण ने कलिङ्गराज नरसिंह की सभा में धर्मदत्त को पराजित किया था। सम्भवतः कलिङ्गनरेश की प्रशस्ति में विश्वनाथ ने 'नरसिंह-विजय' नामक ग्रन्थ लिखा था।

इस प्रकार विश्वनाथ कविराज उत्कल प्रान्त के रसिक-शिरोमणि कवि और संस्कृत-साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान् थे। वे सबसे पहले कवि थे, बाद में आलङ्कारिक। अलङ्कार-जगत् में उन्हें अपूर्व गौरव प्राप्त था। उनकी सबसे बड़ी विशेषता है कि उन्होंने श्रव्य काव्य के विशद वर्णन के साथ दृश्य काव्य का भी सुन्दर विवेचन किया है।

विश्वनाथ कविराज का समय

विश्वनाथ कविराज का समय निर्धारित करने में कोई कठिनाई नहीं प्रतीत होती। साहित्यदर्पण के चतुर्थ परिच्छेद में अलावदीन नामक एक मुसलमान शासक का उल्लेख है, जो सन्धि करने पर सर्वस्व हरण कर लेता था और लड़ाई करने पर प्राण का हरण कर लेता था—

सन्धौ सर्वस्वहरणं विग्रहे प्राणनिग्रहः।
अलावदीननृपतौ न सन्धिर्न च विग्रहः॥

(साहित्यदर्पण ४।१४ वृत्ति)

यह अलाउद्दीन सुलतान और कोई नहीं बल्कि अलाउद्दीन खिलजी ही था, जिसकी सेना का सेनानायक मलिक काफ़ूर ने दक्षिण पर चढ़ाई कर वारंगल पर विजय प्राप्त किया था और कन्याकुमारी तक अपनी विजयध्वजा फहराई थी। वह सुलतान अलाउद्दीन अत्यन्त दुराचारी और अत्याचारी था। उसके अत्याचारों का उल्लेख विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण के दशम परिच्छेद में वाच्यक्रियोत्प्रेक्षा के उदाहरण में किया है—

गङ्गाम्भसि सुरत्राण! तव निःशाननिःस्वनः।
स्नातीवारिवधूवर्गगर्भपातनपातकी ॥

(सा० द० १०।४२ वृत्ति)

यहाँ पर 'सुलतान' के लिए संस्कृत रूप 'सुरत्राण' शब्द का प्रयोग किया गया है। यह सुलतान बहुत बड़ा अत्याचारी एवं क्रूर था। यह भारतवासियों के साथ बहुत निष्ठुर एवं क्रूर व्यवहार करता था। सुलतान की मृत्यु १३१६ ई० में हुई थी। इसका शासनकाल १२९६–१३१६ ई० माना जाता है।

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है, साहित्यदर्पण की रचना इसके पूर्व की नहीं हो सकती। अतः विश्वनाथ का समय १२९६ ई० के पहले कदापि नहीं माना जा सकता।

विश्वनाथ के समय की अपरली सीमा १३८४ ई० के बाद नहीं ठहराई जा सकती। क्योंकि साहित्यदर्पण की एक हस्तलिखित प्रति, जिसका लेखनकाल १३८४ ई० है, डॉ० स्टीन को जम्मू में प्राप्त हुई है, जो जम्मू कैटलाग पृ० ६४ संख्या ३४९ पर अङ्कित है। इस प्रकार यह पाण्डुलिपि १३८४ ई० की है। इसके अतिरिक्त कुमारस्वामी ने साहित्यदर्पण से उद्धरण उद्धृत किया है और नामोल्लेख भी किया है। कुमारस्वामी का समय पन्द्रहवीं शताब्दी का प्रारम्भ माना जाता है, अतः विश्वनाथ का समय इसके बाद का नहीं माना जा सकता। इस प्रकार विश्वनाथ का समय १२९६ ई० से १३८४ ई० के मध्य माना जा सकता है।

अन्तःसाक्ष्य--विश्वनाथ ने जयदेव के गीतगोविन्द से एक श्लोक उद्धृत किया है[1] और प्रसन्नराघव से 'कदली कदली करभः करभः' श्लोक उद्धृत किया है[2]। जयदेव का समय बारहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है, अतः विश्वनाथ का समय इसके बाद का होना चाहिए।

विश्वनाथ वे रुय्यक के अलङ्कारसर्वस्व से अनेक उदाहरण ग्रहण किये हैं और कई स्थलों पर उनकी आलोचना भी की है[3]। इससे प्रतीत होता है कि विश्वनाथ रुय्यक के ग्रन्थ से पूर्ण परिचित थे। इसके अतिरिक्त विश्वनाथ ने साहित्य-दर्पण में श्रीहर्ष के नैषधचरित से कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं[4]। श्रीहर्ष का समय बारहवीं शती का उत्तरार्द्ध माना गया है, अतः विश्वनाथ का समय इसके बाद का होना चाहिए।

विश्वनाथ ने काव्यप्रकाश के टीकाकार चण्डीदास को अपने पितामह नारायणदास का छोटाभाई बताया है। चण्डीदास ने काव्यप्रकाश पर दीपिका नामक टीका लिखी है। चण्डीदास के बड़े भाई नारायण ने कलिङ्गनरेश नरसिंह राव की राजसभा में धर्मदत्त को परास्त किया था। कलिङ्गनरेश नरसिंह का समय १२७० ई० से १३०३ ई० के मध्य माना जाता है। नरसिंह (१२७०-१३०३) के शिलालेख में उन्हें 'कविप्रिय' कहा गया है, अतः

---

१. हृदि विसलताहारो नायं भुजङ्गमनायकः। (सा० द० १०।३९)

२. कदली कदली करभः करभः कविराजकरः कविराजकरः।
भुवनत्रितयेऽपि बिभर्त्ति तुलामिदमूरुयुगं न चमूरुदृशा॥
(सा० द० ४।३)

३. भुजङ्गमण्डलीव्यक्तशशिशुभ्रांशुशीतगुः।
जगन्त्यपि सदापायादव्याच्चेतोहरः शिवः॥ (सा० द० १०।२)

४. नैषधीयचरितम् ९।१२३, ३।११६।

वह कवियों का आश्रयदाता रहा होगा। साहित्यदर्पण में विश्वनाथ ने धर्मदत्त का उल्लेख किया है, जो उनके पितामह नारायण के समकालीन रहे हैं[1]। इससे ज्ञात होता है कि विश्वनाथ कविराज का समय १३०० ई० के बाद रहा होगा।

बाह्यसाक्ष्य--कुमारस्वामी ने प्रतापरुद्रीय की टीका रत्नापण में साहित्य-दर्पण का दो बार उल्लेख किया है[2]। कुमारस्वामी मल्लिनाथ का पुत्र था। उनका समय पन्द्रहवीं शती का प्रारम्भ माना जाता है। काव्यप्रकाश के टीका-कार गोविन्द ठक्कुर ने काव्यप्रकाशप्रदीप में साहित्यदर्पण की काव्य-परिभाषा को उद्धृत किया है और उनकी विचारधाराओं का विश्लेषण भी किया है[3]। गोविन्द ठक्कुर का समय पन्द्रहवीं शती का उत्तरार्द्ध माना जाता है, अतः विश्वनाथ का समय इसके पूर्व होना चाहिए।

डॉ० सुशीलकुमार दे के अनुसार विश्वनाथ का समय १३०० ई० से १३५० ई० के मध्य अथवा १४वीं शती का पूर्वार्द्ध माना जाता है[4]। डॉ० म० म० काणे महोदय का कहना है कि विश्वनाथ ने बारहवीं शताब्दी के बहुत से लेखकों का उल्लेख किया है और पन्द्रहवीं शती के कई लेखकों ने विश्वनाथ का नामोल्लेख किया है। इस प्रकार विश्वनाथ का समय १३००-१३८० ई० के मध्य रहा है—यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है[5]। डॉ० पारसनाथ द्विवेदी डॉ० दे के मत से सहमति व्यक्त करते हुए विश्वनाथ का

---

१ संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (काणे), पृ० ३७२-३७३।

२. सम्मोहानन्दसम्भेदो मदो मद्योपयोगजः।
अमुना चोत्तमः शेते मध्यो हसति गायति ॥
अधमप्रकृतिश्चापि परुषं वक्ति रोदिति ॥
(प्रतापरुद्रीय रत्नापण-टीका — रसप्रकरण)
मोहो विचित्रता भीतिदुःखवेगानुचिन्तनैः ॥
घूर्णनागात्रपतनभ्रमणादर्शनादिकृत् ॥
(प्रतापरुद्रीय रत्नापण-टीका — रसप्रकरण)

३. "अर्वाचीनास्तु — यथोक्तस्य काव्यलक्षणत्वे काव्यपदं निर्विषयं प्रविरल-विषयं वा स्यात्। दोषाणां दुर्वारत्वात्। तस्मात् 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' इति तल्लक्षणम्। तथा च दृष्टेऽपि रसान्वये काव्यत्वमस्त्येव। परं त्वपकर्ष-मात्रम्। तदुक्तं 'कीटानुविद्धात्' इत्यादि। एवं चालङ्कारादि सत्त्वे उत्कर्षमात्रं नीरसे तु चित्रादौ काव्यव्यवहारो गौणः। इत्याहुः"। (काव्यप्रकाश-प्रदीप, पृ० १३)

४. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (दे), पृ० १९७।

५. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (काणे), पृ० ३७४।

समय १३००-१३५० ई० के मध्य मानते हैं और साहित्यदर्पण का रचना काल १३२५ ई० के आस-पास मानते हैं[१]।

विश्वनाथ की रचनाएँ

(१) **साहित्यदर्पण**—साहित्यदर्पण अलङ्कारशास्त्र का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यद्यपि यह मौलिक ग्रन्थ नहीं प्रतीत होता, फिर भी काव्यशास्त्र एवं नाटचशास्त्र के सभी तत्त्वों पर साङ्गोपाङ्ग एवं विशद विवेचन किया गया है। साहित्यदर्पण के विषय तीन भागों में विभाजित हैं—कारिका, वृत्ति, और उदाहरण। इनमें कारिका और वृत्ति भाग के लेखक विश्वनाथ हैं और अधिकांश उदाहरण अन्य विद्वानों की रचनाओं से गृहीत हैं। कुछ उदाहरण अपने पिता, पितामह आदि अपने पूर्वजों के ग्रन्थों से लिये गये हैं और कुछ उदाहरण उनके स्वरचित हैं।

साहित्यदर्पण दस परिच्छेदों में विभक्त है। प्रथम परिच्छेद में वामन, आनन्द, कुन्तक, मम्मट आदि आचार्यों के काव्यलक्षण का खण्डन कर 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' यह काव्यलक्षण प्रस्तुत किया है। द्वितीय परिच्छेद में अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना—इन तीन शक्तियों के विवेचन के साथ तात्पर्या नामक शक्ति को भी स्वीकार किया गया है। तृतीय परिच्छेद में रस, भाव, रसभेद आदि का विशद विवेचन है। चतुर्थ परिच्छेद में ध्वनि और गुणीभूत और उनके भेदों की विस्तृत व्याख्या है। पञ्चम परिच्छेद में व्यञ्जनावृत्ति की स्थापना की गई है। षष्ठ परिच्छेद में नाटचशास्त्रीय विषयों का साङ्गोपाङ्ग विशद विवेचन किया गया है। सप्तम परिच्छेद में काव्य-दोषों का विशद विवेचन है। अष्टम परिच्छेद में त्रिविध काव्य-गुणों का विस्तृत विवेचन किया गया है। नवम परिच्छेद में वैदर्भी, गौणी, पाञ्चाली एवं लाटी—इन चार वृत्तियों की व्याख्या की गई है। दशम परिच्छेद में शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार का साङ्गोपाङ्ग विस्तृत विवेचन किया गया है।

इस प्रकार विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में काव्यशास्त्र के साथ नाटचशास्त्र के सिद्धान्तों एवं विविध नाटक-प्रकारों की सांगोपांग एवं विस्तृत चर्चा की है। रुय्यक के अलङ्कारसर्वस्व का इन पर पूर्ण प्रभाव परिलक्षित होता है। कहीं-कहीं तो इन्होंने रुय्यक का अक्षरशः अनुकरण किया है। साहित्यदर्पण में (प्रथम, द्वितीय, दशम परिच्छेद) उद्धृत दो सौ पचास उद्धरणों में से मात्र बीस श्लोक विश्वनाथ के हैं। शेष उदाहरण काव्यप्रकाश, ध्वन्यालोक और अलङ्कारसर्वस्व से लिये गये हैं।

अभी तक साहित्यदर्पण की पाँच टीकाओं का पता चला है। इनमें रामचरण तर्कवागीश की विवृति नामक टीका १९०२ में निर्णयसागर प्रेस,

१. साहित्यदर्पण : आलोचनात्मक अध्ययन (डॉ० द्विवेदी), पृ० ११।

बम्बई से प्रकाशित है। यह टीका उपयोगी है और १७०१ ई० में लिखी गई है। विश्वनाथ के पुत्र अनन्तदास की लोचन टीका और महेश्वरभट्ट की विज्ञ-प्रिया — इन दो टीका के साथ साहित्यदर्पण का एक संस्करण मोतीलाल बनारसी-दास लाहौर से १९३८ में प्रकाशित है। अनन्तदास की लोचन टीका संक्षिप्त एवं विद्वत्तापूर्ण है और विज्ञप्रिया टीका विस्तृत एवं विद्वत्तापूर्ण है। इनका समय सतरहवीं शताब्दी का मध्य माना जाता है। इनके अतिरिक्त मथुरानाथ शुक्ल की टिप्पण टीका और गोपीनाथ की प्रभा टीका अभी तक अप्रकाशित है। इनके अतिरिक्त महामहोपाध्याय पी० वी० काणे महोदय की साहित्यदर्पण की टीका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त शालिग्राम शास्त्री एवं कृष्णमोहन शास्त्री की भी टीका महत्त्वपूर्ण है।

(२) **काव्यप्रकाशदर्पण**--यह काव्यप्रकाश की टीका है। विश्वनाथ ने काव्यप्रकाश पर दर्पण नामक टीका लिखी थी। इस टीका में साहित्यदर्पण का उल्लेख किया गया है, अतः यह ग्रन्थ साहित्यदर्पण के बाद का लिखा गया प्रतीत होता है।

(३) **राघवविलास**--विश्वनाथ द्वारा रचित 'राघवविलास' संस्कृत भाषा का एक महाकाव्य है। साहित्यदर्पण के तृतीय परिच्छेद में करुण रस के उदाहरण के रूप में राघवविलास से एक श्लोक उद्धृत है[1]। यह ग्रन्थ अप्राप्य है।

(४) **कुवलयाश्वचरित**—यह प्राकृत भाषा का काव्य है। साहित्यदर्पण के तृतीय परिच्छेद में इससे एक श्लोक उद्धृत है[2]। यह शृङ्गाररस-प्रधान काव्य प्रतीत होता है। यह अप्राप्य है।

(५) **प्रभावती-परिणय**--विश्वनाथ की रचना है। यह एक नाटिका है। साहित्यदर्पण के तृतीय परिच्छेद में मुग्धा नायिका के उदाहरण के रूप में इसका एक श्लोक उद्धृत है[3]। यह शृंगाररस-प्रधान नाटिका है। यह नाटिका अप्राप्य है।

(६) **चन्द्रकला**—यह विश्वनाथ की दूसरी नाटिका है। इस नाटिका

---

१. यथा मम राघवविलासे—

विपिने क्व जटानिबन्धनं तव चेदं क्व मनोहरं वपुः।
अनयोर्घटनाविधेः स्फुटं ननु खड्गेन शिरीषकर्त्तनम्॥

(सा० द० ३।२२२-२२५)

२. यथा मम कुवलयाश्वचरिते प्राकृतकाव्ये।

(सा० द० ३।१४८)

३. 'प्रथमावतीर्णमदनविकारा' यथा मम प्रभावतीपरिणये।

(सा० द० ३।५८)

का एक श्लोक साहित्यदर्पण में दीप्त अलङ्कार के उदाहरण रूप में उद्धृत है[1]। इसमें शृंगार रस की प्रधानता लक्षित होती है। यह अप्राप्य है।

(७) **प्रशस्तिरत्नावली**—यह काव्य-ग्रन्थ है। इसमें १६ भाषाओं में कलिङ्गनरेश प्रथम व द्वितीय की प्रशस्तियाँ लिखी गई हैं। साहित्यदर्पण में करम्भक की परिभाषा में इसका उल्लेख है[2]। यह सोलह भाषाओं में रचित एक करम्भक है। यह काव्य अप्राप्य है।

(८) **नरसिंहविजय**—विश्वनाथ ने कलिङ्गनरेश के विजय-गौरवज्ञान के रूप में नरसिंहविजय नामक काव्य की रचना की है। विश्वनाथ के पुत्र अनन्तदास ने साहित्यदर्पण की 'लोचन' टीका में इस काव्य का उल्लेख किया है[3]। यह ग्रन्थ अप्राप्य है।

विश्वनाथ कविराज के नाटच-सिद्धान्त

विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में काव्य के दो भेद किये हैं—दृश्य और श्रव्य। उनमें दृश्य अभिनेय होता है और अभिनेता (नट) में रामादि के चरितों के रूप का रूपण होने के कारण उसे 'रूपक' कहते हैं। इस प्रकार सामाजिक की दृष्टि से इसे 'दृश्य' और अभिनेता (नट) की दृष्टि से 'अभिनेय' अथवा 'नाटच' कहते हैं तथा कवि की दृष्टि से इसे 'रूपक' कहा जाता है; क्योंकि इसमें नट पर रामादि के चरितों का अभेदारोप होता है। इस प्रकार अभिनेता में अभिनेय (रामादि) के रूप का अनुसन्धान (आरोप) होने के कारण यह 'रूपक' कहलाता है। यह दृश्य काव्य अभिनय के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। अभिनय चार प्रकार का होता है—आङ्गिक, वाचिक, आहार्य एवं सात्त्विक।

'भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः स चतुर्विधः।
आङ्गिको वाचिकश्चैवमाहार्यः सात्त्विकस्तथा॥

(सा० द० ६।२)

रूपक-भेद—विश्वनाथ के अनुसार दस प्रकार के रूपक और अठारह प्रकार के उपरूपक होते हैं। रूपक के दस प्रकार हैं—

१. नाटक, २. प्रकरण, ३. भाण, ४. व्यायोग, ५. समवकार, ६. डिम, ७. ईहामृग, ८. अङ्क, ९. वीथी और १०. प्रहसन।

---

१. यथा मम चन्द्रकलायां नाटिकायां चन्द्रकलावर्णनम्।
(सा० द० ३।९६)

२. करम्भकं तु भाषाभिर्विविधाभिर्विनिर्मितम्।
यथा मम षोडशभाषामयी प्रशस्तिरत्नावली। (सा० द० ६।३३७)

३. 'यथा मम तातपादानां विजयनरसिंहे'।

उपरूपक के अठारह प्रकार हैं—

१. नाटिका, २. त्रोटक, ३. गोष्ठी, ४. सट्टक, ५. नाट्यरासक, ६. प्रस्थान, ७. उल्लाप्य, ८. काव्य, ९. प्रेङ्खण, १०. रासक, ११. संलापक, १२. श्रीगदित, १३. शिल्पक, १४. विलासिका, १५. दुर्मल्लिका, १६. प्रकरणी, १७. हल्लीशक और १८. भाणिका।

इसके बाद नाट्यलक्षण एवं नाट्यालङ्कारों का साङ्गोपाङ्ग विवेचन के साथ उनकी उपयोगिता पर भी प्रकाश डाला गया है।

पूर्वरङ्ग-विधान—नाट्य-प्रयोग के पहले रङ्ग (नाट्यमण्डप) की विघ्न-शान्ति के लिए किया गया माङ्गल्य 'पूर्वरङ्ग' कहलाता है। यद्यपि इसके प्रत्याहार आदि अनेक अङ्ग होते हैं, तथापि नान्दी-प्रयोग अवश्य करना चाहिए। जहाँ पर आशीर्वचन से युक्त देव, द्विज, नृप आदि की स्तुति की जाती है उसे 'नान्दी' कहते हैं। नान्दी अष्टपदा या द्वादशपदा होनी चाहिए। पूर्वरङ्ग के पश्चात् स्थापक नाट्य-वस्तु की स्थापना करता है। स्थापना में भारती वृत्ति की प्रचुरता होती है। भारती वृत्ति के चार अङ्ग होते हैं—प्ररोचना, वीथी, प्रहसन और आमुख। उन्होंने प्राचीन आचार्यों के अनुसार ही भारती वृत्ति का निरूपण किया है।

इतिवृत्त-विधान—विश्वनाथ के इतिवृत्त-विधान में कोई मौलिकता या नवीनता नहीं है। उन्होंने पूर्ववर्त्ती आचार्यों द्वारा प्रतिपादित इतिवृत्त-विधान का अनुसरण किया है। उन्होंने धनञ्जय के अनुसार इतिवृत्त के दो विभाग किये हैं—आधिकारिक और प्रासङ्गिक। इनके भेदों एवं उपभेदों का वर्णन उन्होंने धनञ्जय के अनुसार ही किया है। विश्वनाथ ने चार प्रकार के पताका-नायक, पाँच प्रकार के अर्थोपक्षेपकों, पाँच अर्थप्रकृतियों, पाँच अवस्थाओं, पाँच सन्धियों और सन्ध्यङ्गों का विस्तृत विवेचन किया है। सन्ध्यङ्गों में मुखसन्धि के बारह अङ्ग, प्रतिमुखसन्धि के तेरह अङ्ग, गर्भसन्धि के तेरह अङ्ग, विमर्शसन्धि के तेरह अङ्ग और निर्बहणसन्धि के चौदह अङ्ग बताये गये हैं। साथ ही सन्ध्यङ्गों के सिद्धान्त एवं सन्ध्यङ्ग-योजना पर भी विचार किया गया है।

वृत्ति-विचार—विश्वनाथ ने नाट्यशास्त्र के अनुसार वृत्तियाँ चार मानी हैं—भारती, कैशिकी, सात्त्वती और आरभटी। इनमें भारती वृत्ति के चार अङ्ग, प्रस्तावना के पाँच भेद, कैशिकी के चार अङ्ग, सात्त्वती वृत्ति के चार अङ्ग और आरभटी वृत्ति के चार अङ्ग निर्दिष्ट हैं।

नायक-नायिका-भेद—विश्वनाथ ने चार नायकों का निर्देश किया है—धीरोदात्त, धीरललित, धीरोद्धत और धीरप्रशान्त। इन चार नायकों के शृङ्गारात्मक नाट्य में चार-चार भेद होते हैं—दक्षिण, धृष्ट, अनुकूल और शठ। ये सोलह नायक उत्तम, मध्यम और अधम भेद से तीन-तीन प्रकार के होते हैं। इस

प्रकार अड़तालीस प्रकार के नायक निर्दिष्ट हैं। इसके बाद प्रसङ्गवश नायक के सहायकों का निर्देश है। पीठमर्द, विदूषक, चेट, विट, मन्त्री नायक के सहायक कहे गये हैं। इनके अतिरिक्त बौने, हिजड़े, कुबड़े, किरात, आभीर, म्लेच्छ, शकार आदि नायक के अन्तःपुर के सहायक कहे गये हैं। इनके अतिरिक्त नायक के सुहृत्, राजकुमार, आटविक, सामन्त, सैनिक आदि दण्डसहायक और ऋत्विक्, पुरोहित, वेदज्ञ, तपस्वी आदि धर्मकार्य में सहायक होते हैं। दूत भी नायक का सहायक होता है। विश्वनाथ ने नायक के आठ सात्त्विक गुण बताये हैं—

'शोभा विलासो माधुर्यं गाम्भीर्यं धैर्यतेजसी।
ललितौदार्यमित्यष्टौ सत्त्वजाः पौरुषाः गुणाः' ॥

(सा० द० ३।५०)

पूर्व आचार्यों का अनुसरण करते हुए विश्वनाथ ने भी नायिका के प्रथम तीन भेद बताये हैं—स्वीया, परकीया और सामान्या। इनमें स्वीया नायिका के तीन भेद होते हैं—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा। इनमें मुग्धा नायिका एक प्रकार की होती है और मध्या एवं प्रगल्भा नायिका के धीरा, अधीरा और धीराऽधीरा भेद से तीन-तीन प्रकार होते हैं। पुनः इसके दो-दो भेद होते हैं—ज्येष्ठा और कनिष्ठा। इस प्रकार मध्या और प्रगल्भा के कुल बारह भेद होते हैं (२×३×२=१२)। एक प्रकार की मुग्धा नायिका के एक भेद मिलाकर स्वीया नायिका के तेरह भेद हुए। परकीया नायिका के दो भेद होते हैं—परोढा (अन्योढा) तथा कन्यका और सामान्या नायिका का एक भेद होता है। कुल मिलाकर नायिका के सोलह भेद हुए। इन सोलह नायिकाओं के अवस्था-भेद से आठ भेद होते हैं—स्वाधीनभर्तृका, खण्डिता, अभिसारिका, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितभर्तृका, वासकसज्जा और विरहोत्कण्ठिता। इस प्रकार नायिका के (१६×८=१२८) एक सौ अट्ठाइस भेद होते हैं। ये १२८ नायिकाएँ भी उत्तमा, मध्यमा, अधमा भेद से तीन-तीन प्रकार की होती है। इस प्रकार नायिकाओं के कुल तीन सौ चौरासी (१२८×३= ३८४) भेद होते हैं।

विश्वनाथ ने नायिकाओं के अट्ठाइस यौवनालङ्कार का विवेचन किया है। उनमें अङ्गज अलङ्कार तीन हैं—हाव, भाव और हेला। अयत्नज अलङ्कार के सात भेद हैं—शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य। स्वभावज अलङ्कार अठारह हैं—लीला, विलास, विच्छित्ति, बिव्वोक, किलकिञ्चित्, मोट्टायित, कुट्टमित, विभ्रम, ललित, मद, विहृत, तपन, मौग्ध्य, विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित और केलि।

रस-मीमांसा

विश्वनाथ ने रस को सहृदय-संवेद्य, अलौकिक काव्यार्थतत्त्व कहा है।

उनका कहना है कि रस का आस्वादन सबको नहीं होता, पुण्यशाली ही रस का आस्वादन करते हैं। रसास्वाद का अनुभव उसी को होता है जिसमें सत्त्व का उद्रेक होता है। रजोगुण एवं तमोगुण के संस्पर्श से रहित चित्त सत्त्व कहलाता है। रजोगुण एवं तमोगुण को दबाकर सत्त्व का प्रकाशित होना 'सत्त्व' का उद्रेक है। इस सत्त्व के उद्रेक से सहृदयों के द्वारा अनुभूत रस अखण्ड, स्वप्रकाश एवं आनन्दमय रत्यादि संवेदन रूप है। इस प्रकार अखण्ड-स्वप्रकाशानन्दचिन्मय रस सत्त्वोद्रेक के कारण ही सहृदय सामाजिकों द्वारा संवेद्य होता है। यह रस 'वेद्यान्तरस्पर्शशून्य' है। क्योंकि रसानुभवकाल में अन्य किसी भी ज्ञेय वस्तु का संस्पर्श नहीं रहता। यह अनुभव एक सर्वथा विलक्षण अलौकिक अनुभव है, जिसमें ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का कोई भेद आभासित नहीं होता; अतः इसे 'ब्रह्मास्वादसहोदर' कहा गया है। यह अनुभव अलौकिक चमत्कार अर्थात् के सहृदय के चित्त का विस्तार है और यह चमत्कार ही रस रूप अनुभव का प्राण है[1]।

विश्वनाथ के पितामह पण्डितप्रवर नारायण के अनुसार चमत्कार ही रस का सार है। इसका अनुभव पुण्यशाली सहृदय ही करते हैं। सहृदय विभावादि से संवलित रत्यादिरूप काव्यार्थ से अनुविद्ध आत्मानन्द का आस्वाद लिया करते हैं। उस समय उसे 'स्व' एवं 'पर' का भेद ज्ञान नहीं रहता। रस का यह आस्वाद स्वप्रकाशानन्दसंवित्तत्व से कोई भिन्न वस्तु नहीं है। वस्तुतः 'रस' और 'आस्वाद' में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। भेद-प्रतीति तो 'राहोः शिरः' के समान काल्पनिक है। 'राहोः शिरः' में 'राहु का शिर' इस प्रकार जो भेद की प्रतीति हो रही है वह वास्तविक नहीं है; क्योंकि जो राहु है वही शिर है और 'जो शिर है वही राहु है' इसमें कोई भेद नहीं है। इसी प्रकार 'रस' और 'आस्वाद' में कोई भेद नहीं है, दोनों एकरूप है। 'रस का आस्वाद' यह तो काल्पनिक भेद है। सहृदय रसानुभव के समय विभावादि से तादात्म्य स्थापित कर आत्मलीन हो जाता है, उस समय सहृदय 'अहम्' का परित्याग कर ब्रह्मरस में लीन हो जाता है और स्वप्रकाश रस अथवा चमत्कारात्मक आस्वाद के साथ तादात्म्य स्थापित कर तद्रूप हो जाता है। यही तादात्म्य रूप आस्वाद्यता रस है। यह रस स्वयं अपने अभिन्न आस्वाद रूप होता है।

विश्वनाथ के अनुसार सभी रस सुखात्मक होते हैं। उन्होंने शोक-स्थायी-भावात्मक करुण रस को भी सुखात्मक माना है। उनका कहना है कि सहृदय सामाजिक को करुण आदि रसों में भी परम आनन्द प्राप्त होता है। क्योंकि

---

१. सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः।
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥ (साहित्यदर्पण ३।२-३)

यदि करुण रस में आनन्द न मिलता, केवल दुःख का अनुभव होता तो लोगों की उसमें प्रवृत्ति क्यों होती ? उनका कहना है कि नाट्य में विभावादि में 'साधारणीकरण' की एक अलौकिक शक्ति रहा करती है, जिसके द्वारा सहृदय सामाजिक अपनी वैयक्तिक सीमा से उठकर उस स्थिति में पहुँच जाता है जहाँ उसे 'स्व'—'पर' भेद नहीं रहता। उस समय वह रामादि के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझने लगता है। तब उसे अलौकिक रसानुभूति होती है।

कुमारस्वामी

कुमारस्वामी प्रसिद्ध टीकाकार कोलाचल मल्लिनाथ का पुत्र था। इनके भाई का नाम महामहोपाध्याय पेद्दुभट्ट था। पेद्दुभट्ट ने नैषध पर टीका लिखी थी और सर्वज्ञ (सम्भवतः शिंगभूपाल) ने उन्हें स्वर्णस्नान करवाया था। डॉ० दे के अनुसार कुमारस्वामी का समय पन्द्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है। कुमारस्वामी ने विद्यानाथ के 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' पर 'रत्नापण' नामक टीका लिखी है। यह टीका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। रत्नापण में भोज के शृङ्गारतिलक, एकावली, साहित्यदर्पण, रसार्णवसुधाकर, भावप्रकाशन तथा मल्लिनाथ, पेद्दुभट्ट, भट्टगोपाल, नरहरिसूरि (अपने वंशजों) का उल्लेख किया गया है। (**मल्लिनाथकपर्दी-मल्लिनाथ-पेद्दुभट्ट-कुमारस्वामी**)। कुमारस्वामी ने 'वसंतराजीय नाट्यशास्त्र' का भी उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ के लेखक वसन्तराज राजा कुमारगिरि थे। कुमारगिरि का ही अपर नाम वसन्तराज था[१]।

कुम्भ या कुम्भकर्ण

कुम्भ मेवाड़ का प्रसिद्ध विजयी राजा था। उसे महाराणा कुम्भ या कुम्भकर्ण भी कहा जाता था। उसने 'रसरत्नकोश' नामक रसशास्त्र पर एक ग्रन्थ की रचना की थी। रेनो ने देवनागरी लिपि में लिखित इस ग्रन्थ के एक हस्तलिपि का विवरण दिया है, जिसमें रस-सम्बन्धी विषयों का विवेचन है। इस ग्रन्थ में कुल ग्यारह अध्याय हैं। जिसके १-४ अध्याय तक रस का विवेचन है। पाँचवें एवं छठे अध्यायों में नायक-नायिका तथा उनके भेदों का निरूपण है। सातवें अध्याय में अभिनय का विवेचन है। आठवें एवं नवें अध्याय में अनुभाव एवं व्यभिचारीभावों का विवेचन है। दसवें एवं ग्यारहवें अध्यायों में रस तथा भावों का विवेचन है। साहित्यदर्पण तथा रसमञ्जरी के आधार पर इस ग्रन्थ की रचना की गयी है[२]।

इसके अतिरिक्त कुम्भ ने १४४९ ई० में संगीतशास्त्र पर 'संगीतराज'

---

१. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (दे), पृ० १९३-१९४।
२. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (दे), पृ० २५६।

नामक एक वृहद् ग्रन्थ की रचना की है। इस ग्रन्थ में पाँच अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में चार प्रकरण और प्रत्येक प्रकरण में चार परिच्छेद हैं। कुल अस्सी परिच्छेदों में सोलह हजार श्लोक हैं। इस ग्रन्थ के विषय-विवेचन में कुम्भ ने शाङ्र्गदेव का अनुकरण किया है और अभिनव, विप्रदास, अशोकमल्ल, देवेन्द्र, मदन तथा पण्डित-मण्डली का इन पर पूर्ण प्रभाव परिलक्षित होता है।

कुम्भ ने गीतगोविन्द पर 'रसिकप्रिया' नामक टीका लिखी है, जो निर्णय-सागर प्रेस, बम्बई से १९१७ ई० में प्रकाशित है। महाराणा कुम्भ के पुत्र एवं पुत्री ने १४८० के अभिलेख में कुम्भ के 'संगीतराज' एवं 'गीतगोविन्दटीका' की चर्चा की है[१]। इनके अतिरिक्त कुम्भ ने 'सङ्गीतरत्नाकर' पर भी टीका लिखी थी।

डॉ० सुशीलकुमार ने कुम्भ का समय १४२८–१४५९ ई० माना है[२]। उन्होंने १४४९ ई० में संगीतराज का प्रणयन किया था। इससे भी उक्त तिथि की पुष्टि होती है। अतः कुम्भ का समय पन्द्रहवीं शताब्दी का मध्यभाग मानना उपयुक्त प्रतीत होता है।

रूपगोस्वामी

जीवनवृत्त एवं समय

रूपगोस्वामी चैतन्य महाप्रभु के शिष्य थे। इनके पिता का नाम कुमार और पितामह का नाम मुकुन्द था। इनके पूर्वज कर्णाटक ब्राह्मण थे, जो चौदहवीं शताब्दी के अन्त में तथा पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में बंगाल में आकर बस गये थे और इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लिया था। रूपगोस्वामी के बड़े भाई का नाम सनातन गोस्वामी था। ये दोनों बड़े विद्वान् एवं बुद्धिमान् थे। गौड़ के बादशाह शाह हुसैन ने इन्हें ऊँचें पदों पर प्रतिष्ठित किया था। शाही दरबार में इन्हें खूब प्रतिष्ठा प्राप्त थी, किन्तु चैतन्य महाप्रभु के दर्शन करने के पश्चात् वे उनकी ओर आकृष्ट हो गये और वैष्णव धर्म में दीक्षित होकर उनके अनुयायी बन गये[३]। महाप्रभु के आदेश से इन्होंने वृन्दावन में अपना स्थान बनाया। इन दोनों व्यक्तियों ने चैतन्य के भक्ति-आन्दोलन में प्रमुख रूप से भाग लिया था।

रूपगोस्वामी के समय-निर्धारण के सम्बन्ध में कोई कठिनाई प्रतीत नहीं होती। उन्होंने 'दानकेलिकौमुदी' की रचना १४९५ ई० में तथा 'विदग्ध-माधव' की रचना १५३२-३३ ई० में की थी[४]। इसी प्रकार उन्होंने 'ललित-माधव'

---

१. भरत का संगीत-सिद्धान्त, पृ० ३१४।
२. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (दे), पृ० २५६।
३. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (काणे), पृ० ३८८।
४. नन्दसिन्धुरबाणेन्दुसंख्ये संवत्सरे गते।
विदग्धमाधवं नाम नाटकं गोकुले मतम् ॥

की रचना १५३७ ई० में, उत्कलिका-मञ्जरी की रचना १५५० ई० में तथा भक्तिरसामृतसिन्धु की रचना १५४१–४२ ई० में की है[1]। उपर्युक्त तिथियों से ज्ञात होता है कि रूपगोस्वामी का साहित्य-सृजन काल कम से कम १४९४ ई० से १५५० ई० तक लगभग ५५ वर्ष का रहा होगा। डॉ० दे के अनुसार रूप-गोस्वामी १५५४ ई० तक जीवित थे। इस प्रकार रूपगोस्वामी का समय १४७५ ई० से लेकर १५५४ ई० तक माना जा सकता है।

रूपगोस्वामी की रचनाएँ

रूपगोस्वामी ने अनेक ग्रन्थों की रचना की है। उनकी रचनाएँ लगभग २१ हैं, किन्तु उनकी साहित्यशास्त्र की रचनाएँ तीन हैं—

१. नाटकचन्द्रिका।

२. उज्ज्वलनीलमणि।

३. भक्तिरसामृतसिन्धु।

नाटकचन्द्रिका––नाटकचन्द्रिका रूपगोस्वामी का नाटच-विषयक ग्रन्थ है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में उन्होंने स्वयं लिखा है कि मैंने इस ग्रन्थ की रचना की भरत एवं रसार्णवसुधाकर के अनुकरण पर की है। इसके अतिरिक्त भरत मत का विरोधी होने के कारण साहित्यदर्पण के मत को अस्वीकार कर दिया है—

वीक्ष्य भरतमुनिशास्त्रं रसपूर्वसुधाकरञ्च रमणीयम्।
लक्षणमतिसङ्क्षेपात् विलिख्यते नाटकस्येदम्॥
नातीव सङ्गत्वाद् भरतमुनिमतविरोधाच्च।
साहित्यदर्पणीया न गृहीता प्रक्रिया प्रायः॥

(नाटकचन्द्रिका १।१–२)

नाटकचन्द्रिका आठ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में नाटक के सामान्य लक्षण, द्वितीय अध्याय में नायक-निरूपण, तृतीय अध्याय में रूपक के भेद का निरूपण, चतुर्थ अध्याय में सन्धि, पताका आदि का विवेचन, पञ्चम अध्याय में अर्थोपक्षेपक तथा उसके अङ्ग विष्कम्भक आदि का विवेचन, षष्ठ अध्याय में अङ्कों एवं दृश्यों का विभाजन, सप्तम अध्याय में भाषा-विधान तथा अष्टम अध्याय में वृत्ति-निरूपण किया गया है। इसमें उदाहरण वैष्णव ग्रन्थों से लिये गये हैं।

भक्तिरसामृतसिन्धु में भक्तिरस का विवेचन है। यह चार भागों में विभक्त है। **उज्ज्वलनीलमणि** इसका पूरक ग्रन्थ है। इसमें मधुर शृङ्गार का विस्तृत विवेचन है। इसके अतिरिक्त इसमें नायक-नायिका तथा उनके भेदों का निरूपण है।

---

१. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (काणे), पृ० ३८९।

त्रिलोचनादित्य

त्रिलोचनादित्य नाट्यशास्त्र के आचार्य थे। इन्होंने नाट्यशास्त्र पर 'नाट्यालोचन' नामक ग्रन्थ लिखा था। ओपर्ट के अनुसार उन्होंने अपने ग्रन्थ पर 'लोचनव्याञ्जन' टीका लिखी थी। राघवभट्ट ने अभिज्ञानशाकुन्तल की टीका अर्थद्योतनिका में नाट्यालोचन से उद्धरण उद्धृत किये हैं। इसके अतिरिक्त वासुदेव ने 'कर्पूरमञ्जरी' की टीका में तथा रङ्गनाथ ने 'विक्रमोर्वशीय' की टीका में उक्त ग्रन्थ से उद्धरण लिये हैं। डॉ० सुशीलकुमार दे ने त्रिलोचनादित्य का समय चौदहवीं शताब्दी का मध्यभाग माना है[१]। इसमें नाट्यशाला के निर्माण की विधि का विस्तृत विवेचन है।

त्र्यम्बक

त्र्यम्बक ने नाट्यशास्त्र पर 'नाटक-दीप' नामक ग्रन्थ लिखा है। इसके अतिरिक्त इनके सम्बन्ध में और कुछ जानकारी नहीं मिल सकी है।

पुण्डरीक

पुण्डरीक द्वारा रचित 'नाटक-लक्षण' नामक ग्रन्थ सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी सरस्वती-भवन में हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची सं० ३०८ उपलब्ध है।

सोमनार्य

सोमनार्य ने नाट्यशास्त्र पर 'नाट्यचूडामणि' नामक ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ का दूसरा नाम 'स्वररागसुधारस' है। यह तेलगू टीका के साथ मद्रास कैटलाग X Xii १२९९८ में उपलब्ध है[२]। रामकृष्ण कवि के अनुसार सोमनार्य का समय १५४० ई० माना जाता है[3]।

सुन्दरमिश्र अजागरि

सुन्दरमिश्र ने 'नाट्यप्रदीप' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इस ग्रन्थ की तिथि १६१३ ई० दी गई है[४]। अतः सुन्दरमिश्र का समय सतरहवीं शताब्दी का प्रथम माना जा सकता है। राघवभट्ट ने अभिज्ञानशाकुन्तल की टीका 'अर्थद्योतनिका' में इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ में दशरूपक से विस्तृत उद्धरण लिया गया है।

नरसिंह अथवा नृसिंह कवि

नरसिंह कवि का जन्म समगर नामक एक ब्राह्मण-परिवार में हुआ था।

---

१. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (दे), पृ० २६७।

२. वही, पृ० ३०२।

३. भरतकोष, पृ० ३१८।

४. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (दे)।

इनके पिता का नाम शिवराम सुधिमणि तथा गुरु का नाम योगानन्द था[1]। इन्होंने नञ्जराज की प्रशस्ति में 'नञ्जराजयशोभूषण' नामक ग्रन्थ लिखा था। इस ग्रन्थ में सात विलास हैं, जिनमें छठे विलास में नाटच-सम्बन्धी विषय का विवेचन है। यह ग्रन्थ विद्यानाथ के 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' नामक ग्रन्थ को आदर्श मानकर लिखा गया है और बहुत-सी विषय-सामग्री अक्षरशः समाविष्ट कर ली गई है। नरसिंह कवि को 'अभिनव-कालिदास' की उपाधि से विभूषित किया गया था।

नञ्जराज १७३९ से १७५९ ई० तक मैसूर-नरेश चिक्क कृष्णराव का राजस्व-मन्त्री था। १७७३ ई० में उसकी मृत्यु हो गई। इस आधार पर नरसिंह कवि का समय अठारहवीं शताब्दी का मध्यभाग माना जाता है[2]।

---

१. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (दे), पृ० २७१।

२. वही।

द्वितीय खण्ड

*

नाट्य-सिद्धान्त

एक :

नाट्य का उद्‌गम और विकास

नाटचशास्त्र के प्राचीन और अर्वाचीन सभी चिन्तकों ने नाटच के उद्‌गम पर विचार, विश्लेषण एवं चिन्तन किया है। फलतः अनेक सिद्धान्तों एवं मान्यताओं का प्रवर्त्तन हुआ, अनेक पक्ष प्रस्तुत किये गये और उनकी सम्भावनाओं की परीक्षा की गई। किन्तु अद्यावधि कोई निर्भ्रान्त सिद्धान्त मान्य नहीं हो सका और न ऐसी सम्भावना ही दृष्टिगोचर होती है कि भविष्य में कोई निश्चित सिद्धान्त स्थापित किया जा सकेगा। कारण यह है कि भारतीय मनीषियों में इतिहास को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति कभी नहीं रही है और नाटच की दिशा में तो इस उपेक्षा की अधिकता ही पाई जाती है। शिलालेखों में कुछ-न-कुछ इतिहास अवश्य सुरक्षित रहा है, किन्तु नाटच की उत्पत्ति के विषय में शिलालेख भी मौन हैं। ऐसी स्थिति में चिन्तन, विवेचन एवं अनुमान प्रमाण पर ही आधारित रहना पड़ता है। इस सन्दर्भ में नाटचशास्त्रीय ग्रन्थों में प्रतिपादित वेद एवं धर्ममूलक सिद्धान्तों के साथ-साथ तत्सम्बन्धी अन्य मतों एवं वादों की भी समीक्षा कर एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयास करेंगे।

नाटचोत्पत्ति

नाटचशास्त्र एवं नाटचोत्पत्ति

भारतीय परम्परा के अनुसार सभी शास्त्रीय विषयों का उद्‌गम वेदों से माना जाता है और उनका सम्बन्ध देवों से जोड़ा जाता है। सम्भव है कि दैवी शक्तियों के आशीर्वादों की परिकल्पना अथवा उसकी पवित्रता प्रमाणित करने की दृष्टि से उसका सम्बन्ध देवों से स्थापित किया जाता रहा है। इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा महत्त्व प्रतीत नहीं होता है। नाटचशास्त्र में उपलब्ध नाटचोद्‌गम का इतिहास सम्भवतः विश्व में प्राप्त नाटचकला के उद्‌गम का सर्वाधिक प्राचीन विवरण है। नाटचशास्त्र के अनुसार वैवस्वत मन्वन्तर के त्रेतायुग के प्रारम्भ में जब लोग काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या एवं सुख-दुःखादि से अभिभूत हो गये थे, उस समय इन्द्र आदि देवताओं ने ब्रह्माजी के पास जाकर कहा कि 'भगवन्! हम लोग ऐसा क्रीडनीयक (मनोरञ्जन) चाहते हैं जो दृश्य एवं श्रव्य दोनों हो।' तब ब्रह्मा ने योग का आश्रय लेकर चारों वेदों का स्मरण कर यह संकल्प किया कि 'मैं इतिहास सहित एक ऐसे नाटच नामक पञ्चम वेद की रचना करता हूँ

जो धर्म, अर्थ एवं यश की प्राप्ति कराने वाला हो, उपदेश के योग्य हो, ज्ञान-संग्रह से युक्त हो, भावी जगत् के लिए समस्त कर्मों का पथप्रदर्शक हो, समस्त शास्त्रों के अर्थों से युक्त हो तथा सभी शिल्पों (कलाओं) का प्रवर्त्तक हो।' इस प्रकार विचार कर 'ऋग्वेद से पाठय, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रसों को ग्रहण करके नाट्य नामक पञ्चम वेद की सर्जना की, जो सभी वर्णों के लिए ज्ञेय था[१]।' भरत के व्याख्याकार अभिवनगुप्त उक्त कथन की पुष्टि करते हुए कहते हैं कि पाठ्य, गीत, अभिनय और रस—ये चारों नाट्य के प्रमुख तत्त्व हैं। ऋग्वेद त्रिस्वरप्रधान है। नाट्य के पाठ्य में भी तीन स्वरों का उपयोग होता है, अतः ऋग्वेद से पाठ्य को ग्रहण किया, जो नाट्य का उपकारक प्रधान तत्त्व है। सामवेद गीत्यात्मक है। गीति का पर्याय ही साम है। यजुर्वेद से याज्ञिक क्रियाओं में अध्वर्यु के द्वारा किये जाने वाले प्रदक्षिणाक्रम, लोहितोष्णीकधारण आदि अभिनयों का ग्रहण किया जाना स्वाभाविक है। अथर्ववेद से प्रशम, वेपथु आदि भावों से रसों को ग्रहण किया गया है[२]। इस प्रकार नाट्य की वेदरूपता सिद्ध होती है।

नाट्य-रचना के अनन्तर ब्रह्मा ने इन्द्र के अनुरोध पर भरतमुनि को नाट्य की शिक्षा देकर उन्हें अपने पुत्रों के साथ नाट्य का प्रयोग करने का आदेश दिया। तब भरतमुनि ने ब्रह्मा के आदेश से अपने शत पुत्रों को नाट्यकला में शिक्षित कर भारती, सात्त्वती और आरभटी वृत्तियों पर आश्रित अभिनय किया। तब ब्रह्मा ने उन्हें कैशिकी वृत्ति के भी संयोजन का आदेश दिया, किन्तु नारी पात्रों का अभाव होने से भरत ने कैशिकी वृत्ति के संयोजन में असमर्थता प्रकट की। तब ब्रह्मा ने अप्सराओं का सृजन कर उन्हें कैशिकी वृत्ति के अभिनय का भार देकर भरतमुनि को सौंप दिया। उसके बाद भरत ने इन्द्रध्वज-महोत्सव (इन्द्रमहः) के शुभ अवसर पर 'दैत्य-दानव-नाशन' नामक नाट्य प्रस्तुत किया, जिसमें दानवों के पराजय की कथा निबद्ध थी। इस प्रयोग को देखकर दैत्य-दानव क्रुद्ध होकर अभिनय में विघ्न डालने लगे। तब ब्रह्मा ने दैत्य-दानवों को समझा-बुझा कर शान्त करने का प्रयास किया, किन्तु वे शान्त न हुए। तब ब्रह्मा ने विश्वकर्मा को सर्वलक्षणसम्पन्न नाट्यमण्डप के सृजन करने का आदेश दिया और उन्होंने एक भव्य नाट्यमण्डप का निर्माण किया और नाट्यमण्डप की रक्षा के लिए देवताओं को नियुक्त किया। इसके बाद ब्रह्मा ने भरत को 'अमृतमन्थन' नामक समवकार दिखाने के लिए आदेश दिया। तब भरत ने हिमालय पर्वत के रमणीय रजतशृङ्ग पर पूर्वरङ्ग-विधान के साथ 'अमृतमन्थन' नामक समवकार का प्रदर्शन किया।

१. नाट्यशास्त्र, प्रथम अध्याय।

२. अभिनवभारती, प्रथम भाग पृ० १४-१५।

यहीं पर शिव के आदेश से भरत ने 'त्रिपुरदाह' नामक डिम का भी अभिनय किया। इस प्रयोग को देखकर शिव बहुत प्रसन्न हुए और भरत से कहा— मैंने विभिन्न करणों एवं अङ्गहारों से युक्त नृत्य का आविर्भाव किया है, उसे आप पूर्वरङ्ग में संयोजित कीजिए'। तब शिव के आदेश से तण्डु ने पूर्वरङ्ग की शोभा की वृद्धि के लिए अङ्गहारों का विधान किया। इसी अवसर पर शिव के अनुरोध पर पार्वती ने 'लास्य' (सुकुमार नृत्य) का भी प्रदर्शन किया[1]। इस प्रकार नाट्य में नृत्त, गान एवं भाण्डवाद्य की योजना की गई।

नाट्योत्पत्ति की कथा का विस्तार नाट्यशास्त्र के अन्तिम अध्याय में भी मिलता है। इस सन्दर्भ में वहाँ पर दो कथाएँ वर्णित हैं। प्रथम कथा के अनुसार भरतपुत्रों को अपने अभिनय-कौशल पर अभिमान हो गया था। अतः उन्होंने एक नाट्य-प्रदर्शन में मुनियों का अपमान कर दिया था। इस पर ऋषियों ने उन्हें श्राप दे दिया कि नाट्य के अभिनेता शूद्र हो जाँय और समाज में उन्हें प्रतिष्ठा न मिले[2]। तब से नाट्य-अभिनेता समाज में अच्छी दृष्टि से नहीं देखे जाते।

दूसरी कथा के अनुसार एक बार जब नहुष इन्द्र का पद पा गये तो स्वर्ग में उन्होंने अप्सराओं के द्वारा अभिनीत नाट्य-प्रयोग को देखकर कहा कि यह नाटच-प्रयोग भूलोक में हमारे घर पर भी अभिनीत होना चाहिए। तब देवताओं ने नहुष को समझाया कि ये अप्सराएँ मानव-लोक में अभिनय नहीं कर सकतीं और उन्हें सलाह दी कि यह कार्य वह भरत और उनके पुत्रों द्वारा ले जाकर करा सकते हैं। तदनन्तर नहुष के अनुरोध पर भरत ने अपने पुत्रों को नाट्य-प्रयोग के लिए भूतल पर भेजा। तब भरतपुत्रों ने मर्त्यलोक में आकर नहुष के अन्तःपुर में नाट्य का प्रदर्शन किया और कुछ दिन वहाँ रहकर नाट्यकला को भूलोक में प्रसारित किया तथा शाप का अवसान होने पर स्वर्गलोक को लौट गये[3]।

कुछ विद्वान् नाट्य का उद्गम अनार्य जाति में सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। उनका कहना है कि नाट्यशास्त्र के अन्तिम अध्याय में उल्लिखित 'नहुष' (न + हुत = हवन न करने वाला) अनार्य था। उसने नाट्य को स्वर्ग से मृत्युलोक में लाने के लिए भरत को प्रेरित किया तथा मुनियों द्वारा श्रप्त भरतपुत्रों द्वारा भूलोक में नाट्य का प्रदर्शन कराया था। किन्तु यह कथन निर्भ्रान्त नहीं प्रतीत होता, क्योंकि नहुष आयुष का पुत्र और पुरूरवा का पौत्र आर्य था।

---

१. नाट्यशास्त्र (गायकवाड़), प्रथम अध्याय।

२. नाट्यशास्त्र (गायकवाड़) ३७।४०।

३. वही, ३७।१-२३।

ऐसा प्रतीत होता है कि नाट्यकला के उद्गम के कुछ दिन पश्चात् उसे गर्हित समझा जाने लगा था और अभिनेताओं को समाज में अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता था। क्योंकि गौतमधर्मसूत्र[1] और मनुस्मृति[2] में अभिनेताओं के साथ शूद्रवत् व्यवहार करने का विधान बताया गया है।

अन्य नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ एवं नाट्योत्पत्ति

नन्दिकेश्वर के अभिनयदर्पण में भी नाट्योत्पत्ति की कथा किञ्चित् परिवर्त्तन के साथ नाट्यशास्त्र के अनुसार ही वर्णित है। नन्दिकेश्वर के अनुसार ब्रह्मा ने ऋक्, यजुः, साम और अथर्व से क्रमशः पाठ्य, अभिनय, गीत और रसों को ग्रहण कर नाट्यशास्त्र का सृजन कर भरतमुनि को दिया। भरत ने गन्धर्व एवं अप्सराओं के साथ शिव के समक्ष उस नाट्य का प्रयोग प्रस्तुत किया। शिव ने भरत के द्वारा प्रयुक्त उस अभिनय में उद्धत प्रयोगों को देखकर अपने गण तण्डु के द्वारा भरत को नृत्य की शिक्षा दिलायी। तण्डु के द्वारा प्रयुक्त वह नृत्य 'ताण्डव' कहलाया। बाद में पार्वती ने बाणासुर की दुहिता उषा को 'लास्य' (सुकुमार नृत्य) में दीक्षित किया और उषा ने व्रजवासिनी गोपियों को 'लास्य' नृत्य की शिक्षा दी। बाद में गोपियों द्वारा सौराष्ट्र की वनिताओं और सौराष्ट्र की वनिताओं द्वारा भिन्न-भिन्न प्रदेशों की युवतियों में प्रचलित हुआ[3]। इस प्रकार परम्परा द्वारा यह नाट्यकला पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ती रही और समस्त भूलोक में प्रतिष्ठित हो गई।

भावप्रकाशन के अनुसार नाट्यवेद के सर्जना का श्रेय शिव को प्राप्त है। तदनुसार शिव ने नाट्यवेद का सृजन कर नन्दिकेश्वर को प्रदान किया। तब नन्दिकेश्वर ने ब्रह्मा को नाट्यवेद की शिक्षा दी। तब ब्रह्मा ने भरतों को नाट्यवेद की शिक्षा देकर भूलोक में प्रयोग एवं प्रसारित करने का आदेश दिया[4]। इस प्रकार भावप्रकाशन के अनुसार नाट्यवेद का सम्बन्ध किसी एक भरत से न होकर अनेक भरतों से है और भूलोक में नाट्यावतरण का श्रेय नहुष को नहीं, अपितु मनु को प्राप्त है।

रसार्णवसुधाकर में नाट्यशास्त्रोक्त नाट्योत्पत्तिकथा का ही संक्षेप में उपबृंहण किया गया है। तदनुसार इन्द्र के अनुनय पर ब्रह्मा ने सार्ववर्णिक पञ्चम वेद की रचना कर प्रयोग के लिए भरत को दिया। भरत के द्वारा प्रयुक्त नाट्य को शाण्डिल्य, दत्तिल, मतङ्ग आदि आचार्यों ने भूतल पर प्रचारित किया। इस प्रकार रसार्णवसुधाकर के अनुसार नाट्य-सर्जना का श्रेय ब्रह्मा

---

१. गौतमधर्मसूत्र, १५।८।

२. मनुस्मृति, ८।६५; १०।१२।

३. अभिनयदर्पण, २–८।

४. भावप्रकाशन (गायकवाड़), २८४–२८५।

को प्राप्त है और भूतल पर प्रचारित करने का श्रेय शाण्डिल्य, दत्तिल आदि आचार्यों को है।

दशरूपक, नाटकलक्षणरत्नकोश, नाट्यदर्पण आदि ग्रन्थों में नाट्योत्पत्ति-विषयक विचारों में कोई मौलिकता दृष्टिगोचर नहीं होती। इनमें प्राप्त नाट्योत्पत्ति-विषयक विवरण भरतसम्मत ही प्राप्त होता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि भरत तथा अन्य नाट्याचार्य नाट्य के उद्गम का श्रेय ब्रह्मा को देते हैं तो शारदातनय को नाट्य का उद्गम शिव से मानने का क्या कारण हो सकता है। तार्किक दृष्टि से विचार करने पर शिव के द्वारा नाट्योद्गम का सिद्धान्त एक शाश्वत सिद्ध है। ताण्डव (उद्धत नृत्त) एवं लास्य का सम्बन्ध क्रमशः शिव एवं पार्वती से रहा है[1]। नृत्य की योजना नाट्य में अनुपेक्षणीय है। नाट्य, नृत्त और नृत्य—ये परस्पर शृङ्खलित रहते हैं। नाट्य के उद्गम में शिव के नटराज रूप के योगदान की परिकल्पना जितनी समीचीन प्रतीत होती है उतनी लिङ्गरूप की नहीं। यद्यपि शिवलिङ्गपूजा की पद्धति अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है,[2] अतः शिव का लिङ्गरूप भी नाट्योद्गम में सहायक रहा हो, यह असम्भव नहीं प्रतीत होता[3]। वैसे शिव का कोई भी रूप हो, चाहे वह लिङ्गरूप हो अथवा नटराज रूप हो, हैं तो दोनों शिव के रूप। अतः नाट्य के उद्गम एवं विकास में शिव के योगदान को नकारा नहीं जा सकता।

वस्तुतः सम्यग्दृष्टि से यदि देखा जाय तो नाट्य एवं नृत्य के उद्भव का सम्बन्ध शिव से ही रहा है। वे अपने विविध रूपों के द्वारा नाट्य एवं नृत्यकला को चतुर्दिक् मुखरित करते हैं। तभी तो इस नाट्य की व्यापकता और भी आलोकित हो उठती है। अतः वैदिक एवं लौकिक भावभूमि के परिप्रेक्ष्य में शिव को नाट्यवेद का सर्जक मानना उचित ही प्रतीत होता है।

प्रायः सभी नाट्याचार्य नाट्यशास्त्र की सर्जना का श्रेय ब्रह्मा को देते हैं। यहाँ यह विचारणीय है कि आखिर ये ब्रह्मा हैं कौन ? ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार सृष्टि-रचना करने वाले को ब्रह्मा कहा जाता है उसी प्रकार नाट्यवेद की रचना करने वाले को ब्रह्मा कहा जाने लगा होगा, जिसने मूल रूप में नाट्य, नृत्य और नृत्य की योजना कर नाट्यवेद का सृजन किया होगा। बाद में अनेक अङ्गोपाङ्गों के समावेश के साथ उस नाट्यवेद का पूर्ण

---

१. भावप्रकाशन, पृ० २९६-२९७ तथा नाट्यशास्त्र ४।२४६-२४७।

2. Primitive religion Seeks with phallic symbolism modern religion rilations at the imagery and refines the symbol. (Religion of Psychology. p. 15)

3. Comeontributions of the History of Hindu Drama. (M. M. chosh. p. 6)

विकास हुआ होगा और उसमें स्थानीय और सामाजिक तत्त्व भी सम्मिलित कर लिये गये होंगे[1]। सम्भवत: वे ब्रह्मा भरत ही रहे होंगे और इसी आधार पर 'ब्रह्मभरत' मत की कल्पना कर ली गई होगी[2]।

नाट्योत्पत्ति-विषयक आधुनिक मान्यताएँ

वैदिक संवाद-सूक्त—संवाद नाट्य की वह महत्त्वपूर्ण विधा है जो अभिनय की एक अनिवार्य आवश्यकता की पूर्त्ति करता है। ऋग्वेद में ऐसे अनेक सूक्त पाये जाते हैं जो 'संवाद-सूक्त' कहे जाते हैं और जिनमें नाट्यशैली का संवाद (कथोपकथन) उपलब्ध है। डॉ० कीथ ने इन संवादों को आख्यान कहा है। इन सूक्तों की संख्या अनिश्चित है, किन्तु लगभग १५ सूक्त ऐसे हैं जिनका संवादरूप स्पष्ट है और जिनमें कुछ सूक्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इस दृष्टि से यम-यमी संवाद (१०।१०), पुरूरवा-उर्वशी संवाद (१०।९५), इन्द्र-मरुत् संवाद (१।६५,७०), विश्वामित्र-नदी संवाद (३।३३), इन्द्र-इन्द्राणी-वृषाकपि संवाद (१०।८६), सरमा-पणि संवाद (१०।१०८), अगस्त्य-लोपामुद्रा संवाद (१।१७९) आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त ऋग्वेद में कुछ ऐसे सूक्त भी हैं, जिनमें संवादात्मक तत्त्व वर्तमान हैं और उनमें अभिनय-शैली की रूप-रेखा खोजी जा सकती है।

मैक्समूलर इन्द्र-मरुत्-सूक्त के प्रसङ्ग में अपना विचार प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि मरुत्-सूक्त को अभिनय करने के लिए कतिपय ऋषि इन्द्र का प्रतिरूपण करते होंगे और कतिपय मरुत् एवं उनके अनुयायियों का रूप धारण करते होंगे तथा उसी वेश में उनका संवाद चलता होगा। प्रो० लेवी ने मैक्समूलर के तर्क का समर्थन करते हुए यहाँ तक कहा है कि ऋग्वेद में ऐसे प्रकरण आये हैं जिनसे ज्ञात होता है कि उस समय बालाएँ सुन्दर वेश-भूषा धारण कर नृत्य करती थीं और रसिकों (प्रेमियों) को अपनी ओर आकर्षित करती थीं। सामवेद से सूचित होता है कि उस समय तक संगीत-कला का विकास हो चुका था और अथर्ववेद (७।१।४०) से ज्ञात होता है कि पुरुष वाद्य की गत पर नाचते और गाते थे[3]। इससे ज्ञात होता है कि उस समय नाटकीय प्रदर्शन होते थे और ऋत्विक् लोग देवलोक की घटनाओं की अनुकृति भूतल पर प्रस्तुत करने के लिए देवताओं और ऋषियों की भूमिका ग्रहण करते थे।

श्रोडर महोदय का कथन है कि ऋग्वेद के ये सूक्त संवादात्मक और कुछ एकालाप (स्वगत-कथन) वैदिक रहस्यों के अवशेष मात्र हैं, जो बीज रूप में

---

१. भारतीय नाट्यशास्त्र और रङ्गमञ्च, पृ० ४२।

२. आचार्य नन्दिकेश्वर और उनका नाट्यसाहित्य, पृ० ३५।

३. संस्कृत नाटक (कीथ), पृ० ४।

भारोपीय काल के ऋणी हैं। उनका कहना है कि ये वैदिक संवाद सृष्टि-प्रक्रिया के अनुकरण रूप हैं और बीज रूप में रहस्यात्मक रूपक हैं। यम-यमी संवाद (१०।१०), वृषा-कपि संवाद (१०।८६), अगस्त्य-लोपामुद्रा संवाद (१।१८९) एक प्रजनन-सम्बन्धी रूपक के रूप में परिणत होते हैं।

सोमसूक्त (१०।११९) और मण्डूकसूक्त (७।१०३) एक एकालाप हैं। सोमसूक्त में एक पुरोहित इन्द्र का रूप धारण कर एकालाप द्वारा सोम की प्रशंसा करता है। मण्डूकसूक्त में ब्राह्मण लोग मेढकों का चेहरा लगाये हुए वृष्टि-प्राप्ति के लिए टोटके रूप में नृत्य करते हुए मन्त्रों को गाते थे। श्रोडर इन्हें धार्मिक नाटक मानते थे। उनका लोक-पक्ष अपरिष्कृत रूप में बंगाल के सुप्रसिद्ध यामाओं में आज भी सुरक्षित है और परिष्कृत वैदिक रूप विलीन हो गया[1]।

डॉ० हर्टल के अनुसार ये वैदिक संवादसूक्त रहस्यात्मक अभिनय हैं। क्योंकि ये सूक्त हमेशा गाये जाते रहे हैं। एक ही व्यक्ति द्वारा विभिन्न पात्रों द्वारा कहे हुए संवादों को गान करने में एक अस्पष्टता का भय रहता है कि कहीं श्रोता व्यक्ति-विशेष का कथन दूसरे का न समझ ले। अतः विभिन्न पात्रों के कथन को विभिन्न ऋषि रूप धारण कर गाया करते होंगे[2]। डॉ० हर्टल 'सुपर्णाध्याय' में वास्तविक नाटक का विकसित रूप खोजने का प्रयास करते हैं। ऋग्वेद में बीज रूप में वैदिक नाटक का प्रारम्भिक रूप मिलता है और 'सुपर्णाध्याय' में उसका अधिक विकसित रूप और यामाओं में प्राचीन रूप की अनुवृत्ति देखी जा सकती है। इससे हमें वैदिक नाटक से लौकिक संस्कृत नाटक के विकास को समझने में सहायता मिलती है। किन्तु इस विषय में श्रोडर और हर्टल दोनों में मतैक्य नहीं दिखाई देता है। प्रो० श्रोडर यामाओं को परवर्त्ती नाट्य-विकास से सम्बद्ध मानते हैं, जिनका विकास विष्णु-कृष्ण एवं रुद्र-शिव के भक्ति-विकास के साथ हुआ था[3]। किन्तु डॉ० कीथ प्रो० श्रोडर और हर्टल के मतों से पूर्णतया सहमत नहीं है। उनका कहना है कि इन वैदिक संवादसूक्तों को नाटकीय संवाद नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है।

इस प्रकार ज्ञात होता है कि ऋग्वेद काल में अभिनय-कला के जानकार लोग थे। जिनमें पुरोहित लोग देवलोक की घटनाओं को भूतल पर अनुकरण करने के लिए देवताओं और ऋषियों की भूमिका ग्रहण करते थे[4]। यही नाट्यकला का प्रारम्भिक रूप था और यहीं से नाट्यकला विकसित हुई।

---

१. संस्कृत नाटक (कीथ), पृ० ५।

२. वही, पृ० ६।

३. वही, पृ० ६।

४. वही, पृ० ३।

ओल्डेनबर्ग, पिशेल और प्रो० विण्डिश प्रभृति विद्वानों के अनुसार इन संवादसूक्तों में गद्य-पद्य दोनों का मिश्रण रहा होगा, जिसे नाटक के गद्य-पद्यात्मक रूप का स्रोत माना जा सकता है। कालक्रम के अनुसार गद्यभाग नष्ट हो गया और पद्यभाग सुरक्षित बचा रहा। किन्तु वैदिक-साहित्य में कहीं कोई ऐसा प्रमाण उपलब्ध नहीं होता जिससे यह माना जाय कि वेद-मन्त्रों के साथ गद्य का भी अस्तित्व रहा होगा और उसे नाट्य का स्रोत माना जा सके।

वैदिक कर्मकाण्ड—ऋग्वेद में कुछ ऐसे सूक्त पाये जाते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि वैदिक कर्मकाण्ड या अनुष्ठानिक विधियों में नाटकीय तत्त्व अन्तर्हित थे। याज्ञिक अनुष्ठान में केवल मन्त्र-गान एवं स्तुति-पाठ ही नहीं सम्मिलित था, बल्कि कुछ रोचक संवाद भी होते थे, जिनमें नाटकीय प्रदर्शन के तत्त्व भी निहित थे। जो सम्भवतः जन-समाज के मनोरञ्जन के लिए किये जाते रहे होंगे। अग्निष्टोम याग में सोमयज्ञ के अनुष्ठान में इसका एक रोचक उदाहरण प्राप्त होता है। सोमविक्रेता सोम बेचने के लिए आता है। यजमान या पुरोहित से उसका मोल-भाव होता है और जब सौदा पट जाता है तो उसकी पिटाई कर दी जाती है और मूल्य दिये बिना ही उसे भगा दिया जाता है। कात्यायन-श्रौतसूत्र में प्राप्त विवरण से ज्ञात होता है कि यह वास्तव में सोम का क्रय-विक्रय नहीं है। अध्वर्यु ही संवाद को नाटकीय रूप प्रदान करने के लिए अपने में से ही किसी व्यक्ति को सोम देकर उसे सोमविक्रेता की भूमिका अदा करने के लिए कहता है। संवाद को रोचक बनाने के लिए वाद-विवाद होता है, झड़पें होती हैं और पात्र नाटकीय ढंग से अनुकरणात्मक भूमिका करते हैं। यह एक प्रहसनात्मक नाटकीय विधान प्रतीत होता है, जो अनुष्ठान को चमत्कारपूर्ण बनाने के लिए किया जाता रहा होगा और बाद में उसे अनुष्ठान के विधि-विधानों में जोड़ लिया गया होगा[१]।

वैदिक कर्मकाण्ड का एक महत्त्वपूर्ण अनुष्ठान 'महाव्रत' है। यह अनुष्ठान शीतकालीन सूर्य को शक्तिशाली बनाने के उद्देश्य से किया जाता था। शीत और ग्रीष्म का परस्पर संघर्ष होता था। शीत का प्रतिनिधित्व कृष्णवर्ण के शूद्र करते थे और ग्रीष्म का प्रतिनिधित्व गौरवर्ण के वैश्य करते थे। इस अनुष्ठान में नाट्य के समान ही नाटकीय तत्त्व उपलब्ध होते हैं। सोमयाग के महाव्रत के अनुष्ठान में ब्रह्मचारी और पुंश्चली गणिका का एक लोकप्रिय रोचक उपाख्यान प्राप्त होता है, जिसमें ब्रह्मचारी और पुंश्चली गणिका परस्पर आरोप-प्रत्यारोप करते हुए, तानें मारते हुए तथा एक-दूसरे को गाली देते हुए वाक्य प्रयुक्त करते हैं[२]। नाटकीय दृष्टि से यह संवाद एक प्रहसनात्मक

---

१. संस्कृत-नाटक (कीथ), पृ० १३। भारतीय नाट्य : स्वरूप और परम्परा, पृ० ६०—६२।

२. संस्कृत-नाटक (कीथ), पृ० १४। भारतीय नाट्य : स्वरूप और

नाटक है। इसमें नाट्य जैसा अनुकरण पाया जाता है, किन्तु इस संवाद के वाक्यों में अश्लीलता है, जो सामाजिक दृष्टि से अनुचित है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय यज्ञों के अवसर पर जन-समाज के मनोरञ्जन के लिए इस प्रकार के कुछ हल्के-फुल्के अभिनय किये जाते रहे होंगे।

डॉ० कीथ इन संवादों को चाहे वे कर्मकाण्डीय संवाद हो अथवा अन्य संवाद, नाटकीय संवाद नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि ये संवाद नाटकीय नहीं, बल्कि पौरोहित्य हैं, क्योंकि उनमें अनुकरणीयता नहीं है और नाटक का मूल आधार अनुकरण है। ऋग्वेद के इन संवादों में नाटक-बीज भले ही विद्यमान हैं, किन्तु उन्हें नाटका का आदि रूप नहीं माना जा सकता।

वैदिक सूक्तों के अध्ययन के पश्चात् यह निष्कर्ष निकलता है कि इन वैदिक संवादों को नाटक का मूल नहीं माना जा सकता, क्योंकि इन सूक्तों में अभिनेयता नहीं है, ये केवल संवादमात्र हैं, कथोपकथन हैं। अभिनयतत्त्व के अभाव में संवाद केवल कथोपकथन रह जाते हैं। कथोपकथन में जब तक आङ्गिक अभिनय का समावेश न हो और भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना कर दृश्यों को जब तक रस से ओत-प्रोत न कर दिया जाय तब तक उसे 'नाटच' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। दूसरे ऋग्वेद में इस प्रकार के सङ्केत कहीं नहीं मिलते, जिनसे आङ्गिक अभिनय के समावेश का संकेत हो और भावात्मक स्थिति की उद्भावना कर दृश्यों को रसाप्लावित किया गया हो। इन संवाद-सूक्तों में केवल प्रश्नोत्तर अथवा साधारण कथोपकथन मात्र हैं। अतः यह कहना समीचीन प्रतीत नहीं होता कि इन संवादसूक्तों से नाटच का उद्गम हुआ होगा[1]। और यह उचित प्रतीत नहीं होता कि सदाचार युक्त वैदिक ऋषि यज्ञानुष्ठान के पावन अवसर पर ब्रह्मचारी-पुंश्चली संवाद जैसे अश्लील संवाद वैदिक अनुष्ठान के विधि-विधान के अङ्ग रूप में प्रयुक्त करते रहे होंगे और उक्त अवसर पर मिथुन नृत्य करते रहे होंगे तथा यह भी सम्भव प्रतीत नहीं होता कि इन सूक्तों का गायन होता रहा होगा, जब कि गायन के लिए अलग से सामवेद था और उसके प्रस्तोता को 'उद्गाता' कहा जाता था। और ओल्डनवर्ग और पिशेल का यह सिद्धान्त भी प्रामाणिक नहीं माना जा सकता कि वैदिक सूक्तों में गद्य-पद्य का मिश्रण ही भारतीय नाटचकला के उद्गम का स्रोत है। क्योंकि इसका कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

शैव-सम्प्रदाय और नाटचोत्पत्ति

नाटचशास्त्र में उपलब्ध वृत्तों से ज्ञात होता है कि 'ताण्डव' और 'लास्य'

परम्परा, पृ० ६०–६२ (कात्यायनश्रौतसूत्र १३।३६–३७) तथा लाट्यायन-श्रौतसूत्र ४।३।९–१२)।

१. भारतीय नाटचशास्त्र और रङ्गमञ्च, पृ० ४४।

नृत्यों का सम्बन्ध क्रमशः शिव और पार्वती से रहा है[1]। कहा जाता है कि एक समय सन्ध्याकाल में परमशिव शिव हिमालय के रमणीय रजतशृङ्ग पर नृत्त कर रहे थे कि आनन्द-विभोर होकर पार्वती भी नाचने लगी। शिव का वह नृत्य ताण्डव था और पार्वती का लास्य। मालविकाग्निमित्र में कहा गया है कि अर्द्धनारीश्वर शिव ने उमा से विवाह करके अपने ही अङ्ग में 'ताण्डव' और 'लास्य' को दो भागों में विभक्त कर दिया था[2]। नाट्य एवं नृत्य के उद्भव एवं विकास में भगवान् शिव 'नटराज' के रूप में विश्रुत रहे हैं, अतः उन्हें 'नटराज' कहा जाता है। उनका यह नटराज रूप सृष्टि की आनन्दात्मक प्रक्रिया का प्रतीक है, सृष्टिचक्र आनन्दरूप है, नाट्य भी आनन्दरूप है, रसरूप है; क्योंकि रससमुदाय ही नाट्य है[3]। इस प्रकार नाट्य के उद्गम में शिव का दायित्व एक शाश्वत सत्य है। शिव जनदेवता हैं, उन्होंने जन-समाज के चित्तानुरञ्जन के लिए नाट्य का आविष्कार किया था।

नृत्यकला एवं नाट्योत्पत्ति

ओल्डेनवर्ग के अनुसार नाट्य के उद्गम का स्रोत धार्मिक नृत्य है। उनका कहना है कि आङ्गिक अभिनय के साथ यह नृत्य पहले गीत से संयुक्त हुआ होगा और बाद में संवाद से[4]। क्योंकि नाट्यशास्त्र के इतिहास में नाट्य का सम्बन्ध नृत्य से रहा है। मैक्डानल ने नृत्य से नाट्य का उद्गम माना है[5]। पहले शिव ने नृत्य का आविष्कार किया। बाद में जब नृत्य में संवाद का समावेश हुआ होगा और नृत्य ने नाट्य का रूप धारण कर लिया होगा तब भरत शब्द नट के लिए प्रयुक्त होने लगा होगा। अतः नृत्य से नाट्य का उद्गम मानने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती।

नाट्योत्पत्ति एवं अन्य मत

पुत्तलिका-नृत्यवाद—जर्मन विद्वान् डॉ० पिशेल पुत्तलिका-नृत्य से नाट्य का उद्गम मानते हैं। उनका कहना है कि पुत्तलिका-नृत्य सर्वप्रथम भारत में प्रचलित हुआ और यहीं से यूनान आदि देशों में पहुँचा। पुत्तलिका-नृत्य का प्राचीनतम विवरण हमें संस्कृत-साहित्य में मिलता है। कथासरित्सागर के अनुसार

---

१. नाट्यशास्त्र (गायकवाड़), पृ० २४९-२५१।

२. रुद्रेणेदमुमाव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा ॥

(मालविकाग्निमित्र १।४)

३. नाट्यात् समुदायरूपाद्रसाः। यदि वा नाट्यमेव रसाः। रससमुदायो हि नाट्यम्। (अभिनवभारती, भाग १ पृ० २९०)

भरत और भारतीय नाट्यकला, पृ० ७४।

४. संस्कृत-नाटक (कीथ), पृ० १६।

५. संस्कृत लिटरेचर (मैक्डानल), पृ० ३४७।

मयदानव की पुत्री सोमप्रभा ने अपनी सहेली कलिंगप्रभा को ऐसी पुत्तलियाँ भेंट की थीं जो बोल सकती थीं, नृत्य कर सकती थीं, उड़ सकती थीं और जल तथा फूल-माला भी ला सकती थीं[१]। राजशेखर के बालरामायण में कठपुतलियों का जो विवरण प्राप्त होता है तदनुसार सीता के सदृश बनायी गयी पुतली से रावण भी धोखा खा जाता है। पुतली के मुख में एक तोता रखा हुआ था, जो रावण के प्रश्नों का उत्तर देता था[२]। शङ्करपाण्डुरङ्ग पण्डित के अनुसार कन्नड़ प्रदेश में इस प्रकार की रङ्गशालाएँ विद्यमान थीं, जहाँ कठपुतलियों का नृत्य दिखाया जाता था। ये पुतलियाँ कागज या काठ की बनी हुई होती थीं, जो खड़ी हो सकती थीं, लेट सकती थीं, दौड़ सकती थीं, नाच सकती थीं तथा लड़ सकती थीं। ये पुतलियाँ एक डोरे में बँधी होती थीं, जिसे पकड़ कर एक व्यक्ति नचाया करता था, जो सूत्रधार कहलाता था[3]। डॉ० पिशेल[४] ने भारतीय नाटकों के प्रसिद्ध पात्र 'सूत्रधार' अभिधान को इसी क्रम से जोड़ते हुए माना है कि इसी के आधार पर नाटकों के प्रयोक्ता को सूत्रधार कहा जाने लगा होगा, क्योंकि नाटक का समस्त संचालन उसी के हाथ में रहता है। इसीलिए नाटक में प्रयुक्त 'स्थापक' शब्द भी रङ्गमञ्च पर पात्रों को लाकर व्यवस्थित करने के कारण स्थापक या व्यवस्थापक कहलाने लगा होगा। अतः पुत्तलिका नृत्य को नाटक का उद्‌गम-स्रोत मानने में कोई बाधा नहीं प्रतीत होती।

डॉ० पिशेल के पुत्तलिका-नृत्य से नाटचोद्‌गम के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए डॉ० हिलब्राण्ड[५] कहते हैं कि सूत्रधार शब्द का सम्बन्ध पुत्तलिका-नृत्य से नहीं जोड़ा जा सकता है, क्योंकि सूत्रधार नाटक में कथावस्तु का संक्षेप में वर्णन करता है। इसलिए सूत्रधार कहलाता था, सूत्र को धारण करने के कारण नहीं। दूसरे पुत्तलिका-नृत्य में सूत्रधार शब्द का प्रयोग बाद का है, जब कि नाटक में सूत्रधार शब्द का प्रयोग सदियों पूर्व आ चुका था। अतः पुत्तलिका-नृत्य को नाटच के उद्‌गम का स्रोत नहीं माना जा सकता। क्योंकि नाटच की उत्पत्ति पुत्तलिका-नृत्य के बहुत पहले हो चुकी थी। पुत्तलिका शब्द के व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ से प्रतीत होता है कि पुत्तली शब्द पहले बालक-बालिकाओं के खिलौनों (गुड़ियों) के लिए प्रयुक्त होता रहा होगा। वहीं से वह पुत्तलिका नृत्य के रूप में परिणत हो गया होगा।

छाया-नाटचवाद—नाट्यशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् डॉ० ल्यूडर्स एवं कोनो महोदय छायानाट्य से नाट्य का आरम्भ स्वीकार करते हैं। उनका कहना है

---

१. कथासरित्सागर-सन्दर्भ : संस्कृत-नाटक (कीथ), पृ० ४४।

२. बालरामयण (राजशेखर), अङ्क ५।

३. संस्कृत-नाटक (कीथ), पृ० ४४।

४. वही।

५. वही।

कि प्राचीन काल में छायानाट्यों के अभिनय का संकेत मिलता है। पातञ्जल महाभाष्य में नाटकों के प्रसङ्ग में सौमिकों का नाम आया है। ये मूक अभिनय का प्रदर्शन करते थे। इन मूक-छाया अभिनयों को यवनिका के पीछे उपस्थित पात्रों की मूक छायाओं के माध्यम से कथा का प्रदर्शन किया जाता था। इससे ज्ञात होता है कि नाट्य के पूर्व यह कला प्रचलित थी और कालान्तर में इसी से नाट्य का उदय हुआ[1]। उन्होंने महाभारत[2] में उल्लिखित 'रूपजीविन्' तथा वराहमिहिर[3] का 'रूपजीवी' शब्द छायानाट्य के अर्थ में प्रयुक्त माना है, किन्तु नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में छाया-शैली के नाट्य का कोई विवरण उपलब्ध नहीं होता। उत्तररामचरित नाटक में सीता की छाया के प्रवेश का विवरण प्राप्त होता है[4]। रत्नावली, प्रबोधचन्द्रोदय और दशकुमारचरित आदि ग्रन्थों में ऐन्द्रजालिक की क्रियाओं का वर्णन छायानाट्य की ओर संकेत करता है। ऐन्द्रजालिक वस्तुतः छायानाट्यकार है[5]। किन्तु ये विवरण इतने परवर्ती हैं कि इन्हें नाट्य के उद्गम का स्रोत स्वीकार नहीं किया जा सकता।

वीरपूजा एवं प्रेतात्मवाद--प्रो० रिजवे का मत है कि नाट्य के उद्गम के मूल प्रेरक तत्त्व 'वीरपूजा' है। वीरपुरुषों के प्रति आदरभाव प्रकट करने के लिए विविध अभिनयों के साथ उत्सव मनाया जाता था। इसी से नाट्य का उद्गम हुआ होगा। प्रो० रिजवे का कहना है कि प्राचीनकाल में मृतात्माओं (मृत वीरपुरुषों) की स्मृति में समय-समय पर सम्मान एवं शान्ति के लिए लोकनृत्य, गायन, वादन आदि का अभिनय करते थे। नर्त्तक वीणा एवं वंशी की गति पर नाचते थे। प्रो० रिजवे के अनुसार इसी से नाट्य का आरम्भ हुआ होगा[6]। किन्तु यह मत इसलिए तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता कि प्रारम्भ से संस्कृत-नाटकों के अभिनय उत्सवों, पर्वों, त्योहारों एवं अन्य शुभ अवसरों पर किये जाते थे। अतः उक्त मत स्वीकार्य नहीं है।

लोकोत्सव एवं लोकनृत्य—नाट्य के उद्गम में लोक-परम्पराओं, लोकोत्सवों एवं लोकनृत्यों का कम दायित्व नहीं रहा है। लोक-परम्परा में रामलीला, कृष्णलीला, होलिकोत्सव, दुर्गापूजनमहोत्सव आदि परम्पराएँ धर्म से अनुप्राणित रही हैं। इन्हीं से नाट्य की प्रेरणा मिली होगी। प्रातःकाल सुनहरे वस्त्र पहनी हुई, इठला-इठला कर नृत्य करती हुई उषा का अभिनय, झूमती हुई मस्त हवाओं का नर्त्तन, फुदक-फुदक कर चहकती हुई चिड़ियों का

---

१. संस्कृत-नाटक (कीथ), पृ० ४५-४९।
२. महाभारत ७।२९५।५।
३. बृहत्संहिता ५।७४।
४. उत्तररामचरित, तृतीय अङ्क।
५. संस्कृत-नाटक (कीथ), पृ० ४७।
६. संस्कृत-नाटक (कीथ), पृ० १६।

नृत्य-संगीत, कमलवन में इठलाते हुए भ्रमरों के मधुर-गीत, केकाध्वनि के साथ मयूरों का नर्तन, प्रकृति-वधू के मनोहारी हाव-भावों को देखकर स्वभावतः ही मनोमयूर नाच उठता है। ऐसे प्राकृतिक वातावरण से नाट्य एवं नृत्य की उत्पत्ति हुई होगी और सर्वप्रथम उसका रूप लोकाभिनय एवं लोकनृत्य रहा होगा तथा बाद में संस्कृत एवं परिष्कृत होने के बाद उसे शास्त्रीय रूप मिला होगा।

पातञ्जल महाभाष्य में उल्लिखित 'कंस-वध'[1] नाटक का मूल प्राकृतिक परिवर्त्तन ही प्रतीत होता है, क्योंकि इस नाटक के अभिनय में कृष्ण के अनुयायी लाल कपड़े पहनते थे और कंस के अनुयायी काले कपड़े पहनते थे। लाल कपड़े वसन्त के प्रतीक माने जाते थे और काले कपड़े हेमन्त के। सम्भवतः वसन्त की विजय और हेमन्त की पराजय के प्रतीक रूप में यह अभिनय किया जाता रहा होगा। इसी प्रकार होलिकोत्सव के मूल में विष्णु के द्वारा हिरण्यकशिपु के वध पर धर्म की विजय एवं अधर्म के पराजय का उल्लास प्रतीत होता है। यह लोकोत्सव के रूप में मनाया जाता था, इन्द्रध्वजोत्सव भी इसी प्रकार का एक महत्त्वपूर्ण लोकोत्सव था। सम्भवतः यह उत्सव शारदोत्सव के रूप में मनाया जाता था। इन्द्रध्वज के द्वारा ही इन्द्र ने असुरों को जर्जर किया था[2]। इसी इन्द्रध्वजोत्सव के समान ही योरोप में मई मास में मई-दिवस के रूप में एक सामूहिक महोत्सव मनाया जाता था, जिसे 'मेपोल-नृत्य' कहते थे। इस उत्सव में मई के प्रतीक रूप में एक बाँस गाड़ा जाता था, जिसके चारों ओर युवती स्त्रियाँ सज-धजकर नाचती थीं। यह एक लोकनृत्य के रूप में प्रचलित था। इसमें बाँस की कल्पना नाट्यशास्त्रोक्त जर्जर के अनुकरण पर की गई प्रतीत होती है। विद्वानों की धारणा है कि इसी इन्द्रध्वज महोत्सव से नाट्य का उद्गम हुआ होगा, किन्तु इस धारणा के पीछे 'मेपोल-नृत्य' का प्रभाव परिलक्षित होता है।

निष्कर्ष—भारतीय नाट्यकला के उद्गम के सम्बन्ध में विविध मत निर्दशित किये गये हैं और उनकी समीक्षा की गई है। उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रारम्भ में मानव की क्रीड़ा एवं अनुकरण की स्वाभाविक प्रवृत्ति ने ही नाट्यकला को जन्म दिया होगा, जिनके मूल में प्राकृतिक वातावरण का प्रभाव अवश्य रहा होगा; जिसका लेखा-जोखा प्रस्तुत कर सकना आज के साधनों से परे है। बालक जब पैदा होता है तभी से ही उसमें अनुकरणात्मक प्रवृत्ति सहज रूप में देखी जाती है। शनैः-शनैः जैसे-जैसे उसमें परिवर्त्तन होता है, वैसे-वैसे उसके स्वभाव में भी परिवर्त्तन होता जाता है। युवावस्था के प्रथम सोपान पर आरूढ़ होते ही उसमें उच्छृंखल परिवर्त्तन

१. महाभाष्य ३।१।२७।

२. नाट्यशास्त्र १।७२–७३।

होता है, स्वभाव में उन्माद का प्रवेश होता है। शारीरिक क्रियाओं एवं अङ्गसञ्चालनादि में भी नवीन स्फूर्त्ति पैदा होती है और वह स्वच्छन्द क्रीड़ा के लिए उतावला हो जाता है[१] इस स्वच्छन्द क्रीड़ात्मक क्रीड़ा-प्रवृत्ति के फल-स्वरूप ही नृत्य एवं संगीत का जन्म हुआ होगा, क्योंकि यौवन के उन्माद में भावों को प्रकट करने के ये ही साधन रहे होंगे। प्रारम्भ में वह नृत्य मूकनृत्य के रूप में रहा होगा और धीरे-धीरे वह भावाभिनय के रूप में परिणत हो गया होगा। फिर उसमें अनुकरणात्मक प्रवृत्ति जागी होगी और फिर इसमें पूर्ण नाट्यपदवी पर पहुँचा होगा। इस प्रकार नृत्य, भाव और अभिनय के सम्मिलित रूप से नाट्य का जन्म हुआ होगा और बाद में उसमें गीत की योजना हुई होगी।

हमारा भारतीय इतिहास वेदों से प्रारम्भ होता है। अतः भारतीय परम्परा वेदों को ही समस्त विद्याओं का स्रोत मानती है और उनका सम्बन्ध देवों से जोड़ती है। हम उस मान्यता का आदर करते हैं और नाट्यकला की पूर्णता और विकास में उनका सहयोग अनुपेक्षणीय मानते हैं, किन्तु नाट्यकला का उद्गम उससे बहुत पहले आदिम युग में हो चुका था, जो लोकाभिनय एवं लोकनृत्य के रूप में समाज में प्रचलित रहा है। प्रागैतिहासिक युग के कुछ अवशेष प्राप्त हुए हैं, जिनमें कुछ देव-देवाङ्गनाओं, नर्तक-नर्तकियों की मूर्त्तियाँ भी हैं, जो तत्कालीन नाट्य एवं नृत्य के स्वरूप को स्पष्ट करती हैं। मोहन-जोदड़ो नामक स्थान पर एक कांस्यमूर्त्ति उपलब्ध हुई हैं, जिसमें नृत्य करती हुई एक सुकोमल नारी का ललित अभिनय अङ्कित है। नर्तकी का शरीर प्रायः अनावृत अवस्था में है, केश जूड़े में आबद्ध है, गले में हंसुली और दोनों हाथों में बाहुओं तक चूड़ियाँ पहने हुई है, दाहिना पैर एक स्थान पर स्थित है और बाँया पैर पादाभिनय की स्थिति में कुछ आगे बढ़ा हुआ है। दाहिना हाथ कमर पर स्थित है और बाँया हाथ नीचे की ओर लटका हुआ है। ऐसा लग रहा है कि मानो नर्तकी अभी थिरक उठेगी[१]। इस मूर्त्ति में अभिनय का सुन्दरतम रूप अभिव्यक्त होता है। इसके अतिरिक्त हड़प्पा में नृत्यरत पुरुष की खण्डित पाषाण-मूर्त्ति प्राप्त हुई है। नर्तक का दाहिना पैर भूमि पर स्थित है और बाँया पैर नृत्यक्रिया में ऊपर उठा हुआ है[२]। नृत्यविशारद इसे नटराज शिव का स्वरूप मानते हैं। मूर्त्ति के खण्डित होने से उसमें अङ्कित अभिनय के यथार्थ स्वरूप का परिचय तो नहीं मिलता, किन्तु तत्कालीन अभिनय का परि-चायक होने के कारण उसका महत्त्व है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस आदिम युग में जब भाषा का उदय नहीं हुआ होगा, मानव अङ्ग-संचालन द्वारा अपने भावों को व्यक्त करता रहा होगा और जब उसमें गति और भाव सम्मिलित

१. भारतीय संगीत का इतिहास, पृ० १५।
२. वही।

हुए होंगे तो वह नृत्य कहा जाने लगा होगा। बाद में इसमें संवाद (कथोपकथन), फिर संगीत का समावेश होने पर अभिनय या नाट्य का स्वरूप धारण कर लिया होगा, जिसे लोकोत्सवों के अवसर पर प्रदर्शित किया जाता रहा होगा। यही अभिनयकला का प्रारम्भिक रूप रहा होगा। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से अवशेष प्राप्त हुए हैं, जिनसे तत्कालीन अभिनय एवं नृत्यकला की समृद्धि का पता चलता है। इससे ज्ञात होता है कि वैदिक काल के बहुत पहले नृत्य एवं अभिनयकला लोकनृत्य एवं लोकाभिनय के रूप में विद्यमान रहे हैं और धार्मिक त्योहारों एवं लोकोत्सवों पर जनरञ्जनार्थ नृत्य एवं अभिनय किये जाते थे।

वस्तुतः नाट्यकला का उद्गम सर्वप्रथम इन्हीं लोकाभिनयों एवं लोकनृत्यों के रूप में हुआ और उन पर प्राकृतिक वातावरण का प्रभाव भी रहा होगा। क्योंकि नाट्योद्गम के सम्बन्ध में आधुनिक विचारकों द्वारा प्रस्तुत किये गये मतों में कोई भी मत ऐसा नहीं प्रतीत होता, जिसे सर्वमान्य कहा जा सके। क्योंकि उन्होंने अपने मतों के समर्थन में जो भी साधन प्रस्तुत किये हैं, नाट्य का उद्गम उन सभी साधनों से पहले हो चुका था।

अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ये लोकाभिनय, लोकनृत्य या लोकोत्सव ही नाट्यकला के स्रोत रहे हैं और इन्हीं से नाट्य की सृष्टि हुई है।

नाट्यकला का विकास

नाट्यकला के विकास का इतिहास मानव-जीवन के इतिहास के साथ जुड़ा हुआ है। मानव-जीवन की प्रभात-वेला में नाट्यकला का उद्गम हुआ और जैसे-जैसे मानव-जीवन में विकास हुआ वैसे-वैसे नाट्य के क्षेत्र में भी विकास होता रहा है। प्रागैतिहासिक युग में मोहञ्जोदड़ो और हडप्पा नामक स्थानों में जो उत्खनन हुआ है, उनमें प्राप्त अवशेषों से तत्कालीन सभ्यता और संस्कृति का परिचय प्राप्त होता है। उनमें प्राप्त मूर्त्तियाँ तत्कालीन नाट्य एवं नृत्यकला का स्वरूप स्पष्ट करती हैं[1]। मोहञ्जोदड़ो और हडप्पा में जो मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई हैं उसके देखने से ज्ञात होता है कि उस समय नाट्यकला (अभिनय) एवं नृत्यकला विकसित हो चुकी थी और उनका समाज में पर्याप्त प्रचलन हो चुका था। नर्तक-नर्तकियों की वेश-भूषा, हस्त-पादादि की स्थिति, भावों की अभिव्यक्ति आदि तत्कालीन अभिनयकला की समृद्धि का परिचय देते हैं। इनके अतिरिक्त भी भीमवेटका की गुफाओं में आदिम नृत्य के कई रूप अङ्कित हैं[2]। नृत्य में मुखौटों के प्रयोग के भी संकेत मिलते हैं।

---

१. आचार्य नन्दिकेश्वर और उनका नाट्य-साहित्य, पृ० ४३।

२. भारतीय नाट्य : स्वरूप और परम्परा, पृ० ५५।

अजन्ता और बाघ की गुफाओं में, अमरावती में नृत्य और संगीत में रत यक्ष, यक्षिणी, किन्नर, गन्धर्व, अप्सराओं एवं नारियों के चित्र अङ्कित हैं। जिनके अवलोकन से ज्ञात होता है कि नाट्यशास्त्र, अभिनयदर्पण एवं भरतार्णव में वर्णित हस्तमुद्राओं के विनियोगों को इन चित्रों में बड़ी कुशलता से अङ्कन किया गया है, जिनमें गति, स्थिरता एवं सजीवता दर्शनीय है।

वैदिक काल--वैदिक काल में नाटचकला का विकसित रूप दृष्टिगोचर होता है। वैदिक युग का महत्त्वपूर्ण अनुष्ठान यज्ञ था। यज्ञ के विधि-विधानों में नाटकीय प्रदर्शन के तत्त्व भी विद्यमान थे। सोमयाग में अध्वर्यु-सोमविक्रयी संवाद स्वयं में एक नाटकीय प्रदर्शन था। ब्रह्मचारी-पुंश्चली संवाद, महाव्रत अनुष्ठान वस्तुतः कर्मकाण्ड सम्बन्धी रूपक थे। इस प्रकार यज्ञ के विभिन्न अनुष्ठानों में नाटच-प्रदर्शन की एक भावना होती थी। वाजपेय यज्ञ में रथदौड़ की प्रतियोगिता का विधान था। ऋग्वेद[1] में 'समन' नामक एक सामाजिक उत्सव का उल्लेख मिलता है। यह उत्सव मेला के रूप में आयोजित होता था, जिसमें अनेक कलाकार नर, नारी, गणिकाएँ, कवि, घुड़सवार धनुर्धर आदि सभी कलाप्रदर्शन के लिए उपस्थित होते थे। रात-रात भर नर-नारियों का सामूहिक नृत्य होता रहता था। अनेक प्रकार के लोकाभिनय एवं लोकनृत्य होते थे। यही 'समन' उत्सव आगे चलकर 'समञ्जा' नाम से प्रचलिता हुआ और महाभारत काल में अत्यन्त लोकप्रिय हो गया।

यजुर्वेद में एक रङ्गशाला का वर्णन मिलता है जिसे 'सभा' कहते थे। उसमें नृत्य के लिए सूत को, गीत के लिए शैलूष को, हँसाने के लिए विदूषक (हँसोड़ों) को, प्रसाधन के लिए कलाकारों को तथा वीणावादक, दुन्दुभि-वादक, वंशीवादक एवं तालधारी आदि को नियुक्त किया गया था[2]। यजुर्वेद में नाटच के पारिभाषिक शब्दों के उल्लेख से ज्ञात होता है कि नाटच विकास की उस सीमा पर का जब उसमें नृत्य, गीत और अनुकरण शामिल हो गये थे और विदूषक का रूप कारि, रेम, वामन के रूप में पनप रहा था। अथर्ववेद में गन्धर्व, गायक, नर्तक आदि के साथ दुन्दुभि, कर्करी आदि वाद्यों का भी उल्लेख है[3]। ऐतरेय आरण्यक में सोमयाग में सामूहिक नृत्य का वर्णन है, जिसमें तीन से छः स्त्रियाँ सिर पर जलभरी गगरी रखकर वर्तुलाकार गति से नृत्य करती थीं[4]। इससे ज्ञात होता है कि उस समय नाटचकला अत्यन्त समुन्नत अवस्था में पहुँच चुकी थी। नट, नर्तक, गायक, वादक, विदूषक आदि कलाकारों का उसमें समावेश हो चुका था। लौकिक समारोहों

---

१. ऋग्वेद १।१४।८; २।१६।७; ६।७४।३; ९।९६।८; १०।१८।३।

२. यजुर्वेद, अध्याय ३० मन्त्र ६, ८, १०, १५, १९, २०।

३. अथर्ववेद ७।१०९।२-५।

४. ऐतरेय आरण्यक १।१।

और धार्मिक एवं सामाजिक उत्सवों पर उसका आयोजन होता था। भारतीय जन-जीवन में वह अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ और सभी वर्गों के लोगों ने उसे अपनाया।

इतिहास-पुराण——वैदिक काल के बाद इतिहास-पुराण काल में वैदिक कर्मकाण्ड के अतिरिक्त विविध उत्सवों, यात्राओं और समाजों में नाट्य का प्रयोग होने लगा था। रामायण में शैलूष, नट, नर्तक, गायक, सूत, मागध आदि शब्दों का उल्लेख अनेक अवसरों पर किया गया है। इनका अपना-अपना समाज होता था। जिन्हें अपनी कलाओं के प्रदर्शन के लिए अवसर प्रदान किया जाता था[१]। रामायण और महाभारत में 'नाटक' का उल्लेख होने से ज्ञात होता है कि उस समय नाटक का प्रयोग प्रचलित था। रामायण में उल्लिखित 'व्यामिश्र' शब्द नाटक में मिश्रित भाषा के प्रयोग की ओर संकेत करता है[२]। 'समाज' शब्द का प्रयोग रामायण और महाभारत में अनेक बार हुआ है। ऋग्वेदकालीन 'समन' नामक उत्सव महाभारत काल में समज्जा (समाज) के नाम से प्रचलित हुआ। महाभारत के अनुसार स्वयंवर आदि शुभ अवसरों पर 'समाज' होते थे, जिनमें नाट्य, नृत्य, गीत आदि का आयोजन होता था। देवालयों में कई दिनों तक चलने वाले नाट्य-महोत्सव बड़े-धूम-धाम से मनाया जाता था। जिसमें जनता बड़े उल्लास के साथ सम्मिलित होती थी। महाभारत के अनुसार वारणावत में पशुपति-समाज का आयोजन हुआ था,[३] जिसमें नाट्य, नृत्य, संगीत आदि का प्रदर्शन किया गया था। ऐसा प्रतीत होता है कि रामायण एवं महाभारत काल में नाट्य-मण्डलियाँ होती थीं, जो विविध उत्सवों, यात्राओं और समाजों में नाट्य-प्रस्तुतियाँ किया करती थीं।

बौद्ध ग्रन्थ 'संयुत्त-निकाय' में 'समज्जा' (समाज) का उल्लेख है। समाज के आयोजन में विदूषक समाजोत्सव में अपनी कला का प्रदर्शन कर लोगों को हँसाता था। गिरनार के शिलालेख और उरगजातक में समाज के प्रेक्षण का निषेध किया गया है[४]। इससे ज्ञात होता है कि उस समय समाज का आयोजन होता था, जिसमें नाट्य की प्रस्तुति की गाती थी। इसीलिए बौद्ध-भिक्षुओं के लिए समाज के प्रेक्षण का निषेध किया गया है।

वात्स्यायन ने भी समाज का उल्लेख किया है। वात्स्यायन के अनुसार

---

१. वाल्मीकिरामायण २।६।१४; १।१२।७; २।८३।५; २।६७।१५।

२. वही, २।१।२७।

३. महाभारत-आदिपर्व १७५।१६; १७६।२८-२९।

४. न च समाजो कर्त्तव्यो बहुलम्······।

(गिरनार-शिलालेख और उरगजातक, पृ० १५४)

सन्दर्भ—भरत और भारतीय नाट्यकला, पृ० ७५।

प्रत्येक मास या पक्ष में किसी दिन सरस्वती मन्दिर में समाज का आयोजन होता था। समाज में नट, नर्तक आदि कलाकार विभिन्न कलाओं का प्रदर्शन करते थे। इस उत्सव में बाहर से भी नट, नर्तक, कुशीलव आदि कलाकार आमन्त्रित किये जाते थे। कुशीलव नाट्य का कार्यक्रम प्रस्तुत करता था। बाहर से आये कलाकार पहले दिन अपना प्रदर्शन प्रस्तुत करते थे और दूसरे दिन उन्हें पुरस्कार दिया जाता था। योग्य कलाकारों को कुछ दिन और ठहरने का अनुरोध किया जाता था[1]। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय समाज होते थे और उसमें नाट्य-नृत्य आदि का आयोजन होता था।

नाट्यकला के विकास में इतिहास, पुराण एवं महाकाव्यों के सस्वर-वाचन का बड़ा महत्त्व रहा है। समाजोत्सव या अन्य अवसरों पर इतिहास-पुराण का वाचन होता था। इसके वाचक कथक कहलाते थे। कथक इतिहास-पुराण के आख्यानों को गा-गा कर लोगों को सुनाया करता था और जनता बड़ी रुचि के साथ कथा सुनती थी। कथावाचक कथकों के दो वर्ग होते थे। एक पाठक, जो इतिहास-पुराण का पाठ करता था। दूसरा धारक, जो जनता को समझाने के लिए व्याख्या करता था। कीथ के अनुसार कथकों का सम्बन्ध भारत से था, जो पाठकों के एक वर्ग 'भाट' के रूप में आज भी विद्यमान हैं। ये भाट इतिहास-पुराण की कथाओं को गा-गा कर सुनाया करते थे। पाठकों का एक वर्ग 'कुशीलव' कहलाता था। कीथ ने कुशीलव का सम्बन्ध रामायण के कुश-लव से जोड़ा है। कुश और लव ने रामायण की कथा का गायन किया था। बाद में ये कुशीलव कुत्सित आचरण के कारण (कुत्सित शील-आचरण वाला) कुशीलव में परिवर्त्तित हो गया[2]। कथक का दूसरा वर्ग 'धारक' सूत्र को धारण करने के कारण सूत्रधार या सूत कहलाया। वैदिक काल में वह सूत से यज्ञवेदी का मापन करता था। महाभारत में यज्ञ की वेदी नापने के कारण सूत्रधार कहा गया है और वास्तुकला का सम्पादक होने के कारण उसे स्थपित कहा गया है। बाद में नाट्य का सूत्र धारण (संचालन) या स्थापना करने के कारण नाटक का भी सूत्रधार या स्थापक हो गया। इतिहास एवं पुराण की व्याख्या कर लोगों को सुनाने के कारण वह 'सूत' कहलाया। सूत ही पौराणिक कहलाता था। इस प्रकार सूत सूत्रधार, स्थपति, स्थापक एवं पौराणिक कहलाने लगा। सूत रामायण, महाभारत एवं पुराणों की कथाओं को रोचक ढंग से व्याख्या करके जनसमुदाय को समझाता था और कुशीलव गायन-वादन के द्वारा उसकी सहायता करता था। धीरे-धीरे अपनी कथा को

१. पक्षस्य मासस्य वा प्रज्ञातेऽहनि सरस्वत्याः भवने नियुक्तानां समाजः। कुशीलवाश्चागन्तवः प्रेक्षणकमेषां दद्युः। द्वितीयेऽहनि तेषां पूजा नित्यं लभेरन्। ततो यथाश्रद्धमेषां दर्शनमुत्सर्गो वा। (कामसूत्र १।४।१५-१६)

२. संस्कृत-नाटक (कीथ), १९-२१।

नाटकीय रूप प्रदान किया। सूत सूत्रधार और कुशीलव पारिपार्श्विक हो गया। इतिहास-पुराण की कथाओं को ग्रन्थिक की सहायता में मंच पर प्रस्तुत किया जाने लगा और नाटक एक स्वतन्त्र विधा बन गई।

पाणिनि ने अष्टाध्यायी में शिलालिन् और कृशाश्व द्वारा रचित नटसूत्रों का उल्लेख किया है। इनमें जो शिलालि द्वारा प्रोक्त नटसूत्र का अध्ययन करते थे वे 'शैलालिन्' कहलाते थे (**शैलालिनो नटाः**) और जो कृशाश्व की परम्परा में दीक्षित थे वे कृशाश्विन् कहलाते थे[१]। इससे प्रतीत होता है कि पाणिनि के समय शैलालिन् एवं कृशाश्विन् सम्प्रदाय के नटों की दो विभिन्न परम्पराएँ थीं और नाटचकला इतनी विकसित हो गई कि नटों को दीक्षित करने के लिए सूत्रग्रन्थों की आवश्यकता महसूस की जाने लगी और नटसूत्रों की रचना होने लगी। प्रो० लेवी का कथन है कि शिलालि और कृशाश्व ये दो व्यङ्ग्यात्मक उपाधियाँ थीं। जिनके अश्व कृश (दुबले) होते थे वे 'कृशाश्व' कहलाते थे और जिनकी शय्या शिला ही थी वे शिलालि कहलाते थे। किन्तु कीथ ने इसे मनगढ़न्त बताया है[२]। डॉ० दासगुप्त का कथन है कि शिलालि और कृशाश्व नाट्य और नृत्य की दो संस्थाएँ थीं। शिलालि की संस्था में नाट्य की शिक्षा दी जाती थी और कृशाश्व की संस्था में नृत्य में दीक्षित किये जाते थे[३]। इस प्रकार की शिक्षा देने वाले को 'शौभिक' कहा जाता था। पतञ्जलि ने महाभाष्य में शौभिक (शोभनिक) और ग्रन्थिक तथा उनके कार्यों का अलग-अलग निर्देश किया है। पतञ्जलि के अनुसार शौभिक नटों का उपाध्याय (शिक्षक) था। वह आङ्गिक अभिनय के द्वारा नटों (अभिनेताओं) को दीक्षित करता था। प्रो० ल्यूडर्स के अनुसार शौभिक मूक-अभिनेता था। कैयट के अनुसार शौभिक कंस आदि का अनुकरण करने वाले नटों को कंसादि के अनुकरण की शिक्षा देता था (**शौभिका कंसाद्यनुकारिणां नटानां व्याख्यानोपाध्यायाः — कैयट**[४])। इस प्रकार शौभिक नटशिक्षक था और ग्रन्थिक कथक था। जो ग्रन्थपटल की सहायता से कथानायकों के जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त ऐश्वर्य का वर्णन करते हुए श्रोताओं को उनकी वास्तविक स्थिति का बोध कराता था (···**तेषामुत्पत्तिप्रभृत्याविनाशादृद्धीर्व्याचक्षाणाः सतो बुद्धिविषयान् प्रकाशयन्ति**[५] — महाभाष्य)। प्रो० ल्यूडर्स के अनुसार ग्रन्थिक या कथक केवल कथा का पाठ नहीं करता था, अपितु गायन

---

१. 'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः' (४।३।११०)।
'कर्मन्दकृशाश्वादिनिः' (४।३।१११)।

२. संस्कृत-नाटक (कीथ), पृ० २१।

३. संस्कृत साहित्य का इतिहास (दासगुप्त), पृ० ६३७।

४. महाभाष्य, ३।१।२६ प्रदीप-टीका।

५. महाभाष्य, ३।१।२६ सूत्र पर भाष्य।

के साथ अभिनय करके समझाता भी था। इसके लिए वह अपने को दो वर्गों में बाँट लेता था—कृष्णभक्त और कंसभक्त। कृष्णभक्त लाल रङ्ग से अपना चेहरा रंगकर अभिनय करते थे और कंस के भक्त काले रंग से अपने को रंग कर अभिनय करते थे। (**केचित्कंसभक्ता भवन्ति, केचिद् वासुदेवभक्ताः। वर्णान्यन्यत्वं खल्वपि पुष्यन्ति। केचित् कालमुखा भवन्ति, केचिद् रक्तमुखाः**[1]।) कुछ प्रतियों में पाठभेद के कारण विद्वान् रङ्ग का विपरीतक्रम में आरोपित करते हैं, किन्तु यह मत बुद्धिगम्य एवं उचित नहीं प्रतीत होता है।

पतञ्जलि के समय ग्रन्थिक घटनाओं का वर्णन इस प्रकार करता था मानो वह घटना आँखों के सामने घटी है। कीथ ने उदाहरण के रूप में महाभाष्य से कुछ वाक्य उद्धृत किये हैं—

'जघान कंस किल वासुदेवः'।[2]

'इह तु कथं वर्तमानकालता कंसं घातयति बलिं बन्धयतीति। चिरहते च कंसे, चिरबद्धे च बलौ। अत्रापि युक्ता। कथम् ? ये तावदेते शौभिका नाम एते प्रत्यक्षं कंसं घातयन्ति प्रत्यक्षं च बलिं बन्धयन्तीति'। (महाभाष्य ३।१।२६)

यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि कंसवध और बलि-बन्धन की घटनाएँ सुदूर पूर्व की हैं तो यहाँ (कंसं घातयति, बलिं बन्धयति में) वर्तमानकाल का प्रयोग कैसे हो सकता है ? इस पर कहते हैं कि 'कंस को मरवाता है', 'बलि को बंधवाता है'—यहाँ पर घटनाओं का वर्णन किया जा रहा है। यह वर्णन तीन प्रकार से किया गया है। प्रथम शौभिक या शोभनिक यहाँ पर अतीत की घटनाओं का इस प्रकार वर्णन कर रहा है कि वे घटनाएँ प्रत्यक्ष के समान प्रतीत हो रही हैं। अर्थात् शौभिक कंसवध के आख्यान को अभिनय से इस प्रकार सुनाता था कि ऐसा लग रहा था कि वह कंस का वध सामने स्वयं करवा रहा है (**कंसं घातयतीत्युक्ते कंसवधमाचष्टे**—शृङ्गारप्रकाश)। वेबर का मानना है कि 'उक्त स्थल पर मूक अभिनय के रूप में हनन और बन्धन क्रिया का निर्देश प्रेरणार्थक क्रिया के रूप में किया गया है। उनका कहना है कि यदि कंस और बलि वर्तमानकालिक व्यक्ति होते तो 'हनन' और 'बन्धन' को सामान्य क्रिया के द्वारा व्यक्त किया जा सकता था। यहाँ प्रेरणार्थक क्रिया के प्रयोग से यह सूचित होता है कि यह क्रिया वर्तमानकाल में यथार्थ नहीं है बल्कि किसी व्यतीत क्रिया का प्रस्तुतीकरण है'[2]। यहाँ 'प्रत्यक्षम्' पद से यह सूचित होता है कि शौभिक दर्शकों के समक्ष केवल आङ्गिक प्रदर्शन करता था। दूसरे शौभिक छांयाचित्र के रूप में वर्णन करता है। चित्रकार चित्रपट पर दृश्यों का छाया के रूप में अङ्कन कर चित्र में चित्रित कंस के ऊपर प्रहार कराता है अर्थात् चित्रगत वासुदेव

---

१. वही।

२. संस्कृत-नाटक (कीथ), पृ० २४।

के द्वारा चित्रगत कंस का वध कराता है (**चित्रेषु कथम्? चित्रेष्वप्युद्गूर्णा निपतितांश्च प्रहारा दृश्यन्ते कंसस्य कृष्णस्य च**[१])। —तीसरे ग्रन्थिक हैं। प्रो० ल्यूडर्स के अनुसार ग्रन्थिक कथक थे। वे शब्दों का प्रयोग करते थे अर्थात् कथा-पाठ के साथ अभिनय भी करते थे[२]। इस प्रकार शौभिक चित्रपट पर चित्रित दृश्यों (घटनाओं) को दिखा-दिखाकर घटनाओं के इतिहास का वर्णन करता था और ग्रन्थिक किसी ग्रन्थ से कथा-पाठ करता था तथा उसके सहायक अपना चेहरा रंगकर दृश्यों का प्रदर्शन करते थे। इस प्रदर्शन से ऐसा प्रतीत होता था कि मानों 'ये घटनाएँ दर्शकों के समक्ष घट रही हैं। भास के नाटकों में भी इस प्रकार चित्र दिखाकर घटनाओं के वर्णन करने का उल्लेख है। चित्र दिखाकर घटनाओं के वर्णन की यह परम्परा आगे भी चलती रही। विशाखदत्त ने चित्र दिखाकर कमाई करने वाले पुरुष का उल्लेख किया है। बाण के ग्रन्थों में भी इसी प्रकार का उल्लेख मिलता है।

इस प्रकार ज्ञात होता है कि पतञ्जलि के समय नाट्यकला का पूर्ण विकास हो चुका था। नाट्य में पाठ, गीत और अभिनय का समावेश हो गया था और अभिनेता उचित वेश-भूषा धारण कर रङ्गमञ्च पर प्रदर्शन करने लगे थे। प्रदर्शन में स्त्री और पुरुष दोनों भूमिका अदा करते थे।

इस प्रकार इतिहास-पुराणकाल नाट्यकला की समुन्नति की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है। उस समय नाट्य का मञ्चन होने लगा था। प्रथम मञ्चन भरत ने इन्द्रमहः के अवसर पर प्रस्तुत किया था। वैदिककालीन समन और यज्ञ एक सामाजिक उत्सव था और इतिहास-पुराणकालीन समाज एवं देवयात्रा भी एक सामाजिक उत्सव था। इसी प्रकार इन्द्रमहः भी सामाजिक उत्सव था। यह उत्सव विजय के उपलक्ष्य में कराया जाता था। इन्द्र की विजय के उपलक्ष्य में भरत ने प्रथम 'अमृतमन्थन' नामक रूपक का, फिर 'त्रिपुरदाह' नामक डिम का अभिनय किया था। अभिनय में भारती, सात्त्वती एवं आरभटी—इन तीन वृत्तियों का समावेश था। उस समय प्रायः स्त्रियाँ मंच पर अभिनय नहीं करती थीं। बाद में जब कैशिकी वृत्ति जुड़ी तब स्त्रियाँ भी मञ्च पर अभिनय करने लगीं। इस प्रकार नाटक धीरे-धीरे विकसित होता रहा।

महाभारत के परिशिष्ट हरिवंशपुराण में 'रामायण' एवं 'कौबेररम्भाभिसार' नामक नाटकों के अभिनीत होने का उल्लेख मिलता है। ये नाटक प्रद्युम्न-विवाह के अवसर पर खेले गये थे[३]। इसमें नर और नारियाँ दोनों ने भूमिकाएँ प्रस्तुत की थीं। उस समय नाटक-मण्डलियाँ अभिनय करने लगी थीं।

---

१. महाभाष्य ३।१।२६ (भाष्य)।

२. संस्कृत-नाटक (कीथ), पृ० २५।

३. हरिवंशपुराण, २।११।२६ तथा २।२९।३२।

नाटच-मंडली में विदूषक का महत्त्वपूर्ण स्थान था। नाटक का इतिवृत्त प्रायः इतिहास-पुराण के आख्यानों पर आश्रित होते थे। हरिवंशपुराण में ही 'मुग्धाभिनय' नामक एक प्रहसन के अभिनीत होने का उल्लेख मिलता है। इस प्रहसन में चित्रलेखा नामक अप्सरा ने पार्वती का और शिवगणों ने विश्वरूप का अभिनय किया था। इस अभिनय को देखकर शिव और पार्वती ने अभिनय के कला-कौशल पर आश्चर्य प्रकट किया था। इससे ज्ञात होता है कि उस समय तक नाटकों में हास्यादि प्रसङ्गों का समावेश हो गया था। भागवतपुराण में वर्णित रासलीला नाट्यकला की दृष्टि से सर्वोत्तम है। रासलीला का आधार रासपञ्चाध्यायी है। रासलीला में नाट्यकला का प्राचीन रूप देखने को मिलता है। रासलीला में श्रीकृष्ण गोपियों के साथ मण्डलाकार नृत्य करते हैं। इसे ही 'रासनृत्य' कहते हैं। रासनृत्य का दूसरा नाम 'हल्लीस' है। नाटचशास्त्र में हल्लीस नृत्य का उल्लेख है। अभिनवगुप्त के अनुसार हल्लीस नृत्य मण्डलाकार होता था। उसमें एक नायक होता था और राग, ताल, लय का समावेश होता था[1]। शारदातनय ने बारह या सोलह नायिकाओं द्वारा अभिनीत हस्तबद्ध नृत्य को 'रासक' कहा है। रासक रासनृत्य (हल्लीसक) का समानार्थक है। कहा जाता है कि श्रीकृष्ण ने वेणुवादन के साथ एक नृत्य किया था, जो 'छालिक्य' कहलाया। हरिवंशपुराण के अनुसार सर्वप्रथम इसका अभिनय ऋषियों एवं देवताओं ने किया था। बाद में श्रीकृष्ण ने भूमण्डल पर प्रसारित किया[2]। कालिदास ने मालविकाग्निमित्र में इस अभिनय को 'छलिक' नाम से अभिहित किया है[3]। कुछ विद्वानों का कहना है कि इस छालिक्य नृत्य से नाटचकला का उदगम हुआ, किन्तु इसे मान्यता नहीं मिल सकी।

इतिहास-पुराण काल में नाटचकाल का इतना विकास हो चुका था कि उस समय नट, नर्तक और अभिनेताओं को शिक्षित किया जाने लगा था। उसके नाट्य के शास्त्रीय विवेचन की आवश्यकता हुई। इसी दृष्टि से अग्निपुराण और विष्णुधर्मोत्तरपुराण में नाट्यकला का शास्त्रीय विवेचन किया गया है। इस प्रकार नाटचकला के विकास में इतिहास-पुराण की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। उनमें अग्निपुराण का योगदान विशेष उल्लेखनीय है।

बौद्धयुग — इतिहास-पुराण काल के बाद बौद्धयुग में नाटच का विकसित रूप प्राप्त होता है। उस समय सामाजिक लोकोत्सवों में नाट्य एवं नृत्य का आयोजन होता था। उसके लिए बीचोबीच रङ्गमञ्च बनाया जाता था, जिसके चारों ओर दीर्घिकाएँ होती थीं, जहाँ दर्शक लोग बैठकर प्रदर्शन देखते थे।

---

१. अभिनवभारती, भाग १ पृ० १८१।

२. हरिवंशपुराण, २।८३–८४।

३. मालविकाग्निमित्र, प्रथम अङ्क।

रङ्गमञ्च पर नाट्य, नृत्य, अभिनय, गीत, वाद्य, मल्लयुद्ध, पशु-पक्षियों के युद्ध आदि दृश्य दिखाये जाते थे। ये प्रदर्शन इतने प्रभावकारी होते थे कि उन्हें देखने के लिए देवता, नाग, गरुड़ भी आते थे[१]। बौद्धों के प्रसिद्ध ग्रन्थ ललित-विस्तर से ज्ञात होता है कि उस समय राजकुमारों को नाट्य, नृत्य, गीत, वाद्य तथा अभिनय की शिक्षा दी जाती थी। बौद्धसाहित्य में एक ऐसे नाट्य का उल्लेख मिलता है, जिसमें एक अभिनेता पाँच सौ नर्तकियों के साथ नृत्य एवं नाट्य का प्रदर्शन कर नागरिकों को सम्मोहित किया करता था[२]। उस समय नाटचकला को राज्याश्रय प्राप्त था। संयुत्तनिकाय में विदूषक का सजीव चित्रण है। 'राजप्रश्नीय' नामक एक जैन-ग्रन्थ में बत्तीस प्रकार के नाट्यों का वर्णन है[3]। उस समय नाट्यमण्डली होती थी, जो विभिन्न अवसरों पर नाट्य प्रस्तुत करती थी। उस समय नाट्यमण्डली में स्त्रियाँ भी मञ्च पर प्रदर्शन करती थीं।

कौटिल्य के समय नाट्य-मण्डलियाँ घूम-घूम कर नाट्य एवं नृत्य का प्रदर्शन करती थीं। राज्य की ओर से इन्हें योग्यतानुसार वेतन दिया जाता था[४]। उस समय शासन की ओर से नाट्य, नृत्य, गीत, वाद्य, वैशिक आदि कलाओं के प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाती थी। हरिवंश के अनुसार यादवों की नाट्य-मण्डली में स्त्रियों की भूमिका पुरुष अभिनेता करते थे। वात्स्यायन के काम-सूत्र के अनुसार प्रत्येक मास या पक्ष में सरस्वती-मन्दिर में 'समाज' का आयोजन होता था, जिसमें बाहर से आयी नाट्य-मण्डलियाँ अपनी कलाओं का प्रदर्शन करती थीं। दूसरे दिन उन्हें पुरस्कार देकर सम्मानित किया जाता था[५]। इस प्रकार ज्ञात होता है कि उस समय नाट्यकला समाज का अङ्ग बन चुकी थी और समाज में यह अत्यन्त लोकप्रिय हो चुकी थी।

भरत के अनुसार नाट्य एक वह कला थी जिसमें नृत्य, गीत एवं वाद्यों के साथ अन्य कलाओं का भी समावेश था। नाटचशास्त्र से ज्ञात होता है कि उस समय तक नाट्यकला का पूर्ण विकास हो चुका था। नाट्याभिनय में पूर्व-रङ्गविधि का विधान किया जाने लगा था। नाट्य में सजीवता लाने के लिए चित्राभिनय का विधान था, जिसके अन्तर्गत अनेक हाथ-पैर वाले या हाथी, बाघ, घोड़े, बैल आदि के मुखौटे लगाकर अभिनय किये जाते थे, जिससे

---

१. जातककथा ६।२७७, ३।६१, ३।३३८, ६।२७७, दीर्घनिकाय १।६, २।१३।

२. अट्टकथा, पृ० ३६।

३. रासापसेणीय ३६।८४, सन्दर्भ—भारतीय संगीत का इतिहास, पृ० १८१।

४. अर्थशास्त्र २।२७, ३।१८।

५. कामसूत्र १।४।१५–१६।

नाट्याभिनय में रञ्जकता बढ़ती थी और उसका अभिनय लोकरञ्जन के लिए किया जाता था।

रूपक एवं उपरूपक

नाट्यशास्त्र के अनुसार रूपकों के रूप में भी नाट्यकला का विकास देखा जाता है। नाट्यशास्त्र में दश रूपकों का विधान बताया गया है। पहले लघु एवं एकांकी नाटक अभिनीत किये जाते थे। बाद में दश रूपों में उनका विकास हुआ। उनमें शृङ्गार, वीर, करुण रस-प्रधान ऐतिहासिक रूपक 'नाटक' कहलाते थे। काल्पनिक प्रेमकथाओं से सम्बद्ध, शृङ्गाररस-प्रधान रूपक 'प्रकरण' कहा जाता था। इसी प्रकार वीररस-प्रधान अनेक नायकोपेत तीन अङ्क वाले ऐतिहासिक रूपक को 'समवकार' और किसी प्रेमिका की प्राप्ति के लिए संघर्ष, धीरोद्धत नायकोपेत चार अङ्कों वाले रूपक को 'ईहामृग' कहते हैं। स्त्रीपात्रों से रहित वीररस-प्रधान एकाङ्की रूपक को 'व्यायोग' और रौद्ररस-प्रधान भयानक दृश्यों वाले, सोलह नायकों से युक्त चार अङ्कों वाले ऐतिहासिक रूपक को 'डिम' कहते हैं। इसी प्रकार धूर्त्त एवं विटों के हास्यात्मक चरित वाले, शृङ्गार एवं वीर रस-प्रधान, काल्पनिक एकांकी रूपक को 'भाण' और शृङ्गाररस-प्रधान एक ही पात्र द्वारा अभिनीत होने वाले रूपक को 'वीथी' कहते हैं। हास्यरस-प्रधान, सबको हँसाने वाले काल्पनिक एकाङ्की रूपक को 'प्रहसन' कहते हैं और करुणरस-प्रधान, शोकग्रस्त नारी के करुण क्रन्दन से युक्त एकाङ्की रूपक 'उत्सृष्टिकाङ्क' कहलाता है।

इनके अतिरिक्त उपरूपकों के रूप में भी नाट्य का विकास हुआ है। भरत के नाट्यशास्त्र में उपरूपकों का प्रतिपादन नहीं किया गया है, किन्तु एक स्थल पर रूपक के एक प्रकार 'नाटी' का उल्लेख है, जो परवर्त्ती काल में 'नाटिका' के नाम से अभिहित हुई। 'नाटिका' शृङ्गाररस-प्रधान, स्त्रीपात्र-बहुल, चार अङ्कों का उपरूपक है। अग्निपुराण में सत्ताईस रूपकों का उल्लेख है। उनमें से यदि दस प्रधान रूपक निकाल दिये जायँ तो शेष सतरह को उपरूपक माना जा सकता है। धनञ्जय ने केवल नाटिका का उल्लेख किया है। धनिक ने नृत्य के सात भेदों का उल्लेख किया है—डोम्बी, श्रीगदित, भाण, भाणी, प्रस्थान, रासक और काव्य। उन्होंने इन्हें रूपक न कहकर नृत्य-रूपक कहा है। अभिनवगुप्त ने कोहल के आधार पर आठ उपरूपकों का प्रतिपादन किया है—डोम्बिका, भाण, प्रस्थान, भाणिका, षिद्गक (शिल्पक), रामक्रीड़, हल्लीसक और रासक। अभिनव ने इन्हें नृत्तात्मक रागकाव्य कहा है। आगे चलकर भोज ने बारह, हेमचन्द्र ने दस, रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने तेरह, शारदातनय ने बीस और विश्वनाथ ने अठारह रूपक माने हैं। विश्वनाथ के पूर्व इन उपरूपकों को नृत्यरूपक कहा जाता था। अभिनव ने इन्हें नृत्तात्मक

राग काव्य कहा है। वस्तुतः उपरूपक पहले नृत्यरूपक रहे हैं। बाद में उनमें थोड़ा-सा अभिनव-तत्त्व जोड़ा गया तब उपरूपक कहलाये और जब लोकवृत्त का सम्पूर्ण अभिनय का समावेश हुआ तो 'रूपक' संज्ञा दी गई। ये रूपक उपरूपक से भिन्न होते हैं। रूपक रसाश्रित होते हैं और उपरूपक भावाश्रित। रूपक अभिनय-प्रधान होते हैं और उपरूपक नृत्य-प्रधान। इसीलिए उन्हें नृत्यरूपक भी कहा गया है। किन्तु उपरूपक नृत्य-प्रधान होते हुए भी उसमें अभिनयात्मक तत्त्व विद्यमान रहता है। दृश्यत्व होने के कारण उन्हें रूपक कहा जाता है।

इस प्रकार उपरूपकों के रूप में भी नाट्यकला का विकास देखा जाता है। इन उपरूपकों में नाटिका, प्रकरणिका एवं सट्टक को कुछ आचार्यों ने रूपक के अन्तर्गत स्वीकार किया है। नाटिका श्रृङ्गाररस-प्रधान, स्त्रीपात्रबहुल, धीरललितनायकोपेत चार अङ्कों का उपरूपक है। इसी प्रकार प्रकरणिका या प्रकरणी भी नाटिका की शैली में लिखा गया उपरूपक है। अन्तर केवल इतना ही है कि प्रकरणिका की कथा कल्पित होती है और नाटिका की प्रख्यात (**एको भेदः प्रख्यातः नाटिकाख्यः। इतरस्तु अप्रख्यातः प्रकरणिका संज्ञा**)। कीथ के अनुसार सट्टक नाटिका का ही रूपान्तर है, किन्तु अन्तर यह है कि इसमें प्रवेशक और विष्कम्भक नहीं होते तथा भाषा प्राकृत होती है। विश्वनाथ ने इन्हें उपरूपक कहा है और अन्य आचार्यों ने रूपक के अन्तर्गत परिगणित किया है।

त्रोटक एक श्रृङ्गार-प्रधान उपरूपक है। इसमें पाँच, सात, आठ या नौ अङ्क होते हैं। यह नाटक का रूपान्तर प्रतीत होता है। **'गोष्ठी'** नौ या दस पुरुष तथा पाँच या छः स्त्रीपात्रों से युक्त, कामश्रृङ्गार-प्रधान एकांकी रूपक है। **हल्लीस, नाट्यरासक, उल्लाप्य, काव्य, प्रेक्षण, रासक, श्रीगदित, विलासिका, भाणिका और गोष्ठी**—ये दस उपरूपक एकाङ्की होते हैं। इनमें स्त्रीपात्रों की बहुलता पायी जाती है। ये हास्य और श्रृङ्गार रस-प्रधान होते हैं और इनमें नृत्य, गीत एवं वाद्य की प्रमुखता होती है। इनके अतिरिक्त नाट्य-नृत्त पर आधारित दो अङ्कों का **'प्रस्थान'**, नृत्य-प्रधान चार अङ्कों का **'शिल्पक'**, सङ्ग्रामादि वर्णनों से युक्त तीन या चार अङ्कों का **'संलापक'** तथा हँसी-मजाक से युक्त चार अङ्कों की **'दुर्मल्लिका'** नामक उपरूपक होते हैं। **'काव्य'** हास्य रस एवं गीत-नृत्यप्रधान एकांकी उपरूपक है। अभिनवगुप्त ने इसे 'रागकाव्य' कहा है। इनके अतिरिक्त मल्लिका, कल्पवल्ली, पारिजातक, छलिक आदि कुछ अन्य उपरूपक भी मिलते हैं। 'डोम्बी' नामक उपरूपक का उल्लेख धनिक एवं अभिनवगुप्त दोनों ने ही किया है।

उपसंहार—इस प्रकार उपर्युक्त मतों की समीक्षा के बाद यह कहा जा सकता है कि नाट्य का विकास नृत्त, नृत्य एवं संवाद के संयोग से हुआ है।

यह विकासक्रम प्रागैतिहासिक काल से प्रारम्भ होता है और भरत के समय तक पूर्ण हो जाता है। प्राग्वैदिक काल में सिन्धु-सभ्यता में प्राप्त अवशेषों के आधार पर ज्ञात होता है कि उस समय नृत्यकला का पूर्ण विकास हो चुका था। मोहञ्जोदड़ो में एक कांस्य-मूर्त्ति प्राप्त हुई है, जिसमें नृत्य करते हुए ललित अभिनय अङ्कित है, जिसका शरीर प्रायः अनावृत अवस्था में था। केश जूड़े में आबद्ध है, गले में हँसुली और हाथों में बाहुओं तक चूड़िया पहने हुई हैं। दाहिना पैर एक स्थान पर स्थित है और बाँया पैर पादाभिनय की स्थिति में कुछ आगे बढ़ा हुआ है। दाहिना हाथ कमर पर स्थित है और बाँया हाथ नीचे की ओर लटका हुआ है। ऐसा लगा रहा है कि मानों नर्तकी अभी थिरक उठेगी। इसी प्रकार और भी अनेक मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनसे नृत्यकला के तत्कालीन स्वरूप का परिचय प्राप्त होता है। भरत के नाट्यशास्त्र के रचनाकाल तक नृत्य एवं नाट्यकला के विकास का एक व्यवस्थित रूप निश्चित हो गया था। नाट्यशास्त्र में स्वीकृत दश रूपक रङ्गमञ्च पर विविध प्रकारों में अभिनीत किये जाने लगे थे। किन्तु उत्तरोत्तर उनका विकास होता रहा है और विश्वनाथ के समय तक दश रूपक एवं अठारह उपरूपकों में उनका विकास हो गया। ऐसा प्रतीत होता है कि पहले यह नाट्यकला नृत्य के रूप में उभरी, फिर उसमें भावप्रदर्शन की क्रिया मिली और नृत्य से भावप्रदर्शन किया जाने लगा। फिर संवाद (कथोपकथन) का समावेश हुआ और रसात्मक क्रिया आरम्भ हुई। इस प्रकार नाट्य विकसित होकर रूपक, उपरूपक या नृत्यरूपक के रूप में रङ्गमञ्च पर अभिनीत होता रहा और तदनुकूल उसके स्वरूप की शास्त्रीय व्याख्या भी होती रही।

दो :

नाट्य का स्वरूप एवं प्रकार

'नाटच' शब्द 'नट्' धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ होता है—नटन। नाटच नृत्य का निकटवर्त्ती है, किन्तु नृत्य की अपेक्षा नाटच में सर्वाङ्गीणता रहती है। धनञ्जय ने अवस्था की अनुकृति को नाटच कहा है (**अवस्थानुकृतिर्नाटचम्**)। अवस्था की यह अनुकृति आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य अभिनयों से की जाती है। इस अवस्था-अनुकृति में नटों के द्वारा अनुकार्य रामादि के साथ तादात्म्य स्थापित किया जाता है। यही नाटच दृश्य अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय का विषय होने के कारण 'रूप' कहलाता है और यही रूप का आरोप होने के कारण 'रूपक' कहलाता है। नाटचदर्पणकार के अनुसार रूपित किये जाने के कारण ही नाटक आदि को रूप या रूपक कहते हैं (**रूप्यन्ते अभिनीयन्ते इति रूपाणि नाटकादीनि**)। इस प्रकार 'रूप' और 'रूपक' दोनों शब्द नाटच के वाचक हैं। भरत ने नाटचशास्त्र में नाटच के लिए रूप शब्द का प्रयोग किया है। धनञ्जय ने नाटच को रूपक की संज्ञा प्रदान की है।

रूपक मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं—मुख्य और गौण। मुख्य रूप से उनकी संज्ञा रूपक है और गौण रूप से उपरूपक। इनमें अभिनय-प्रधान रूपक को 'रूपक' और नृत्य-प्रधान रूपक को 'उपरूपक' या 'नृत्यरूपक' कहते हैं। नाटचशास्त्र में रूपक के दस भेद बताये गये हैं—नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, वीथी, प्रहसन, डिम, ईहामृग और अङ्क। इनके अतिरिक्त भरत ने नाटक और प्रकरण के मिश्रण से रूपक के एक अन्य प्रकार 'नाटी' का उल्लेख किया है, जिसे परवर्त्ती काल में 'नाटिका' संज्ञा प्राप्त हुई। धनञ्जय ने दस रूपकों का और रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने बारह रूपकों का निरूपण किया है। अब यहाँ हम रूपक-भेदों की विवेचना करेंगे।

नाटक—-नाटक का इतिवृत्त प्रख्यात होना चाहिए, कल्पित नहीं। उसका नायक प्रख्यात एवं उदात्त कोई राजा, राजर्षि अथवा दिव्य पुरुष होना चाहिए। उदात्त पद उपलक्षण मात्र है। उदात्त पद से यहाँ धीरोदात्त, धीरललित एवं धीरप्रशान्त चारों प्रकार के नायकों का ग्रहण होता है अर्थात् नाटक में चारों प्रकार के नायक हो सकते हैं। शृङ्गार अथवा वीर ही अङ्गी रस हो सकता है। अन्य रसों की स्थिति अङ्ग रूप में होनी चाहिए। निर्बहण सन्धि में अद्भुत रस को उपयुक्त माना गया है। नाटक के इतिवृत्त में पाँचों कार्यावस्थाओं, पाँचों अर्थप्रकृतियों और पाँचों सन्धिओं, चौसठ सन्ध्यङ्गों तथा

छत्तीस लक्षणों की योजना की जानी चाहिए। नाटक में अङ्क की योजना कार्य की अवस्थाओं के आधार पर होनी चाहिए। नाटक में पाँच से दस तक अङ्क हो सकते हैं। अङ्कों में नायक-नायिका आदि का चरित प्रत्यक्ष रूप में दिखाया जाता है। नाटक में अङ्क गोपुच्छाग्र के समान होना चाहिए। अङ्क के अन्त में सभी पात्रों का निष्क्राम दिखाना चाहिए। नाटक में सुख-दुःख दोनों अवस्थाओं का चित्रण होना चाहिए।

शारदातनय के अनुसार सुबन्धु ने नाटक को पाँच वर्गों में विभाजित किया है—पूर्ण, प्रशान्त, भास्वर, ललित और समग्र। इनमें 'पूर्ण' नाटक में मुखादि पाँचों सन्धियाँ होती हैं। प्रशान्त नाटक में मुखादि पाँच सन्धियों के स्थान पर न्यास, न्याससमुद्भेद, बीजोक्ति, बीजदर्शन और अनुद्दिष्ट-संहार—ये पाँच सन्धियाँ होती हैं। इसमें शान्त रस की बहुलता होती है और सात्त्वती वृत्ति का प्रयोग होता है। इसका उदाहरण 'स्वप्नवासवदत्तम्' है। तृतीय 'भास्वर' नाटक में माला, नायकसिद्धि, अङ्कग्लानि, परिक्षय और मात्रावशिष्ट-संहार—ये पाँच सन्धियाँ हैं। इसमें वीर एवं अद्भुत रस तथा भारती वृत्ति की प्रधानता होती है। इसका उदाहरण 'बालरामायण' है। चतुर्थ 'ललित' नाटक में विलास, विप्रलम्भ, विप्रयोग, विशोधन तथा उद्दिष्टार्थोपसंहार—ये पाँच सन्धियाँ होती हैं। इसमें कैशिकी वृत्ति होती है और यह शृङ्गार रस के आश्रित होता है। इसका उदाहरण विक्रमोर्वशीय है। पञ्चम 'समग्र' नामक नाटक में समस्त वृत्तियाँ होती हैं और यह समस्त लक्षणों से युक्त होता है। यह 'महानाटक' होता है।

प्रकरण—जहाँ पर नेता (नायक), फल और इतिवृत्त-विधान व्यस्त या समस्त रूप से कवि-कल्पित होते हैं, उसे 'प्रकरण' कहते हैं (**प्रकर्षेण क्रियते कल्प्यते नेता, फलं वस्तु वा व्यस्तसमस्ततयेति यत्र तत्प्रकरणम्**)। प्रकरण का रचना-विधान नाटक के समान होता है। इसका इतिवृत्त कवि-कल्पित होता है। इसमें शृङ्गार रस की योजना होती है। इसका नायक ब्राह्मण, वणिक् (वैश्य) अथवा अमात्य होता है। वह अनेक प्रकार की विपत्तियों एवं कठिनाइयों से ग्रस्त रहकर धर्म, अर्थ और काम (त्रिवर्ग) की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है। नायक के चेट, दास, विट आदि सहायक होते हैं। प्रकरण में नायिका दो प्रकार की होती है—कुलजा और गणिका। कहीं पर तो वह कुलजा (कुलीन स्त्री) नायिका होती है, कहीं पर गणिका नायिक होती है और कहीं पर दोनों अर्थात् कुलजा और गणिका दोनों नायिका होती हैं। इसमें मध्यम पात्रों द्वारा विष्कम्भक की योजना की जाती है। प्रकरण में नाटक के समान ही सन्धि, वृत्ति, प्रवेशक, विष्कम्भक तथा रसादि की योजना की जानी चाहिए।

रसार्णवसुधाकर एवं भावप्रकाशन में प्रकरण के तीन भेद बताये गये

हैं—शुद्ध, धूर्त्त और मिश्र। जब प्रकरण की नायिका कुलजा (कुलीन स्त्री) होती है तो 'शुद्ध' प्रकरण होता है। जैसे—मालतीमाधव। और जब गणिका नायिका होती है तो 'धूर्त्त' प्रकरण होता है। जैसे—'कामदत्ता'। इनके अतिरिक्त जब कुलजा एवं गणिका दोनों नायिकाएँ होती हैं तो 'मिश्र' प्रकरण कहलाता है। जैसे—'मृच्छकटिक'। धनञ्जय के अनुसार प्रकरण के सङ्कीर्ण, धूर्त्त और सङ्कुल ये तीन भेद होते हैं। कुलस्त्री के नायिका होने पर 'सङ्कीर्ण' नामक भेद, गणिका के नायिका होने पर 'धूर्त्त' और दोनों के नायिका होने पर 'सङ्कुल' प्रकरण तृतीय भेद होता है। नाट्यदर्पण के अनुसार वस्तु, नेता और फल की विभिन्नता के आधार पर प्रकरण के सात भेद होते हैं। पुन: ये सात कुलजा, गणिका और दोनों (कुलजा-गणिका) इन तीन भेदों से इक्कीस प्रकार के होते हैं। इनके अतिरिक्त नायिका के कल्पित और अकल्पित आदि भेद से प्रकरण के और भेद हो सकते हैं।

भाण—भाण एकाङ्की रूपक है। इसका इतिवृत्त कल्पित होता है। जहाँ पर नायक विट या धूर्त्त आकाशभाषित के द्वारा अपने अथवा किसी दूसरे (गणिका आदि) के चरित का प्रकाशन करता है, उसे 'भाण' नामक रूपक कहते हैं **(भण्यते व्योमोक्त्या नायकेन स्व-परवृत्तं प्रकाश्यतेऽत्रेति भाणः)**। इसमें शौर्य और सौभाग्य के वर्णन से श्रृङ्गार अथवा वीर रस की प्रधानता होती है। इसमें मुखसन्धि और निर्वहणसन्धि दो ही सन्धियाँ होती हैं और एक दिन में सम्पन्न होने से एक अङ्क का होता है। इसमें लोकानुरञ्जन आवश्यक है। इसमें नायक उक्ति-प्रत्युक्ति के द्वारा आकाशभाषित करता है। आकाशभाषित होने से वाचिक अभिनय की प्रचुरता से भारती वृत्ति की प्रधानता होती है। इसमें लास्य के दस अङ्गों की विशेष रूप से योजना की जाती है। लास्य के दस अङ्ग इस प्रकार हैं—(१) गेयपद, (२) स्थितपाठ्य, (३) आसीन, (४) पुष्पगण्डिका, (५) प्रच्छेदक, (६) त्रिगूढ, (७) सैन्धव, (८) द्विगूढ, (९) उत्तमोत्तमक और (१०) उक्त-प्रत्युक्त।

शारदातनय के अनुसार भाषा और कथावस्तु के आधार पर भाण के नौ भेद होते हैं। भाषा-भेद के कारण इसके तीन भेद होते हैं—शुद्ध, सङ्कीर्ण और चित्र। जिसमें केवल संस्कृत भाषा का प्रयोग किया जाता है वह 'शुद्ध' भाण कहलाता है। यदि सङ्कीर्ण भाषा का प्रयोग होता है तो 'सङ्कीर्ण' भेद होता है और यदि चित्र-विचित्र विभिन्न भाषाओं का प्रयोग होता है तो 'चित्र' भाण होता है। कथावस्तु के आधार पर प्रत्येक भाण के पुन: तीन भेद होते हैं—उद्धत, ललित और ललितोद्धत। इस प्रकार कुल नौ भेद होते हैं—

१. शुद्ध भाण के तीन भेद—उद्धत, ललित, ललितोद्धत।

२. सङ्कीर्ण के तीन भेद— उद्धत, ललित और ललितोद्धत।

३. चित्र भाण के तीन भेद—उद्धत, ललित और ललितोद्धत।

व्यायोग—व्यायोग एक युद्ध-विषयक महत्त्वपूर्ण रूपक है। जिसमें अनेक पुरुष चारों ओर से कार्य-सम्पादन के लिए प्रयत्न करते हैं, उसे 'व्यायोग' कहते हैं (**विशेषेण आ समन्तात् युज्यन्ते कार्यार्थं संरम्भन्तेऽत्रेति व्यायोगः**)। अथवा युद्धप्राय जिस रूपक में अनेक पुरुष-पात्र युद्ध का प्रयोग करते हैं, उसे 'व्यायोग' कहते हैं (**व्यायामे युद्धप्राये नियुद्धचन्ते पुरुषा यत्रेति व्यायोगः**)। व्यायोग का इतिवृत्त प्रख्यात होता है। इसमें नायक राजर्षि या देवता होता है। धनञ्जय के अनुसार इसका नायक मनुष्य होता है। इसमें स्त्री-पात्रों की संख्या बहुत कम और पुरुष-पात्रों की संख्या अधिक होती है। व्यायोग में गर्भ और विमर्श सन्धियाँ नहीं होतीं। यह एक अङ्कों वाला रूपक है। इसमें एक दिन की घटना का चित्रण होता है। इसमें कलह एवं युद्ध का वर्णन होता है, किन्तु उसका निमित्त कोई स्त्री नहीं होती। इसमें कैशिकी वृत्ति का प्रयोग नहीं होता। व्यायोग में शृङ्गार और हास्य को छोड़कर शेष छः रसों का विनियोग होता है। इसमें युद्ध, नियुद्ध, आघर्षण और संघर्षण आदि का वर्णन होता है।

समवकार—सङ्गत (मिले हुए) अथवा अवकीर्ण (बिखरे हुए) त्रिवर्ग के पूर्व प्रसिद्ध उपायों के द्वारा जिसका निबन्धन किया जाय, उसे 'समवकार' कहते हैं। (**सङ्गतैश्चावकीर्णैश्चार्थैः त्रिवर्गोपायैः पूर्वप्रसिद्धैरेव क्रियते निबध्यते इति समवकारः**)। धनिक के अनुसार जिसमें अनेक अर्थ-चित्र भलीभाँति निबद्ध किये जाते हैं, उसे समवकार कहते हैं (**समवकीर्य्यन्तेऽर्था इति समवकारः**)। समवकार का इतिवृत्त इतिहास-प्रसिद्ध होता है। उदात्तचरित देव अथवा असुर इसके नायक होते हैं। इसमें विमर्शसन्धि को छोड़कर शेष सन्धियाँ होती हैं। इसमें वीर अथवा रौद्र रस प्रधान होते हैं। तीन दिन की घटना का वर्णन होने से इसमें तीन अङ्क होते हैं। इसके पहले अङ्क में मुख और प्रतिमुख सन्धि, दूसरे अङ्क में गर्भसन्धि और तीसरे अङ्क में निर्बहण सन्धि होती है। इसमें प्रथम अङ्क की घटना छः मुहूर्त्त बारह घटिका की, द्वितीय अङ्क की दो मुहूर्त्त चार घटिका और तृतीय अङ्क की एक मुहूर्त्त दो घटिका की होती है। समवकार में बारह नायक होते हैं। उन सबके फल अलग-अलग होते हैं। इसमें तीन प्रकार के कपट, तीन प्रकार के शृङ्गार और तीन प्रकार के विद्रव होते हैं। शृङ्गार के तीन प्रकार होते हैं—धर्मशृङ्गार, अर्थशृङ्गार और कामशृङ्गार। धर्मशृङ्गार पति-पत्नी का, अर्थशृङ्गार वेश्यादि का अथवा कामशृङ्गार परस्त्री के संयोग से होता है। तीन प्रकार के कपट हैं—स्वाभाविक, कृत्रिम और दैवज। नाटचदर्पण के अनुसार कपट के तीन भेद इस प्रकार हैं—वञ्च्योत्त्थ, वञ्चकोत्त्थ और दैवोत्त्थ। इसी प्रकार

विद्रव तीन प्रकार के होते हैं—चेतन (जीवोत्त्थ), अचेतन (अजीवोत्त्थ) तथा चेतनाचेतन (जीवाजीवोत्त्थ)। जिससे लोग डरकर पलायन कर जायँ, उसे 'विद्रव' कहते हैं (**विद्रवन्ति त्रस्यन्ति जना अस्मादिति विद्रवोऽनर्थः**)। नाट्यशास्त्र के अनुसार कपटजन्य पलायन 'विद्रव' होता है। वह तीन प्रकार का होता है—चेतनजन्य, अचेतनजन्य और चेतनाचेतनजन्य। समवकार का उदाहरण 'अमृतमन्थन' है।

डिम—डिम नाटक का निकटवर्त्ती रूपक है। अभिनवगुप्त ने 'डिम' को बिम्ब और विद्रव (उपद्रव) का पर्यायवाची माना है। 'डिम' शब्द 'डिम सङ्घाते' धातु से निष्पन्न होने से सङ्घातार्थक है। (**डिमो बिम्बो विद्रव इति पर्यायाः। तद्योगादयं डिमः। डिमेः सङ्घातार्थत्वादिति**)। इसमें माया, इन्द्र-जाल, सङ्ग्राम, सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण, उल्कापात, निर्घात, युद्ध, नियुद्ध आदि वर्णनों का तथा यक्ष, राक्षस, पिशाच, देवता, भूत, प्रेत आदि पात्रों का बाहुल्य रहता है।

डिम का इतिवृत्त प्रख्यात (इतिहास-प्रसिद्ध) होता है। इसमें विमर्श सन्धि को छोड़कर शेष सन्धियाँ होती हैं और कैशिकी वृत्ति को छोड़कर शेष तीन वृत्तियाँ होती हैं। इसमें देवता, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, नाग, भूत, प्रेत, पिशाच आदि सोलह नायक होते हैं और वे सब उद्धत होते हैं। डिम में शृङ्गार एवं हास्य को छोड़कर शेष छः रसों की दीप्ति होती है। इसमें रौद्र रस अङ्गी (प्रधान) रस होता है। शेष रस अङ्ग रूप में चित्रित किये जाते हैं। इसमें चार दिन की घटनाओं का वर्णन होने से चार अङ्क होते हैं। प्रत्येक अङ्क में एक-एक सन्धियों का नियोजन होता है। इसमें प्रवेशक एवं विष्कम्भक की योजना नहीं होती। शारदातनय के अनुसार इसमें प्रवेशक एवं विष्कम्भक का प्रयोग वर्जित नहीं है। डिम का उदाहरण 'त्रिपुरदाह' है।

अङ्क या उत्सृष्टिकाङ्क—अङ्क का द्वितीय नाम 'उत्सृष्टिकाङ्क' है। अभिनवगुप्त के अनुसार जिसमें शोकग्रस्त स्त्रियों का विशेष रूप से चित्रण होता है, उसे 'उत्सृष्टिकाङ्क' कहते हैं (**उत्क्रमणोन्मुखा सृष्टिर्जीवितं प्राणा यासां ता उत्सृष्टिकाः शोचन्त्यः स्त्रियः—ताभिरङ्कितात्वादुत्सृष्टिकाङ्कः**)। यह एक अङ्क का रूपक होता है। इसका नायक सामान्य पुरुष होता है। इसका इतिवृत्त प्रख्यात (इतिहास-प्रसिद्ध) युद्ध पर आश्रित होता है, किन्तु कवि अपनी कल्पना से कथा का विस्तार करता है। इसमें मुख और निर्वहण दो सन्धियाँ होती हैं। इसमें भारती वृत्ति की योजना होती है। इसका मुख्य (अङ्गी) रस करुण होता है। इसमें संघर्ष और युद्ध का वर्णन तथा स्त्रियों के विलाप का चित्रण होता है। इसमें वाग्युद्ध और निर्वेदप्राय वाक्यों का बाहुल्य होता है। कोहल के अनुसार इसमें दो अङ्क हो सकते हैं। कुछ नाट्याचार्यों का कथन है कि अङ्क तो नाटकीय रूपक-प्रबन्धों का एक

विभाग है, अतः इसका नाम 'उत्सृष्टिकाङ्क' ही उचित प्रतीत होता है। विश्वनाथ ने उत्सृष्टिकाङ्क का उदाहरण 'शर्मिष्ठा-ययाति' दिया है।

प्रहसन—यह एक हास्य-व्यङ्ग्यप्रधान रूपक है। जहाँ पर विट, चेट आदि के पाखण्डपूर्ण चरितों का उपहासात्मक चित्रण हो, उसे 'प्रहसन' कहते हैं (**प्रकर्षेण दृश्यते विटादीनां चरितं यत्र तत् प्रहसनम्**)। प्रहसन का उद्देश्य सामाजिकों को पाखण्डियों एवं धूर्त्तों से विमुख करना है। प्रहसन के द्वारा पाखण्डी आदि के चरित को जानकर उससे विमुख पुरुष पुनः उनके चंगुल में नहीं आता (**प्रहसनेन हि पाखण्डिप्रभृतीनां चरितं विज्ञाय विमुखः पुरुषो न भूयस्तान् वञ्चकानुपसर्पति**)। प्रहसन में इतिवृत्त कवि-कल्पित और निन्द्य (अधम) पुरुषों का चरित होता है। इसमें सन्धि, सन्ध्यङ्ग, लास्याङ्ग और अङ्क की योजना भाण के समान होती है। इसमें आरभटी वृत्ति, विष्कम्भक और प्रवेशक नहीं होते। प्रहसन का प्रमुख (अङ्गी) रस हास्य होता है। इसमें वीथी के अङ्गों की योजना नहीं होती। इसमें अधम श्रेणी के पात्रों की धूर्त्तता का चित्रण होता है।

नाट्यशास्त्र, अग्निपुराण एवं नाट्यदर्पण के अनुसार प्रहसन के दो भेद होते हैं—शुद्ध एवं सङ्कीर्ण। किन्तु दशरूपक के अनुसार तीन भेद होते हैं—शुद्ध, विकृत और सङ्कीर्ण। शुद्ध प्रहसन में निन्दनीय तपस्वी, ब्राह्मण एवं संन्यासियों में किसी एक को धृष्ट नायक के रूप में चित्रित किया जाता है और इसमें विटों, चेटों एवं चेटियों के हास्योपयुक्त वेश-भूषा का चित्रण किया जाता है। विकृत प्रहसन में कामुकों, नपुंसकों, चारणों, कञ्चुकियों आदि के वेश-भूषा तथा भाषा का अनुकरण किया जाता है। सङ्कीर्ण प्रहसन में बहुत से धूर्त्त-चरित्रों का मिश्रण होता है। इसमें वेश्या, स्वैरिणी, विट, चेट, नपुंसक, धूर्त्त आदि के चरित्रों का चित्रण होता है। कुछ नाट्याचार्यों के अनुसार जिसमें कई धृष्ट नायकों का चरित्र-चित्रण रहता है और जो दो या एक अङ्कों में सम्पाद्य होता है, उसे 'सङ्कीर्ण' प्रहसन कहते हैं। भरत के अनुसार प्रहसन के दो भेद होते हैं—शुद्ध एवं सङ्कीर्ण। उन्होंने विकृत का सङ्कीर्ण में अन्तर्भाव माना है। सङ्कीर्ण प्रहसन में वीथ्यङ्गों का मिश्रण रहता है। इसमें हास्य के स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित, अतिहसित आदि सभी भेदों का सन्निवेश रहता है। सङ्कीर्ण प्रहसन का उदाहरण 'लटकमेलक' है।

ईहामृग—जिसमें नायक मृग के समान एकमात्र स्त्री के लिए ईहा अर्थात् चेष्टा करता है उसे 'ईहामृग' कहते हैं। (**ईहा चेष्टा मृगस्येव स्त्रीमात्रार्था यत्र स ईहामृगः**—अभिनवगुप्त।) अथवा जहाँ पर नायक मृग के समान अलभ्य नायिका को पाने की ईहा (कामना) करता है, उसे 'ईहामृग' कहते हैं (**नायको मृगवदलभ्यां नायिकामस्मिन्नीहते इतीहामृगः**)। ईहामृग का इतिवृत्त अंशतः प्रख्यात और अंशतः कल्पित होता है अर्थात् मिश्रित होता है।

ईहामृग का नायक दिव्य अथवा प्रख्यात मानव होता है और वह दिव्य नारी की प्राप्ति के लिए संघर्ष करता है। इसमें एक दिन की घटना का वर्णन होने पर एक अङ्क होता है अथवा चार दिन की घटना का वर्णन होने पर चार अङ्क होते हैं। इसमें नायक और प्रतिनायक के सम्बन्ध में कोई नियम नहीं है। इसमें यदि देवता नायक होता है तो मनुष्य प्रतिनायक होता है और यदि मनुष्य नायक होता है तो देवता प्रतिनायक होता है। ईहामृग में कुल बारह नायक होते हैं। इसमें दिव्याङ्गना के न चाहने पर भी नायक उसका अपहरण करता है। इसलिए दिव्याङ्गना के निमित्त इसमें सङ्ग्राम का वर्णन होता है।

ईहामृग में मुख, प्रतिमुख और निर्वहण सन्धियाँ होती हैं। इसमें कैशिकी को छोड़कर भारती, सात्त्वती एवं आरभटी, तीन वृत्तियाँ होती हैं। विश्वनाथ के अनुसार इसमें देवता नायक होता है अथवा छः प्रतिनायक किसी दिव्याङ्गना के लिए संघर्ष करते हैं। इसमें वीर और रौद्र रस का अङ्गी (प्रधान) रस के रूप में निबन्धन किया जाता है। इसमें प्रतिनायक के अनुचित रति का वर्णन होता है।

वीथी—वीथी का अर्थ है—गली या मार्ग। वीथी (गली) के समान टेढ़े-मेढ़े वक्रोक्ति-मार्ग से जाने से अथवा सन्ध्यङ्गों की पंक्ति होने से इसे 'वीथी' कहते हैं (······**वक्रोक्तिमार्गेण गमनाद् वीथीव वीथी। यद्वा वीथी मार्गः, अङ्गानां पङ्क्तिर्वा**)। अथवा नाटकादि सभी रूपकों के उपयुक्त होने से त्रयोदश अङ्गों के प्रवेश के कारण वक्रोक्त्यादि चमत्कार से परिपूर्ण मार्ग-विशेष से लक्षित होने से इसे 'वीथी' कहते हैं। (**सर्वेषां रूपकाणां नाटकादीनां वक्रोक्त्यादिसङ्कुलत्रयोदशाङ्गप्रवेशेनोपयोगिनी वैचित्र्यकारिका।**) कीथ ने वीथी का अर्थ 'माला' किया है। उनका कहना है कि इसमें कई रस 'माला' की तरह गुथे रहते हैं, इसलिए इसे 'वीथी' कहते हैं। वीथी कुछ बातों में भाण के समान होता है। इसमें आकाशभाषित का अधिक प्रयोग किया जाता है। इतिवृत्त एकदिवसप्रयोज्य होने से इसमें एक अङ्क होता है। इसमें एक या दो पात्र होते हैं। इसमें जब एक पात्र होता है तो आकाशभाषित शैली में और जब दो पात्र होते हैं तो उक्ति-प्रत्युक्ति शैली में कथोपकथन होता है। यह सभी रसों और तेरह अङ्गों से समन्वित होता है।

वीथी में उत्तम, मध्यम और अधम तीनों प्रकृति के नायक होते हैं। शङ्कुक ने अधम प्रकृति के पात्र को नायक के रूप में स्वीकार नहीं किया है। अभिनवगुप्त उनके मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि एक ओर तो शङ्कुक अधम प्रकृति के नायक का निषेध करते हैं और दूसरी ओर भाण, प्रहसन आदि में अधम प्रकृति के विट आदि को नायक बनाने का विधान करते हैं। अतः शङ्कुक का मत युक्तिसंगत नहीं है। नाटयदर्पणकार अभिनव के मत का समर्थन करते हैं।

वीथी में मुख और निर्वहण नामक दो सन्धियाँ और पाँचों अर्थप्रकृतियाँ होती हैं। शृङ्गार और हास्य रस के सूच्य होने के कारण इसमें कैशिकी वृत्ति की योजना नहीं होती है, किन्तु धनञ्जय, विश्वनाथ और शारदातनय इसमें शृङ्गार रस की प्रधानता स्वीकार करते हैं और कैशिकी वृत्ति की योजना आवश्यक बताते हैं।

प्रकीर्ण-रूपक

नाटी या नाटिका—नाट्यशास्त्र में दस रूपकों के अतिरिक्त 'नाटी' नामक एक रूपक-भेद का उल्लेख है, जिसे परवर्ती काल में 'नाटिका' के नाम से अभिहित किया गया है। भरत के अनुसार 'नाटी' या 'नाटिका' नाटक और प्रकरण के मिश्रण से निर्मित होती है। इसका इतिवृत्त प्रख्यात अथवा कवि-कल्पित हो सकता है। परवर्ती आचार्यों के अनुसार इसका इतिवृत्त प्रकरण के समान कवि-कल्पित होता है और नायक नाटक के समान प्रख्यात और धीरललित होता है। उसकी नायिका नृपवंशजा एवं मुग्धा होती है और दूसरी नायिका देवी या महारानी होती है। नाट्यदर्पण के अनुसार देवी और कन्या के प्रसिद्धि और अप्रसिद्धि के आधार पर नाटिका के चार भेद होते हैं—

१. देवी प्रसिद्धा कन्या अप्रसिद्धा।
२. देवी प्रसिद्धा कन्या प्रसिद्धा।
३. देवी अप्रसिद्धा कन्या अप्रसिद्धा।
४. देवी अप्रसिद्धा कन्या प्रसिद्धा।

नाट्यदर्पण के अनुसार नाटिका में चार अङ्क होते हैं। इसमें स्त्री-पात्रों की अधिकता होती है और शृङ्गार प्रधान (अङ्गी) रस होता है। कैशिकी वृत्ति शृङ्गार के उपयुक्त है। कैशिकी वृत्ति की प्रधानता होने से इसमें गीत, नृत्य, वाद्य आदि की प्रचुरता रहती है। नाटिका के प्रत्येक अङ्क में कैशिकी वृत्ति के चारों अङ्ग नर्म, नर्मस्फिञ्ज, नर्मस्फोट और नर्मगर्भ की योजना अपेक्षित है। इसमें अवमर्श सन्धि को छोड़कर शेष चार सन्धियाँ होती हैं।

प्रकरणी या प्रकरणिका—नाटिका के समान प्रकरणी या प्रकरणिका का भी उल्लेख कुछ आचार्यों ने रूपक के अन्तर्गत किया है। प्रकरणिका की रचना नाटिका के समान होती है। अन्तर केवल इतना है कि इसमें इतिवृत्त कल्पित और नायक कोई ब्राह्मण या वणिक् होता है। इसमें नायिका नायक की सजातीय होती है। नाटक और प्रकरण में सारा व्यवहार नायक पर आश्रित होता है और नाटिका और प्रकरणिका का नायिका पर अवलम्बित होता है। धनिक ने प्रकरणिका को रूपक की स्वतन्त्र विधा के रूप में स्वीकार नहीं किया है।

नाटिका और प्रकरणिका ये दोनों ही नाटक एवं प्रकरण के साङ्कर्य से

निष्पन्न होते हैं। इसलिए इन्हें सङ्कीर्ण रूपक-भेद कहा जाता है। धनञ्जय केवल नाटिका को ही सङ्कीर्ण-भेद में परिगणित करते हैं और प्रकरणिका का इसी में अन्तर्भाव कर देते हैं।

नाट्यदर्पणकार ने नाटिका और प्रकरणी को स्वतन्त्र रूपक-भेद मानकर द्वादश रूपकों की परिकल्पना की है। भरत दस या ग्यारह रूपकों की कल्पना करते हैं, किन्तु भोज, हेमचन्द्र, रामचन्द्र-गुणचन्द्र द्वादश रूपक मानते हैं। धनञ्जय, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने दस ही रूपक-भेद माने हैं। कुछ आचार्य सट्टक और त्रोटक को स्वतन्त्र रूपक मानकर रूपकों की संख्या बारह बताते हैं, किन्तु विश्वनाथ इन्हें उपरूपकों में परिगणित करते हैं।

उपरूपक

भरत ने रूपक के दस या ग्यारह भेद बताये हैं, किन्तु कोहलादि आचार्यों ने रूपकों के अतिरिक्त उपरूपकों की भी कल्पना की है। नाट्यशास्त्र में प्राप्त विवरणों से ज्ञात होता है कि कोहल उपरूपकों के जन्मदाता रहे हैं। कोहल के अनुसार प्राचीन काल में उपरूपकों की दो परम्पराएँ प्रचलित रही हैं—साहित्यिक परम्परा और लोक परम्परा। साहित्यिक परम्परा में नाट्य रूपक के रूप में विकसित हुआ और लोकपरम्परा में नृत्य-गीतप्रधान उपरूपक के रूप में प्रसिद्ध हुआ। उनका कहना है कि जिस प्रकार नाटक और प्रकरण के लक्षणों के मिश्रण से 'नाटिका' होती है उसी प्रकार उक्त प्रयोगों के पारस्परिक सम्बन्ध के वैचित्र्य से तोटक, सट्टक, रासक आदि अनेक भेद हो सकते हैं। अभिनव के अनुसार रूपक अभिनय-प्रधान होते हैं और उपरूपक नृत्य-गीत-प्रधान होते हैं। इस प्रकार उपरूपकों का प्रदर्शन गीत एवं नृत्याभिनयों के द्वारा किया जाता है। इसमें अभिनय की प्रधानता नहीं रहती। यह नृत्य-गीतप्रधान होता है।

कोहल के आधार पर ही अभिनव ने डोम्बिका, भाण, प्रस्थान, भाणिका, षिद्गक (शिल्पक), रामाक्रीड, हल्लीसक और रासक—इन आठ प्रकार के नृत्तात्मक रागकाव्यों का उल्लेख किया है, किन्तु इन्हें उपरूपक की संज्ञा नहीं दी है। दशरूपक के टीकाकार धनिक ने सात नृत्य-भेदों (उपरूपकों) का निर्देश किया है—डोम्बी, श्रीगदित, भाण, भाणी, प्रस्थान, रासक और काव्य। भोज ने बारह रूपकों के समान बारह उपरूपकों का भी वर्णन किया है। उनके नाम हैं—श्रीगदित, दुर्मल्लिका, प्रस्थान, काव्य, भाण, भाणिका, गोष्ठी, हल्लीसक, नर्तक, प्रेक्षणक, रासक और नाटचरासक।

अग्निपुराणकार ने सत्ताईस रूपकों का वर्णन किया है। इनमें दस रूपक की श्रेणी में आते हैं और सतरह उपरूपक माने जाते हैं। उनके अनुसार सतरह उपरूपक हैं—तोटक, नाटिका, सट्टक, शिल्पक, कर्ण, दुर्मल्लिका, प्रस्थान, भाणिका, भाणी, गोष्ठी, हल्लीसक, काव्य, श्रीगदित, नाटचरासक,

रासक, उल्लाप्यक और प्रेक्षणक। किन्तु अग्निपुराणकार ने इन्हें उपरूपक के नाम से अभिहित नहीं किया है। नाटचदर्पण में बारह रूपकों के साथ बारह अन्य रूपकों का निर्देश किया है, जिन्हें उपरूपक कहा जा सकता है। उनके नाम हैं—सट्टक, श्रीगदित, दुर्मल्लिका, प्रस्थान, गोष्ठी, हल्लीसक, प्रेक्षणक, रासक, नाटचरासक, काव्य, भाण और भाणिका।

शारदातनय ने भावप्रकाशन में बीस उपरूपकों का वर्णन किया है। भावप्रकाशन के अनुसार बीस उपरूपक हैं—तोटक, नाटिका, गोष्ठी, सल्लापक, शिल्पक, डोम्बी, श्रीगदित, भाण, भाणिका, प्रस्थान, काव्य, प्रेङ्खण, रासक, नाटचरासक, उल्लोप्यक, हल्लीसक, दुर्मल्लिका, मल्लिका, कल्पवल्ली और पारिजातक। भावप्रकाशन में अन्य मतानुसार डोम्बी, श्रीगदित, भाण, भाणी, प्रस्थान, रासक तथा काव्य—इन सात नृत्य-भेदों को भाण के समान बताया है और कुछ अन्य आचार्यों के मतानुसार बीसों को नृत्यात्मक कहा है।

विश्वनाथ कविराज ने उपरूपक के अठारह भेद माने हैं—नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाटचरासक, प्रस्थानक, उल्लास्य, काव्य, प्रेङ्खण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लीस और भाणिका।

इस प्रकार उपरूपकों की संख्या के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। इन उपरूपकों में सट्टक और त्रोटक को कुछ आचार्यों ने रूपक के अन्तर्गत परिगणित किया है। भोज ने नाटिका और सट्टक को रूपक की श्रेणी में गिनकर बारह रूपकों की परिकल्पना की है। नाटचदर्पणकार ने नाटिका और प्रकरणी (प्रकरणिका) को स्वतन्त्र रूपक मानकर रूपकों की संख्या बारह बतायी है। किन्तु विश्वनाथ ने इन्हें उपरूपकों के अन्तर्गत परिगणित किया है।

अब उपरूपकों का संक्षेप में परिचय दिया जा रहा है—

(१) **नाटिका और प्रकरणी**—इसका विवेचन पहले सङ्कीर्ण रूपक-भेद के अन्तर्गत किया जा चुका है।

(२) **त्रोटक या तोटक**—'त्रोटक' को 'तोटक' भी कहते हैं। विश्वनाथ ने 'त्रोटक' और शारदातनय ने 'तोटक' का उल्लेख किया है। 'त्रोटक' शब्द नृत्य तथा क्षुब्ध वाणी का द्योतक है। त्रोटक में पाँच, सात, आठ और नौ अङ्क भी होते हैं। इसमें देव और मनुष्य दोनों के जीवन से सम्बन्धित इतिवृत्त की योजना होती है। इसके प्रत्येक अङ्क में विदूषक की उपस्थिति होने से इसमें शृङ्गार रस की प्रधानता होती है। क्योंकि विदूषक शृङ्गारी नायक का सहायक होता है। 'विक्रमोर्वशीय' पाँच अङ्कों का त्रोटक है। शारदातनय के अनुसार 'मेनका-नहुष' नौ अङ्कों का, 'मदलेखा' आठ अङ्कों का और 'स्तम्भित-रम्भक' सात अङ्कों का 'त्रोटक' है।

(३) **सट्टक**—सट्टक को अग्निपुराण में 'शाटक' कहा गया है। सट्टक नाटिका के समान होता है, किन्तु दो बातों में उससे भिन्न है। नाटिका में कई भाषाओं का प्रयोग होता है, जब कि सट्टक में एक ही भाषा प्राकृत का प्रयोग होता है। दूसरे सट्टक में प्रवेशक और विष्कम्भक दोनों नहीं होते। इसमें आदि से अन्त तक 'प्राकृत' भाषा का प्रयोग होता है। इसमें 'अद्भुत' रस का प्राचुर्य रहता है। इसमें अङ्क के स्थान पर 'जवनिका' का प्रयोग किया जाता है। इसका उदाहरण 'कर्पूरमञ्जरी' है।

(४) **गोष्ठी**—यह एकाङ्की रूपक है। इसमें एक अङ्क होता है और इसका कथानक कवि-कल्पित होता है। इसमें काम-शृङ्गार का वर्णन होता है। गोष्ठी में नौ या दस साधारण श्रेणी के पुरुष-पात्र और पाँच-छः स्त्री-पात्र होते हैं। इसमें उदात्तवचन नहीं पाये जाते। इसमें कैशिकी वृत्ति की प्रधानता रहती है और गर्भ एवं विमर्श सन्धियाँ इसमें नहीं होती हैं। इसका उदाहरण 'रैवतमदनिका' है।

(५) **रासक**—यह एकाङ्की उपरूपक है। इसमें पाँच पात्र होते हैं। इसमें कैशिकी एवं भारती वृत्तियाँ होती हैं और मुख एवं निर्बहण सन्धियों की योजना होती है। इसमें भाषा और विभाषा दोनों का बाहुल्य रहता है। इसमें सूत्रधार से रहित एक अङ्क होता है और वीथी के समस्त अङ्गों की योजना होती है। इसकी नायिका कोई प्रख्यात नारी होती है और नायक कोई मूर्ख पुरुष होता है। यह नृत्य-गीतादि कलाओं से युक्त होता है। इसमें उत्तरोत्तर उदात्त भावों का विन्यास हुआ करता है। इसकी नान्दी श्लिष्ट होती है[1]। कुछ आचार्य इसमें प्रतिमुख सन्धि का भी विधान आवश्यक मानते हैं।

अभिनवभारती के अनुसार रासक नृत्यात्मक होता है। इसमें अनेक नर्तकियों की योजना होती है और यह चित्र-विचित्र ताल-लय से समन्वित होता है तथा मसृण एवं उद्धत होता है[2]। भोज एवं रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अनुसार रासक एक विशेष प्रकार का नृत्य है, जिसमें सोलह, बारह या आठ स्त्रियाँ होती हैं, जो पिण्डीबन्ध आदि रूपों में नृत्य करती हैं[3]। इसमें नृत्य की प्रधानता रहती है।

---

१. साहित्यदर्पण, ६।२८८–२९०।

२. अनेकनर्तकीयोज्यं चित्रताललयान्वितम्।
आ चतुष्षष्टियुगलाद्रासकं मसृणोद्धतम्॥
(अभिनवभारती, भाग १ पृ० १८१)

३. षोडश द्वादशाष्टौ वा यस्मिन्नृत्यन्ति नायिकाः।
पिण्डीबन्धादिविन्यासै रासकं तदुदाहृतम्॥
(नाटचदर्पण, पृ० १९१)

(६) **नाट्यरासक**—नाट्यरासक एक अङ्क का होता है। इसमें ताल और लय की पर्याप्त स्थिति होती है। इसका नायक उदात्त प्रकृति का होता है और उसका सहायक पीठमर्द उपनायक होता है। इसमें शृङ्गार-सहित हास्य रस प्रधान (अङ्गी) रस होता है। इसकी नायिका वासकसज्जा होती है। इसमें मुख और निर्बहण दो सन्धियाँ होती हैं और लास्य के दस अङ्ग इसमें विद्यमान रहते हैं[1]। कुछ नाट्याचार्यों के अनुसार इसमें प्रतिमुखसन्धि नहीं होती।

भोज और शारदातनय के मतानुसार नाट्यरासक एक नृत्य-प्रधान उपरूपक है। इसमें नर्तकियाँ नायक के चरित का नृत्याभिनय करती हैं। पहले दो नर्तकियाँ प्रवेश करती हैं और नृत्य प्रस्तुत कर लौट जाती हैं। बाद में पुनः नर्तकियाँ आती हैं और गीत, वाद्य के साथ नृत्य प्रस्तुत करती हैं। वसन्त से सम्बद्ध होने के कारण इसे 'चर्चरी' भी कहते हैं[2]। विश्वनाथ इसे अभिनयात्मक उपरूपक मानते हैं।

(७) **प्रस्थान या प्रस्थानक**—प्रस्थानक का नायक कोई दास होता है और उसका उपनायक उससे भी हीन होता है। उसकी नायिका कोई दासी होती है। इसमें कैशिकी और भारती दो वृत्तियाँ होती हैं। इसमें दो अङ्क होते हैं और ताल, लय आदि संगीतात्मक विलास प्रचुर मात्रा में होते हैं। इसके उद्दिष्ट अर्थ (विषय) की समाप्ति मदिरापान के संयोग से होती है[3]। धनिक के अनुसार प्रस्थानक एक नृत्य-रूपक है। भोज एवं रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अनुसार प्रस्थानक में नृत्य और संगीत प्रचुर मात्रा में होते हैं और प्रथमानुराग और शृङ्गार की स्थितियाँ प्रस्तुत की जाती हैं। इसमें प्रवास-विप्रलम्भ का भाव अनुबद्ध होता है।

(८) **उल्लाप्य या उल्लोप्यक**—उल्लाप्य एकाङ्की उपरूपक हैं। कुछ आचार्यों के अनुसार इसमें तीन अङ्क होते हैं। उल्लाप्य का नायक उदात्त और इतिवृत्त देवता-विषयक होता है। यह शिल्पक के सत्ताईस अङ्गों से युक्त होता है और इसमें हास्य, शृङ्गार और करुण रस की प्रधानता होती है। यह अनेक सङ्ग्रामों के वर्णन से युक्त और अस्रगीत (अन्तर्जवनिकागीत) से मनोहर होता है। इसमें चार नायिकाएँ होती हैं[4]। इसका उदाहरण 'देवी-महादेव' है।

---

१. साहित्यदर्पण, ६।२७७-२७९।

२. कामिनीभिर्भुवो भर्तुः चेष्टितं यत्र नृत्यते।
रागाद्वसन्तमासाद्य स ज्ञेयो नाट्यरासकः॥ (भावप्रकाशन, पृ० २६५)
शृङ्गारप्रकाश, भाग २ पृ० ४२५-४२६।

३. साहित्यदर्पण।

४. वही।

(९) **काव्य**--काव्य आरभटी वृत्ति से रहित एकाङ्की रूपक है। यह हास्यरस-प्रधान उपरूपक है। यह खण्डमात्रा, द्विपदिका, भग्नताल आदि विशेष गीतभेदों से पूर्ण एवं वर्णमाला छग्गणिका छन्दों से युक्त होता है। इसके नायक-नायिका धीरोदात्त तथा मुख और निर्बहण सन्धियाँ होती हैं[1]। अभिनवगुप्त के अनुसार यह एक रागकाव्य है तथा नृत्य-गीतप्रधान उपरूपक है। इसमें आदि से अन्त तक एक पात्र द्वारा एक ही इतिवृत्त का शृङ्खलाबद्ध ग्रन्थन होता है। भोज और कोहल के अनुसार जहाँ पर राग और काव्य परिवर्त्तित होते रहते हैं, वहाँ 'चित्रकाव्य' होता है।

(१०) **प्रेक्षणक या प्रेङ्खण**—भोज, शारदातनय और रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने इसका नाम प्रेक्षणक दिया है और विश्वनाथ ने प्रेङ्खण नाम दिया है। भोज ने इसके दो भेद किये हैं—प्रेक्षणक और नर्तनक। शारदातनय ने प्रेक्षणक और नर्तनक का विवेचन एक ही 'शीर्षक' के अन्तर्गत किया है। उन्होंने शीर्षक में 'प्रेक्षणक' शब्द का प्रयोग किया है और लक्षण 'नर्तनक' का दिया है। उनके मतानुसार नर्तकी जब ललित लय के साथ पदार्थ का अभिनय करती है तो उसे 'नर्तनक' कहते हैं। पुनः 'नर्तनक' उसे कहते हैं, जहाँ छलिक और समरथ्या से युक्त दो प्रकार का लास्य होता है और क्रमशः सुताल और चतुरस्र ताल का प्रयोग होता है। इसमें गर्भ और अवमर्श सन्धियों से रहित शेष सन्धियाँ होती हैं और सभी वृत्तियाँ पायी जाती हैं। इसमें मागधी और शौर-सेनी प्राकृतों का प्रयोग होता है और यह रस-भाव सहित होता है। इसमें नायक उत्तम और मध्यम प्रकृति के होते हैं। कुछ अन्य आचार्यों के मतानुसार इसमें दो ही सन्धियाँ होती हैं और नायक उत्तम और अधम प्रकृति के होते हैं। इसमें भारती और आरभटी वृत्तियाँ होती हैं और कभी-कभी सात्त्वती वृत्ति भी होती है। इसमें नान्दी-गायन नेपथ्य में होता है। अन्य मतानुसार इसमें गर्भ और अवमर्श सन्धियाँ और चारों वृत्तियाँ होती हैं। इसमें सूत्रधार नहीं होता है[2]।

विश्वनाथ के मतानुसार प्रेङ्खण में नायक अधम (नीच) प्रकृति का होता है और गर्भ एवं विमर्श सन्धियाँ नहीं रहतीं। इसमें एक अङ्क होता है और सूत्रधार, विष्कम्भक एवं प्रवेशक की योजना नहीं होती। इसमें द्वन्द्वयुद्ध और सरोष-भाषण की योजना आवश्यक है और सभी वृत्तियाँ पायी जाती हैं। इसमें नेपथ्य में ही नान्दी-गायन और प्ररोचना की योजना होती है[3]। इसका उदाहरण 'बालिवध' है।

---

१. वही।

२. भावप्रकाशन, पृ० २६३।

३. साहित्यदर्पण, ६।२८६–२८७।

(११) **संलापक या सल्लापक**—विश्वनाथ के अनुसार संलापक में तीन या चार अङ्क होते हैं। इसका नायक पाखण्डी होता है और इसमें शृङ्गार एवं करुण रस को छोड़कर कोई एक रस अङ्गी (प्रधान) रस होता है। इसमें नगरावरोध, छल, संग्राम, विद्रव आदि का वर्णन होता है। इसमें भारती और कैशिकी वृत्तियाँ नहीं होतीं[1]। शारदातनय के अनुसार इसका इतिवृत्त प्रख्यात, कवि-कल्पित अथवा मिश्रित हो सकता है। उनके मतानुसार इसमें तीन अङ्क होते हैं[2]। इसका उदाहरण 'मायाकापालिक' है।

(१२) **श्रीगदित**—श्रीगदित एकाङ्की रूपक है। इसका इतिवृत्त प्रख्यात होता है। इसका नायक प्रख्यात और धीरोदात्त होता है। इसकी नायिका भी प्रख्यात होती है। इसमें गर्भ और विमर्श को छोड़कर शेष सन्धियाँ होती हैं। इसमें भारती वृत्ति का बाहुल्य पाया जाता है और 'श्री' शब्द का प्रचुर मात्रा में प्रयोग पाया जाता है, इसीलिए इसे 'श्रीगदित' कहते हैं[3]। भोज एवं शारदातनय ने भी यही लक्षण दिया है। सागरनन्दी के अनुसार श्रीगदित में विरहिणी नायिका करुण-भाव से गायन करती है[4]।

विश्वनाथ ने अन्य मतानुसार एक दूसरे प्रकार का भी श्रीगदित का लक्षण दिया है। तदनुसार 'श्री' वेषधारिणी नटी रङ्गमञ्च पर बैठकर कुछ गाती हुई तथा पद पढ़ती हुई दिखायी जाती है। इसमें एक अङ्क होता है और भारती वृत्ति की प्रचुरता रहती है[5]। शारदातनय ने श्रीगदित का उदाहरण 'रामानन्द' दिया है।

(१३) **शिल्पक**—शिल्पक चार अङ्कों का उपरूपक है। इसका नायक ब्राह्मण और उपनायक अधम प्रकृति का होता है। इसमें श्मशान आदि का वर्णन रहता है। इसमें शान्त और हास्य रस को छोड़कर अन्य रस होते हैं और इसमें चारों वृत्तियाँ होती हैं। शिल्पक के सत्ताईस अङ्ग होते हैं—आशंसा, तर्क, सन्देह, ताप, उद्वेग, प्रसक्ति, प्रयत्न, ग्रथन, उत्कण्ठा, अवहित्था, प्रतिपत्ति, विलास, आलस्य, वाष्प, प्रहर्ष, आश्वास, मूढता, साधनानुगम, उच्छ्वास, विस्मय, प्राप्ति, लाभ, विस्मृति, सम्फेट, वैशारद्य, प्रबोधन और चमत्कृति[6]।

(१४) **विलासिका**—विलासिका एकाङ्की उपरूपक है। इसमें विदूषक, विट, पीठमर्द आदि का चरित चित्रित होता है। इसमें शृङ्गाररस की प्रधानता

१. साहित्यदर्पण, ६।२९१–२९२।
२. भावप्रकाशन, पृ० २५६।
३. साहित्यदर्पण, ६।२९३–२९४।
४. नाटकलक्षणरत्नकोष, पृ० १३१।
५. साहित्यदर्पण, ६।२९५।
६. वही, ६।२९६–३००।

रहती है। गर्भ और विमर्श को छोड़कर शेष तीन सन्धियाँ होती हैं। इसका हीन-गुणों से युक्त होता है। इसमें लास्य के दस अङ्गों की योजना होती है। इसमें वेश-भूषा पर विशेष ध्यान रखा जाता है[१]।

(१५) दुर्मल्लिका या दुर्मल्ली—अग्निपुराण में 'दुर्मल्ली' नाम प्राप्त होता है। दुर्मल्लिका में चार अङ्क होते हैं। इसका प्रथम अङ्क तीन नाडिका (छः घड़ी) का और विट की विविध क्रीड़ाओं से युक्त होता है। द्वितीय अङ्क के अभिनय में पाँच नाडिका (दस घड़ी) का समय लगता है और विदूषक की हास्य-लीलाओं से युक्त होता है। तृतीय अङ्क छः नाडिका (बारह घड़ी) का और पीठमर्द की विलास-क्रीड़ाओं से पूर्ण होता है। चतुर्थ अङ्क में दस नाड़ी (बीस घड़ी) का समय लगता है और नागरिक-जनों की क्रीड़ाओं से युक्त होता है। इसमें कैशिकी और भारती वृत्तियों की योजना होती है और गर्भसन्धि को छोड़कर शेष सन्धियाँ होती हैं। इसके पात्र चतुर होते हैं और नायक नीच प्रकृति का होता है[२]। भोज के अनुसार दुर्मल्लिका में एक दूति नायक-नायिका के चौर्य-रति को रङ्गमञ्च पर प्रकट करती है और दर्शकों से धन माँगती है।

(१६) हल्लीस या हल्लीसक—हल्लीश नृत्य-प्रधान एकाङ्की उपरूपक है। इसमें मण्डलाकार नृत्य होता है, जिसके मध्य में कृष्ण के समान एक नायक होता है, जिसको घेरकर नर्तकियाँ मण्डलाकार नृत्य करती हैं और गाती हैं[3]। विश्वनाथ के अनुसार हल्लीस में एक अङ्क होता है और सात, आठ या दस स्त्रीपात्र होते हैं। इसका नायक उदात्त होता है। इसमें कैशिकी वृत्ति का प्राधान्य रहता है और मुख तथा निर्वहण सन्धियों की योजना होती है तथा इसमें अनेक प्रकार के ताल, लय, राग की स्थिति होती है[४]। शारदातनय के अनुसार हल्लीस में दो अङ्क होते हैं और इसमें ललित, दक्षिण आदि पाँच-छः नायक होते हैं।[५]

(१७) भाण—भाण नृत्य-गीतप्रधान उपरूपक है, किन्तु मध्य में नायक गद्यांश का भी प्रयोग करता है। इसमें ललित, उद्धत एवं ललितोद्धत तीन प्रकार के

---

१. साहित्यदर्पण, ६।३०१-३०२।

२. वही, ६।३०३-३०५।

३. मण्डलेन तु यन्नृत्यं हल्लीसकमिति स्मृतम्।
एकस्तत्र तु नेता स्याद् गोपस्त्रीणां यथा हरिः॥
(अभिनवभारती, भाग १ पृ० १८१ तथा शृङ्गारप्रकाश (भोज), पृ० ५५५)

४. साहित्यदर्पण, ६।३०७।

५. भावप्रकाशन, पृ० २६७।

नृत्य का प्रयोग करता है। अभिनवगुप्त के अनुसार भाण में नर्तकी नृसिंहावतार और वामनावतार के वर्णन का अभिनय करती है। नाट्यदर्पण के अनुसार भाण में हरि, हर, सूर्य, भवानी, स्कन्द और प्रमथाधिप की स्तुति निबद्ध रहती है। यह प्रायः उद्धत कारणों से युक्त एवं स्त्री-पात्रों से रहित होता है[१]।

भाषा की दृष्टि से भाण के तीन भेद होते हैं—शुद्ध, सङ्कीर्ण और चित्र। इतिवृत्त के आधार पर भाण के तीन भेद होते हैं—ललित, उद्धत और ललितोद्धत।

(१८) **भाणिका या भाणी**—भाणिका एकाङ्की नृत्यरूपक है। भाणिका में सुन्दर नेपथ्य-रचना होती है और मुख एवं निर्वहण सन्धियों की योजना होती है। इसमें कैशिकी और भारती वृत्तियाँ होती हैं। इसकी नायिका उदात्त प्रकृति की कुलजा रमणी होती है और नायक नीच प्रकृति का होता है। इसके सात अङ्ग होते हैं—उपन्यास, विन्यास, विबोध, साध्वस, समर्पण, निवृत्ति और संहार[२]। शारदातनय के अनुसार भाण ही सुकुमार प्रयोग के कारण भाणिका हो जाता है। सागरनन्दी के अनुसार 'भाणी' में शृङ्गार रस की प्रधानता रहती है और इसमें दसों लास्याङ्ग होते हैं[३]। विश्वनाथ ने भाणिका का उदाहरण 'कामदत्ता' दिया है।

(१९) **डोम्बी**—डोम्बी का लक्षण 'भाणिका' के समान है। विश्वनाथ ने 'भाणिका' का जो लक्षण दिया है शारदातनय ने वही लक्षण डोम्बी का दिया है। कुछ आचार्यों ने डोम्बी को ही भाणिका कहा है (**डोम्ब्येव भाणिकोदात्तनायिकैकाङ्कभूषिता**)। शारदातनय के अनुसार डोम्बी में एक अङ्क होता है और उसकी नायिका उदात्त होती है। इसमें कैशिकी और भारती वृत्तियाँ होती हैं और वीर या शृङ्गार रस प्रधान (अङ्गी) रस होता है। इसका नायक नीच प्रकृति का होता है और सुन्दर नेपथ्य-रचना होती है। इसके सात अङ्क होते हैं—विन्यास, उपन्यास, विबोध, साध्वस, अनुवृत्ति, समर्पण और संहार[४]। इसका उदाहरण 'कामदत्ता' है।

(२०) **मल्लिका**—शारदातनय ने ही मल्लिका को उपरूपकों में परिगणित किया है। उनके अनुसार मल्लिका शृङ्गाररस-प्रधान उपरूपक है। इसमें एक या दो अङ्क होते हैं और कैशिकी वृत्ति की योजना होती है। इसमें गर्भ और अवमर्श सन्धि को छोड़कर शेष तीन सन्धियाँ होती हैं। यह

१. अभिनवभारती, भाग १ पृ० १८१ तथा भावप्रकाशन, पृ० २५८-६०।
२. साहित्यदर्पण, ६।३०८–३१२।
३. नाटकलक्षणरत्नकोष, पृ० १३१–१३२।
४. भावप्रकाशन, पृ० २५७।

विदूषक तथा विट के विलास-क्रीड़ाओं से युक्त होता है[1]। मल्लिका वस्तुतः दुर्मल्लिका ही है।

(२१) **कल्पवल्ली**--शारदातनय ने ही सर्वप्रथम 'कल्पवल्ली' को उपरूपकों में परिगणित किया है। कल्पवल्ली का नायक उदात्त और उपनायक पीठमर्द होता है। इसमें शृङ्गार या हास्य रस की प्रधानता होती है और कैशिकी वृत्ति का निबन्धन होता है। इसमें मुख, प्रतिमुख और निर्बहण सन्धियों का समायोजन होता है। कल्पवल्ली की नायिका वासकसज्जा या अभिसारिका होती है[2]। यह दस लास्याङ्गों से युक्त होता है।

(२२) **पारिजातक**--शारदातनय ने ही सर्वप्रथम 'पारिजातक' को उपरूपकों में परिगणित किया है। परिजातक एकाङ्की उपरूपक है। इसमें वीर या शृङ्गार रस की प्रधानता रहती है और मुख एवं निर्वहण दो सन्धियाँ होती है। इसका नायक दिव्य एवं उदात्त होता है और नायिका स्वकीया या गणिका होती है तथा कलहान्तरिता होती है[3]। कभी-कभी इसमें विदूषक के हास-परिहास का भी निबन्धन होता है।

(२३) **छालिक्य या छलिक**--छलिक एक नृत्य-प्रधान उपरूपक है। कालिदास ने मालविकाग्निमित्र में इस अभिनय को 'छलिक' नाम से अभिहित किया है। हरिवंशपुराण के अनुसार सर्वप्रथम इसका अभिनय देवों और ऋषियों ने किया, बाद में श्रीकृष्ण ने लोकहितार्थ इसे भूलोक में प्रसारित किया। श्रीकृष्ण ने गोपियों के साथ एक नृत्य किया था, जिसे 'छालिक्य' नृत्य कहा गया। आचार्यों ने इसे उपरूपक नहीं माना है।

इस प्रकार रूपकों एवं उपरूपकों के रूप में नाटचकला का विकास देखा जाता है। नाटचकला का विकास नृत्त, नृत्य और संवाद के संयोग से हुआ है। यह प्राग्वैदिक काल से प्रारम्भ होता है और भरत के समय तक पूर्ण हो जाता है। भरत के नाटचशास्त्र के रचनाकाल तक नाटचकला के विकास का एक सुव्यवस्थित रूप निश्चित हो गया था, क्योंकि नाटचशास्त्र में नाटच के सभी तत्त्वों पर विचार किया गया है। किन्तु उसका विकास उत्तरोत्तर बढ़ता रहा है। नाटचशास्त्र में स्वीकृत दस रूपक रङ्गमञ्च पर विविध रूपों में अभिनीत किये जाने से विविध अवस्थाओं में गुजरते हुए विश्वनाथ के समय तक दस रूपकों और अठारह उपरूपकों में विकसित हो गये थे। बाद में उनकी उपरूपकों की संख्या बाईस-तेईस तक पहुँच गयी। इस प्रकार अनेक विधाओं में रूपकों एवं उपरूकों का विकास होता रहा और उन्हें रङ्गमञ्च पर अभिनीत किया जाता रहा और तदनुकूल उसके स्वरूप की शास्त्रीय व्याख्या भी होती रही है।

---

१. भावप्रकाशन, पृ० २६८। २. वही। ३. वही।

इतिवृत्त-विधान

नाटच के तीन प्रधान तत्त्व हैं—वस्तु, नेता और रस। वस्तु को ही कथावस्तु, कथानक, इतिवृत्त, चरित आदि शब्दों से अभिहित किया जाता है। शिङ्गभूपाल ने कथावस्तु और इतिवृत्त को पर्यायवाची माना है। इस प्रकार रूपक की कथावस्तु ही इतिवृत्त है। इसी को कथानक भी कहते हैं। शिङ्गभूपाल के अनुसार नायक का चरित अथवा आत्मवृत्त इतिवृत्त के नाम से जाना जाता है। इतिवृत्त ही नाटच का शरीर माना जाता है[1] और रस उसकी आत्मा। भरत एवं अग्निपुराणकार ने भी इतिवृत्त को नाटच का शरीर माना है[2]। शारदातनय ने भी नाटच-शरीर को इतिवृत्त की संज्ञा प्रदान की है। नाटचदर्पणकार ने नायक के चरित को इतिवृत्त के नाम से अभिहित किया है। नाटच-इतिवृत्त के दो प्रकार हैं—

१. आधिकारिक तथा २. प्रासङ्गिक।

मुख्य कथावस्तु को आधिकारिक कहते हैं। यह इतिवृत्त सम्पूर्ण प्रबन्ध में व्याप्त रहता है और फलोन्मुख होता है। इसके अङ्गभूत इतिवृत्त को प्रासङ्गिक कहते हैं[3]। यह मुख्य कथा में सहायक होता है अर्थात् प्रधान नायक के कार्यसिद्धि में सहायक होता है। जैसे राम-सीता का वृत्तान्त। प्रासङ्गिक इतिवृत्त के भी दो भेद होते हैं—पताका और प्रकरी। इसमें सानुबन्ध दूर तक चलने वाली प्रासङ्गिक कथा को पताका कहते हैं। जैसे रामचरित में सुग्रीव का वृत्तान्त 'पताका' है और एकदेशस्थ अर्थात् थोड़ी दूर तक चलने वाले वृत्त को 'प्रकरी' कहते हैं[4]। जैसे—शबरी का वृत्तान्त। इस प्रकार इतिवृत्त के तीन भेद होते हैं—आधिकारिक, पताका और प्रकरी।

पताकास्थानक—पताकास्थानक भी एक प्रकार का इतिवृत्त ही है। यह नाटच में वैचित्र्याधान के लिए उपनिबद्ध होता है। जहाँ पर आगन्तुक

---

१. रसार्णवसुधाकर, ३।२०५।

२. इतिवृत्तं हि नाटचस्य शरीरं परिकीर्तितम्। (नाटचशास्त्र २२१)
शरीरं नाटकादीनामितिवृत्तं प्रचक्षते॥
(अग्निपुराणोक्तं काव्यालङ्कारशास्त्रम्)

३. तत्राधिकारिकं मुख्यमङ्गं प्रासङ्गिकं विदुः। (दशरूपक १।११)

४. सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक्॥ (दशरूपक १।१३)

(भावी) अर्थ की अन्योक्तिमय सूचना हो उसे 'पताकास्थानक' कहते हैं। नाट्य में कवि कभी-कभी भविष्य में घटित होने वाली घटना का सङ्केत कर देता है। पताका के समान भावी वृत्त की सूचना देने के कारण इसे 'पताकास्थानक' कहते हैं। यह पताकास्थानक चार प्रकार का होता है।

इस प्रकार धनञ्जय के अनुसार इतिवृत्त के तीन भेद होते हैं—आधिकारिक, पताका और प्रकरी। पुनः इनके तीन-तीन भेद होते हैं—प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र। इतिहास-पुराण आदि से लिया गया इतिवृत्त प्रख्यात, कवि-कल्पित इतिवृत्त उत्पाद्य और प्रख्यात एवं उत्पाद्य दोनों का समन्वित रूप 'मिश्र' इतिवृत्त कहलाता है। पुनः ये दिव्य, मर्त्यादि भेद से अनेक प्रकार के होते हैं। नाट्यदर्पणकार के अनुसार इतिवृत्त के चार विभाग हैं—सूच्य, प्रयोज्य, अभ्यूह्य और उपेक्ष्य। इतिवृत्त का प्रयोजन (फल) धर्म, अर्थ, काम रूप त्रिवर्ग की प्राप्ति है (**त्रिवर्गसाधनं नाट्यम्**)। यह फल कभी एक, कभी दोनों वर्ग और कभी तीनों वर्ग हो सकते हैं। रूपक के समस्त इतिवृत्त को पाँच अवस्थाओं, पाँच अर्थप्रकृतियों तथा पांच सन्धियों में विभाजित किया जाता है।

पाँच अवस्थाएँ—नाटक के इतिवृत्त के पूर्णतः विकास की पांच अवस्थाएं होती हैं—आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम। धनञ्जय एवं शिङ्गभूपाल के अनुसार नायक के द्वारा मुख्य फल की प्राप्ति के लिए जो कार्य-व्यापार किया जाता है उसकी पांच अवस्थाएँ होती हैं, जिन्हें कार्यावस्था कहते हैं।

आरम्भ—मुख्य फल की प्राप्ति के लिए जो औत्सुक्य पाया जाता है उसे 'आरम्भ' कहते हैं। अथवा त्रिवर्ग रूप फल की प्राप्ति की कामना 'आरम्भ' है।

प्रयत्न—अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिए संकल्पपूर्वक किया गया त्वरायुक्त व्यापार (उद्योग) 'प्रयत्न' है।

प्राप्त्याशा—प्रधान फल की प्राप्ति की आशा अर्थात् फलप्राप्ति के साधनों एवं विघ्न-बाधाओं की आशङ्का से कुछ-कुछ फल-सिद्धि की सम्भावना 'प्राप्त्याशा' है।

नियताप्ति—विघ्न-बाधाओं के अभाव के कारण फलप्राप्ति की पूर्ण निश्चय की अवस्था 'नियताप्ति' है।

फलागम—इतिवृत्त में नायक को अभीष्ट समग्र फल की प्राप्ति 'फलागम' है अर्थात् कार्य में सफलता के साथ-साथ समस्त इच्छित फलों की प्राप्ति को 'फलागम' कहते हैं।

पाँच अर्थप्रकृतियाँ—नाट्य-शरीर रूप इतिवृत्त के पाँच तत्त्व हैं—बीज, विन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य। इन्हें अर्थप्रकृति कहते हैं। ये रूपक के

प्रयोजन की सिद्धि के हेतु हैं। नाटचदर्पण के अनुसार अर्थप्रकृतियाँ इतिवृत्त के प्रयोजन (फल) सिद्धि के उपाय हैं। इन फलसिद्धि के उपायभूत पाँच अर्थप्रकृतियों का वर्णन किया जा रहा है।

बीज--प्रथम अर्थप्रकृति 'बीज' है। बीज फलसिद्धि का हेतु है। यह वृक्ष-बीज की तरह स्वल्प रूप में निक्षिप्त होने पर भी अनेक प्रकार से विकसित होता है। यह कार्य का मुख्य कारण होता है। जिस प्रकार फल-प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम बीज बोया जाता है, फिर वह क्रमशः अङ्कुरित एवं पल्लवित होकर महान् वृक्ष का रूप धारण कर लेता है और बाद में उसमें फल लगता है, उसी प्रकार नाटक में फल की प्राप्ति के लिए प्रारम्भ में बीज नामक अर्थप्रकृति का सूक्ष्म रूप में उल्लेख किया जाता है और आगे चलकर वह अनेक रूपों में विकसित होता है।

विन्दु--द्वितीय अर्थप्रकृति 'विन्दु' है। अवान्तर कथा के विच्छिन्न हो जाने पर जो इतिवृत्त को जोड़ने और आगे बढ़ाने का हेतु है, उसे 'बिन्दु' कहते हैं[1]। जिस प्रकार तेल का बिन्दु जल पर फ़ैल जाता है, उसी प्रकार यह बिन्दु भी इतिवृत्त में प्रसारित होता है। बीज के समान बिन्दु भी समस्त इतिवृत्त में व्याप्त रहता है। शिङ्गभूपाल के अनुसार जिस प्रकार जल-बिन्दुओं से तरुमूल में सिञ्चित करने से फललाभ होता है, उसी प्रकार बिन्दु के निक्षेप से नाटच-कथा (इतिवृत्त) पल्लवित एवं विकसित होती है[2]। **पताका** और **प्रकरी** का वर्णन प्रासङ्गिक इतिवृत्त के निरूपण में किया जा चुका है।

कार्य--बीज रूप में उपक्षिप्त नामक के उपाय से सम्बद्ध इतिवृत्त की पूर्णता 'कार्य' है। शिङ्गभूपाल के अनुसार धर्म, अर्थ और काम रूप त्रिवर्ग का साधक समस्त नाटच-व्यापार 'कार्य' है[3]। शिङ्गभूपाल ने कार्य के दो भेद किये हैं—'शुद्ध' और 'मिश्र'। त्रिवर्ग में से किसी एक को साध्य के रूप में ग्रहण करना 'शुद्ध' होता है और अनेक के साध्य होने पर 'मिश्र' होता है।

पाँचस न्धियाँ--पञ्च अवस्थाओं और पञ्च अर्थप्रकृतियों के योग से पाँच सन्धियों का सृजन होता है। भरत ने नाटकीय इतिवृत्त के लिए पाँच अवस्थाओं और पाँच अर्थप्रकृतियों के योग से पाँच सन्धियों की कल्पना की हैं। ये पाँचों सन्धियाँ इतिवृत्त रूप नाटच-शरीर के अभिन्न अङ्ग हैं। भरत के अनुसार पाँच सन्धियों द्वारा विभिन्न अवस्थाओं के कार्य-व्यापारों का

---

१. दशरूपक, १।१७; नाटयदर्पण, १।२९।

२. जलबिन्दुर्यथा सिञ्चँस्तरुमूलं फलाय हि।
तथैवायं मुहुः क्षिप्तो बिन्दुरित्यभिधीयते ॥
(रसार्णवसुधाकर ३।११-१२)

३. रसार्णवसुधाकर, ३।१७।

योग होता है[1]। अभिनवगुप्त के अनुसार प्रधान इतिवृत्त के अंश को उसके स्वरूप एवं अङ्ग से सम्बद्ध करने वाले तत्त्व को सन्धि कहते हैं। धनञ्जय, शारदातनय, विश्वनाथ आदि आचार्य पाँच अवस्थाओं और पाँच अर्थप्रकृतियों को जोड़ने वाले तत्त्व को सन्धि कहते हैं।

धनञ्जय के अनुसार पांच अवस्थाएँ और पाँच अर्थप्रकृतियाँ क्रमशः जब एक-दूसरे से मिलती हैं तो सन्धि कहलाती हैं। सन्धि का सामान्य लक्षण बताते हुए वे कहते हैं कि जब किसी एक प्रयोजन से परस्पर सम्बद्ध कथांशों को जब किसी दूसरे प्रयोजन से सम्बद्ध किया जाय तो उस सम्बन्ध को सन्धि कहते हैं। सन्धि में एक ओर तो कथांशों का सम्बन्ध अर्थप्रकृति के रूप में कार्य से होता है और दूसरी ओर अवस्था के रूप में फलागम से होता है। इन दोनों के परस्पर सम्बद्ध होने पर 'सन्धि' होती है[2]। इन सन्धियों की रचना निम्नलिखित रूप में होती है—

अवस्था		अर्थप्रकृति		सन्धि
आरम्भ	+	बीज	=	मुखसन्धि
प्रयत्न	+	बिन्दु	=	प्रतिमुखसन्धि
प्राप्त्याशा	+	पताका	=	गर्भसन्धि
नियताप्ति	+	प्रकरी	=	विमर्शसन्धि
फलागम	+	कार्य	=	निर्वहणसन्धि

धनञ्जय, विश्वनाथ, शिङ्गभूपाल आदि आचार्यों का सिद्धान्त स्वीकार कर लेने पर कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। उनके अनुसार प्रकरी और नियताप्ति के योग से विमर्शसन्धि की रचना होती है, किन्तु कहीं-कहीं यह गर्भसन्धि में पाई जाती है। जैसे राम-कथा में शबरी का वृत्तान्त 'प्रकरी' है, किन्तु यहाँ गर्भ-सन्धि ही चल रही है, जो सुग्रीव के मिलन तक चलती है। अतः अवस्थाओं और अर्थप्रकृतियों के यथासंख्य योग का सिद्धान्त भ्रान्तिपूर्ण है। इसके अतिरिक्त यह भी शङ्का होती है कि 'कवि की इच्छानुसार कभी-कभी पताका अथवा प्रकरी का प्रयोग नहीं किया जाता। ऐसी स्थिति में अवस्थाओं और अर्थप्रकृतियों का यथासंख्य योग किस प्रकार होगा ? अतः यथासंख्य योग का सिद्धान्त त्रुटिपूर्ण प्रतीत होता है।

मुखसन्धि—आरम्भ नामक अवस्था और बीज (अर्थप्रकृति) के योग से मुखसन्धि होती है। मुखसन्धि में नाना प्रकार के अर्थों एवं रसों के योग

---

१. नाट्यशास्त्र (गायकवाड़), भाग ३ पृ० २३।

२. दशरूपक, १।२२-२३; रसार्णवसुधाकर, ३।२६; भावप्रकाशन, पृ० २०७।

से बीज की उत्पत्ति पाई जाती है[1]। भाव यह है कि जो अनेक प्रकार के प्रयोजनों एवं रसों की निष्पत्ति का हेतु होती है, उसे 'मुखसन्धि' कहते हैं। जिस प्रकार शरीर में मुख की प्रधानता होती है, उसी प्रकार आरम्भ अवस्था के साथ 'बीज' की उत्पत्ति होने के कारण नाटच-शरीर में यह सन्धि मुख्य होने से 'मुखसन्धि' कहलाती है। अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रथम अङ्क से लेकर द्वितीय अङ्क के सेनापति के प्रस्थान पर्यन्त मुख-सन्धि है।

प्रतिमुखसन्धि--प्रयत्न नामक अवस्था और विन्दु नामक अर्थप्रकृति के योग से प्रतिमुखसन्धि होती है। प्रतिमुखसन्धि में बीज रूप इतिवृत्त का उद्घाटन होता है। मुखसन्धि में बीज का वपन होता है और प्रतिमुखसन्धि में प्रस्फुटित होने लगता है। अनुकूल वातावरण में वह बीज रूप इतिवृत्त उद्घाटित होता हुआ दृश्य मालूम पड़ता है, किन्तु विरोधी तत्त्वों के प्रभाव से नष्ट-सा प्रतीत होता है। जैसे धूलि से आच्छादित बीज अङ्कुर के रूप में प्रस्फुटित होता है, उसी प्रकार बीज का किञ्चित् लक्ष्य और किञ्चित् अलक्ष्य रूप में प्रस्फुटित होता है[2]। जिस प्रकार वेणीसंहार नाटक में युधिष्ठिर का क्रोध रूप बीज भीष्मादि के वध कर दिये जाने से किञ्चित् लक्ष्य और कर्ण आदि का वध न किये जाने से अलक्ष्य है। यहाँ लक्ष्यालक्ष्य रूप में बीज का उद्भेद प्रतिमुखसन्धि है।

गर्भसन्धि--प्राप्त्याशा नामक अवस्था और पताका नामक अर्थप्रकृति के योग से 'गर्भसन्धि' का निर्माण होता है। इस सन्धि में नायक-विषयक प्राप्ति और प्रतिनायक-विषयक अप्राप्ति के साथ अन्वेषण होता है[3]। धनञ्जय के अनुसार प्रतिमुखसन्धि में किञ्चित् प्रकाशित हुए बीज का बार-बार आविर्भाव, तिरोभाव एवं अन्वेषण गर्भसन्धि कहलाती है[4]। इसमें मुख्य फल की प्राप्ति और अप्राप्ति की स्थिति में बीज के बार-बार अनुसन्धान से फलोन्मुखता गर्भित रहती है, इसलिए इसे 'गर्भसन्धि' कहते हैं। जैसे—रत्नावली के तृतीय अङ्क में वत्सराज की फलप्राप्ति में वासवदत्ता के द्वारा विघ्न उपस्थित होता है, किन्तु सागरिका के उपाय से राजा की फलप्राप्ति में फिर आशा हो जाती है।

---

१. यत्र बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा।
काव्यं शरीरानुगता तन्मुखं परिकीर्तितम्॥
(नाटचशास्त्र १९।३९, अभिनवभारती, भाग ३ पृ० २३, दशरूपक १।२४)

२. लक्ष्यालक्ष्यतयोद्भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत्।
विन्दुप्रयत्नानुगमादङ्गान्यस्य त्रयोदश॥
(दशरूपक १।३०)

३. उद्भेदस्तस्य बीजस्य प्राप्तिरप्राप्तिरेव वा।
पुनश्चान्वेषणं यत्र स गर्भ इति संज्ञितः॥ (नाटचशास्त्र १९।४१)

४. गर्भस्य दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः। (दशरूपक १।३६)

फिर विघ्न उपस्थित होता है, फिर प्राप्ति की आशा, फिर विच्छेद और फल-हेतु के उपायों का बार-बार अन्वेषण होता है। इस अन्वेषण की अभिव्यक्ति राजा के इस वचन से होती है—

'नास्ति देवीप्रसादनं मुक्त्वाऽन्य उपायः'।

अर्थात् देवी के मानने के अतिरिक्त और कोई दूसरा उपाय नहीं है।

विमर्शसन्धि या अवमर्शसन्धि—इस सन्धि के लिए भरत, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, विश्वनाथ आदि आचार्य 'विमर्श' का प्रयोग करते हैं और धनञ्जय, शारदातनय, शिङ्गभूपाल आदि आचार्य 'अवमर्श' के नाम से अभिहित करते हैं। इस सम्बन्ध में अभिनवगुप्त का कथन है कि कुछ लोग 'विमर्श' को सन्देहात्मक मानते हैं और दूसरे आचार्य 'अवमर्श' शब्द को विघ्नवाचक मानते हैं[१]। किन्तु विमर्शसन्धि को नियत फलप्राप्ति की अवस्था से व्याप्त होने से सन्देहात्मक नहीं कहा जा सकता, किन्तु अवमर्श में विघ्न की स्थिति स्वीकार की जा सकती है; क्योंकि इसमें विघ्नापनयन के उपाय निहित रहते हैं। गर्भ से निर्भिन्न बीज रूप इतिवृत्त विघ्न-बाधाओं से व्याप्त होने से बाधित-सा प्रतीत होता है, किन्तु फलोन्मुखता बनी रहती है। नियताप्ति अवस्था से व्याप्त होने के कारण प्राप्ति की सम्भावना के होते हुए भी फल-प्राप्ति के विघातक विघ्न-बाधाओं के आ जाने से सन्देह बना रहता है। किन्तु विघ्न-बाधाओं के रहते हुए भी नायक के निरन्तर फल-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होने से फल-प्राप्ति नियत रहती है।

नियताप्ति रूप अवस्था और प्रकरी नामक अर्थप्रकृति के योग से विमर्श-सन्धि होती है। जहाँ पर क्रोध, व्यसन या विलोभन से फल-प्राप्ति के सम्बन्ध में विचार या पर्यालोचन किया जाय तथा गर्भसन्धि में ही प्रस्फुटित (निर्भिन्न) बीज रूप अर्थ का सम्बन्ध पाया जाय, उसे विमर्श या अवमर्श सन्धि कहते हैं[२]। धनञ्जय, शारदातनय आदि इसी को स्वीकार करते हैं, किन्तु विश्वनाथ इससे भिन्न लक्षण प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार गर्भसन्धि में उद्भिन्न प्रधानोपाय रूप बीज जहाँ पर अधिक विकसित होता है और शापादि के कारण अन्तराय से युक्त हो, उसे 'विमर्श' सन्धि कहते हैं[३]। जैसे रत्नावली

---

१. अभिनवभारती, भाग ३ पृ० २७।

२. (क) गर्भनिर्भिन्नबीजार्थो विलोभनकृतोऽथवा।
क्रोधव्यसनजो वापि स विमर्श इति स्मृतः॥
(नाटचशास्त्र १९।४२)

(ख) क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात्।
गर्भनिर्भिन्नबीजार्थः सोऽवमर्श इति स्मृतः॥ (दशरूपक १।४३)

३. यत्र मुख्यफलोपाय उद्भिन्नो गर्भतोऽधिकः।
शापाद्यैः सान्तरायश्च स विमर्श इति स्मृतः॥ (साहित्यदर्पण ६।७९)

नाटिका के चतुर्थ अङ्क में वासवदत्ता की अनुकूलता (प्रसन्नता) से रत्नावली की प्राप्ति निर्विघ्न सम्भव है, अतः विमर्शसन्धि है। जैसे वेणीसंहार नाटक में दुर्योधन के रुधिर से लिप्त भीमसेन के आगमन तक 'विमर्श' सन्धि है।

अभिनवगुप्त एवं सागरनन्दी ने इस सम्बन्ध में अन्य आचार्यों का मत भी उद्धृत किया है। एक आचार्य के अनुसार गर्भसन्धि में प्रस्फुटित बीज का अधिक विकास होना 'विमर्श-सन्धि' है। दूसरे आचार्य प्रकीर्ण कार्यों के विस्तारपूर्वक संवरण एवं शत्रु-सामर्थ्य के वर्णन को 'विमर्श' कहते हैं। अन्य आचार्य जहाँ कार्य पूर्णता की स्थिति में पहुँच कर सन्देहात्मक बना रहे, उसे 'विमर्शसन्धि' कहते हैं[१]।

निर्वहणसन्धि—जहाँ पर फलागम नामक अवस्था और कार्य नामक अर्थप्रकृति का योग रहता है, वहाँ 'निर्वहणसन्धि' होती है। जहाँ इतिवृत्त के बीज से सम्बन्ध रखने वाले मुखादि अर्थात् मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श सन्धियों में यत्र-तत्र बिखरे हुए आरम्भ आदि अर्थों (अवस्थाओं) का जब एक प्रधान प्रयोजन के लिए एक साथ समन्वित किये जाते हैं, समेटे जाते हैं तो वह 'निर्वहणसन्धि' कहलाती है[२]। धनञ्जय, शारदातनय, विश्वनाथ, रामचन्द्र, गुणचन्द्र आदि इसी परिभाषा को स्वीकार करते हैं। भरत कुछ भिन्न परिभाषा प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार जहाँ पर मुखादि सन्धियों और बीज-सहित आरम्भादि अवस्थाओं तथा नानाविध सुख-दुःखात्मक भावों का चमत्कारपूर्ण रीति से एकत्र समानयन हो तो 'निर्वहणसन्धि' होती है[३]। यह सन्धि फलयोगावस्था से व्याप्त रहती है। यहाँ पर 'समानयन' शब्द अर्थगर्भित है, क्योंकि विभिन्न सन्धियों की अवस्था के विकासक्रम में जो बिखरे हुए इतिवृत्तांश के सूत्रों का यहाँ चमत्कारपूर्ण रीति से समाहार होता है[४]। जैसे रत्नावली नाटिका में मुखसन्धि में बिखरे हुए सागरिका, वसुभूति, बाभ्रव्य आदि के कार्यों का वत्सराज के ही रत्नावली-समागम रूप एकमात्र कार्य के लिए समाहार होता है।

---

१. अभिनवभारती, भाग ३ पृ० २७ तथा नाटकलक्षणरत्नकोश, पृ० ९०-९२।

२. बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथातथम्।
ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत्॥
(दशरूपक १।४८-४९)

३. समानयनमर्थानां मुखाद्यानां सबीजिनाम्।
नानाभावोत्तराणां यद् भवेन्निर्वहणं हि तत्॥
(नाट्यशास्त्र १९।४३)

४. अभिनवभारती, भाग ३ पृ० २९।

सन्धियों के अङ्ग

नाटक में सन्धियों के समान सन्ध्यङ्गों का नियोजन भी अत्यन्त उपादेय है। भरत का कहना है कि जिस प्रकार अङ्गहीन मनुष्य कार्य करने में असमर्थ होता है, उसी प्रकार अङ्गहीन रूपक में भी प्रयोग की क्षमता नहीं होती। रूपक या काव्य में अपेक्षित स्थलों पर सन्ध्यङ्गों का संयोग न होने पर रूपक या काव्य उदात्त एवं गुणशाली होने पर भी प्रेक्षकों को समुचित आनन्द प्रदान करने में सक्षम नहीं होता। रूपक या काव्य के हीनार्थ होने पर भी रसानुकूल विविध सन्ध्यङ्गों से विभूषित होने से नाट्यप्रयोग सुशोभित होता है[1]। इसीलिए भरतमुनि ने नाट्यप्रयोग में सध्यङ्गों की योजना की है।

सन्ध्यङ्गों के प्रयोजन—भरत ने नाटक में सन्ध्यङ्गों की योजना के छः प्रयोजन बताये हैं—(१) अभीष्ट अर्थ की रचना, (२) इतिवृत्त का (अनुपक्षय), (३) प्रयोग में राग की प्राप्ति, (४) गोपनीय कथांश का गोपन, (५) प्रकाशनीय इतिवृत्त का प्रकाशन और (६) आश्चर्यमय (अलौकिक) वस्तु-कथन[2]।

(१) **मुखसन्धि के अङ्ग**—मुखसन्धि के बारह अङ्ग हैं— १. उपक्षेप, २. परिकर, ३. परिन्यास, ४. विलोभन, ५. युक्ति, ६. प्राप्ति, ७. समाधान, ८. विधान, ९. परिभावना, १०. उद्भेद, ११. भेद और १२. करण।

(१) **उपक्षेप**—बीज का न्यास (वपन) उपक्षेप है। (२) **परिकर**—बीज-न्यास का बाहुल्य 'परिकर' है (३) परिकर की निष्पत्ति 'परिन्यास' है। (४) **विलोभन**—गुणों का वर्णन 'विलोभन' है। (५) **युक्ति**—अर्थों का अवधारण 'युक्ति' है। (६) **प्राप्ति**—फलप्राप्ति से सुखागम 'प्राप्ति' है। (७) **समाधान**—बीज का आगमन 'समाधान' कहलाता है। (८) **विधान**—

---

१. अङ्गहीनो नरो यद्वन्नैवारम्भक्षमो भवेत्।
अङ्गहीनं तथा काव्यं न प्रयोगक्षमं भवेत्॥
उदात्तमपि यत् काव्यं स्यादङ्गैः परिवर्जितम्।
हीनत्वाद्धि प्रयोगस्य न सतां रञ्जयेन्मनः॥
काव्यं यदपि हीनार्थं सन्ध्यङ्गैश्च समन्वितम्।
दीप्तत्वात्तु प्रयोगस्य शोभामेति न संशयः॥
(नाट्यशास्त्र १९।५३-५५)

२. इष्टार्थस्य रचना वृत्तान्तस्यानुपक्षयः।
रागप्राप्तिः प्रयोगस्य गुह्यानाञ्चैव गूहनम्॥
आश्चर्यवदभिख्यानं प्रकाश्यानां प्रकाशनम्।
अङ्गानां षड्विधं ह्येतद् दृष्टं शास्त्रे प्रयोजनम्॥
(नाट्यशास्त्र १९।५१-५२)

सुख-दुःख को उत्पन्न करने वाला आख्यान 'विधान' कहा जाता है। (९) **परिभाव**—अद्‍भुत वचन का विन्यास 'परिभाव' कहलाता है। (१०) **उद्‍भेद**—बीज का अङ्कुरित होना अथवा छिपे हुए बीज का उद्‍भेदन 'उद्‍भेद' कहलाता है। (११) **करण**—अवसर के अनुरूप प्रकृत कार्य का आरम्भ 'करण' है। (१२) **भेद**—पात्र का बीज के प्रति प्रोत्साहन 'भेद' होता है[1]।

(२) **प्रतिमुखसन्धि के अङ्ग**—प्रतिमुखसन्धि के तेरह अङ्ग होते हैं—१. विलास, २. परिसर्प, ३. विधूत, ४. शम, ५. नर्म, ६. नर्मद्युति, ७. प्रगमन, ८. निरोध, ९. पर्युपासन, १०. वज्र, ११. उपन्यास, १२. पुष्प तथा १३. वर्णसंहार।

(१) **विलास**—रति की अभिलाषा करना 'विलास' है। (२) **परिसर्प**—दृष्ट फिर नष्ट बीज का अन्वेषण करना 'परिसर्प' कहलाता है। (३) **विधूत**—इष्ट वस्तु में अरति का होना 'विधूत' है अथवा पूर्वकृत अनुभाव का परित्याग 'विधूत' है। (४) **शम**—अरति का शमन (नष्ट होना) 'शम' कहा जाता है। (५) **नर्म**—परिहासपूर्ण वचन 'नर्म' कहलाता है। (६) **नर्मद्युति**—परिहास में भी धैर्य धारण करना 'नर्मद्युति' है। भरत के अनुसार दोष-प्रच्छादन के लिए की गई हास्य-योजना 'नर्मद्युति' कहलाती है। (७) **प्रगमन**—प्रश्नोत्तर शैली में पात्रों के मध्य जो वचन-विन्यास (वार्तालाप) होता है, उसे 'प्रगमन' कहते हैं। धनञ्जय ने पात्रों के उत्तरोत्तर वचन-विन्यास को 'प्रगमन' कहा है। (८) **निरोध**—हित का अवरोध अथवा विपत्तियों का आगमन 'निरोध' कहलाता है। (९) **पर्युपासन**—नायिकादि अथवा कुपित व्यक्ति के अनुनय-विनय की प्रक्रिया 'पर्युपासन' है। (१०) **वज्र**—वज्र के के समान निष्ठुर वचनों का प्रयोग 'वज्र' नामक अङ्ग कहलाता है। (११) **पुष्प**—विशेष वाक्यों द्वारा बीज का उद्‍घाटन 'पुष्प' नामक अङ्ग कहलाता है। (१२) **उपन्यास**—उपाययुक्त वचन-विन्यास अथवा कार्य के लिए युक्ति प्रस्तुत करना 'उपन्यास' है। (१३) **वर्णसंहार**—चारों वर्णों के पात्रों का एकत्र सम्मिलन 'वर्णसंहार' कहा जाता है[2]।

(३) **गर्भसन्धि के अङ्ग**—गर्भसन्धि के बारह अङ्ग होते हैं—१. अभूताहरण, २. मार्ग, ३. रूप, ४. उदाहरण, ५. क्रम, ६. संग्रह, ७. अनुमान, ८. तोटक, ९. अधिबल, १० उद्वेग, ११. सम्भ्रम और १२. आक्षेप[3]।

(१) **अभूताहरण**—छल या कपट पर आश्रित वचन-विन्यास को 'अभूताहरण' कहते हैं। (२) **मार्ग**—तत्त्वार्थ का कथन 'मार्ग' कहलाता है। (३)

---

१. नाट्यशास्त्र १९।५७-५८ तथा १९।७६-८२, दशरूपक १।२५-२९।

२. नाट्यशास्त्र १९।५९–६९ तथा १९।७६–८२।

३. दशरूपक, १।३७–३९।

रूप — वितर्क-युक्त वाक्य को 'रूप' कहते हैं। (४) **उदाहरण**—उत्कर्ष-युक्त वचन-विन्यास 'उदाहरण' कहलाता है। (५) **क्रम**—भावतत्त्व की उपलब्धि अथवा भाव्यमान अर्थ (वस्तु) की प्राप्ति 'क्रम' नामक सन्ध्यङ्ग कहलाता है। (६) **संग्रह**--साम तथा दान की उक्ति को 'संग्रह' कहते हैं। (७) **अनुमान** — हेतुओं के आधार पर नायकादि द्वारा तर्क किया जाना 'अनुमान' कहलाता है। (८) **अधिबल**--पात्रों द्वारा नायकादि का अभिप्राय जानना 'अधिबल' है। (९) **तोटक**—क्रोध से युक्त वचन-विन्यास 'तोटक' कहलाता है। (१०) **उद्वेग**--शत्रु आदि से उत्पन्न भय 'उद्वेग' कहलाता है। (११) **सम्भ्रम**--शङ्का, भय एवं त्रास से उत्पन्न उद्विग्नता 'सम्भ्रम' है। (१२) **आक्षेप**--गर्भस्थ बीज का उद्भेदन (प्रकाशन) 'आक्षेप' कहलाता है[1]।

(४) **विमर्श (अवमर्श) सन्धि के अङ्ग**--विमर्शसन्धि के तेरह अङ्ग होते हैं—१. अपवाद, २. सम्फेट, ३. विद्रव, ४. द्रव, ५. शक्ति, ६. द्युति, ७. प्रसङ्ग, ८. छलन, ९. व्यवसाय, १०. विरोधन, ११. प्ररोचना, १२. विचलन और १३. आदान[2]।

(१) **अपवाद**—पात्र के दोषों का वर्णन 'अपवाद' है। (२) **सम्फेट**-- रोषपूर्ण भाषण 'सम्फेट' कहलाता है। (३) **विद्रव**--किसी पात्र का वध-बन्धन आदि 'विद्रव' कहलाता है। (४) **द्रव**--गुरुजन का अनादर 'द्रव' कहलाता है। (५) **शक्ति**--कुपित व्यक्ति के क्रोध का अथवा विरोध का शमन 'शक्ति' कहा जाता है। (६) **द्युति**--गर्जन, तर्जन तथा उद्वेजन 'द्युति' कहलाता है। (७) **प्रसङ्ग**--गुरुजनों का कीर्त्तन 'प्रसङ्ग' कहा जाता है। (८) **छलन**--अवमानना को 'छलन' कहते हैं। (९) **व्यवसाय**—शक्ति का कथन 'व्यवसाय' है। (१०) **विरोधन**--क्रुद्ध पात्रों द्वारा स्वशक्ति का प्रकाशन 'विरोधन' है। (११) **प्ररोचना**--भावी घटना की सूचना 'प्ररोचना' कहलाती है। (१२) **विचलन**—आत्मश्लाघा को 'विचलन' कहते हैं। (१३) **आदान**—कार्यसंग्रह 'आदान' है।[3]

(५) **निर्वहणसन्धि के अङ्ग**--निर्वहणसन्धि के चौदह अङ्ग होते हैं— १. संधि, २. विबोध, ३. ग्रथन, ४. निर्णय, ५. परिभाषा, ६. प्रसाद, ७. आनन्द, ८. समय, ९. कृति, १०. भाषण, ११. उपगूहन, १२. पूर्वभाव, १३. उपसंहार और १४. प्रशस्ति[4]।

(१) **सन्धि**--निक्षिप्त बीज का पुनः उपगमन 'सन्धि' है। (२)

---

१. वही, १।४२।

२. दशरूपक, १।४३।

३. दशरूपक, १।४४–४८।

४. दशरूपक, १।४९-५०।

विबोध--कार्य का अन्वेषण 'विबोध' कहा जाता है। (३) **ग्रथन**—कार्य का उपक्षेप 'ग्रथन' कहलाता है। (४) **निर्णय**—अनुभूत अर्थ का कथन 'निर्णय' है। (५) **परिभाषा**—पात्रों के परस्पर वार्तालाप अथवा निन्दा-सूचक वचन-विन्यास को 'परिभाषा' कहते हैं। (६) **प्रसाद**--नायिकादि का प्रसादन 'प्रसाद' कहलाता है। (७) **आनन्द**--अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति 'आनन्द' है। (८) **समय**--नायिकादि के दुःख का समापन 'समय' कहलाता है। (९) **कृति**--लब्ध अर्थ का शमन 'कृति' है। (१०) **भाषण**--साम-दानादि युक्त वचन अथवा मानादि की प्राप्ति 'भाषण' है। (११) **उपगूहन**—अद्भुत वस्तु के 'अर्थ' की प्राप्ति 'उपगूहन' है। (१२) **पूर्वभाव**--कार्य का दर्शन 'पूर्वभाव' है। (१३) **उपसंहार**—वरदान की प्राप्ति 'उपसंहार' है। (१४) **प्रशस्ति**--कल्याण की आशंसा 'प्रशस्ति' है[1]।

सन्ध्यन्तर--इस प्रकार सन्धियों के चौसठ अङ्ग बताये गये हैं। इनके अतिरिक्त इक्कीस सन्ध्यन्तरों का भी वर्णन नाटचशास्त्र में पाया जाता है। उनके नाम हैं—१. साम, २. दान, ३. भेद, ४. दण्ड, ५. प्रत्युत्पन्नमति, ६. वध, ७. गोत्रस्खलित, ८. ओजस्, ९. धीः, १०. क्रोध, ११. साहस, १२. भय, १३. माया, १४. संवृति, १५. भ्रान्ति, १६. दूत्य, १७. हेत्ववधारण, १८. स्वप्न, १९. लेख, २०. मद और २१. चित्र[2]।

भरत ने इक्कीस सन्ध्यन्तरों का केवल नामोल्लेख किया है। धनञ्जय, विश्वनाथ ने इनका पृथक् उल्लेख नहीं किया है। उनके अनुसार कुछ सन्ध्यन्तरों का व्यभिचारी भावों में और कुछ का विविध अङ्गों में अन्तर्भाव हो जाता है। शिङ्गभूपाल ने रसार्णवसुधाकर में इनका सोदाहरण विवेचन किया है।

इतिवृत्त-विभाजन के अन्य प्रकार

नाट्यप्रयोग की दृष्टि से भरत ने इतिवृत्त को दो खण्डों में विभाजित किया है। उनके अनुसार प्रयोग की दृष्टि से नीरस और अनुचित कथांश को अर्थोपक्षेपकों के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है और सरस तथा उचित अंश को अङ्कों के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। इसी को धनञ्जय ने 'सूच्य' एवं 'दृश्य' शब्दों से अभिहित किया है। इनमें सूच्य के द्वारा नीरस और अनुचित इतिवृत्त (कथावस्तु) का सूचन होता है तथा दृश्य के द्वारा प्रयोज्य इतिवृत्त को प्रस्तुत किया जाता है[3]। नाट्यदर्पणकार के अनुसार इतिवृत्त चार

---

१. वही, १।५१-५४।

२. नाटचशास्त्र (गायकवाड़), १९।१०७–१०९।

३. नीरसोऽनुचितस्तत्र संसूच्यो वस्तुविस्तरः।
दृश्यस्तु मधुरोदात्तरसभावनिरन्तरः ॥ (दशरूपक १।५७)।

प्रकार का होता है—सूच्य, प्रयोज्य, ऊह्य और उपेक्ष्य। नीरस और अनुचित इतिवृत्त विष्कम्भादि अर्थोपक्षेपकों के द्वारा सूच्य होता है। इसके विपरीत सरस और उचित इतिवृत्त अभिनय द्वारा प्रदर्शित किया जाना चाहिए। अभ्यूह्य के द्वारा देशान्तर-प्राप्ति (गमन आदि) की ऊहा अर्थात् कल्पना की जाती है। जुगुप्सित इतिवृत्त की उपेक्षा कर देनी चाहिए[१]। सूच्य कथांश की सूचना पाँच अर्थोपक्षेपकों के द्वारा की जाती है। पाँच अर्थोपक्षेपक हैं—विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अङ्कास्य और अङ्कावतार।

(१) **विष्कम्भक**—विष्कम्भक पूर्व में घटित और भविष्य में होने वाली घटनाओं को सूचित करता है (**विष्कभ्नाति वृत्तमुपष्टम्भयति भूत-भावि-कथाभागं योजयति इति विष्कम्भकः**)। भाव यह है कि विष्कम्भक नाटक के किसी भी अङ्क के प्रारम्भ में आने वाला कथा का वह भाग है, जिसमें भूत एवं भविष्य की घटनाओं की सूचना दी जाती है। इसकी योजना अङ्क के प्रारम्भ में आमुख के बाद अथवा दो अङ्कों के मध्य में होती है। कोहल के मतानुसार प्रथम अङ्क के प्रारम्भ में इसका प्रयोग उचित माना जाता है। किसी भी अङ्क के मध्य अथवा अन्त में इसकी योजना नहीं होती। यह एक अङ्क की घटना को दूसरे अङ्क की घटना से जोड़ता है, मिलाता है, इसलिए इसे 'विष्कम्भक' कहते हैं[२]। इसमें मध्यम अथवा अधम श्रेणी के पात्र होते हैं।

विष्कम्भक दो प्रकार का होता है—शुद्ध और सङ्कीर्ण। शुद्धविष्कम्भक में केवल मध्यम श्रेणी के पात्र होते हैं और इसकी भाषा संस्कृत होती है। किन्तु सङ्कीर्णविष्कम्भक में मध्यम और अधम दोनों प्रकार के पात्र होते हैं और संस्कृत-प्राकृत मिश्रित भाषा का प्रयोग करते हैं[३]। सङ्कीर्णविष्कम्भक को ही मिश्रविष्कम्भक भी कहते हैं। इनमें शुद्धविष्कम्भक दो प्रकार का होता है। प्रथम, जिसमें एक ही मध्यम पात्र होता है, दूसरा वह है जिसमें अनेक मध्यम पात्र होते हैं।

(२) **प्रवेशक**--प्रवेशक भी विष्कम्भक के समान भूत एवं भविष्य की घटनाओं का सूचक होता है, किन्तु यह विष्कम्भक से भिन्न होता है। क्योंकि इसकेसभी पात्र नीच प्रकृति के होते हैं और प्राकृत भाषा बोलते हैं तथा प्राकृत में भी शिष्ट प्राकृत न होकर मागधी, शकारी, आभीरी आदि निम्न कोटि की होती है। इसका प्रयोग सदा एक या दो अङ्कों के मध्य होता है। नीच पात्रों

---

१. सूच्यं प्रयोज्यमभ्यूह्यमुपेक्ष्यं तच्चतुर्विधम्। (नाट्यदर्पण १।१०)

२. वृत्तवर्त्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः।
सङ्क्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजितः॥ (दशरूपक, १।५९)

३. नाट्यशास्त्र १९।१११-११२, दशरूपक १।५९-६०।

द्वारा प्रयोज्य होने से इसमें उदात्त वचन नहीं होते हैं[1]। यह अप्रत्यक्ष अर्थ का सामाजिकों के हृदय में प्रवेश कराता है, इसलिए इसे 'प्रवेशक' कहते हैं।

(३) **चूलिका**--जवनिका के अन्दर बैठे किसी पात्र-विशेष के द्वारा जो कथावस्तु की सूचना दी जाती है, उसे 'चूलिका' कहते हैं। चूलिका नेपथ्योक्ति है। चूलिका के द्वारा नेपथ्य के भीतर से अर्थ का सूचन होता है। सूचना देने वाले पात्र मूलतः सूत, मागध, बन्दी-जन आदि निम्न कोटि के होते हैं। चूलिका का प्रयोग अङ्क के मध्य में होता है[2]। नेपथ्यपात्र द्वारा अर्थ की सूचना 'चूलिका' कहलाती है।

(४) **अङ्कावतार**--एक अङ्क की कथावस्तु का विच्छेद किये बिना दूसरे अङ्क की कथावस्तु का संकेत 'अङ्कावतार' है। जहाँ पूर्व अङ्क के पात्र पूर्व अङ्क की समाप्ति पर कथावस्तु का विच्छेद किये बिना दूसरे अङ्क में करें तो वहाँ 'अङ्कावतार' होता है[3]। अङ्कावतार का प्रयोग अङ्क के बाहर नहीं, अङ्क में ही होता है।

(५) **अङ्कास्य या अङ्कमुख**--एक अङ्क की समाप्ति के समय उस अङ्क में प्रयुक्त पात्रों के द्वारा किसी छूटे हुए अर्थ की सूचना 'अङ्कास्य' कहलाता है[4]। अङ्क अन्त में अङ्कास्य होता है, जिसके द्वारा अगले अङ्क के कथावस्तु की सूचना दी जाती है। विश्वनाथ के अनुसार जहाँ एक अङ्क में दूसरे अङ्क की कथावस्तु की सूचना दी जाय, उसे 'अङ्कमुख' कहते हैं।

अङ्क—दृश्य इतिवृत्त का विधान अङ्कों में किया जाता है। नाटक और प्रकरण में पाँच से दस अङ्कों तक का विधान है। अन्य रूपकों में भी अङ्कों की संख्या नियत होती है। भरत के अनुसार 'अङ्क' रूढ़ि शब्द है। भावों एवं रसों के योग से अङ्कान्तर्गत इतिवृत्त उत्तरोत्तर अङ्कुरित होता जाता है। इसमें अनेक प्रकार के विधानों का भी योग होता है, अतः इसे 'अङ्क' कहते हैं। धनञ्जय के अनुसार एक अङ्क में एक ही दिन की घटना होनी चाहिए और एक ही प्रयोजन से सम्बद्ध होना चाहिए। नायक समीपवर्ती हो और एक अङ्क में तीन-चार पात्रों का ही प्रवेश हो तथा अन्त में पात्रों का निर्गम दिखलाना चाहिए।

इतिवृत्त के अन्य भेद--इतिवृत्त का दृश्य अंश ही प्रधान होता है। धनञ्जय के अनुसार दृश्य के दो भेद होते हैं—**श्राव्य और अश्राव्य**। इनमें श्राव्य दो प्रकार का होता है—**सर्वश्राव्य और नियतश्राव्य**। सर्वश्राव्य अर्थात्

---

१. दशरूपक, १।६०–६१।

२. वही, १।६१।

३. वही, १।६२।

४. वही, १।६२।

प्रकट रूप में सबको सुनाने योग्य इतिवृत्त को 'प्रकाश' कहते हैं। नियतश्राव्य के दो भेद होते हैं—**जनान्तिक और अपवारित**।

जनान्तिक--रङ्गमञ्च पर उपस्थित अन्य पात्रों को यदि कोई बात बताना अभीष्ट न हो तो 'त्रिपताक' हस्तमुद्रा से सङ्केत करके वार्तालाप किया जाता है। भाव यह है कि त्रिपताकाकर अर्थात् त्रिपताक हस्तमुद्रा अन्य पात्रों का वारण करके दो पात्रों का परस्पर वार्तालाप करना 'जनान्तिक' कहलाता है[1]।

अपवारित--जहाँ पर दूसरे व्यक्ति की ओर मुख करके कोई पात्र रङ्गमञ्च पर किसी दूसरे पात्र से जो गुप्त बात कहता है, उसे 'अपवारित' कहते हैं[2]। भाव यह है कि मुख मोड़कर अन्य पात्र से रहस्य का कथन 'अपवारित' है। नाट्यदर्पण के अनुसार जो बात किसी पात्र-विशेष से छिपाकर अन्य पात्रों से कही जाती है, उसे 'अपवारित' कहते हैं।

स्वगत या आत्मगत--अश्राव्य इतिवृत्त को स्वगत या आत्मगत कहते हैं। जहाँ कोई बात किसी दूसरे पात्र के सुनने के लिए न कही जाती हो और वक्ता स्वयं अपने मन में कहता है तो उसे 'स्वगत' भाषण कहते हैं[3]।

आकाशभाषित--जब रङ्गमञ्च पर किसी अन्य पात्र के न होने पर भी 'क्या कहते हो ?' इस प्रकार प्रश्न करके और उसका अभिनय करने का अभिनय करते हुए अकेले ही रङ्गमञ्च पर आकाश की ओर मुख करके स्वयं उत्तर-प्रत्युत्तर करता है तो उसे 'आकाशभाषित' कहते हैं[4]।

---

१. दशरूपक, १।६५-६६।

२. वही, १।६६।

३. वही, १।६४।

४. वही, १।६७।

चार :

पात्र-योजना

नायक

नायक शब्द प्रापणार्थक 'नी' धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है— 'ले जाने वाला'। वह नाटकीय कथावस्तु को फलागम तक ले जाता है, इसलिए उसे 'नायक' या 'नेता' कहते हैं। नेता रूपक का द्वितीय भेदक तत्त्व है। यहाँ 'नेता' पद से केवल नायक का ग्रहण नहीं होता अपितु नायक, नायिका, विट, चेट, चेटी आदि सभी पात्रों का ग्रहण होता है। इस प्रकार रूपक में 'नेता' पद से सामान्य रूप से नायक आदि सभी पात्र गृहीत किये जाते हैं।

नायक के गुण—नाट्य-सिद्धान्त के अनुसार नायक को सर्वगुणसम्पन्न होना चाहिए। धनञ्जय ने नायक के गुणों की सविस्तर व्याख्या की है। उनके अनुसार नायक को विनीत, मधुर, त्यागी, चतुर, प्रिय बोलने वाला, लोगों को प्रसन्न रखने वाला, पवित्र मन वाला, वाक्पटु, कुलीन, स्थिर, युवा तथा बुद्धि, उत्साह, स्मृति, मान एवं कला-कौशल से समन्वित और दृढ़, तेजस्वी, शूर, शास्त्रज्ञाता तथा धार्मिक होना चाहिए[1]। इनमें समस्त गुणों से युक्त नायक उत्तम नायक कहे जाते हैं, जो कुछ गुणों से हीन होते हैं वे मध्यम नायक होते हैं और जो समस्त गुणों से हीन होते हैं वे अधम कोटि के नायक होते हैं।

नायक के प्रकार—मानवीय प्रकृति के आधार पर नायक के चार प्रकार बताये गये हैं—ललित, शान्त, उदात्त और उद्धत। सभी नायक धीर होते हैं। यही कारण है कि नायक के सभी भेदों के साथ 'धीर' शब्द जुड़ा रहता है। धीरललित, धीरप्रशान्त, धीरोदात्त और धीरोद्धत।

धीरललित—धीरललित नायक निश्चिन्त, कलासक्त, सुखी और मृदु (कोमल) होता है[2]। वह सामान्यतः राजा होता है, जो अपनी रानी की स्वाभाविक ईर्ष्या से उत्पन्न बाधाओं को दूर करके अपनी प्रेयसी का सुख प्राप्त करना चाहता है। शारदातनय के अनुसार नायक विलासी, रसिक एवं रतिप्रिय होता है। नाटिका का नायक धीरललित होता है। जैसे रत्नावली नाटिका का नायक उदयन 'धीरललित' नायक है।

---

१. दशरूपक, २।१-२।

२. वही, २।३।

धीरप्रशान्त--धीरप्रशान्त नायक में उपर्युक्त सभी गुण पाये जाते हैं। नाटचदर्पण के अनुसार धीरप्रशान्त नायक निरभिमानी, दयालु, विनयी और न्यायपरायण होता है तथा वह ब्राह्मण या सार्थवाह होता है[१]। प्रकरण का नायक सामान्यतः इसी कोटि का होता है। जैसे—मृच्छकटिक का नायक चारुदत्त और मालती-माधव का नायक माधव इसी श्रेणी में आते हैं।

धीरोदात्त--धीरोदात्त नायक महासत्त्व, अतिगम्भीर, अविकत्थन, क्षमाशील, स्थिर, अहङ्कार-रहित तथा दृढ़व्रत होता है[२]। विद्यानाथ के अनुसार यह कृपालु भी होता है। नाटक का नायक प्रायः धीरोदात्त होता है। जैसे नागानन्द नाटक का नायक जीमूतवाहन धीरोदात्त नायक है।

धीरोद्धत—धीरोद्धत नायक दर्प और ईर्ष्या से युक्त, मायावी, छद्मपरायण, अहङ्कारी, चञ्चल, प्रचण्ड और आमश्लाघी होता है[3]। जैसे महावीरचरित में परशुराम।

शृङ्गार की दृष्टि से नायक-भेद—कामवृत्ति के आधार पर शृङ्गारी नायक के चार प्रकार होते हैं—दक्षिण, शठ, धृष्ट और अनुकूल। अनेक नायिकाओं के साथ समान प्रेम-व्यवहार करने वाला नायक 'दक्षिण' नायक कहलाता है। वह दूसरी नायिका से प्रेम हो जाने पर भी पहली नायिका के प्रति उदासीन नहीं होता। जैसे—वत्सराज उदयन। धनञ्जय के अनुसार प्रधान नायिका के साथ हार्दिक प्रेम रखने वाला नायक 'दक्षिण' नायक कहलाता है। **शठ**--ज्येष्ठा नायिका के साथ छल करते हुए प्रच्छन्न रूप से कनिष्ठा नायिका के प्रति आसक्त रहने वाला नायक 'शठ' कहलाता है। जैसे—पुरूरवा। **धृष्ट**--जो अन्य नायिका के साथ संभोग का लक्षण प्रकट हो जाने पर भी निर्भीक होकर ज्येष्ठा नायिका के सामने जाने में लज्जित नहीं होता है, उसे 'धृष्ट' नायक कहते हैं। **अनुकूल**--एक नायिका के प्रति आसक्त रहने वाला नायक 'अनुकूल' नायक कहलाता है[४]। जैसे—राम, नल। इस प्रकार पूर्वोक्त धीरोदात्तादि चार प्रकार के नायकों में प्रत्येक के दक्षिण आदि चार भेद हो सकते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर सोलह प्रकार के नायक हुए। ये सोलहों प्रकार के नायक मानव-स्वभाव के आधार पर उत्तम, मध्यम, अधम भेद से तीन-तीन प्रकार के कुल अड़तालीस (१६ × ३ = ४८) प्रकार के होते हैं। इनके पुनः दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य तीन प्रकार होते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर एक सौ चौवालीस (४८ × ३ = १४४) भेद होते हैं।

---

१. वही, २।४।

२. दशरूपक, २।४।

३. वही, २।५।

४. वही, २।६७; साहित्यदर्पण, ३।४१-४५।

नायक के अन्य प्रकार--रूपगोस्वामी एवं शिङ्गभूपाल ने वस्तुगत दृष्टि से नायक के तीन अन्य प्रकारों का उल्लेख किया है—पति, उपपति और वैशिक। सामाजिक रीति से जिसका नायिक के साथ विधिवत् पाणिग्रहण होता है, उसे 'पति' कहते हैं। जो कामभाव से प्रेरित होकर अपनी पत्नी के अतिरिक्त अन्य नारी से दाम्पत्य सम्बन्ध स्थापित कर संकेतस्थल पर मिलता है, उसे 'उपपति' कहते हैं। वैशिक नायक रूपवान्, प्रियदर्शन, शास्त्रज्ञ, कुलीन, बुद्धिमान्, प्रियभाषी, सुभग, वेश-भूषा में कुशल, कलाप्रेमी, कामोपचार में कुशल एवं रसिक होता है। कलामर्मज्ञ एवं वेश्योपचार में कुशल होने के कारण वह 'वैशिक' कहलाता है[1]। इनके अतिरिक्त नायक के चार और प्रकार बताये गये हैं—धर्मवीर, युद्धवीर, दयावीर और दानवीर।

नायक के सात्त्विक गुण--नायक के आठ विशिष्ट सात्त्विक गुण बताये गये हैं—शोभा, विलास, माधुर्य, स्थैर्य, गाम्भीर्य, तेज, ललित और औदार्य[2]। (१) **शोभा**—शूरता, दक्षता, नीच के प्रति घृणा और उच्च (उत्तम) के प्रति स्पर्धा करना 'शोभा' है। (२) **विलास**--धीरदृष्टि, धैर्ययुक्त गति और स्मितवचन का समावेश 'विलास' है। (३) **माधुर्य**--क्षोभ के कारणों के उत्पन्न होने पर भी उद्विग्न न होना 'माधुर्य' कहलाता है। (४) **गाम्भीर्य**--हर्ष, शोक, भय आदि भावों के आवेश में आकृति पर विकार परिलक्षित न होना 'गाम्भीर्य' कहा जाता है। (५) **स्थैर्य**--अनेक विघ्नों के होते हुए भी विचलित न होना 'स्थैर्य' है। (६) **तेज**—प्राण-सङ्कट में भी अपमान, तिरस्कार आदि सहन न करना 'तेज' कहलाता है। (७) **ललित**--वाणी, वेश और मधुर श्रृङ्गार की चेष्टा 'ललित' कहलाता है। (८) **औदार्य**—दान, परत्राण तथा प्रिय-वचन के लिए प्राण देने के लिए भी तैयार रहना 'औदार्य' है।

नायक के सहायक

उपनायक--नायक के समान ही पूज्य और नायक से कुछ ही गुण-हीन 'उपनायक' होता है। वह पताका व प्रकरी का नायक होता है, अतः उसे 'पताकानायक' भी कहते हैं। पताकानायक को 'पीठमर्द' भी कहते हैं, क्योंकि यह नायक की पीठ ठोंकता है। अपनी सेवा-सहायता से नायक की लक्ष्य-प्राप्ति में सहायक होता है। वह चतुर, बुद्धिमान् और नायक का भक्त होता

---

१. रसार्णवसुधाकर, १।८३, ८५-८८; नाट्यशास्त्र, २३।२-८; उज्ज्वल-नीलमणि, पृ० ९-१५।

शोभा विलासो माधुर्यं स्थैर्यं गाम्भीर्यमेव च।
ललितौदार्यतेजांसि सत्त्वभेदास्तु पौरुषाः॥ (नाट्यशास्त्र २२।२३)

२. दशरूपक, २।१०-१४; नाट्यशास्त्र, २२।३४–४१।

है[1]। विश्वनाथ के अनुसार वह नायक के समान स्वभाव वाला, किन्तु गुणों में उससे कुछ कम होता है[2]। जैसे रामकथा पर आश्रित नाटकों में सुग्रीव उपनायक है।

अनुनायक—अनुनायक नायक का कनिष्ठ होता है और नायक के कार्य-व्यापार में योगदान करता है तथा नायक के समान गुणों में कुछ कम होता है। इसका कोई अपना उद्देश्य नहीं होता है, नायक की फलप्राप्ति में सहायता करता है[3]।

प्रतिनायक—नायक की लक्ष्य-सिद्धि में प्रतिरोध उपस्थित करने वाला, नायक का प्रतिपक्षी 'प्रतिनायक' होता है। वह धीरोद्धत, घमण्डी, लोभी, दुराग्रही, पापी एवं व्यसनी होता है[4]। जैसे रामकथाश्रित नाटकों में रावण प्रतिनायक कहा जाता है। प्रतिनायक नायक का शत्रु होता है। वह नायक के प्रतिकूल आचरण और उसका प्रतिस्पर्द्धी होता है।

विदूषक--विदूषक राजा का सहचर एवं मित्र होता है। वह अपनी वेश-भूषा एवं व्यवहार से हास्यकारी होता है। वह विकृत आकार वाला, वामन, दन्तुर, कुब्ज, खल्वाट एवं पिङ्गलाक्ष होता है[5]। विदूषक जाति का ब्राह्मण, लालची, भोजनभट्ट एवं मोदकप्रिय होता है। वह राजा का विश्वासपात्र अन्तरङ्ग सहचर और सदैव साथ रहने वाला राजा का सहायक होता है। विश्वनाथ के अनुसार विदूषक शृङ्गार रस में नायक का सहायक, परिहास में निपुण, मानिनी नायिकाओं का मानभञ्जक होता है। उसका नाम किसी फूल अथवा वसन्त आदि के नाम पर रखा जाता है। वह अपने विकृत अङ्ग, वेश-भूषा एवं वाणी से लोगों को हँसाता है और कलहप्रिय होता है[6]। भरत, शारदातनय आदि आचार्यों ने विदूषक को चार वर्गों में विभाजित किया है—लिङ्गी, द्विज, राजजीवी और शिष्य।

विट--विट नायक का सेवक एवं स्वामिभक्त होता है। वह नृत्य-गीतादि कलाओं में निपुण, वेश्योपचारकुशल, कवि, लोकव्यवहार में दक्ष एवं धूर्त्त होता

---

१. सरस्वतीकण्ठाभरण, ५।१०३।

२. साहित्यदर्पण, ३।३९।

३. सरस्वतीकण्ठाभरण, ५।१०१।

४. दशरूपक, २।९; नाटचदर्पण, ४।१३; साहित्यदर्पण, ३।४७; रसार्णव-सुधाकर, १।९०।

५. वामनो दन्तुरः कुब्जो द्विजन्मा विकृताननः।
खलितः पिङ्गलाक्षश्च स विज्ञेयो विदूषकः॥ (नाटचशास्त्र ३५।५७)

६. कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेषभूषाद्यैः।
हास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात्स्वकर्मज्ञः॥ (साहित्यदर्पण ३।४२)

है[१]। धनञ्जय के अनुसार विट एक विद्या में निपुण होता है। शारदातनय के अनुसार विट को एक विद्या में निपुण एवं कामतन्त्र में कुशल होता है। नाटचशास्त्र के अनुसार विट मेधावी, वेश्योपचार में कुशल, मधुरभाषी, कवि एवं चतुर व्यक्ति होता है। विश्वनाथ के अनुसार विट वैषयिक भोग-विलास में अपनी सम्पत्ति को लुटाने वाला, धूर्त्त एवं कलानिपुण होता है[२]। भाण में विट आवश्यक पात्र माना गया है।

चेट--भरत के अनुसार चेट कलहप्रिय, बहुभाषी, विरूप, गन्धसेवी, मान्य और अमान्य का विशेषज्ञ होता है[3]। यह नायक का सहायक होता है।

शकार—शकार राजा का साला होता था, जिसे राष्ट्रिय कहा गया है (**राज़श्यालस्तु राष्ट्रियः**)। भरत के अनुसार शकार उज्ज्वल वेश-भूषा धारण करने वाला, बिना कारण रुष्ट और शीघ्र ही प्रसन्न होने वाला, मागध-भाषा-भाषी, अनेक विकारों से युक्त एवं अधम प्रकृति का होता है[४]। विश्वनाथ के अनुसार वह नीच कुल में उत्पन्न, मदान्ध, दम्भी, मूर्ख, अशिष्ट, अनेक दुर्गुणों से युक्त, भ्रष्टाचारी राजा की अविवाहिता पत्नी (रखैल) का भाई कहा जाता था[५]। वह शकारी भाषा बोलता था, इसीलिए शकार कहा जाता था (**शकारभाषाप्रायत्वात् शकारो राष्ट्रियः स्मृतः**)। मृच्छकटिक में शकार का पूर्ण विकास दृष्टिगोचर होता है। अभिज्ञानशाकुन्तल में भी शकार का उल्लेख पाया जाता है, किन्तु उसके बाद संस्कृत-नाटकों में शकार का अभाव दृष्टि-गोचर होता है।

कञ्चुकी--राजा के अन्तःपुर में प्रवेश करने वाला, समस्त कार्यों में कुशल, अनेक गुणों से समन्वित, वृद्ध ब्राह्मण 'कञ्चुकी' कहा जाता था[६]। वह

---

१. वेश्योपचारकुशलः मधुरो दक्षिणः कविः।
ऊहापोहक्षमो वाग्मी चतुरश्च विटो भवेत्॥
(नाटचशास्त्र ३५।५५)

२. दशरूपक, २।९; भावप्रकाशन, पृ० ९४; साहित्यदर्पण, ३।४१।

३. कलहप्रियो बहुकथो विरूपो गन्धसेवकः।
मान्यामान्यविशेषज्ञश्चेटो हचेवंविधः स्मृतः॥
(नाटचशास्त्र ३५।५८)

४. उज्ज्वलवस्त्राभरणः क्रुद्धत्यनिमित्ततः प्रसीदति च।
अधमो मागधभाषी भवति शकारो बहुविकारः॥
(नाटचशास्त्र ३५।५६)

५. मदमूर्खताभिमानी दुष्कुलतैश्वर्यसंयुक्तः।
सोऽयमनूढाभ्राता राज्ञः श्यालः शकार इत्युक्तः॥ (साहित्यदर्पण)

६. अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः।
सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते॥

वह लम्बा कुर्त्ता पहनता था और हाथ में वेत धारण किये रहता था। लम्बा कुर्त्ता (कञ्चुक) धारण करने के कारण उसे 'कञ्चुकी' कहा जाता था। मातृगुप्ताचार्य के अनुसार कञ्चुकी राजा के अन्तःपुर में अव्याहत प्रवेश करने वाला वृद्ध नौकर होता था। वह ज्ञान-विज्ञान में कुशल, सत्यवादी एवं काम-दोष से रहित व्यवहारकुशल होता था[1]। कञ्चुकी राजा का हितैषी भक्त सेवक होता था।

प्रतीहारी—राजा के निकट रहने वाली और सन्धि, विग्रह आदि राज-विषयक कार्यों की सूचना देने वाली सेविका 'प्रतीहारी' कहलाती है[2]।

दूत--राजा के सहायकों में दूत का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। दूत को अनेक गुणों से सम्पन्न होना चाहिए। विश्वनाथ ने दूत के तीन प्रकार बताये हैं--निसृष्टार्थ, मितार्थ और सन्देशहारक। जिसे विशेष अवसर पर कार्य करने का पूर्ण अधिकार रहता है और जो दोनों की भावनाओं को जानकर स्वयं ही सभी प्रश्नों का समाधान कर दे, उसे 'निसृष्टार्थ' दूत कहते हैं। जिसे सीमित कार्य का अधिकार होता है, उसे 'मितार्थ' दूत कहते हैं और जो केवल सन्देश पहुँचाता है उसे 'सन्देशहारक' दूत कहते हैं।

इसके अतिरिक्त नायक के अन्तःपुर के वामन, षण्ढ (नपुंसक), किरात, म्लेच्छ, आभीर आदि भी सहायक होते हैं। नायक के शृङ्गारसहायकों के अतिरिक्त अर्थसहायक, दण्डसहायक, नर्मसहायक और धर्मसहायक भी होते हैं। नायक के अर्थसहायक मन्त्री होते हैं। दण्डसहायकों में अमात्य, प्राड्विवाक, मित्र, कुमार, आटविक, सामन्त आदि होते हैं। नर्मसहायक अन्तःपुर-सहायक ही है। धर्मसहायकों में ऋत्विक्, पुरोहित, तपस्वी आदि की परि-गणना की जाती है।

नायिका--नायिका नाट्य की प्राणवाहिनी धारा है, जिसमें जीवन का मर्मस्पर्शी मधुर रस प्रवाहित होता रहता है। नायक के पूर्वोक्त साधारण गुणों से युक्त नायिका होती है। सामान्य गुणों के आधार पर नायिका तीन प्रकार की होती है--स्वकीया, परकीया और सामान्या। स्वकीया नायिका शील, आर्जव (सरलता) आदि गुणों से युक्त, पतिप्रेमपरायणा, व्यहारनिपुणा, गृहकार्य में दक्ष, विवाहिता पतिव्रता नारी होती है। स्वकीया नायिका भी तीन प्रकार की होती है--मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा। इनमें मुग्धा नायिका अङ्कुरितयौवना, कामवासना में नवीन, लज्जावती, सुरतक्रीड़ा से कतराने वाली, प्रणय-कोप में

---

१. ये नित्यं सत्त्वसम्पन्नाः कामदोषविवर्जिताः।
ज्ञानविज्ञानकुशलाः कञ्चुकीयास्तु ते स्मृताः॥ (मातृगुप्त)

२. सन्धिविग्रहसम्बद्धं नानाचार्यसमुत्थितम्।
निवेदयन्ति याः कार्यं प्रतीहार्यस्तु ताः स्मृताः॥
(नाट्यशास्त्र २४।६०)

भी मृदु होती है। **मध्या** नायिका यौवन एवं कामवासना से पूर्ण, रतिक्रीड़ा में निपुण तथा सुरतक्रीड़ा को मोह के अन्त तक सहन करने वाली होती है। **प्रगल्भा** नायिका यौवन के उभार से कामोन्मत्त, सुरत-क्रीड़ा के कौशल से पूर्ण परिचित, काम-व्यवहार में निर्लज्ज, पति के साथ रति-क्रीड़ा में अचेत-सी हो जाने वाली तथा विकसित हाव-भाव वाली होती है। स्वकीया के दो भेदों 'मुग्धा' और 'प्रगल्भा' नायिका के मानवृत्ति के आधार पर तीन-तीन भेद होते हैं––धीरा, अधीरा और धीराधीरा। इनमें व्यङ्ग्यपूर्ण वचनों से रोष प्रकट करनेवाली 'धीरा', कठोर वचनों से प्रिय को प्रताड़ित करने वाली 'अधीरा और रो-रोकर अपना क्षोभ एवं रोष को प्रकट करने वाली नायिका 'धीराधीरा' कहलाती है[1]। मध्या और प्रगल्भा नायिका के इन छः भेदों के भी पुनः 'ज्येष्ठा' और 'कनिष्ठा' ये दो भेद होते हैं। इस प्रकार 'मध्या' और 'प्रगल्भा' नायिकाएँ बारह प्रकार की होती हैं और 'मुग्धा' नायिका एक प्रकार की होती है। इस प्रकार स्वकीया नायिका के कुल तेरह भेद होते हैं।

परकीया––परकीया नायिका नायक की अपनी परिणीता पत्नी नहीं होती। वह पर-परिणीता भी हो सकती है और अविवाहिता कन्यका भी। इस प्रकार परकीया नायिका के दो भेद होते हैं––परोढा और अनूढा। परोढा नायिका दूसरे की विवाहिता पत्नी होती है। विवाहिता होने पर भी वह परपुरुष के साथ सम्भोग की इच्छा रखती है और निर्लज्ज होती है। अनूढा नायिका अविवाहित कन्या होती है और नवयौवना एवं लज्जाशील होती है। वह माता-पिता के परतन्त्र होने से परकीया कहलाती है।[2]

सामान्या––सामान्या नायिका रति में कुशल, संगीत आदि कलाओं में निपुण, प्रगल्भ तथा धूर्त्त गणिका होती हैं। वह धनिकों के प्रति प्रेम प्रदर्शित करती है और तभी तक प्रेम करती है जब तक उसका धन समाप्त नहीं हो जाता। धन समाप्त हो जाने पर वह अपने नौकरों से अथवा अपनी माँ से बाहर निकलवा देती है। सामान्या नायिका के भी दो भेद होते हैं––रक्ता और विरक्ता[3]। किन्तु रुद्रट ने विरक्ता नायिका की अपेक्षा अनुरक्ता (गणिका) का स्थान शृङ्गार रस की दृष्टि से कुलाङ्गना और परकीया से श्रेष्ठ बताया है। इसीलिए अनुरक्ता का ही नाटकादि में नायिका के रूप में चित्रण पाया जाता है। विरक्ता भावहीन एवं निर्लिप्त होने के कारण नाटकादि में नायिका

---

१. दशरूपक, २।१५-२०; साहित्यदर्पण, ६८-७८; रसार्णवसुधाकर, १।१०४-१०६।

२. दशरूपक, २०-२१; नाटचशास्त्र, २२।२०५-२०८; रसार्णवसुधाकर, १।११०–११२; साहित्यदर्पण, ३।८४-८५।

३. दशरूपक, २।२१; रसार्णवसुधाकर, १।१०६-१०९।

(पात्र) नहीं हो सकती। इस प्रकार सामान्या नायिका एक ही प्रकार की होती है। इस प्रकार सामान्य गुणों के आधार पर नायिका के (स्वीया) के १३ भेद, परकीया के दो भेद तथा सामान्या के एक भेद कुल (१३+२+१ =१६) सोलह भेद होते हैं।

ये सभी नायिकाएँ कामावस्था-भेद से आठ-आठ प्रकार की होती हैं—स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितप्रिया और अभिसारिका।

(१) **स्वाधीनपतिका**—जिसका पति उसके प्रेम से आकृष्ट होकर सदा उसके पास रहता है और उसके वश में रहता है, उसे 'स्वाधीनपतिका' नायिका कहते हैं।

(२) **वासकसज्जा**—जो नायिका अपने सुसज्जित भवन में वेश-भूषा से सुसज्जित होकर प्रियतम के मिलन की प्रतीक्षा करती है, उसे 'वासकसज्जा' कहते हैं।

(३) **विरहोत्कण्ठिता**—प्रियतम के मिलने के लिए उत्सुक होने पर भी दैववशात् पति के न मिलने से उसके विरह में उत्कण्ठित होकर उसकी प्रतीक्षा करती है, उसे 'विरहोत्कण्ठिता' नायिका कहते हैं।

(४) **खण्डिता**—जिसका प्रेमी किसी दूसरी प्रेमिका के प्रेम-प्रपञ्च में आसक्त होने के कारण निश्चित समय पर उसके पास न आ सकने के कारण उसकी विरह-वेदना से पीड़ित हो, उसे 'खण्डिता' नायिका कहते हैं। धनञ्जय एवं विश्वनाथ के अनुसार जो नायिका नायक के शरीर पर अन्य किसी प्रेमिका के नखक्षत एवं दन्तक्षत आदि चिह्नों को देखकर ईर्ष्या से कलुषित हो उठती है, उसे 'खण्डिता' नायिका कहते हैं।

(५) **कलहान्तरिता**—जो नायिका प्रणय-याचना करने वाले प्रियतम को रोष से निरादृत कर देती है और पुनः स्वयं पश्चात्ताप करती है, उसे 'कलहान्तरिता' कहते हैं। भरत के अनुसार ईर्ष्या या कलह के कारण प्रियतम के परदेश चले जाने पर जिसका पति लौटकर नहीं आता, तो ईर्ष्या से युक्त नायिका 'कलहान्तरिता' कहलाती है।

(६) **विप्रलब्धा**—जिसका प्रेमी स्वयं संकेतस्थल पर प्रेमिका से मिलने का समय देकर भी मिलने के लिए नहीं आता, उसे 'विप्रलब्धा' नायिका कहते हैं।

(७) **प्रोषितप्रिया या प्रोषितभर्तृका**—जिस नायिका का पति किसी कार्य से परदेश चला गया है, वह 'प्रोषितप्रिया' कहलाती है।

(८) **अभिसारिका**—जो नायिका कामपीड़ित होकर स्वयं अपने प्रेमी नायक के पास अभिसरण करती है या स्वयं उसे अपने पास बुलाती है, उसे 'अभिसारिका' कहते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त सोलह नायिकाएँ आठ अवस्थाओं के भेद से

(१६ × ८ = १२८) एक सौ अट्ठाईस प्रकार की होती हैं। पुनः इनके भी तीन-तीन भेद होते हैं — उत्तम, मध्यम और अधम। इस प्रकार नायिकाओं के कुल तीन सौ चौरासी (१२८ × ३ = ३८४) प्रकार हुए। धनञ्जय, शारदातनय, विश्वनाथ, रुद्रट आदि आचार्यों ने भी नायिकाओं के तीन सौ चौरासी भेद माने हैं।

नायिका की सहायिकाएँ--नायक के साथ नायिकाओं को मिलाने वाली कुछ सहायिकाएँ होती हैं। दूती, दासी, सखी, पड़ोसिन, शिलिपनी, संन्यासिनी, चेटी, दाई, कथिनी, कारु, विप्रश्निका आदि नायिका की सहायिकाएँ होती हैं, जो नायक को मिलाने में नायिका का सहयोग करती हैं।

नायिका के अलङ्कार

नायक के समान नायिकाओं के भी कुछ सात्त्विक अलङ्कार होते हैं। ये अलङ्कार भाव-रस के आधार होते हैं और उनका सम्बन्ध यौवन से होता है। कुछ आचार्य उन्हें यौवनज अलङ्कार भी कहते हैं। ये अलङ्कार केवल शरीर के शोभावर्द्धक ही नहीं, अपितु नारी के शील का परिनिष्ठित रूप भी है[1]। नायिकाओं के अलङ्कार तीन श्रेणियों में विभाजित हैं — अङ्गज, अयत्नज और स्वाभाविक। इनमें अङ्गज अलङ्कार तीन प्रकार के होते हैं — हाव, भाव और हेला। अयत्नज अलङ्कार सात हैं — शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य। ये स्त्रियों में अयत्न रूप में पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त दस स्वभावज अलङ्कार हैं — लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्चित्, मोट्टायित, कुट्टमित, विव्वोक, ललित और विहृत। ये स्त्रियों में स्वभाव से स्थित रहते हैं[2]।

विश्वनाथ ने इन बीस अलङ्कारों के अतिरिक्त आठ अन्य अलङ्कार भी बताये हैं—मद, तपन, मौग्ध्य, विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित और केलि[3]।

अङ्गज अलङ्कार--नेत्रों एवं भौंहों के विचित्र व्यापार द्वारा सम्भोग की कामना प्रकट करना 'हाव' है। नायक-नायिका के निर्विकार चित्त में काम-विकार का प्रथम उन्मेष 'भाव' है। नायक-नायिका के हृदय में रति-भाव के प्रस्फुरित हो जाने पर अङ्ग-प्रत्यङ्ग का सबको परिलक्षित होने वाला विकार 'हेला' है[4]।

अयत्नज अलङ्कार--शोभा--रूप, यौवन एवं विलास से उत्पन्न शरीर

---

१. नाटचशास्त्र २२।४।

२. दशरूपक २।३०–३३; साहित्यदर्पण ३।८९–९२; नाटचदर्पण ४।२८।

३. साहित्यदर्पण ३।९२।

४. नाटचशास्त्र २२।८-११; दशरूपक २।३३-३४; साहित्यदर्पण ३।९३-९५।

का सौन्दर्य 'शोभा' है। **कान्ति**--काम-विलास से बढ़ी हुई वही शोभा 'कान्ति' कहलाती है। **दीप्ति**--कान्ति-भाव का विस्तार 'दीप्ति' है। **माधुर्य**—क्रोध आदि विकारों से दीप्त सभी अवस्थाओं में अक्षुण्ण रमणीया 'माधुर्य' है। **प्रगल्भता**—काम-क्रिया में दक्ष एवं निर्भीक होना 'प्रगल्भता' है। **औदार्य**--सभी अवस्थाओं में विनम्र रहना 'औदार्य' है। **धैर्य**--आत्मश्लाघा और चञ्चलता से रहित मनोवृत्ति 'धैर्य' है[1]।

स्वभावज अलङ्कार--लीला--प्रियतम के वेष-भूषा, वचन, भाव-भङ्गिमा आदि का अनुकरण 'लीला' है। **विलास**--प्रियतम के दर्शन से आङ्गिक चेष्टाओं, बोल-चाल आदि भावों में उत्पन्न विशेषता 'विलास' है। **विच्छित्ति**--कान्ति को बढ़ाने वाली स्वल्प वेष-रचना को 'विच्छित्ति' कहते हैं। **विभ्रम**--प्रियतम के आगमन आदि के प्रसङ्ग में हर्षातिरेक के कारण शीघ्रता से अलङ्कारादि का अनुचित स्थान पर (विपरीत) धारण करना 'विभ्रम' है। **किलकिञ्चित्**--आनन्दातिरेक के कारण हर्ष, शोक, क्रोध, रोदन, सुख, दुःख आदि अनेक भावों का एक साथ मिश्रण 'किलकिञ्चित्' कहलाता है। **मोट्टायित**--प्रियतम के चरित्र से सम्बद्ध कथा के श्रवण तथा दर्शन से प्रेम की अतिशय अभिव्यक्ति 'मोट्टायित' है। **कुट्टमित**--प्रियतम के द्वारा केश, स्तन, अधर आदि का स्पर्श किये जाने पर प्रसन्नता से दिखावटी क्रोध का प्रदर्शन 'कुट्टमित' कहलाता है। **विव्वोक**--सौन्दर्य आदि के गर्व के कारण प्रियतम के प्रति अनादर भाव प्रदर्शित करना 'विव्वोक' है। **ललित**--नारी के द्वारा अङ्ग-प्रत्यङ्ग का सुकुमार सञ्चालन तथा भाव-भङ्गिमाओं का प्रदर्शन 'ललित' कहलाता है। **विहृत**--अवसर आने पर भी लज्जा के कारण प्रिय वचनों का न बोलना 'विहृत' कहलाता है[2]।

विश्वनाथ के अनुसार नायिका के आठ अन्य अलङ्कार--(१) **मद**--यौवन एवं सौभाग्य से उत्पन्न मनोविकार को 'मद' कहते हैं। (२) **तपन**--प्रियतम के वियोग में कामोद्वेग से उत्पन्न चेष्टाएँ 'तपन' हैं। (३) **मौग्ध्य**—ज्ञात (जानी हुई) वस्तु के सम्बन्ध में प्रियतम के अनजान बनकर पूछना 'मौग्ध्य' कहलाता है। (४) **विक्षेप**--आभूषणों की अपूर्ण रचना, अकारण इधर-उधर देखना और रहस्यमय वचन बोलना 'विक्षेप' है। (५) **कुतूहल**--रमणीय वस्तु के देखने पर चित्र में उत्सुकता 'कुतूहल' है। (६) **हसित**--यौवन के उद्रेक के कारण अकारण (वृथा) हँसना 'हसित' है। (७) **चकित**--

---

१. नाटचशास्त्र २३।२६–३१; दशरूपक २।३५–३७; साहित्यदर्पण ३।९५–९७।

नाटचदर्पण ४।३५–३७।

२. नाटचशास्त्र २२।१४–२५; दशरूपक २।३७–४१; साहित्यदर्पण ३।९८-१०५; नाटचदर्पण ४।३१–३५।

प्रियतम के सामने अकारण भयभीत होना 'चकित' कहलाता है। (८) केलि-- प्रियतम के साथ काम-क्रीडा करना 'केलि' है[1]।

अभिनवगुप्त आदि आचार्य विश्वनाथोक्त मद, तपन आदि आठ स्वभावज अलङ्कारों को भरत-विरोधी होने के कारण स्वीकार नहीं करते। वे नायिका के अलङ्कारों की संख्या बीस ही मानते हैं। अभिनवगुप्त के अनुसार राहुल, मातृगुप्त आदि आचार्य मदादि आठ अलङ्कारों को नायिकाओं के स्वभावज अलङ्कारों के रूप में परिगणना नहीं करते। ये हाव-भाव आदि अलङ्कार उत्तम प्रकृति वाले युवक एव युवती नारियों के शरीर के शोभाजनक होते हैं।

नाट्यशास्त्र के अनुसार ऋषि लोग राजा को 'राजन्' कहकर सम्बोधित करते थे और भृत्यजन राजा को 'देव' अथवा 'स्वामिन्' कहकर सम्बोधित करते हैं। अधम प्रकृति के भृत्य राजा को 'भट्ट' (भर्त्तः) कहकर और सूत एवं ब्राह्मण 'आयुष्मन्' कहकर सम्बोधित करते हैं। देव, महर्षि, विद्वान् एवं तपस्वी को 'भगवन्' कहकर सम्बोधित करना चाहिए और ब्राह्मण, अमात्य, अग्रज, गुरुजन के लिए 'आर्य' कहकर सम्बोधित करे। पत्नी अपने पति को 'आर्यपुत्र' कहकर सम्बोधित करे। सूत्रधार पारिपार्श्विक को 'मार्ष' तथा पारिपार्श्विक सूत्रधार को 'भाव' कहकर सम्बोधित करे। राजा और विदूषक एक-दूसरे को 'वयस्य' कहकर सम्बोधित करते हैं।

स्त्रीपात्रों में सखियाँ एक-दूसरे को 'हला' कहकर सम्बोधित करती हैं। और दासी 'हञ्जे' कहकर सम्बोधित करे। विदूषक रानी व सेविका (चेटी) को 'भवति' शब्द से सम्बोधित करे। रानी को 'भट्टिनि' अथना 'स्वामिनि' कहकर सम्बोधित करना चाहिए। इनके अतिरिक्त राजकुमारी को 'भर्तृदारिके', वेश्या को 'अज्जुका' कुट्टिनी एवं वृद्धा स्त्री को 'अम्बा' शब्द से सम्बोधित करना चाहिए।

---

१. साहित्यदर्पण ३।१०६–११०।

पाँच :

रीति-वृत्ति एवं प्रवृत्ति विचार

नाटच-वृत्तियाँ

नाटच-प्रयोग में वृत्तियों का विशेष महत्त्व है। नायक के व्यापार को 'वृत्ति' कहते हैं। भरत के अनुसार कायिक, वाचिक एवं मानसिक व्यापार 'वृत्ति' है। आनन्दवर्द्धन इसे 'व्यवहार' कहते हैं और अभिनव एवं धनञ्जय ने इसे नायकादि का चेष्टा-व्यापार माना है। भोज, राजशेखर, सागरनन्दी 'चेष्टाविन्यासक्रम' को 'वृत्ति' कहते हैं। अग्निपुराणकार नायकादि के कार्य में नियमपूर्वक व्यापार को 'वृत्ति' कहते हैं। अभिनव एवं नाटचदर्पणकार के अनुसार पुमर्थसाधक नाना प्रकार के व्यापार को 'वृत्ति' कहते हैं[1]। भरत ने वृत्तियों को नाटच की माता कहा है (**वृत्तयो नाटचमातरः**)[2]। वृत्तियाँ रसोदय की स्रोत हैं, इसलिए उन्हें नाटच की माता कहा गया है। नायक-नायिकादि के विलासपूर्ण व्यापार रूप वृत्ति के द्वारा रसोदय होता है। इस प्रकार जिससे नाटच में रस का संचरण हो, वह 'वृत्ति' है।

भरत ने वृत्तियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक रोचक आख्यान प्रस्तुत किया है। दर्पोन्मत्त मधु-कैटभ के साथ युद्ध करते समय भगवान् विष्णु ने जो क्रिया-कलाप किये थे, उन्हीं से वृत्तियों का जन्म हुआ। युद्ध के समय विष्णु ने कठोर एवं भर्त्सनापूर्ण वचनों का उच्चारण करते हुए भूमि पर बलपूर्वक पादन्यास किया तो धरती पर अतिभार हो गया। इससे वाग्भूयिष्ठ भारती वृत्ति का उदय हुआ। युद्ध के समय सत्त्वाधिक्य मनोव्यापार से सात्त्वती वृत्ति की उत्पत्ति हुई। युद्ध के समय जब विष्णु ने विचित्र अङ्गहारों एवं लीलापूर्ण चेष्टाओं से केश का संयमन किया था तो उससे 'कैशिकी' का उद्भव हुआ। आवेग-बहुल, नाना चारियों से समन्वित, विचित्र द्वन्द्वयुद्धों से 'आरभटी' वृत्ति का उद्गम हुआ[3]। इस प्रकार विष्णु की विविध चेष्टाओं से चारों वृत्तियों का उदय हुआ।

भरत ने वृत्तियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पौराणिक परम्परा के अतिरिक्त वैदिक स्रोत की भी कल्पना की है। उनके अनुसार संवाद-प्रधान ऋग्वेद

---

१. एवमेते बुधैर्ज्ञेया वृत्तयो नाटचमातरः। (नाटचशास्त्र २२।६४)

२. अभिनवभारती, भाग २ पृ० ४८०; नाटचदर्पण, पृ० १३७।

३. नाटचशास्त्र, २०।१०-१४।

से भारती वृत्ति, अभिनय-प्रधान यजुर्वेद से सात्त्वती वृत्ति, गीत-प्रधान सामवेद से कैशिकी वृत्ति और रस-प्रधान अथर्ववेद से आरभटी वृत्ति की उत्पत्ति हुई है[१]। वृत्तियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में नाटचशास्त्र में एक अन्य परम्परा का भी उल्लेख मिलता है। तदनुसार वाग्व्यापार-प्रधान, पुरुषप्रयोज्य, स्त्री-वर्जित और संस्कृत-पाठयुक्त भरतों के नाम से 'भारती' वृत्ति प्रचलित हुई[२]। नाटचशास्त्र के अनुसार भरत ने तीन वृत्तियों का प्रयोग तो स्वयं किया किन्तु कैशिकी वृत्ति के प्रयोग की प्रेरणा शिव के नृत्य से मिली। इनके अतिरिक्त शारदातनय ने भावप्रकाशन में वृत्ति-सम्बन्धी एक अन्य परम्परा का उल्लेख किया है। उनके अनुसार शिव-पार्वती के नृत्य देखते समय ब्रह्मा के चारों मुख से चारों वृत्तियों का उद्‌गम हुआ है[३]।

इनके अतिरिक्त अग्निपुराण की एक टीका में एक अन्य परम्परा का उल्लेख मिलता है। तदनुसार भरत नामक राजा के द्वारा प्रकाशित होने के कारण भारती वृत्ति, सात्त्वत राजा के द्वारा प्रकाशित की गई सात्त्वती वृत्ति, आरभट के द्वारा प्रकाशित होने से आरभटी वृत्ति और कुशिक राजा के द्वारा प्रकाशित होने से 'कैशिकी' वृत्ति कहलायी[४]। इस प्रकार ये चारों वृत्तियाँ रस एवं भावों की अनुभाविका क्रिया हैं।

भारती वृत्ति

नाटचशास्त्र के अनुसार भारती वृत्ति शब्द पर आश्रित है, जब कि शेष तीन वृत्तियाँ (सात्त्वती, कैशिकी, आरभटी) अर्थ पर आश्रित होती हैं। अभिनवगुप्त ने 'भारती' वृत्ति को 'पाठ्यप्रधाना' 'वाग्वृत्ति कहा है। नाटचदर्पण-कार ने भारती रूप होने से इसे 'भारती' वृत्ति कहा है[५]। शिङ्गभूपाल भरत (नट) की वृत्ति होने के कारण इसे 'भारती' वृत्ति कहते हैं[६]। नाटचशास्त्र के अनुसार भारती वृत्ति वाग्व्यापारप्रधाना, पुरुषप्रयोज्या, स्त्रीवर्जिता, संस्कृतपाठयुक्ता होती है। भरत के द्वारा प्रणीत होने के कारण इसे 'भारती'

---

१. ऋग्वेदात्भारती वृत्तिर्यजुर्वेदाच्च सात्त्वती।
कैशिकी सामवेदाच्च शेषा चाथर्वणादपि ॥ (नाटचशास्त्र २०।२५)

२. या वाक्प्रधाना पुरुषप्रयोज्या स्त्रीवर्जिता संस्कृतपाठयुक्ता।
स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः ॥
(नाटचशास्त्र २०।२६)

३. भावप्रकाशन, पृ० १२।

४. अग्निपुराणोक्तं काव्यालङ्कारशास्त्रम् (पृ० ११२)।

५. भारतीरूपत्वात् व्यापारस्य भारतीति। (नाटचदर्पण, पृ० १३६)

६. प्रयुक्तत्वेन भरतैः भारतीति निगद्यते। (रसार्णवसुधाकर १।२६१)

वृत्ति कहते हैं[१]। इस प्रकार भारती वृत्ति वाग्वृत्ति है, जो सभी रसों में प्रयोज्य है। भरत के अनुसार केवल करुण और अद्भुत रसों में ही इस वृत्ति का प्रयोग करना चाहिए[२]। किन्तु यह युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता है।

भारती वृत्ति के चार अङ्ग बताये गये हैं—प्ररोचना, आमुख, वीथी और प्रहसन। प्ररोचना और आमुख ये दो वस्तुतः नाटक की प्रस्तावना से सम्बद्ध हैं। उस प्रसङ्ग में उन पर विचार किया जायगा। वीथी और प्रहसन ये दोनों रूपक के दो प्रकार हैं। किन्तु वीथी के अङ्गों का प्रयोग रूपक के किसी भी भाग विशेषकर प्रथम सन्धि में किया जा सकता है। यहाँ हम भारती वृत्ति के अङ्गों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

प्ररोचना—पूर्वरङ्ग में नाटकादि की प्रशंसा करके सामाजिकों को नाटक के अवलोकन की ओर उन्मुख करना प्ररोचना है[३]।

आमुख—जहाँ पर सूत्रधार नटी, विदूषक, पारिपार्श्विक के साथ प्रस्तुत कार्य का आक्षेप करते हुए चित्र-विचित्र उक्तियों के द्वारा वार्तालाप करे, उसे 'आमुख' कहते हैं। इसे ही 'प्रस्तावना' के नाम से भी अभिहित करते हैं। नाटचशास्त्र एवं साहित्यदर्पण के अनुसार प्रस्तावना के पाँच भेद होते हैं— उद्घात्यक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवृत्तक और अवगलित[४]। किन्तु धनञ्जय एवं अग्निपुराणकार ने प्रस्तावना के तीन भेद बताये हैं—कथोद्घात, प्रयोगातिशय और प्रवृत्तक[५]। जहाँ पर सूत्रधार के द्वारा प्रयुक्त वाक्य या वाक्यार्थ का अनुस्मरण करते हुए किसी पात्र का प्रवेश होता है, उसे **'कथोद्घात'** कहते हैं। एक प्रयोग के द्वारा दूसरे प्रयोग का आरम्भ करते हुए पात्र का प्रवेश करना **'प्रयोगातिशय'** है। ऋतु आदि के वर्णन के द्वारा जहाँ प्रयोग प्रारम्भ होता है, उसे 'प्रवर्तक कहते हैं। उद्घात्यक और अवगलित का वीथी के अङ्गों में भी परिगणन है। इनका विवेचन वहीं किया जायगा।

वीथी—वीथी के तेरह अङ्ग होते हैं—उद्घात्यक, अवगलित, प्रपञ्च, त्रिगत, छल, वाक्केलि, अधिबल, गण्ड, अवस्यन्दित, नालिका, असत्प्रलाप, व्याहार और मृदव[६]।

---

१. या वाक्प्रधाना पुरुषप्रयोज्या स्त्रीवर्जिता संस्कृतपाठयुक्ता।
स्वनामधेयैः भरतैः प्रयुक्ता सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः॥
(नाटचशास्त्र २०।२६)

२. भारती चापि विज्ञेया करुणाद्भुतसंश्रया।
(नाटचशास्त्र, निर्णयसागर २०।६३)

३. नाटचशास्त्र (गायकवाड़) २०।२८-२९।

४. नाटचशास्त्र, २०।३०-३१; साहित्यदर्पण, ६।३३।

५. दशरूपक, ३।८; अग्निपुराणोक्तं काव्यालङ्कारशास्त्रम्, २।१४।

६. दशरूपक, ३।१२-१३।

(१) **उद्घात्यक**--जहाँ पर प्रश्नोत्तरात्मक उक्ति-प्रत्युक्तिमय वार्तालाप अथवा एकालाप के द्वारा अनिश्चित अर्थ का निर्धारण होता है, उसे 'उद्घात्यक' वीथ्यङ्ग कहते हैं।

(२) **अवगलित**--जहाँ पर एक कार्य के समावेश से दूसरे कार्य की सिद्धि की जाय अथवा जहाँ एक कार्य के प्रस्तुत होने पर अन्य अप्रस्तुत कार्य की सिद्धि हो जाय, वहाँ 'अवगलित' नामक वीथ्यङ्ग होता है।

(३) **प्रपञ्च**--हास्यजनक अथवा मिथ्या प्रशंसापरक कथोपकथन 'प्रपञ्च' कहलाता है।

(४) **त्रिगत**--शब्द-सादृश्य के कारण अथवा नट, नटी और सूत्रधार तीनों के द्वारा जहाँ अनेक अर्थों की योजना हो, उसे 'त्रिगत' नामक वीथ्यङ्ग कहते हैं।

(५) **छल**--जहाँ प्रिय प्रतीत होने वाले अप्रिय वचनों के द्वारा प्रलोभित कर किसी के साथ वञ्चना की जाय, उसे 'छल' कहते हैं।

(६) **वाक्केलि**--जहाँ पर कतिपय उक्ति-प्रत्युक्तियों के द्वारा हासपरिहास हो अथवा अनेक प्रश्नों का एक ही उत्तर हो, उसे 'वाक्केलि' कहते हैं।

(७) **अधिबल**--परस्पर स्पर्द्धापूर्वक बढ़-चढ़ कर वार्तालाप करना 'अधिबल' है।

(८) **गण्ड**--जहाँ पर प्रस्तुत विषय से सम्बद्ध भिन्नार्थक वचन का सहसा कथन हो, उसे 'गण्ड' कहते हैं।

(९) **अवस्यन्दित**--जहाँ स्वाभिप्राय के प्रकाशक वचन का अन्य प्रकार से व्याख्या हो, उसे 'अवस्यन्दित' कहते हैं।

(१०) **नालिका**--जहाँ पर हास-परिहास युक्त गूढ़ अर्थ वाली 'पहेली' का कथन हो, उसे 'नालिका' कहते हैं।

(११) **असत्प्रलाप**--असम्बद्ध अर्थात् ऊट-पटांग बात का प्रयोग 'असत्प्रलाप' कहलाता है।

(१२) **व्याहार**--दूसरे के लिए हास्यजनक अथवा क्षोभकारक वचन (वाणी) का प्रयोग करना 'व्याहार' कहलाता है।

(१३) **मृदव**--जहाँ पर गुण दोष जैसा और दोष गुण जैसा प्रतीत होने वाला वचन-विन्यास हो, उसे 'मृदव' कहते हैं।

प्रहसन--प्रहसन रूपक का एक भेद है। रूपक-निरूपण के अवसर पर 'प्रहसन' का विवेचन किया गया है।

सात्त्वती वृत्ति

सात्त्वती वृत्ति सत्त्व-प्रधान मानस व्यापार है। इसमें वाचिक एवं आङ्गिक अभिनयों के साथ सत्त्व या मनोव्यापार की अधिकता पायी जाती है। भरत के अनुसार इसमें सत्त्वगुण की प्रधानता रहती है। यह न्याय वृत्त से समन्वित

होती है। इस वृत्ति में शौर्य, त्याग, दया, दान, आर्जव आदि गुणों के साथ सत्त्व की अधिकता होती है। इसमें हर्ष का प्रकाशन, शोक का संवरण एवं अद्भुत रस की प्रचुरता होती है[१]। भरत ने इसे वीर, अद्भुत एवं रौद्र रस के लिए उपयुक्त माना है। इसमें उद्धत प्रकृति के पुरुष-पात्र अधिक रहते हैं। मनीषियों ने इसके चार भेद बताये हैं—उत्थापक, सांघात्य, संलाप और परिवर्त्तक।

(१) **उत्थापक**--शत्रु को उत्तेजित करने वाली वाणी को 'उत्थापक' कहते हैं। अथवा जिसके द्वारा मनोभावों का उत्थान होता है, वह 'उत्थापक' कहलाता है।

(२) **सांघात्य**--मन्त्रशक्ति, अर्थशक्ति, दैवशक्ति आदि के द्वारा शत्रु के संघ का भेदन (फोड़ना) 'सांघात्य' है।

(३) **संलाप**—विविध भावों के आश्रित गम्भीर उक्ति 'संलाप' है।

(४) **परिवर्त्तक**—प्रारम्भ किये हुए कार्य को छोड़कर अन्य कार्य का सम्पादन 'परिवर्त्तक' कहा जाता है।

आरभटी

आर का अर्थ है—चाबुक या अङ्कुश। आर (अङ्कुश के समान उद्धत भट योद्धा पुरुष 'आरभट' कहे जाते हैं। उन आरभटों का वर्णन जिस वृत्ति में हो, उसे 'आरभटी' वृत्ति कहते हैं। (**आरेण प्रतोदकेन अङ्कुशेन वा तुल्या भटा उद्धताः पुरुषा आरभटास्ते सन्त्यस्यामिति आरभटी**[२])। भरत के अनुसार आरभट के गुणों (क्रोध, आवेग आदि) से युक्त जो वृत्ति होती है, उसे 'आरभटी' कहते हैं[३]। आरभटी वृत्ति में नाना प्रकार के इन्द्रजाल (माया), युद्ध, कपट, दम्भ, अनृत, वञ्चना, छल, वध, क्रोध आदि का बाहुल्य पाया जाता है। इस वृत्ति के पात्र उद्धत होते हैं। यह वृत्ति आङ्गिक; वाचिक, सात्त्विक, आहार्य आदि सभी प्रकार के अभिनयों से सम्पन्न होती है। यह रौद्र, बीभत्स और भयानक रसों के अनुकूल होती है। इस वृत्ति के चार अङ्ग होते हैं—वस्तूत्थापन, सम्फेट, संक्षिप्ति और अवपातन।

(१) **वस्तूत्थापन**—माया, इन्द्रजाल आदि के द्वारा किसी नवीन वस्तु का उत्थापन (प्रकाशन) 'वस्तूत्थापन' कहा जाता है।

---

१. या सात्त्वतेनेह गुणेन युक्ता न्यायेन वृत्तेन समन्विता च।
हर्षोत्कटा संहृतशोकभावा सा सात्त्वती नाम भवेत्तु वृत्तिः॥
(नाटचशास्त्र २२।३८)

२. नाटचदर्पण, पृ० १४०।

३. नाटचशास्त्र, २०।६४-६६।

(२) **सम्फेट**—क्रोध और आवेग से पक्ष और विपक्ष में परस्पर प्रहार करना या द्वन्द्वयुद्ध 'सम्फेट' कहलाता है।

(३) **संक्षिप्ति**—कुशल शिल्पियों द्वारा या अन्य प्रकार से वस्तु-विशेष की संक्षिप्त रचना 'संक्षिप्ति' है।

(४) **अवपात**—हर्ष, क्रोध, भय, विद्रव, विनिपात, सम्भ्रम आदि के कारण क्षिप्रता से प्रवेश और निष्क्रमण होने पर 'अवपात' होता है।

कैशिकी

कैशिकी वृत्ति का सम्बन्ध केश से माना जाता है। भरत के अनुसार भगवान् विष्णु ने लीला-युक्त विचित्र अङ्गहार से अपने सुन्दर केशों को बाँधा तो कैशिकी वृत्ति का उदय हुआ[1]। नाटचदर्पण के अनुसार अत्यन्त लम्बे-लम्बे केशों से युक्त होने के कारण स्त्रियों को केशिका कहा जाता है। उनकी प्रधानता के कारण यह वृत्ति 'कैशिकी' वृत्ति कहलाती है (**अतिशयितः केशाः सन्त्यासामिति केशिकाः स्त्रियः, 'स्तनकेशवतीत्वं हि स्त्रीणां लक्षणम्' तत्प्रधान-त्वात् तासामियं कैशिकी**)। इस व्युत्पत्ति के अनुसार विशेष प्रकार की वेश-भूषा, हास्य-शृङ्गारादि की चेष्टाओं से विचित्र, नाटच, नृत्त, गीत, वाद्य-युक्त तथा स्त्रीपात्रों की बहुलता से समन्वित 'कैशिकी' वृत्ति होती है[2]। भरतमुनि के अनुसार मनोहर वेश-भूषा से विचित्र, स्त्रीपात्रों से समन्वित, नृत्य-गीत की बहुलता से सरस, स्त्री एवं पुरुष पात्रों के कामभाव से समृद्ध शृङ्गाररसात्मक व्यापार ही 'कैशिकी' वृत्ति कहलाती है[3]। इस वृत्ति के चार अङ्ग होते हैं—नर्म, नर्मस्फिञ्ज, नर्मस्फोट और नर्मगर्भ[4]।

(१) **नर्म**—प्रियजन को आकर्षित (प्रसन्न) करने वाला बहुविध कुशल क्रीड़ा-विलास 'नर्म' है। इसकी तीन विशेषताएँ हैं—शुद्धहास्य, शृङ्गारमिश्रित हास्य और भयमिश्रित हास्य। इनमें शुद्ध-हास्य की तीन विधाएँ हैं—वेश, वचन और चेष्टा। शृङ्गारहास्य के तीन आधार हैं—आत्मोपक्षेपण, संभो-गेच्छा और ईर्ष्या। भयमिश्रित हास्य की तीन विधाएँ हैं—शुद्ध एवं अन्य रसों द्वारा संहृत। नर्म के द्वारा प्रियजनों का मनोरञ्जन होता है।

(२) **नर्मस्फिञ्ज**—जहाँ पर नायक-नायिकाओं का प्रथम मिलन प्रारम्भ में सुखजनक और अन्त में भयोत्पादक हो, वहाँ 'नर्मस्फिञ्ज' होता है।

---

१. विचित्रैरङ्गहारैस्तु देवो लीलासमन्वितैः।
बबन्ध यः शिखापाशं कैशिकी तत्र निर्मिता ॥
(नाटचशास्त्र, २२।१३)

२. नाटचदर्पण, पृ० १३९।

३. या श्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रा स्त्रीसंयुता या बहुनृत्तगीता।
कामोपभोगेन प्रभवोपचारा तां कैशिकीवृत्तिमुदाहरन्ति ॥

४. नर्मतत्स्फिञ्जतत्स्फोटतद्गर्भैश्चतुरङ्गिका। (दशरूपक, २।४८)

(३) **नर्मस्फोट**—विविध भावों के किञ्चित् अंश से रस का सृजन 'नर्मस्फोट' है।

(४) **नर्मगर्भ**—प्रच्छन्न नायक का कार्यवश नायिका के साथ प्रच्छन्न प्रेम-व्यवहार 'नर्मगर्भ' है।

अभिनवगुप्त के अनुसार सौन्दर्योपयोगी व्यापार का नाम कैशिकी वृत्ति है। (**सौन्दर्योपयोगी व्यापारः कैशिकीवृत्तिरिति**)। नाटक में जो कुछ ललित व्यापार है वह सब कैशिकी वृत्ति का विलास है।

इस प्रकार भारती, सात्त्वती, आरभटी और कैशिकी—इन चार वृत्तियों का विवेचन किया गया है। इन वृत्तियों में उत्तम, मध्यम और अधम प्रकृति के पुरुषों एवं स्त्रियों के चेष्टा-व्यापार प्रदर्शित किये जाते हैं। इनमें शरीर, वाणी और मन की चेष्टाएँ होती हैं। इन वृत्तियों में भारती वाग्व्यापार-प्रधान वृत्ति है। सात्त्वती वृत्ति मनोव्यापार रूप है। आरभटी वृत्ति शरीर-व्यापार से युक्त होती है। सौन्दर्योपयोगी शरीर-व्यापार कैशिकी वृत्ति है। आनन्दवर्धन के अनुसार भारती वृत्ति शब्दवृत्ति है और शेष तीन अर्थवृत्तियाँ हैं। अग्निपुराणकार एवं भोज के अनुसार ये वृत्तियाँ अनुभाव के रूप में बुद्धयारम्भक व्यापार है। भोज ने 'विमिश्रा' नामक पाँचवीं वृत्ति स्वीकार की है; किन्तु यह चारों वृत्तियों की मिश्रित रूप हैं। उद्भट के अनुयायी कुछ आचार्यों ने 'अर्थवृत्ति' नामक पाँचवीं वृत्ति भी मानी है (**पञ्चमीं वृत्तिमौद्भटाः प्रतिजानते**)। किन्तु धनिक ने इसका खण्डन कर दिया है।

इनमें भारती वृत्ति वाक्प्रधान होने के कारण सभी रसों एवं भावों में रहती है। सात्त्वती वृत्ति में वीर और अद्भुत रसों की प्रधानता रहती है। रौद्र और अद्भुत रसों में 'आरभटी' वृत्ति की प्रधानता होती है और कैशिकी वृत्ति में हास्य एवं शृङ्गार की बहुलता होती है।

प्रवृत्ति-विचार

प्रवृत्ति पात्रों की वेश-भूषा, भाषा, व्यवहार आदि से सम्बद्ध होती है। नाटयशास्त्र के अनुसार पृथ्वी पर विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित नाना वेश-भूषा, भाषा, आचार-विचार और वार्ता का ख्यापन करने वाली वृत्ति ही 'प्रवृत्ति' कहलाती है[1]। अभिनवगुप्त प्रवृत्ति शब्द की व्याख्या करते हुए कहते है कि जिन-जिन देशों में जो वेश-भूषा एवं भाषा प्रचलित है, जो आचार-विचार एवं व्यवहार है, जो वार्ता अर्थात् कृषि-पशुपालन एवं वाणिज्यादि जीविका है, उनका प्रख्यापन करने वाली वृत्ति 'प्रवृत्ति' है। क्योंकि बाह्य अर्थ के विषय में

१. पृथिव्यां नानादेशवेशभाषाचाराः वार्त्ताः ख्यापयतीति वृत्तिः, प्रवृत्तिश्च निवेदने। (नाट्यशास्त्र : गायकवाड़, भाग २ पृ० २०२)

निवेदन अर्थात् निःशेष ज्ञान रूप अर्थ में 'प्रवृत्ति' शब्द है[1]। प्रवृत्ति विभिन्न देशों की वेश-भूषा, भाषा, व्यवहार आदि के जानने का प्रमुख साधन है। राजशेखर के अनुसार विलास-विन्यास क्रम 'वृत्ति' है और वेष-विन्यास क्रम 'प्रवृत्ति' है। परवर्त्ती आचार्यों ने भरत की वृत्ति में ही रीति का समावेश कर दिया है। प्रवृत्ति तो मुख्य रूप से बाह्य वेष-भूषा, आचार-विचार, भाषा एवं व्यवहार से सम्बद्ध होती है। राजशेखर के अनुसार भोज ने भी प्रवृत्ति को 'वेश-विन्यास क्रम' के रूप में स्वीकार किया है[2]। धनञ्जय एवं शारदातनय ने देश, वेश, भाषा एवं अन्य व्यवहारों के रूप में प्रवृत्ति को स्वीकार किया है[3]। वस्तुतः प्रवृत्ति आहार्य अभिनय से सम्बद्ध होती है। प्रवृत्तियाँ वेश, भाषा, व्यवहार आदि के द्वारा नाटच-प्रयोग में सहायक होती हैं। भरत के अनुसार प्रवृत्तियाँ चार होती हैं—दाक्षिणात्या, आवन्तिका, औड्रमागधी और पाञ्चालमध्यमा[4]।

(१) **दाक्षिणात्या**—दाक्षिणात्य प्रदेश के अन्तर्गत महेन्द्र, मलय, सह्य, मेकल तथा कालपञ्जर नामक पर्वतों के आसपास के प्रदेश तथा विन्ध्य एवं दक्षिण सागर के मध्य स्थित द्रविण, आन्ध्र, महाराष्ट्र, वनवास, कलिङ्ग, कोसल आदि प्रदेश आते हैं। इस भूभाग के लोगों की वेश-भूषा, भाषा, आचार, व्यवहार में परस्पर बहुत कुछ साम्य पाया जाता है। इसीलिए इन सबके लिए दाक्षिणात्य प्रवृत्ति का विधान बताया गया है[5]। इस प्रदेश के लोगों में नृत्य, गीत एवं वाद्यों के प्रति अधिक अभिरुचि देखी जाती है। इनकी वृत्ति कैशिकी वृत्ति कही गई है। इसमें चतुर, मधुर, ललित अभिनय होते हैं[6]। यह प्रवृत्ति शृङ्गाररस-प्रधान होती है।

(२) **आवन्तिका**--आवन्तिका प्रदेश के अन्तर्गत अवन्ती, विदिशा, सौराष्ट्र, मालवा, सिन्धु, सुवीर, आनर्त, दशार्ण, त्रिपुर, विवर्त्त आदि आते हैं। इस प्रदेश के लोगों की वेश-भूषा, भाषा, आचार, व्यवहार आदि में बहुत

---

१. देशे देशे येष्वेव वेषादयो नैपथ्यं भाषा वा आचारो लोकशास्त्र-व्यवहारः वार्त्ता कृषिपशुपाल्यादिजीविका इति तान् प्रख्यापयन्तीति पृथिव्यादि सर्वलोकविधाप्रसिद्धिं करोति। प्रवृत्तिः बाह्यार्थे यस्मान् निवेदने निःशेषेण बेदने ज्ञाने प्रवृत्तिशब्दः। (अभिनवभारती, भाग २ पृ० २०५–२०६)

२. काव्यमीमांसा, पृ० ९।

३. दशरूपक, २।६३-७१। भावप्रकाशन, पृ० ३१०–१३।

४. नाटचशास्त्र, १२।३७।

५. नाटचशास्त्र, १२।३९–४१।

६. तत्र दाक्षिणात्यास्तावत् बहुनृत्तगीतवाद्याः कैशिकीप्रायाः चतुरमधुर-ललिताङ्गाभिनयाश्च। (नाटचशास्त्र, अभिनवभारती, भाग २ पृ० २०७)

कुछ साम्य पाया जाता है[1]। इसमें प्रायः कैशिकी और सात्त्वती वृत्तियाँ पायी जाती हैं। इस प्रदेश के नाटच-प्रयोग में पात्रों की भाषा, वेश-भूषा, व्यवहार आदि तदनुरूप होते हैं। नाटच-प्रयोग में तत्तद् देशज वेश आवश्यक होते हैं।

(३) **औड्रमागधी**—अङ्ग, बङ्ग, कलिङ्ग, वत्स, औड्र, मागध, पौण्ड्र, नेपाल, विदेह, प्राग्ज्योतिष, ब्रह्मोत्तर, पुलिन्द, ताम्रलिप्त आदि प्रदेशों में औड्रमागधी प्रवृत्ति पायी जाती है। इस भूभाग के लोग नाटच-प्रयोग में औड्रमागधी प्रवृत्ति का प्रयोग करते हैं। इसमें आडम्बरपूर्ण घटाटोप वाक्यों का प्रयोग बहुलता से होता है। इसमें भारती और आरभटी वृत्तियाँ पाई जाती हैं[2]। इस भूभाग के लोगों को औड्रमागधी प्रवृत्ति के अनुसार अभिनय करना चाहिए।

(४) **पाञ्चालमध्यमा या पाञ्चाली**—पाञ्चाल, शूरसेन, काश्मीर, हस्तिनापुर, बाह्लीक, मद्र, उशीनर आदि प्रदेश तथा गङ्गा के उत्तर दिशा एवं हिमालय के दक्षिणी भाग में आश्रित प्रदेशों में पाञ्चाली प्रवृत्ति का प्रचलन पाया जाता है। इस भूभाग के लोगों में गीत-प्रयोग की अल्पता पाई जाती है। इस प्रवृत्ति में सात्त्वती और आरभटी वृत्तियाँ विशेष रूप से उपादेय हैं[3]।

नाटचशास्त्र में प्रवृत्ति के अनुसार ही रङ्गमञ्च पर पात्रों के प्रवेश का विधान बताया गया है। तदनुसार आवन्ती और दाक्षिणात्या प्रवृत्ति के लोग दक्षिण पार्श्व से और पाञ्चाली एवं औड्रमागधी प्रवृत्ति के लोग वाम पार्श्व से रङ्गमञ्च पर प्रवेश करते हैं। द्वार होने पर आवन्ती और दाक्षिणात्या प्रवृत्ति के लोग नाटचगृह में उत्तर द्वार से और पाञ्चाली एवं औड्रमागधी प्रवृत्ति के लोग दक्षिण द्वार से प्रवेश करते हैं[4]। उन-उन प्रदेशों के लोगों को उन-उन देशों की प्रवृत्ति के अनुसार अभिनय करना चाहिए।

रीति-वृत्ति-प्रवृत्तयः

अग्निपुराण में रीति, वृत्ति एवं प्रवृत्ति को बुद्धचारम्भक व्यापार माना गया है। अग्निपुराणकार के अनुसार वक्तृत्वकला रीति कही जाती है[5]। वक्तृत्व-कला को यदि हम अभिव्यक्ति कला का रूपान्तर मानें तो रीति का अर्थ और

---

१. नाटचशास्त्र, १२।४२–४३।

२. वही, १३।४५–४८।

३. वही, १३।४९–५०।

४. वही, १३।५२–५४।

५. वाग्विद्यासम्प्रतिज्ञाने रीतिः।

(अग्निपुराणोक्तं काव्यालङ्कारशास्त्रम्, ५।१)

स्पष्ट हो जाता है। भोज 'रीङ् गतौ' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय करके 'रीति' शब्द की निष्पत्ति मानते हैं और उसका अर्थ 'मार्ग' करते हैं[1]। वामन 'विशिष्ट-पदरचना', आनन्दवर्धन 'पदसंघटना', कुन्तक 'कविप्रस्थानहेतु' तथा राजशेखर 'वचनविन्यासक्रम' को रीति के नाम से अभिहित करते हैं। नाट्यशास्त्र में रीति नाम से विवेचन तो उपलब्ध नहीं होता, किन्तु प्रवृत्ति के अन्तर्गत दाक्षिणात्या, आवन्ती, पाञ्चाली और औड्रमागधी—ये चार शैलियाँ मानी हैं[2]। नाट्यशास्त्र में पृथ्वी के नाना देशों की वेश-भूषा, भाषा, आचार एवं वार्त्ता को प्रकट करने वाली प्रवृत्ति कही गई है[3]। इस प्रकार देश की प्रमुख विशेषताओं के आधार पर शैलियों (रीतियों) का निर्माण हो चुका था और उसके शास्त्रीय विवेचन की रूपरेखा नाट्यशास्त्र से प्रारम्भ हो गयी थी। नाट्यशास्त्र के इस विवेचन के आधार पर अग्निपुराणकार ने रीति का विवेचन किया है। अग्निपुराणकार ने देश की विशेषताओं के आधार पर रीति के चार भेद किये हैं—वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली और लाटी। ये चारों वस्तुतः नाट्यशास्त्र की प्रवृत्ति के ही रूप हैं।

अग्निपुराण	**नाट्यशास्त्र**
वैदर्भी	दाक्षिणात्या
गौड़ी	औड्रमागधी
पाञ्चाली	पाञ्चाली
लाटी	आवन्ती

मम्मट ने अनुप्रास अलङ्कार के अन्तर्गत उपनागरिका, परुषा और कोमला—इन तीन वृत्तियों का प्रतिपादन किया है। उनका कहना है कि वामन आदि आचार्यों ने इन तीन वृत्तियों को क्रमशः वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली रीति मानते हैं। मम्मट नियतवर्णगत रस-विषयक व्यापार को वृत्ति मानते हैं। मम्मट ने वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली इन तीन रीतियों को उक्त तीन वृत्तियों में अन्तर्भाव कर दिया है। उनके अनुसार वामन की वैदर्भी रीति, उपनागरिका वृत्ति, गौड़ी रीति, परुषा वृत्ति और पाञ्चाली रीति कोमला वृत्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

---

१. वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इति स्मृतः।
रीङ् गताविति धातोः सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते॥

२. चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्यप्रयोगतः।
आवन्ती दाक्षिणात्या च पाञ्चाली औड्रमागधी॥

(नाट्यशास्त्र, १४।३६)

३. पृथिव्यां नानादेशभाषाचारवार्त्ताः ख्यापयतीति प्रवृत्तिः।

(नाट्यशास्त्र)

रुद्रट ने मधुरा, प्रौढ़ा, परुषा, ललिता और भद्रा नामक पांच वृत्तियों का उल्लेख किया है। इनमें मधुरा और परुषा भेद काव्यप्रकाश के उपनागरिका और परुषा से मिलते हैं। राजशेखर 'पदविन्यासक्रम' को रीति, 'विलासविन्यासक्रम' को वृत्ति और 'वेषविन्यासक्रम' को प्रवृत्ति कहते हैं। वस्तुतः नाटचशास्त्र में वर्णित वृत्तियों में ही रीतियों का अन्तर्भाव हो जाता है। वृत्ति कायिक, वाचिक एवं मानस व्यापार है। प्रवृत्ति तो मुख्य रूप से वेश-भूषा, भाषा और देश के रीति-रिवाजों से सम्बन्धित है। नाटचशास्त्र में वर्णित प्रवृत्तियाँ चार हैं—आवन्ती, दाक्षिणात्या, पाञ्चाली और औड्रमागधी। इनमें दाक्षिणात्या प्रवृत्ति कोमल वेष-प्रधान होती है और इसमें नृत्य, गीत, वाद्य आदि की प्रचुरता रहती है। कैशिकी वृत्ति भी कोमल वेश-भूषा एवं नृत्त-गीत-वाद्य-प्रधान वृत्ति है।

छः :

रस-विमर्श

नाट्यरस

(नाट्यशास्त्र का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व 'रस' है। रस के आदि प्रतिष्ठाता भरत माने जाते हैं, किन्तु नाट्यशास्त्र से स्पष्ट संकेत मिलता है कि भरत के पूर्व भी रस-मीमांसा की परम्परा विद्यमान रही है) जैसा कि भरत ने नाट्यशास्त्र के षष्ठ एवं सप्तम अध्यायों में रस एवं भावों के विवेचन के अवसर पर अपने विचारों के समर्थन में अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के आनुवंश्य श्लोक एवं आर्याएँ उद्धृत की हैं। एक स्थल पर तो उन्होंने रसशास्त्र पर रचित एक ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है[1]। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि (भरत के पूर्व रस-विवेचन की परम्परा विद्यमान थी।) राजशेखर ने तो नन्दिकेश्वर को रस का आधिकारिक विद्वान् के रूप में उल्लेख किया है[2]। किन्तु उनका रस-विषयक ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। सम्भव है कि भरत ने उनके विचारों का आकलन कर उसे व्यवस्थित रूप दिया हो। क्योंकि एक सुनिश्चित सिद्धान्त के रूप में रस का प्रथम उपस्थापन भरत के नाट्यशास्त्र में ही उपलब्ध होता है। भरत ने नाट्य के प्रसङ्ग में रस का जैसा मार्मिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है वह नाट्यशास्त्र में सर्वथा मौलिक एवं मनोहारी प्रसङ्ग है। उनकी दृष्टि में रस नाट्य-रचना के लिए इतना महत्त्वपूर्ण है कि उसके बिना कोई काव्यार्थ ही प्रवृत्त नहीं होता है—

न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्त्तते[3]।

नाट्यशास्त्र के मुख्य विवेच्य विषय चार हैं—अभिनय, नृत्य, संगीत और रस। किन्तु इनमें रस प्रमुख है, क्योंकि भरत अभिनय, नृत्त एवं संगीत को रसाभिव्यक्ति का प्रधान या गौण सहकारी साधन मानते हैं। भरत ने जिन-जिन विषयों का नाट्यशास्त्र में प्रतिपादन किया है उन सबका सम्बन्ध प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से रस के साथ है, क्योंकि रस की स्फुटीकरण के सम्बन्ध में ही उनकी चर्चा की गयी है। जैसे मध्यम आकार वाले रङ्गमञ्च को रस का साक्षात्कार कराने की दृष्टि से अधिक सक्षम बताया है; क्योंकि रङ्गमञ्च का आकार यदि बड़ा होता है तो रस दर्शकों के लिए अस्पष्ट ही रहेगा, जिसे वाणी के उच्चारण

१. नाट्यशास्त्र (काव्यमाला), पृ० ६७।

२. रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः। (काव्यमीमांसा, पृ० १)

३. नाट्यशास्त्र, भाग १ पृ० २७२।

तथा मुखगत अनुभावों द्वारा व्यक्त किया जाता है[1]। इसी प्रकार नृत्त की व्याख्या के प्रसङ्ग में बताया गया है कि विविध प्रकार के नृत्त विविध रसों को अभिव्यक्त करते हैं[2]। इसी प्रकार नृत्त के साथ प्रयुक्त होने वाले गीत के स्वर भी रसाभिव्यक्ति के साधन होते हैं। प्रस्तावना के प्रसङ्ग में भी बताया गया है कि यदि प्रस्तावना अधिक विस्तृत होती है तो अभिनेता थक जायेंगे और रस स्पष्ट रूप में प्रकट नहीं कर सकेंगे एवं दर्शक ऊब जायेंगे तथा रसास्वादन नहीं कर सकेंगे[3]। अतः रसानुभूति की दृष्टि से प्रस्तावनादि का विस्तार ठीक नहीं है।

रस का स्वरूप

दर्शनशास्त्र में रस एक गुण माना गया है, जिसका ज्ञान हमें रसनेन्द्रिय द्वारा होता है। मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त भेद से ये रस छः प्रकार के होते हैं[4]। आयुर्वेदशास्त्र के अनुसार 'रस' एक सफेद द्रव पदार्थ है,[5] जो पाचन-क्रिया की सहायता से भोजन से उत्पन्न होता है। यह मुख्यतः हृदय में रहता है और वहाँ से परिचालित होकर धमनियों में होते हुए समस्त शरीर का पोषण करता है। सामान्यतः फल-पुष्पादि से निःसृत द्रव पदार्थ को भी रस कहते हैं, किन्तु इसका अन्तर्भाव उपर्युक्त षड्रस में हो जाता है। इनके अतिरिक्त पारद, विषय, सार, जलसंस्कार, अभिनिवेश, क्वाथ और देहधातु के सार के रूप में 'रस' शब्द प्रसिद्ध है, अन्यत्र नहीं[6]। किन्तु शृङ्गारादि के अर्थ में प्रयुक्त 'रस' पद का क्या अभिप्राय है और उसका प्रवृत्ति-निमित्त क्या है तथा वह अपने विशिष्ट अर्थ का नियमन कैसे करता है? प्रयोक्ता और ज्ञानग्राहक इस विशिष्ट अर्थ को ग्रहण करने में कैसे प्रवृत्त होता है? इत्यादि प्रश्नों के समाधान के लिए भरत ने रस के आस्वाद्य होने का विधान बताया है[7]। आस्वाद्य (रस्यमान) होने के कारण शृङ्गारादि को रस कहा जाता है। इस प्रकार रस आस्वाद्य है और सामाजिक उसका आस्वादयिता।

भरत के अनुसार जिस प्रकार गुड़ आदि द्रव्य व्यञ्जन और औषधि के

---

१. अभिनवभारती, भाग १ पृ० ५३।

२. वही, भाग १ पृ० १८०–१८२।

३. वही, भाग १ पृ० २४६–४७।

४. मधुराम्ललवणकटुकषायतिक्तभेदेन षड्विधाः। (तर्कसंग्रह)

५. शब्दार्थचिन्तामणि, भाग ४ पृ० ७१।

६. मधुरादौ पारदे विषये सारे जलसंस्कारेऽभिनिवेशे क्वाथे।
देहधातोर्निर्यासे वाऽयं प्रसिद्धो, न त्वन्यत्र॥
(अभिनवभारती, भाग १ पृ० २८८)

७. नाट्यशास्त्र (गायकवाड़), पृ० २८८।

संयोग से पेय रस की निष्पत्ति होती है, उसी प्रकार नाना भावों से उपगत (पुष्ट) स्थायीभाव रसत्व को प्राप्त होता है[१]। आस्वाद्य होने के कारण (आस्वाद्यत्वात्) इसे रस कहा जाता है। रस का आस्वादन कैसे किया जाता है ? इस पर भरतमुनि का कथन है कि जिस प्रकार लोक में नाना प्रकार के व्यञ्जनों से सुसंस्कृत अन्न को खाने वाला व्यक्ति रस का आस्वादन करता है और प्रसन्नता को प्राप्त होता है, उसी प्रकार नाना प्रकार के भावों और अभिनयों के द्वारा अभिव्यक्त आङ्गिक, वाचिक एवं सात्त्विक युक्त स्थायीभावों का सहृदय प्रेक्षक (सामाजिक) आस्वादन करते हैं और हर्ष को प्राप्त होते हैं[२]। अतः नाटच से अनुभूत होने से इसे 'नाटचरस' कहते हैं।

अभिनवगुप्त का कथन है (कि जिस प्रकार व्यञ्जन और द्रव्यों से सुसंस्कृत अन्न का आस्वादन एकाग्रचित्त आस्वादयिता ही कर सकता है, उसी प्रकार नाना भावों से अभिव्यञ्जित तथा अभिनयों से सुसमृद्ध स्थायीभाव रूप रस का आस्वादन एकाग्रचित्त सहृदय सामाजिक करता है और अलौकिक आनन्द को प्राप्त करता है। इस प्रकार अभिनव के अनुसार रस का एकमात्र आस्वादयिता सहृदय सामाजिक ही होता है, क्योंकि नाटच-प्रयोग तो सुमना (सहृदय) सामाजिक के लिए ही होता है और रस आस्वाद्य होता है तथा आस्वाद्य होने के कारण उसे 'रस' कहा जाता है।)

अभिनव के अनुसार नट के द्वारा प्रयुक्त अभिनय के प्रभाव से प्रत्यक्ष के समान प्रतीयमान, एकाग्र मन की निश्चलता से अनुभवनीय नाटकादि में से किसी एक से प्रकाश्य अर्थ 'नाटच' है। यह नाटच यद्यपि विभावादि के अनन्त होने के कारण अनन्त विभावादि रूप है, तथापि सभी विभावों का ज्ञान में पर्यवसान होने से तथा ज्ञान का भोक्ता में और भोक्तृवर्ग का प्रधान भोक्ता (नायक) में पर्यवसान नायक नामक भोक्तृ-विशेष की स्थायी चित्तवृत्ति रूप अर्थ भी 'नाटच' है[3]। स्वगत-परगत भेद से शून्य यह चित्तवृत्ति आस्वाद्य-

---

१. यथा गुणादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनौषधिभिश्च षाडवादयो रसा निवर्त्यन्ते तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति।

(अभिनवभारती, भाग १ पृ० २८७–८८)

२. रस इति कः पदार्थः ? उच्यते—आस्वाद्यत्वात्। कथमास्वाद्यते रसः ? यथाहि—

नानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति।

(नाटचशास्त्र : गायकवाड़ पृ० २८८–२८९)

३. तत्र नाटचं नाम नटगताभिनयप्रभावसाक्षात्कारायमाणैकघनमानसः निश्चलाध्यवसेयः समस्तनाटकाद्यन्यतमकाव्यविशेषाच्च द्योतनीयोऽर्थः। स च

मान होने से 'रस' है। इस प्रकार रागात्मिका चित्तवृत्ति का परिणाम ही रस है। चूंकि नाटच की पूर्णतः अनुभूति रस में होती है, अतः रस ही नाटच है। इस प्रकार जिस नाटच-रस की अनुभूति होती है वह मुख्यभूत महारस है। इस नाटचरस के अन्तर्गत अन्य सभी रसों की स्थिति गौण होती है। ये प्रधान रस का ज्ञान समुदाय रूप में करवाते हैं। यह रस नाटच-समुदाय से समुद्भूत होता है, अतः समुदाय रूप अर्थ नाटच है और नाटच ही रस है। यह रस एक है और यही मुख्यभूत महारस है। केवल नाटच में ही रस नहीं होता, अपितु काव्य में भी नाटचायमान ही रस होता है[1]।

इस प्रकार अभिनव के अनुसार समुदाय रूप अर्थ नाटच है और अभिनय भी उसी नाट्य का एक अंश (भाग) है। नाट्य ही तादात्म्यप्रतीति है और तादात्म्यप्रतीति ही वह महारस है जो दर्शकों को आनन्द रस में निमग्न कर देता है। इस प्रकार यह नाट्यरस आनन्द रूप है। अभिनव की दृष्टि में रसरूप में आनन्दमय ज्ञान रूप आत्मा का ही रस रूप में आस्वादन होता है। आत्मा आनन्द रूप है और रस भी आस्वाद्यता के कारण आनन्द रूप है[2]। इस प्रकार तादात्म्य रूप आस्वाद्यता नाट्य है और नाट्य ही रस है।

अभिनवगुप्त का कथन है कि स्वगत-परगत भेद से शून्य चित्तवृत्ति सामाजिकों को स्व-परभाव से रहित बनाकर साधारणीकरण की सीमा में लाकर अपने में समाविष्ट कर लेती है और उसमें तादात्म्य हो जाता है। साधारणीकरण की यह तादात्म्य स्थिति रसानुभूति का कारण है। अभिनव के अनुसार काव्य की महिमा एवं अभिनय के प्रभाव से विभावादि में स्वगत-परगत भाव का विलोप हो जाता है। यही साधारणीकरण है। इस अवस्था में साधारणीकृत विभावादि व्यक्ति-विशेष के सम्बन्ध से मुक्त होकर सामाजिक से सम्बद्ध हो जाते हैं, तब उसमें व्यक्तिगत विशेषताएँ हट जाती हैं। इस प्रकार विभावादि का साधारणीकरण हो जाने पर रत्यादि स्थायीभाव का भी साधारणीकरण हो जाता है। यह साधारणीकृत स्थायीभाव रस के रूप में परिणत हो जाता है। साधारणीकरण की तादात्म्य स्थिति के कारण जो रसानुभूति होती है वह अनुमान, आगम और योगिप्रत्यक्ष ज्ञान से विलक्षण

यद्यप्यनन्तविभावाद्यात्मा तथापि सर्वेषां जडानां संविदि, तस्याश्च भोक्तरि, भोक्तृवर्गस्य च प्रधाने भोक्तरि पर्यवसानान्नायकाभिधानभोक्तृविशेषस्थायिचित्तवृत्तिस्वभावः। (अभिनवभारती, भाग १ पृ० २६६)

१. नाटचात्समुदायरूपाद्रसाः। यदि वा नाटचमेव रसाः। रससमुदायो हि नाटचम्। न नाटच एव च रसाः। काव्येऽपि नाटचायमान एव रसः।

(अभिनवभारती, भाग १ पृ० २९०)

२. अस्मन्मते तु संवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते। (अभिनवभारती, भाग १ पृ० २९२)

है। क्योंकि अनुमान और आगम से होने वाला ज्ञान परोक्ष होता है और रसानुभूति साक्षात्कारात्मक प्रत्यक्ष है। यह अनुभूति योगिप्रत्यक्ष ज्ञान से भी परे है, क्योंकि योगिप्रत्यक्ष ज्ञान साक्षात्कारात्मक होने पर भी इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष आदि की अपेक्षा नहीं रखता, किन्तु रसानुभूति के लिए इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष की अपेक्षा होती है। यह अनुभूति लौकिक चित्तवृत्ति से भी परे विलक्षण होती है।

अभिनवगुप्त का कथन है कि नाटच का मुख्य उद्देश्य सामाजिकों को रसानुभूति कराना है। जिस नाटचरस की अनुभूति होती है, वह मुख्यभूत महारस है। वह एक है और अन्य रस उसी महारस के अङ्गभूत हैं। वैयाकरणों के स्फोट-सिद्धान्त के अनुसार जिस प्रकार पदस्फोट में वर्णों का और वाक्य-स्फोट में पदों का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता, उसी प्रकार नाटक के प्रधानभूत महारस में अन्य रसों का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। अखण्ड पदों को पदस्फोट और अखण्ड वाक्यों को वाक्यस्फोट कहते हैं तथा स्फोट ही वर्ण का बोधक होता है। इस प्रकार वैयाकरण वर्णविभागरहित पदस्फोट और पदविभागरहित वाक्यस्फोट को ही अर्थ का बोधक मानते हैं। यहाँ पर ग्रन्थ-कार का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार स्फोटवाद के सिद्धान्त के अनुसार पद और वाक्य अखण्ड हैं और उनके वर्ण एवं पद रूप अवयवों की प्रतीति असत्य है, उसी प्रकार नाटचरस ही मुख्य रस है और अन्य रस स्फोट के अङ्गों के समान असत्य हैं। इसीलिए कहा गया है कि मुख्यभूत महारस की अपेक्षा अन्य रस स्फोट के समान असत्य हैं[1]।

एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं कि उस प्रधान-भूत महारस की अपेक्षा अन्य रस अन्विताभिधान के समान उभयात्मक सत्य हैं। भाव यह है कि अन्विताभिधानवाद के अनुसार यद्यपि पदार्थ सत्य है तथापि वाक्यार्थबोध के समय उनकी अलग-अलग प्रतीति होती है, किन्तु वह अलग-अलग प्रतीति उपायभूत मात्र है। वस्तुतः अन्विताभिधान के अनुसार अन्वित पदार्थ की ही प्रतीति होती है। इसी प्रकार नाटचरस (मुख्यभूत महारस) के साथ अन्य रसों की स्थिति उपायभूत सत्य के समान है। अभिहितान्वयवाद के अनुसार पहले पदार्थ का बोध होता है, फिर पदार्थों के समुदाय से ही वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। उसी प्रकार नाटक में अन्य रस गौण होते हैं। वे समुदाय रूप में प्रधान रस का ज्ञान कराते हैं[2]। इस प्रकार समुदायरूप अर्थ ही नाटच है और नाटच ही रस है। यही नाटचरस महारस है।

अभिनवगुप्त अपने गुरु भट्टतौत का मत प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि रस

१. अभिनवभारती, भाग १ पृ० २६७।
२. वही।

की स्थिति केवल नाटच में ही नहीं होती, अपितु काव्य में भी उसकी स्थिति स्वीकृत है। काव्य में भी दश रूपकों के समान भाषा, वृत्ति, काकु एवं नेपथ्य आदि के द्वारा रसात्मकता का पूर्ण विकास होता है, तथापि काव्य में कथोपकथन नहीं होते। अतः नाटच की अपेक्षा उसे कम महत्त्व का माना जाता है। जैसा कि वामन ने काव्यालङ्कारसूत्र में कहा है कि 'काव्यों में दश रूपक श्रेष्ठ होते हैं' (**सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः**[1])। दश रूपकों का जो अर्थ (विषय) है वही 'नाटच' है। किन्तु नाटच में सहृदय-असहृदय सभी समान रूप से रसास्वादन करते हैं, जब कि काव्य में केवल सहृदय ही रसास्वादन कर सकते हैं। अतः नाटच सबसे विलक्षण है। कुछ व्याख्याकार नट के कर्मरूप धर्म को 'नाटच' कहते हैं और उस नाटच से समुद्भूत रस को 'नाटचरस' कहते हैं, किन्तु अभिनवगुप्त आदि आचार्य विभावादि के समुदायरूप अर्थ को 'नाटचरस' कहते हैं। अतः समुदायरूप अर्थ ही नाटच है और नाटच ही रस है तथा वही 'नाटचरस' है, वही महारस है।

आचार्य नन्दिकेश्वर—जिन्हें राजशेखर ने रस का आधिकारिक विद्वान् बताया है (**रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः**[2])। उनके अनुसार चतुर्विधाभिनयोपेत भावाभिव्यक्ति ही रस है। उन्होंने रसास्वाद के विषय में एक मौलिक चिन्तन प्रस्तुत किया है। उनकी दृष्टि में रस आनन्दरूप है। गीत के श्रवण, नाटच एवं नृत्य के दर्शन से अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है, जो ब्रह्मानन्द से भी बढ़कर है। यही आनन्द रसानुभूति है। यह आनन्द रूप रस का आस्वाद हर जगह मिलता है, चाहे कथावस्तु कारुणिक हो अथवा शृङ्गारिक; सबमें एक-सा स्वाद मिलेगा। यह स्वाद ही रस है और रस ही आनन्द है। यही आनन्द रसास्वादन है। जो आस्वाद है, वही रस है, वही आनन्द है। इस प्रकार नाटच भी रस है, नृत्य भी रस है; गीत भी रस है, क्योंकि सर्वत्र एक-सा आस्वाद, एक सा आनन्द मिलता है। गीत के शब्द एवं अर्थ के साथ चतुर्विध अभिनयोपेत नृत्य (नर्तन) के द्वारा रसानुभूति काव्य और नाटच की अपेक्षा द्रुततर गति से होती है। इसीलिए नन्दिकेश्वर ने सभी प्रकार के लोगों के लिए नाटच, नृत्य एवं गीत को एक ऐसा साधन बताया है जहाँ सबको एक-सा आनन्द मिलता है। उनकी दृष्टि में सहृदय-असहृदय रस की अनुभूति कर सकते हैं।

अग्निपुराण के अनुसार परब्रह्म को अक्षर, अज, सनातन, विभु, एक, चैतन्य, स्वयंप्रकाश एवं ईश्वर कहा गया है। उसका आनन्द सहज है, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति कभी-कभी होती है। इसी अभिव्यक्ति का नाम चैतन्य,

---

१. काव्यालङ्कारसूत्र, १।३।३०।

२. काव्यमीमांसा, प्रथम अधिकरण।

चमत्कार या रस है[1]। इस प्रकार अग्निपुराण के अनुसार परब्रह्म के सहजानंद की चमत्कारपूर्ण अभिव्यक्ति 'रस' है। उस परब्रह्म चैतन्य का सत्त्व-रजस्तमस् रूप प्रथम विकार महान् (महत्तत्त्व) है। उससे अभिमान या अहङ्कार की अभिव्यक्ति होती है। महत्तत्त्व के समान वह अभिमान या अहङ्कार भी त्रिगुणात्मक होता है। जब रजस् एवं तमस् के संस्पर्श से रहित सत्त्व का उद्रेक होता है तब सहृदयों के द्वारा रस की अनुभूति होती है। यह अनुभूति ही आस्वाद है और यही चमत्कारपूर्ण अनुभूति ही 'रस' है।

इस प्रकार अग्निपुराण की रस-व्याख्या दार्शनिक धरातल पर पल्लवित हुई है। सांख्यदर्शन के अनुसार समस्त अनुभूतियों का आश्रय अन्तःकरण का मूल अहङ्कार है और वेदान्त की दृष्टि में भी जब शुद्ध चैतन्य 'अहमस्मि' के धरातल पर अवतरित होता है तभी 'अहम्' तत्त्व की सृष्टि होती है तथा तभी उसे 'अहमस्मि' का आभास होता है। इसी प्रकार अग्निपुराण में प्रतिपादित 'अहङ्कार' मनुष्य में अपने प्रति अनुराग द्योतित करता है और इस 'अहंभाव' के कारण उसे अपने व्यक्तित्व का आभास होने लगता है। जैसे— किसी कामिनी के द्वारा स्निग्ध दृष्टि से देखे जाने पर पुरुष में आत्मज्ञान, आत्मविश्वास या आत्मानुराग की भावना जागृत होकर उसे सहज आनन्द में विभोर कर देती है। यही अहङ्कार है और यह अहङ्कार ही रस है। आत्मज्ञान या आत्मप्रतीति रूप होने के कारण वह सहज आनन्द रूप है और यही रस्यमान होने से 'रस' है। इसी अहङ्कार या आत्मप्रतीति का दूसरा नाम 'शृङ्गार' है। इसे शृङ्गार इसलिए कहते हैं कि यह मनुष्य को शृङ्ग तक पहुँचा देता है। उनका यह शृङ्गार स्त्री-पुरुष का वासनात्मक प्रेम या रति का प्रकर्ष नहीं है। यहाँ शृङ्गार का अभिप्राय निरपेक्ष प्रेम या आत्मनिष्ठ प्रेम है। इस प्रकार अग्निपुराण के अनुसार चैतन्य का चमत्कारपूर्ण अहङ्कार रूप अनुभूति 'रस' है, यही शृङ्गार है और शृङ्गार ही रस है।

भोज—भोज ने अग्निपुराण के रस-सिद्धान्त का ही अनुसरण किया है। उन्होंने अहङ्कार को अभिमान का पर्यायवाची माना है। उनके मतानुसार आत्मा का अहङ्कार-विशेष ही शृङ्गार है और वह सहृदयों के द्वारा रस्यमान होने से 'रस' कहलाता है[2]। भोज के अनुसार यह अहङ्कार ही रत्यादि भावों

---

१. अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम्।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्।
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया॥
(अग्निपुराणोक्तं काव्यालङ्कारशास्त्रम् ४।१-२)

२. आत्मनोऽहङ्कारविशेषः सचेतसा रस्यमानो रस उच्यते।
(शृङ्गारप्रकाश)

को उत्पन्न करता है। इसी अहङ्कार से ही मानव में अपने व्यक्तित्व का आभास होता है। यह अहङ्कार अभिमान का पर्याय है। इसे अभिमान इसलिए कहते हैं कि यह अभितः मनोऽनुकूल होता है। इसमें समस्त सुख-दुःखात्मक अनुभूतियाँ आनन्दप्रद होने के कारण अभिमत हो जाती है। यहाँ पर मनुष्य का अभिमान उत्तेजनाजन्य मिथ्या गर्व नहीं है। वह तो आत्मस्थित विशेष गुण है, जो रस्यमान होने से 'रस' कहलाता है।

इस प्रकार भोज ने अग्निपुराण के अनुसार श्रृङ्गार को ही रस माना है (**श्रृङ्गारमेव रसनाद्रसमामनामः**[1])। आत्मप्रतीति या आत्मज्ञान का नाम अहङ्कार है और यह अहङ्कार आत्मा का विशेष गुण है। यही अभिमान या श्रृङ्गार है[2] और यही श्रृङ्गार ही एकमात्र रस है। भोज ने श्रृङ्गार को रस-राज कहा है और इसी से ही हास्यादि रसों की अभिव्यक्ति मानी है।

शारदातनय ने भी अहङ्कार को रस माना है। सामाजिक जब नाटक का अवलोकन करता है तब वह अपने अहङ्कार के कारण अभिनेय की मनः-स्थिति में पहुँच जाता है। उस समय वह अपने सुख-दुःख को भूलकर अभिनेय के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझने लगता है, तब वह रसत्व की स्थिति में पहुँच जाता है। इसी प्रकार का सिद्धान्त वासुकि ने भी प्रतिपादित किया है और नारद ने भी इसी मत को प्रकारान्तर से स्वीकार किया है[3]। शारदातनय के अनुसार जब विभाव, अनुभाव, सात्त्विकभाव और व्यभिचारी भावों के द्वारा स्थायीभाव आस्वाद्यता (स्वादुत्व) को प्राप्त होता है तो 'रस' कहलाता है[4]। इस प्रकार नारद और शारदातनय ने अहङ्कार के परिवर्त्तित रूप को 'रस' माना है।

विश्वनाथ ने रस को सहृदय-संवेद्य, अलौकिक काव्यार्थतत्त्व कहा है, किन्तु इस रस का आस्वादन सबको नहीं होता है; पुण्यशाली जन ही इस रस का आस्वादन करते हैं। रसास्वाद का अनुभव उसी को होता है, जिसमें सत्त्व का उद्रेक होता है। रजोगुण एवं तमोगुण के संस्पर्श से रहित चित्त 'सत्त्व' कहलाता है और रजोगुण एवं तमोगुण को दबाकर सत्त्व का प्रकाशित होना 'सत्त्व' का उद्रेक है। इस सत्त्व के उद्रेक से सहृदयों के द्वारा अनुभूत रस अखण्ड,

---

१. श्रृङ्गारप्रकाश, १।६–७।

२. रसोऽभिमानोऽहङ्कारः श्रृङ्गार इति गीयते। (सरस्वतीकण्ठाभरण ५।१)

३. उत्पत्तिस्तु रसानां या पुरा वासुकिनोदिता।
नारदस्योच्यते सैव प्रकारान्तरकल्पिता॥
(भावप्रकाशन, पृ० ४७)

४. विभावैश्चानुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
आनीयमानः स्वादुत्वं स्थायीभावो रसः स्मृतः॥
(भावप्रकाशन, पृ० ३६)

स्वप्रकाश और आनन्दमय रत्यादिसंवेदन रूप है। यह अखण्डस्वप्रकाशानन्द-चिन्मय रस सत्त्वोद्रेक के कारण सहृदय सामाजिकों के द्वारा संवेद्य है, वेद्यान्तर-संस्पर्शशून्य है; क्योंकि रसानुभव काल में अन्य किसी भी ज्ञेय वस्तु का संस्पर्श नहीं रहता। यह अनुभव एक सर्वथा विलक्षण अलौकिक अनुभव है, जिसमें ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान का कोई भेद आभासित नहीं होता। अतः इसे ब्रह्मास्वादसहोदर कहा गया है। यह अनुभव अलौकिक चमत्कार अर्थात् सहृदय के चित्त का विस्तार है और यह चमत्कार ही रसानुभव का प्राण है[1]।

विश्वनाथ के पितामह आचार्य नारायण पण्डित के अनुसार चमत्कार ही रस का सार है। इसका अनुभव पुण्यशाली सहृदय की करते हैं। सहृदय व्यक्ति ही विभावादि से संवलित रत्यादि रूप काव्यार्थ से अनुविद्ध आत्मानन्द का आस्वाद लिया करते हैं। उस समय उसे 'स्व' और 'पर' का भेद नहीं रहता। रस का यह आस्वाद स्वप्रकाशानन्दसंवित्तत्त्व से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। वस्तुतः रस और आस्वाद में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। भेदप्रतीति तो 'राहोः शिरः' के समान काल्पनिक है[2]। 'राहोः शिरः' वाक्य में (राहु का शिर) जो भेद प्रतीत होता है वह वास्तविक नहीं है, क्योंकि जो राहु है वही शिर है और जो शिर है वही राहु है। इसी प्रकार रस और आस्वाद में कोई भेद नहीं है, दोनों एक ही है। सहृदय रसानुभव के समय विभावादि से तादात्म्य स्थापित कर आत्मलीन हो जाता है, उस समय सहृदय 'अहम्' का परित्याग कर ब्रह्मरस में लीन हो जाता है और स्वप्रकाशानन्दचिन्मय रस और चमत्कारात्मक आस्वाद के साथ तादात्म्य स्थापित कर तद्रूप हो जाता है। यही तादात्म्य रूप आस्वाद्यता रस है। इस प्रकार रस आस्वाद रूप है, सत्त्वोद्रेक अखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मय, वेद्यान्तरसंस्पर्शशून्य, ब्रह्मास्वादसहोदर लोकोत्तरचमत्कारमय है।

सुख-दुःखात्मको रसः

नाट्यरस की सुख-दुःखात्मकता सभी भारतीय चिन्तकों के लिए मौलिक चिन्तन का विषय रहा है। भरत से लेकर विश्वनाथ तक सभी मनीषियों ने इस विषय पर विचार किया है। इनमें से कुछ आचार्य रस को सुखात्मक मानते है और कुछ उभयात्मक मानते हैं। धनञ्जय, धनिक, भट्टनायक, विश्वनाथ प्रभृति आचार्य रस की सुखात्मकता का प्रतिपादन करते हैं तो

---

१. सत्त्वोद्रेकाखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः ।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ॥ (साहित्यदर्पण, ३।२-३)

२. साहित्यदर्पण, पृ० १०५-११०।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र कुछ रसों को सुखात्मक और कुछ रसों को दुःखात्मक मानते हैं। अभिनवगुप्त रस को सुख-दुःखात्मक (उभयात्मक) मानते हुए भी प्रेक्षक की दृष्टि से हर्षपाल पर्यवसायी माना है।

भरत ने रस को सुखमूलक माना है। भरत के अनुसार लोक का सुख-दुःखात्मक स्वभाव अङ्गादि अभिनयों से उपेत होने पर 'नाटच' कहलाता है[1]। नाटच की सुख-दुःखात्मकता के आधार पर नाटचरस सुख-दुःखात्मक होता है। अभिनवगुप्त भरत के विचारों का उपबृंहण करते हुए नाटचरस को सुख-दुःखात्मक मानते हैं। उनके अनुसार शृङ्गार, हास्य, वीर और अद्भुत—ये चार रस सुखात्मक हैं, किन्तु उनमें दुःख का किञ्चिदंश अवश्य विद्यमान रहता है। करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक—ये चार रस दुःखात्मक हैं, किन्तु इनमें भी सुख का किञ्चिदंश विद्यमान रहता है। इस प्रकार अभिनवगुप्त के अनुसार सब रस सुखात्मक होकर भी दुःखात्मक हैं और दुःखात्मक होकर भी सुखात्मक हैं। किन्तु शान्त रस को उन्होंने नितान्त सुखात्मक माना है[2]।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र भी अभिनवगुप्त के अनुसार नाटचरस को उभयात्मक मानते हैं, किन्तु दोनों के विचारों में किञ्चिदन्तर है। अभिनवगुप्त के अनुसार कुछ रस सुखात्मक हैं और कुछ दुःखात्मक। किन्तु सबमें सुख-दुःख का किञ्चिदंश विद्यमान रहता है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अनुसार शृङ्गार, हास्य, वीर, अद्भुत और शान्त रस सुखात्मक होते हैं और करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक—ये चार रस दुःखात्मक हैं[3]। करुणादि में इष्ट के विनाशादि से जो करुणा होती है, उसमें दुःख की ही आस्वाद्यता होती है। इस प्रकार करुणादि रस दुःखात्मक होते हैं।

अब प्रश्न यह होता है कि यदि करुणादि रस दुःखात्मक होते हैं तो सामाजिकों को उस ओर प्रवृत्ति क्यों होती है? इस पर कहते हैं कि नट आदि के शक्ति-कौशल एवं प्रतिभा से चमत्कृत होकर सहृदय उसमें प्रवृत्त होते हैं और परम आनन्द का अनुभव करते हैं। इसी परमानन्द रूप रसास्वादन के लोभ से सामाजिक भी उसमें प्रवृत्त होते हैं[4]।

---

१. योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः।
अङ्गाद्यभिनयोपेतो नाटचमित्यभिधीयते ॥ (नाटचशास्त्र १।१२२)

२. अभिनवभारती, भाग १ पृ० ३४१।

३. तत्रेष्टविभावादिप्रथितस्वरूपसम्पत्तयः। शृङ्गारहास्यवीराद्भुतशान्ताः पञ्च सुखात्मानोऽपरे पुनरनिष्टविभावाद्युपनीतात्मानः करुणरौद्रबीभत्सभयानकाश्चत्वारो दुःखात्मानः। (नाटचदर्पण ३।७ की वृत्ति)

४. अनेनैव च सर्वाह्लादकेन कविनटशक्तिजन्मना चमत्कारेण विप्रलब्धाः परमानन्दरूपतां दुःखात्मकेष्वपि करुणादिषु सुमेधसः प्रतिजानीते। एतदास्वाद्यलौल्येन प्रेक्षका अपि एतेषु प्रवर्त्तन्ते। (वही)

कवि लोग तो सुख-दु:खात्मक संसार की दशा को देखकर सुख-दु:खात्मक रस के अनुकूल रामादि के चरित का ग्रथन करते हैं और सहृदय पानक रस के समान तीक्ष्ण आस्वाद के द्वारा सुख का अनुभव करते हैं। जिस प्रकार गुड़-मरिचादि के सम्मिश्रण से तैयार पानक रस में अपूर्व आनन्द मिलता है, किन्तु तीक्ष्ण मरिचादि का स्वाद किसी के लिए उद्वेजक भी होता है; उसी प्रकार सुख-दु:खात्मक नाटच में सहृदय अलौकिक आनन्द की अनुभूति करते हैं, किन्तु कुछ लोग दु:खात्मक वर्णन से दु:ख का अनुभव भी करते हैं। जैसे—नाटक में सीता का हरण, द्रौपदी का केशाकर्षण, रोहिताश्व का मरण आदि देखकर किस सहृदय को सुख (आनन्द) का आस्वादन होगा ? इस प्रकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अनुसार सुखात्मक रसों से आनन्द मिलता है और दु:खात्मक रसों से दु:ख का अनुभव होता है। इसीलिए उन्होंने रसों को सुख-दु:खात्मक माना है (सुखदु:खात्मको रस:[१])।

दशरूपकावलोककार धनिक तथा साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ आदि सभी रसों को सुखात्मक मानते हैं। उनके अनुसार नाटचगत करुण रस लौकिक करुण रस से सर्वथा विलक्षण होता है। यदि नाटचगत करुण को लौकिक करुण के समान दु:खात्मक मानेंगे तो करुणरस-प्रधान रामायण आदि महाकाव्य दु:ख के हेतु बन जायेंगे तो दु:खात्मक नाटच की ओर सामाजिक प्रवृत्त क्यों होते ? अत: करुण रस भी पूर्णतया सुखात्मक है[२]। विश्वनाथ करुण रस की आनन्दरूपता का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि सहृदय सामाजिक को शोक स्थायीभावात्मक करुण आदि रसों में परम आनन्द की प्राप्ति होती है। इस विषय में सहृदयों का अनुभव ही प्रमाण है[३]। विश्वनाथ का कहना है कि नाटच में विभावादि में साधारणीकरण एक अलौकिक शक्ति रहा करती है, जिसके द्वारा सहृदय सामाजिक अपनी वैयक्तिक सीमा से उठकर उस स्थिति में पहुँच जाता है जहाँ 'स्व-पर' का भेद नहीं रहता। उस समय वह रामादि के सुख-दु:ख को अपना सुख-दु:ख समझने लगता है, तब उसे साधारणीकृत विभावादि के द्वारा रस का पूर्ण आस्वाद होता है। यह आस्वाद ही ज्योतिर्मय आनन्द है, जो वेद्यान्तरसम्पर्कशून्य परमानन्द रूप 'रस' कहलाता है। यही नाटचरस है।

वस्तुत: सभी रस आनन्दस्वरूप होते हैं। इस आनन्दस्वरूप रस का स्वाद हर जगह मिलता है; चाहे कथावस्तु कारुणिक हो अथवा शृङ्गारिक, सबमें

१. नाट्यदर्पण, ३।७।

२. दशरूपक (अवलोक टीका) ४।४४ की व्याख्या।

३. करुणादावपि रसे जायते यत् परं सुखम्।
सचेतसामनुभव: प्रमाणं तत्र केवलम्।।
(साहित्यदर्पण ३।४५)

एक-सा स्वाद मिलेगा। यह स्वाद ही रस है और रस ही आनन्द है। इस प्रकार रस के आनन्द रूप होने से सहृदय-असहृदय सभी आनन्द की अनुभूति कर सकते हैं। करुणादि रसों में भी आनन्दात्मक अनुभूति होती है। इसलिए करुणादि रसों को भी आनन्दरूप माना जाता है। ये भी शृङ्गारादि के समान सुखात्मक ही हैं।

रस-निष्पत्ति

रस-निष्पत्ति के सम्बन्ध में भरत का निम्नलिखित सूत्र अत्यन्त प्रसिद्ध है—

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः[1]।

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। भरत के अनुसार जिस प्रकार नानाविध व्यञ्जनों एवं औषधि आदि के द्रव्यों के संयोग से रस की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार नाना भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। जिस प्रकार गुड़ आदि द्रव्यों, व्यञ्जनों और औषधि आदि से पानक रस तैयार किये जाते हैं अर्थात् पानक रस उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार अनेकविध भावों एवं अनुभावों (अभिनयों) से उपगत स्थायीभाव रसत्व को प्राप्त होता है[2]। इस प्रकार विभावानुभाव आदि से उपचित स्थायीभाव ही रस के रूप में उत्पन्न होता है, जिसका आस्वादन सहृदय (सुमना) पुरुष करते हैं और आनन्द को प्राप्त करते हैं। यह आस्वाद ही नाट्यरस है।

भरतमुनि के रससूत्र पर अनेक आचार्यों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से व्याख्याएँ की हैं। अभिनवगुप्त ने पूर्ववर्त्ती उन सभी आचार्यों के मतों को प्रस्तुत कर उनकी सम्यक् समीक्षा की है। यहाँ प्रथम उत्पत्तिवादी आचार्य भट्टलोल्लट का मत प्रस्तुत करते हैं।

भट्टलोल्लट—भट्टलोल्लट उत्पत्तिवादी आचार्य हैं[3]। अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में उनके मत को उद्धृत किया है। आचार्य मम्मट ने भी भट्टलोल्लट के मत को उद्धृत किया है, किन्तु उनकी विवेचन-शैली कुछ भिन्न है। भरतसूत्र के दो शब्द व्याख्येय हैं—'संयोग' और 'निष्पत्ति'। भट्टलोल्लट के अनुसार 'संयोग' शब्द के तीन अर्थ होते हैं—उत्पाद्य-उत्पादकभाव, गम्य-गमकभाव और पोष्य-पोषकभाव। इसी प्रकार निष्पत्ति शब्द के भी तीन अर्थ हैं—उत्पत्ति, प्रतीति और उपचिति। इस प्रकार स्थायीभाव का विभाव के साथ उत्पाद्य-उत्पादकभाव सम्बन्ध होने पर निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति, अनुभावों के

१. नाट्यशास्त्र (गायकवाड़), भाग १ पृ० २७२।

२. वही, पृ० २८७-२९०।

३. भट्टलोल्लट के मत की विशेष जानकारी के लिए—डॉ० पारसनाथ द्विवेदी-कृत काव्यप्रकाश की टीका, पृ० १३०-१३२ पर देखिए।

साथ गम्य-गमकभाव सम्बन्ध होने पर निष्पत्ति का अर्थ प्रतीति और स्थायीभावों के साथ संयोग अर्थात् पोष्य-पोषकभाव सम्बन्ध होने पर निष्पत्ति का अर्थ उपचिति (पुष्टि) होगी । इस प्रकार रत्यादि स्थायीभावों का आलम्बन एवं उद्दीपन विभावों के उत्पाद्य-उत्पादकभाव सम्बन्ध होने पर रस की उत्पत्ति होती है और कटाक्ष आदि अनुभावों के साथ गम्य-गमकभाव सम्बन्ध होने पर रस प्रतीति के योग्य होता है तथा व्यभिचारीभावों के साथ पोष्य-पोषकभाव सम्बन्ध होने पर रस की उपचिति (पुष्टि) होती है ।

एक अन्य मत के अनुसार भट्टलोल्लट ने संयोग पद का अर्थ कार्य-कारण-भाव सम्बन्ध किया है और निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति । तदनुसार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव के संयोग अर्थात् कार्य-कारणभाव से रस की उत्पत्ति होती है । भाव यह है कि आलम्बनोद्दीपन विभावों के कारण उत्पन्न कटाक्षादि अनुभावों के द्वारा प्रतीति के योग्य बनाया गया तथा व्यभिचारीभावों के द्वारा उपचित (परिपुष्ट) रत्यादि स्थायीभाव ही रस रूप को प्राप्त होता है ।

भाव यह है कि जिस प्रकार रज्जु (रस्सी) को देखकर सर्प न होने पर उसे सर्प समझ लेने से भय का उदय होता है उसी प्रकार राम की सीता-विषयक रति विद्यमान न होने पर भी नट की निपुणता से नट में प्रतीति होती हुई, सहृदयों के हृदय में चमत्कार को अर्पित करती हुई रस की पदवी को प्राप्त होती है[1] । इस प्रकार विभावादि के द्वारा उपचित स्थायीभाव ही रस रूप को प्राप्त होता है, जो अनुकार्य में रहता है, किन्तु अनुसन्धान के बल से अनुकर्त्ता नट में भी प्रतीयमान होता है । गोविन्द ठक्कुर के अनुसार "नट में अनुकार्य की तुल्यता के अनुसन्धान के कारण सामाजिक अनुकर्त्ता नट में अनुकार्य का आरोप कर लेता है और चमत्कृत होता है ।" इसलिए इस सिद्धान्त को 'आरोपवाद' भी कहा गया है ।

भट्टलोल्लट के मत का अनुसरण करने वाले दण्डी आदि प्राचीन आचार्यों का भी यही मत है । उनका कथन है कि 'रूपबाहुल्य के योग से रति स्थायीभाव श्रृङ्गार रसत्व को प्राप्त करता है और पराकाष्ठा पर पहुँच कर क्रोध ही रौद्र रसत्व को प्राप्त करता है ।'

'चिरन्तनानां चायमेव पक्षः । तथाहि दण्डिना स्वालङ्कारलक्षणेऽभ्यधायि ।

'रतिः श्रृङ्गारतां गता रूपबाहुल्ययोगेन ।' (काव्यादर्श २।२८१)

---

१. यथा असत्यपि सर्पे सर्पतयाऽवलोकिताद् दाम्नोऽपि भीतिरुदेति तथा सीताविषयिणी अनुरागरूपा रामरतिरविद्यमानाऽपि नर्तके नाटचनैपुण्येन तस्मिन् स्थितेव प्रतीयमाना सहृदयहृदये चमत्कारमर्पयन्त्येव, रसपदवीमारोहति ।

(वामनाचार्य : काव्यप्रकाश, पृ० ८८)

'अधिरुह्य परां कोटिं क्रोधो रौद्रात्मतां गता ।'

(काव्यादर्श २।२८३)

समीक्षा--भट्टलोल्लट के मत पर आक्षेप करते हुए श्रीशङ्कुक कहते हैं कि आप मुख्य रूप से अनुकार्य राम में और गौण रूप से अनुकर्त्ता नट में रस की उत्पत्ति, प्रतीति और उपचिति मानते हैं तो सामाजिकों के हृदय में रस की उत्पत्ति कैसे होगी ? दूसरे राम तो अब इस जगत् में नहीं हैं तो इस समय के अभिनय में उनसे रसानुभूति कैसे होगी ? तीसरे अनुकार्य कल्पित होते हैं तो जिनका अस्तित्व ही प्रामाणिक नहीं है उस अप्रामाणिक वस्तु से रसानुभूति कैसे होगी ? चौथे हास्य रस के छः भेद जो आश्रयगत और सहृदयगत भी होते हैं और दोनों में रस को परिमित मान लेने पर सहृदय में हास्य के छः भेद कैसे होंगे ? पाँचवें यदि स्थायीभाव के तारतम्य से रसभेद मान भी लें तो काम की दस अवस्थाओं में असंख्य रस मानने पड़ेंगे। छठे करुण रस के प्रारम्भ में शोक तीव्र होता है और बाद में मन्द होता है तथा इसी प्रकार रौद्र, वीर, शृङ्गार में भी क्रोध, उत्साह और रति आदि स्थायीभावों का अमर्ष, स्थैर्य, सेवा के विपर्यय से ह्रास भी देखा जाता है। अतः उपचय के स्थान पर अपचय (ह्रास) की स्थिति से 'उपचित स्थायीभाव रस है' यह कथन अनुचित होगा । सातवें स्थायीभाव का विभावादि के साथ संयोग न होने से विभावादि के लिङ्गत्व (हेतु) के अभाव में अनुमान कैसे होगा ? आठवें जो साक्षात्कार का विषय है उसका अनुभव ज्ञानमात्र से नहीं हो सकता । इस प्रकार रसानुभूति आरोपज्ञान से सम्भव नहीं है। रामादि में रति है, यह समझ लेने मात्र से रसानुभूति नहीं हो सकती । अतः भट्टलोल्लट का मत समीचीन नहीं है।

श्रीशङ्कुक का अनुमितिवाद—श्रीशङ्कुक का मत अनुकरणवाद या अनुमितिवाद के नाम से जाना जाता है। उनका मत न्यायसिद्धान्त का अनुसरण करता है। उनके मत में 'संयोगात्' पद का अर्थ 'अनुमाप्य-अनुमापकभाव सम्बन्ध' और 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अनुमिति' है। इस सिद्धान्त के अनुसार रस अनुमेय है, विभावादि रसानुमिति के साधन हैं, सहृदय अनुमितिकर्त्ता है, रत्यादि स्थायीभाव अनुकार्य में विद्यमान रहता है। यही विभावादि के द्वारा अनुमित होकर 'रस' कहलाता है। इस प्रकार शङ्कुक के अनुसार विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव के संयोग अर्थात् अनुमाप्य-अनुमापकभाव सम्बन्ध से रसका अनुमान होता है, अनुकरण होता है और अनुक्रियमाण रत्यादि स्थायीभाव रस के रूप में अनुमित होते हैं। अतः उनके मत में अनुमीयमान (अनुक्रियमाण) रत्यादि स्थायीभाव ही रस है[1]।

---

१. इस मत का विस्तृत विवरण देखिए—डॉ० पारसनाथ द्विवेदीकृत काव्यप्रकाश की व्याख्या, पृ० १३३-१३६ ।

आचार्य मम्मट ने भी काव्यप्रकाश में अभिनव के आधार पर शङ्कुक का मत उद्धृत किया है, किन्तु उनकी विवेचन शैली में कुछ भिन्नता दृष्टिगत होती है। मम्मट की व्याख्या के अनुसार रसानुमिति में विभावादि की प्रतीति 'चित्रतुरगन्याय'[1] से होती है। भाव यह है कि रामादि के अनुकारक नट में कटाक्षादि अनुभावों के यथार्थ न होने पर भी नट शिक्षा और अभ्यास के बल से कृत्रिम कटाक्षादि का प्रकाशन करता है। इस प्रकार कृत्रिम रामादिरूप नट के द्वारा कृत्रिम कटाक्षादि अनुभावों के प्रकाशन से अनुमान के द्वारा रस की प्रतीति होती है।

शङ्कुक के अनुसार यद्यपि अनुमीयमान रस कृत्रिम रामादि रूप नट में नहीं रहता और न सामाजिक में ही रहता है, किन्तु वासना के बल से एवं वस्तु-सौन्दर्य के बल से सहृदय (सामाजिक) दोनों (नट और सहृदय) में अविद्यमान किन्तु अनुमीयमान रस का आस्वादन करता है। वस्तुतः अनुकृत भावरूप वस्तु में एक विलक्षण सौन्दर्य होता है। वहाँ वस्तु-सौन्दर्य सहृदय में एक विलक्षण आवेग उत्पन्न कर देता है, जिसे सामाजिक की रसानुभूति कही जा सकती है। इस प्रकार यह अनुमीयमान रत्यादि भाव कलात्मक सौन्दर्य-युक्त वस्तु होने से अन्य अनुमीयमान विषयों से विलक्षण होता है। इसीलिए सामाजिक वासना के बल से अनुमीयमान रस का आस्वादन करता है और वही वासना से चर्व्यमाण रस कहलाता है (**सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो रसः इति श्रीशङ्कुकः**)।

इस प्रकार शङ्कुक के अनुसार सहृदय का रसबोध अनुमित अर्थ है और अनुमान का आधार नट है, जिसमें रत्यादि स्थायीभाव रूप रस अनुकृत है, नट अनुकारक है। सहृदय नट में अनुमान करके वस्तु-सौन्दर्य के बल से रसबोध प्राप्त करता है। इस प्रकार नट द्वारा अनुकृत और सहृदय द्वारा अनुमित रत्यादि स्थायीभाव 'रस' है, यह श्रीशङ्कुक का अभिप्राय है।

---

१. जिस प्रकार चित्रस्थ अश्व को देखकर लोग 'यह अश्व है' इस प्रकार व्यवहार करते हैं, किन्तु यह ज्ञान न सम्यक् ज्ञान है, न मिथ्या ज्ञान है, न संशय ज्ञान है और न सादृश्य ज्ञान है। बल्कि यह चित्रस्थ तुरग से होने वाला ज्ञान उक्त चारों प्रकार के ज्ञान से विलक्षण है, भिन्न है। इसी प्रकार नट में 'वह राम ही है या यही राम है' इस प्रकार की सम्यक् प्रतीति, 'यह राम नहीं है' इस प्रकार उत्तर काल में बाध होने पर 'यह राम है' इस प्रकार की मिथ्या प्रतीति, 'यह राम है या नहीं है' इस प्रकार की संशय प्रतीति तथा 'यह राम के समान है' इस प्रकार के सादृश्य ज्ञान से विलक्षण 'चित्रतुरगन्याय' से 'यह राम है' इस प्रकार का होने वाला ज्ञान उक्त चारों प्रकार की प्रतीतियों से विलक्षण है, भिन्न है। इसे हम अनुकृत प्रत्यय कह सकते हैं और यह अनुकृत प्रत्यय उक्त चारों प्रकार की प्रतीतियों से विलक्षण है।

इस प्रकार रसानुभूति के कारण रूप विभाव काव्य के द्वारा, कटाक्षादि शारीरिक अनुभाव और स्वेदादि सात्त्विक अनुभाव शिक्षा के द्वारा तथा व्यभिचारीभाव अपने कृत्रिम अनुभावों के अर्जन के द्वारा उपस्थित होते हैं। स्थायीभाव तो विभावादि रूप लिङ्गों के द्वारा अनुकरणरूप में अनुमित होता है। इसीलिए अनुकरणात्मक होने के कारण स्थायीभाव को रस नाम से अभिहित किया जाता है।

वामनाचार्य का कथन है कि जिस प्रकार कुहरे से आवृत स्थान में कुहरे को धुआँ समझने के कारण धुएँ के साथ रहने वाली अग्नि का अनुमान होता है, उसी प्रकार नट के द्वारा निपुणतापूर्वक विभावादि को प्रकाशित किये जाने के कारण वस्तुतः अविद्यमान विभावादि के द्वारा उनमें नियत रति अनुमीयमान होने पर भी अपने सौन्दर्य के कारण सामाजिकों के द्वारा आस्वाद का विषय बनती है और चमत्कार का आधान करती हुई 'रसत्व' को प्राप्त होती है[1]।

समीक्षा—अभिनवगुप्त भट्टतौत आदि आचार्यों द्वारा उठाई गई आपत्तियों को प्रस्तुत कर शङ्कुक के मत का खण्डन करते हैं। उनका कहना है कि शङ्कुक के मत में सहृदय और नट में जो विभावादि हैं वे सब कृत्रिम हैं और कृत्रिम विभावादि के आधार पर रसानुभूति नहीं हो सकती, क्योंकि उन्होंने रसानुभूति का आधार अनुमान माना है और अनुमान से होने वाला ज्ञान परोक्ष होता है, प्रत्यक्ष नहीं। वस्तुतः प्रत्यक्षज्ञान से जो चमत्कारपूर्ण रसानुभूति होती है वह अनुमान के द्वारा नहीं हो सकती, क्योंकि अन्य में विद्यमान आनन्द का अनुमान अन्य में कदापि नहीं हो सकता। दूसरे यहाँ अनुमान में सब कुछ कृत्रिम ही कृत्रिम है, अतः कृत्रिम साधन से अनुमान सम्भव नहीं हैं।

श्रीशङ्कुक का अनुकरण-सिद्धान्त सहृदय दर्शकों की दृष्टि से आदरणीय नहीं है। क्योंकि अनुकरण सादृश्य-प्रतीति पर आधारित होता है। अनुकार्य रामादि और अनुकर्त्ता नट को देखने पर ही अनुकरण की प्रतीति होती है, किन्तु अनुकार्य के रत्यादि भाव दर्शकों में किसी के द्वारा भी प्रत्यक्ष नहीं होते। अतः नट के द्वारा रत्यादि भाव का अनुकरण तथा अनुक्रियमाण रत्यादि का

---

१. यथा कुञ्झटिकाकुलिते देशेऽसतोऽपि धूमस्याभिधानाद् धूमनियतस्य वह्नेरनुमानम्। तथा नटेनैव सुनिपुणं 'ममैवैते विभावादयः' इति प्रकाशितैस्तत्रासद्भिरपि विभावादिभिस्तन्नियता रतिरनुमीयमानाऽपि निजसौन्दर्यबलाद् सामाजिकानामास्वाद्यमानतया चमत्कारमादधती रसतामेतीति रतेरनुमितिरेव रसनिष्पत्तिः। (काव्यप्रकाश : वामनाचार्य की टीका, पृ० ९१)

विशेष विवरण डॉ० पारसनाथ द्विवेदी द्वारा लिखित काव्यप्रकाश की हिन्दी टीका पृ० १३३-१३६ पर देखिए।

रस रूप में अनुमान कैसे सम्भव है ? क्योंकि प्रत्यक्षीकरण के अभाव में अनुकार्य का अनुकरण संभव न होने से रस रूप में अनुक्रियमाण रत्यादि को रस का अनुमाप्य कैसे माना जा सकता है ? दूसरे नाटचशास्त्र में इस अनुकरण सिद्धान्त का कहीं भी कोई संकेत नहीं मिलता । अतः यह सिद्धान्त भरतमुनि द्वारा अभिमत न होने से उनका अनुकरण-सिद्धान्त मान्य नहीं है ।

श्रीशङ्कुक का 'चित्रतुरगन्याय' का सिद्धान्त भी ठीक नहीं है । क्योंकि 'चित्रतुरगन्याय' सादृश्य-विधान की देन है । सिन्दूरादि के द्वारा तूलिका से रञ्जित चित्रस्थ तुरग में वास्तविक अश्व की प्रतीति नहीं होती । केवल अश्व के सदृश अङ्गों की रचना स्पष्ट होती है । इसलिए चित्रस्थ अश्व में अश्व-सादृश्य की प्रतीति होती है, किन्तु विभावादि के समुदाय में रत्यादि भावों का आकृत्यात्मक अनुकरण नहीं होता है । अतः भावानुकरण रस है, यह सिद्धान्त भी ठीक नहीं है ।

अभिनवगुप्त का कथन है कि सांख्यदर्शन के सिद्धान्त के अनुसार विश्व के समस्त पदार्थों के त्रिगुणात्मक होने से रस भी सुख-दुःख स्वभाव वाला त्रिगुणात्मक हैं और सुख-दुःख को उत्पन्न करने वाली सामग्री बाह्य है । इस आधार पर स्थायीभाव बाह्य-सामग्रीजन्य है, जब कि भरतमुनि ने कहा है कि 'स्थायीभावों को रसत्व की प्राप्ति करायेंगे' । अतः सांख्यदर्शन पर आधारित यह मत भरत-सिद्धान्त विरोधी होने से मान्य नहीं है ।

भट्टनायक का भुक्तिवाद

भट्टनायक का सिद्धान्त सांख्यदर्शन पर आधारित है । उनके अनुसार रससूत्र के 'संयोग' पद का अर्थ भोज्य-भोजकभाव सम्बन्ध और 'निष्पत्ति' का अर्थ 'भुक्ति' है । इस प्रकार उनके मतानुसार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव के संयोग अर्थात् भोज्य-भोजकभाव सम्बन्ध से रस की निष्पत्ति (भुक्ति) होती है अर्थात् सामाजिक के द्वारा रस का भोग (आस्वादन) किया जाता है ।

भट्टनायक के अनुसार रस की न तो उत्पत्ति होती है, न प्रतीति होती है और न अभिव्यक्ति होती है; अपितु विभावादि साधारणीकरण रूप भावकत्व व्यापार के द्वारा भावित होता हुआ सत्त्वोद्रेक प्रकाशानन्द संविद् विश्रान्ति रूप भोजकत्व (भोग) व्यापार के द्वारा आस्वादित होता है[१] ।

भट्टनायक का कहना है कि जो भट्टलोल्लट प्रभृति आचार्य मुख्य रूप से

---

१. न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते, अपितु काव्ये नाटचे चाभिधातो द्वितीये विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानः स्थायी सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसतत्त्वेन भोगेन भुज्यत इति भट्टनायकः । (काव्यप्रकाश, पृ० १३७)

अनुकार्य (रामादि) में और गौण रूप से अनुकर्त्ता नट में रस की उत्पत्ति या प्रतीति मानते हैं, वह ठीक नहीं है; क्योंकि परगत (अनुकार्य रामादि अथवा अनुकर्त्ता नट में) रस की उत्पत्ति या प्रतीति मानते हैं तो सामाजिक में रस की उत्पत्ति या प्रतीति कैसे होगी ? अतः रस की उत्पत्ति या प्रतीति न अनुकार्य रामादि में और न अनुकर्त्ता नट में होती है, क्योंकि दोनों ही तटस्थ हैं, उदासीन हैं। तटस्थ में रस की प्रतीति नहीं होती, वास्तविक प्रतीति तो सामाजिक में होती है।

श्रीशङ्कुक अनुकर्त्ता नट में रस की अनुमिति मानते हैं, किन्तु उनका यह मत भी समीचीन नहीं प्रतीत होता, क्योंकि उनके मत में अनुमान से होने वाला ज्ञान परोक्ष होता है, अतः अनुमिति परोक्ष ज्ञान होने से उससे प्रत्यक्षात्मक रसानुभूति नहीं हो सकती; क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान से जो चमत्कारपूर्ण रसानुभूति होती है वह अनुमान ज्ञान से सम्भव नहीं है। क्योंकि अन्य में विद्यमान आनन्दानुभूति का अनुमान अन्य व्यक्ति कैसे कर सकता है ? अतः यह मत भी ठीक नहीं है।

भट्टनायक के अनुसार न परगत (अनुकर्त्ता नट तथा अनुकार्य रामादि में) रस की प्रतीति होती है और न आत्मगत (सामाजिक में) रस की अनुभूति होती है। क्योंकि यदि स्वगत (सहृदय सामाजिक में) रस की अनुभूति मानते हैं तो करुण रस में सामाजिक को दुःख की अनुभूति होने लगेगी। ऐसी स्थिति में तन्मयता के अभाव में सामाजिक को रसानुभूति नहीं होगी। भट्टनायक के अनुसार रस की अभिव्यक्ति न तो परगत होती है और न स्वगत सामाजिक में। उनका कहना है कि स्थायीभाव रूप रस की अभिव्यक्ति न तो अनुकर्त्ता नट में सम्भव है और न सहृदय सामाजिक में सम्भव है। क्योंकि अभिव्यक्ति सदैव विद्यमान वस्तु की होती है और वस्तु की सत्ता अभिव्यक्ति के पूर्व भी रहती है और बाद में भी; किन्तु रस के अनुभूतिस्वरूप होने से अनुभूति काल में उसकी सत्ता रहती है। उसके पहले या बाद में उसका कोई अस्तित्व नहीं होता, अतः उसकी अभिव्यक्ति सामाजिक को नहीं हो सकती। इस प्रकार भट्टनायक ने उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद तथा अभिव्यक्तिवाद तीनों मतों का खण्डन करके 'भुक्तिवाद' की स्थापना की है।

भट्टनायक ने भुक्तिवाद की सिद्धि के लिए अभिधाशक्ति के अतिरिक्त भावकत्व और भोजकत्व नामक दो नवीन व्यापारों की परिकल्पना की है। इनमें अभिधा के द्वारा पहले काव्य का अर्थमात्र समझा जाता है और भावकत्व व्यापार उस अभिधा-जन्य अर्थ को परिष्कृत कर, व्यक्ति-विशेष से उसका सम्बन्ध हटाकर साधारणीकृत कर देता है। इस भावकत्व व्यापार के द्वारा साधारणीकृत विभावादि व्यक्ति-विशेष के सम्बन्ध से उन्मुक्त होकर सामाजिक से उसके सम्बन्ध हो जाते हैं, तब उसमें व्यक्तिगत विशेषताएँ नहीं रह जातीं।

इस प्रकार विभावादि के साधारणीकरण हो जाने पर रत्यादि स्थायीभाव का भी साधारणीकरण हो जाता है। इस प्रकार भावकत्व व्यापार के द्वारा साधारणीकरण हो जाने पर भोजकत्व व्यापार उसी साधारणीकृत स्थायीभाव का रस के रूप में भोग करवाता है। भाव यह है कि भट्टनायक के अनुसार भाव्यमान (साधारणीकृत) रत्यादि स्थायीभाव सहृदयों के हृदय में स्थित रजस् और तमस् को अभिभूत कर के सत्त्वगुण का उद्रेक होने से प्रकाशानन्द-संविद्विश्रान्ति रूप रस के रूप में आस्वादन किया जाता है। यह आस्वाद ही रसभोग है, यही आस्वाद वेद्यान्तरसंस्पर्शशून्य, ब्रह्मास्वादसंविद्य रसानुभव है, यही रसभोग है।

समीक्षा—अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के मत के खण्डन के लिए अनेक युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। उनका कहना है कि भट्टनायक न तो रस की उत्पत्ति मानते हैं, न अनुमिति और न अभिव्यक्ति ही। अब प्रश्न यह होता है कि प्रतीति आदि से भोग और क्या हो सकता है ? विषय-सामग्री की प्रतीति और उनका अनुभव ही भोग कहा जा सकता है, यदि भट्टनायक के अनुसार रस की प्रतीति नहीं होती है तो भोग किसे कहेंगे ? क्योंकि भोग का अर्थ आस्वादन है और आस्वादन प्रतीतिरूप होता है। केवल उपाय की विलक्षणता के कारण उसके रसन, आस्वादन, भोग आदि भिन्न नाम हैं। इसके अतिरिक्त रस की उत्पत्ति और अभिव्यक्ति दोनों न मानने पर यह प्रश्न उठता है कि रस नित्य है अथवा अनित्य (असत्) है। इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता है ? क्योंकि व्यवहार में कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसकी प्रतीति न होती हो।

यदि यह कहा जाय कि रस की प्रतीति ही भोगीकरण रूप है और वह रत्यादि रूप है। ठीक है, ऐसा मान लिया, फिर भी केवल एक ही दोष तो नहीं है। जितने भी शृङ्गारादि रस हैं, उतनी ही भोगीकरण (आस्वादन) स्वभाव वाली भोगात्मक (आस्वादनरूप) प्रतीतियाँ हैं। सत्त्वादि गुणों के अङ्गाङ्गिभाव की विचित्रता के कारण रस के अनन्त भेदों या व्यापारों की कल्पना करनी पड़ेगी, तो भट्टनायक के अनुसार अभिधा, भावकत्व एवं भोजकत्व रूप तीन ही व्यापार कैसे स्वीकार किये जा सकते हैं।

भट्टनायक के अनुसार 'अभिधा, भावना और भोजकत्व (भोगीकरण) रूप शब्द के तीन व्यापार हैं। उससे पहले शब्दार्थ और अलङ्कार आदि अभिधा के विषय के रूप में उपस्थित होते हैं। फिर भावकत्व व्यापार से साधारणीकरण द्वारा शृङ्गारादि विषय भावित होकर भोगीकृत रूप में (भोजकत्व व्यापार) सहृदय सामाजिकों द्वारा विशेष रूप में आस्वादित किये जाते हैं'।

और जो यह कहा जाता है कि 'काव्य के द्वारा रसों की भावना की जाती है' उसमें यदि विभावादि से उत्पन्न चर्वणात्मक आस्वाद रूप प्रतीति को

विषय बनाना भावना है तो वह हमें स्वीकार है। किन्तु इससे भावकत्व व्यापार की सिद्धि नहीं होती।

और जो कि यह कहा गया है 'संवेदनात्मक व्यङ्ग्य साक्षात्कारात्मक प्रतीति का विषय आस्वादन रूप अनुभूत रस ही काव्य का प्रयोजन है'।

यहाँ व्यज्यमान रूप से व्यङ्ग्य लक्षित होता है और अनुभव विषय व्यञ्जना रूप रस है? अतः व्यञ्जना के अतिरिक्त भोजकत्व व्यापार मानने की क्या आवश्यकता है? वह तो व्यञ्जना का नामान्तर प्रतीत होता है। इस प्रकार भावकत्व और भोजकत्व व्यापार व्यञ्जना एवं रसास्वाद से भिन्न नहीं प्रतीत होते, केवल नामान्तर प्रतीत होते हैं।

अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद

अभिनवगुप्त अभिव्यक्तिवादी है। उनके मतानुसार भरत के रससूत्र के 'संयोग' पद का अर्थ 'व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव' सम्बन्ध और 'निष्पत्ति' पद का अर्थ 'अभिव्यक्ति' है। इस प्रकार उनके मतानुसार विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव के साथ व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव सम्बन्ध से रस की अभिव्यक्ति होती है। अर्थात् विभावादि के व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव सम्बन्ध से रत्यादि स्थायीभाव रस के रूप में अभिव्यक्त होता है।

मम्मट ने भी काव्यप्रकाश में अभिनवगुप्त का मत उद्धृत किया है। उनके काव्यप्रकाश के अनुसार "लोक में प्रमदा आदि के द्वारा रत्यादि स्थायीभाव के अनुमान करने में निपुण सामाजिकों को काव्य और नाट्य में कारणत्व आदि के परिहार से विभावन आदि व्यापार से युक्त होने से अलौकिक विभावादि शब्दों से व्यवहृत किये जाने वाले 'ये मेरे ही हैं', 'ये शत्रु के ही हैं', 'ये तटस्थ के हैं', 'ये मेरे नहीं हैं', 'ये शत्रु के नहीं हैं', 'ये तटस्थ के नहीं हैं'। इस प्रकार के सम्बन्ध-विशेष के स्वीकार करने अथवा परिहार करने के नियम का निश्चय न होने से साधारण रूप से प्रतीत होने वाले (ज्ञायमान) से अभिव्यक्त सामाजिकों में वासना रूप में स्थित रत्यादि स्थायीभाव नियत प्रमाता के रूप में स्थित होने पर भी साधारण उपायों के बल से उसी समय परिमित प्रमातृभाव के नष्ट हो जाने से वेद्यान्तरसम्पर्कशून्य अपरिमित प्रमातृभाव के उदय होने से प्रमाता के द्वारा समस्त सहृदयों में समान अनुभव से युक्त सामान्य रूप से अपने आकार के समान अभिन्न रूप से अनुभूत होता हुआ, आस्वादमात्र स्वरूप वाला, विभावादि के स्थिति पर्यन्त रहने वाला, पानक रस के समान आस्वाद्यमान, सामने परिस्फुरित होता हुआ-सा, हृदय में प्रविष्ट होता हुआ-सा, समस्त अङ्गों को स्पर्श करता हुआ-सा, अन्य सब को तिरोभूत करता हुआ-सा, ब्रह्मानन्द का अनुभव करता हुआ-सा अलौकिक चमत्कार को उत्पन्न करने वाला शृङ्गार आदि रस कहा जाता है[1]।"

१. डॉ० पारसनाथ द्विवेदी-कृत काव्यप्रकाश की टीका, पृ० १४२-१४३।

अभिनवगुप्त ने सामाजिक को दृष्टि में रखकर रस का विवेचन किया है। उनका कहना है कि सामाजिक के हृदय में रत्यादि स्थायीभाव वासना के रूप में विद्यमान रहते हैं। यही स्थायीभाव ही सामाजिक के हृदय में रस के रूप में अभिव्यक्त होता है। लोक में प्रमदा आदि के द्वारा अनुराग आदि में निपुण सहृदयों के हृदय में जिस प्रकार रत्यादि की अभिव्यक्ति होती है उसी प्रकार काव्य और नाटच में भी सहृदयों के हृदय में उन्हीं प्रमदा आदि के द्वारा रत्यादि भावों की अभिव्यक्ति होती है। किन्तु काव्य और नाटच में प्रमदा आदि कारण, कार्य और सहकारी विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव के नाम से अभिहित किये जाते हैं। इन्हीं विभावादि के द्वारा सामाजिकों के हृदय में वासना रूप से विद्यमान रत्यादि स्थायीभाव व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव सम्बन्ध से शृङ्गारादि रस के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। यही रसाभिव्यक्ति रसचर्वणा है।

उस समय रसाभिव्यक्ति की स्थिति में सामाजिक इतना आत्मविभोर हो जाता है कि उसे यह ध्यान ही नहीं रहता कि ये विभावादि 'मेरे ही हैं' अथवा 'शत्रु के हैं' अथवा 'तटस्थ के हैं' अथवा 'न मेरे हैं, न शत्रु के हैं और न तटस्थ के हैं'। इस प्रकार सम्बन्ध-विशेष का निश्चय न होने से सामान्य रूप से 'यह कामिनी है' इस प्रकार की प्रतीति होती है। इस प्रकार सामान्य कामिनी के रूप में अनुभूति होती है।

अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के 'भुक्तिवाद' से प्रेरणा लेकर 'अभिव्यक्तिवाद' की स्थापना की है। उनका कहना है कि व्यञ्जना के द्वारा सकलविघ्नविनिर्मुक्त संविद् की प्राप्ति होती है, जिसे भोग का आस्वाद कहते हैं। यही 'भोग' भट्टनायक का भोजकत्व-व्यापार या भोगीकरण है। भट्टनायक के अनुसार भावकत्व व्यापार के द्वारा विभावादि का साधारणीकरण होता है। जिसे अभिनवगुप्त व्यञ्जना-व्यापार कहते हैं। इसी व्यापार के द्वारा रस का भोग (रसास्वादन) या रस की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार भोजकत्व व्यापार व्यञ्जनाशक्ति का प्रथम उन्मेष है और द्वितीय उन्मेष है—भोगीकरण या रसचर्वणा या रसास्वादन।

इस प्रकार सामाजिक के हृदय में वासना के रूप में विद्यमान स्थायीभाव नियत प्रमातृगत अर्थात् व्यक्ति-विशेष में स्थित होने पर भी व्यक्ति-विशेष के सम्बन्ध से रहित विभावादि के द्वारा काव्य या नाट्य में उसका साधारणीकरण हो जाता है, जिससे वेद्यान्तरसम्पर्कशून्य की स्थिति हो जाती है और उससे स्वगत, परगत और तटस्थगत भेद से रहित हो जाता है। उस समय अभिनेय रामादि की व्यक्तिगत विशेषताएँ हटकर साधारण पुरुषादि के रूप में भान होता है और उसके साथ रत्यादि स्थायीभावों का भी साधारणीकरण हो जाता है। उस समय सामाजिकों के हृदय में समान अनुभूति होती है और

व्यक्तित्व अपरिमित हो जाता है और परिमित प्रमातृभाव विगलित हो जाता है। उसकी व्यक्तिगत भावनाएँ मिट जाती हैं, तब उसे रस की अनुभूति या रसास्वादन होता है[1]।

अब प्रश्न यह होता है कि रस आस्वाद रूप है और रत्यादि स्थायीभाव का ही रस के रूप में आस्वादन होता है यो यदि रत्यादि का आस्वादन होता है, तो रस का आस्वादन होता है—ऐसा क्यों कहा जाता है? इस पर कहते हैं कि रस आस्वाद्य है, उसका आस्वादन होता है, फिर भी उसे आस्वादन रूप कहा जाता है। यह आस्वाद रूप रस आस्वाद्यमान कहा जाता है। इस आस्वाद और आस्वाद्यमान में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। क्योंकि जैसे ज्ञान ज्ञेय से भिन्न होने पर भी ज्ञेय को ज्ञान का स्वरूप होने से ज्ञेय माना जाता है। भाव यह है कि जिस प्रकार योगाचार मत में ज्ञानस्वरूप विषय को ज्ञेय कहा जाता है, उसी प्रकार आनन्दात्मक आस्वाद रूप रस आस्वाद्यमान कहा जाता है। इस प्रकार रस का स्वरूप आस्वाद रूप ही है और उसका आस्वादन तभी तक होता है, जब तक विभावादि रहते हैं। विभावादि के न रहने पर रस का आस्वादन नहीं होता।

अभिनवगुप्त के अनुसार रस का आस्वादन उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार पानक रस का आस्वादन होता है। भाव यह है कि जिस प्रकार इलायची, कालीमिर्च, शक्कर, कपूर आदि के मिश्रण से निर्मित पानक रस का आस्वाद इलायची आदि के स्वाद से भिन्न विलक्षण होता है, उसी प्रकार विभावादि रूप व्यञ्जक सामग्री से अभिव्यक्त रस विभावादि से विलक्षण अलौकिक आस्वाद रूप होता है। इस प्रकार रस का आस्वाद पानक रस के समान विलक्षण, अलौकिक एवं अनिर्वचनीय होता है[2]।

इस प्रकार यह आस्वाद्यमान रस सहृदयों के हृदय में लौकिक जीवन के अनुभवों से विलक्षण अनुभूति कराने वाला अलौकिक चमत्कारजनक होता है। उस समय सहृदय वेद्यान्तरसंस्पर्शशून्य, चमत्कारैकप्राण, स्वप्रकाशानन्दमय अखण्ड रस का आस्वादन करता है। यह आस्वाद ब्रह्मास्वादसदृश, चमत्कारात्मक आस्वाद है। यह आस्वाद ही आनन्द रूप रस है, रस ही आनन्द है, वही आस्वाद है और आस्वाद ही रस है।

अभिनवगुप्त को रस के अभिव्यक्तीकरण की प्रेरणा अग्निपुराण से मिली है। यद्यपि अग्निपुराण में रससूत्र की व्याख्या नहीं की गई है, किन्तु रस की व्याख्या की गई है। अग्निपुराण के रसलक्षण में 'व्यज्यते' और 'व्यक्तः' दो शब्द आये हैं। दोनों ही 'अभिव्यक्ति' अर्थ को प्रकट करते हैं। अग्निपुराण के अनुसार परब्रह्म परमेश्वर सहज आनन्द रूप है। उस सहज आनन्द की

---

१. डॉ० पारसनाथ द्विवेदी-कृत काव्यप्रकाश, पृ० १४२-१४३।

२. वही।

अभिव्यक्ति कभी-कभी होती है। उसी अभिव्यक्ति का नाम चैतन्य, चमत्कार या रस है। इसका प्रथम विकार महान् (महत्तत्त्व) है। उसी से अभिमान या अहङ्कार अभिव्यक्त होता है और अभिमान से रति की अभिव्यक्ति होती है और वही रति व्यभिचार्यादि भावों से परिपोषित शृङ्गार है और शृङ्गार ही रस है। अग्निपुराण का अभिमान या अहङ्कार उत्तेजनाजन्य मिथ्यागर्व नहीं है, अपितु आत्मनिष्ठ विशेष गुण है जो रस्यमान होने से 'रस' कहलाता है। वह मनुष्य को शृङ्गार तक पहुँचा देता है, इसलिए शृङ्गार कहा जाता है। इस प्रकार अग्निपुराण के अनुसार अभिमान या अहङ्कार ही रस है और वही शृङ्गार है। इसी शृङ्गार से कामशृङ्गार, हास्य आदि अनेक रसों की अभिव्यक्ति होती है और वे अपने-अपने स्थायीभावों की विलक्षणता से अलग-अलग प्रतीत होते हैं[1]।

रस की अलौकिकता

अभिनवगुप्त भट्टलोल्लट प्रभृति आचार्यों के मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि भट्टलोल्लट के अनुसार विभावादि से उपचित स्थायीभाव रस नहीं कहलाता और न शङ्कुक के अनुसार विभावादि से अनुमित स्थायीभाव रस होता है, अपितु स्थायीभाव से विलक्षण रस होता है। उनका कहना है कि स्थायीभाव व्यक्त अथवा अव्यक्त अवस्था में सदा विद्यमान रहते हैं, किन्तु रस की स्थिति केवल प्रतीति के समय तक ही रहती है। प्रतीति या अनुभूति के पूर्व या बाद में उसकी उपस्थिति नहीं रहती। अतः स्थायीभाव को रस नहीं कहा जा सकता। रस तो अलौकिक चमत्कारस्वरूप रसास्वाद स्मृति अनुमान और लौकिक प्रत्यक्षादि से विलक्षण होता है।

अभिनवगुप्त ने रस को अलौकिक कहा है, क्योंकि वह लौकिक परिस्थितियों से बद्ध नहीं होता। लोक में दो प्रकार के कारण होते हैं—कारक और ज्ञापक तथा उनके कार्य भी दो होते हैं—कार्य एवं ज्ञाप्य। अभिनव का कथन है कि रस न कार्य होता है और न ज्ञाप्य, बल्कि दोनों से विलक्षण अलौकिक है। क्योंकि रस को यदि हम कार्य मानते हैं तो उसका कोई-न-कोई कारण होना चाहिए। जैसे — घट का कारण कुलालादि हैं, किन्तु घट के कारण कुलालादि के नष्ट हो जाने पर भी घट विद्यमान रहता है; किन्तु यदि हम विभावादि को रस का कारण मानते हैं तो कारण विभावादि के नष्ट हो जाने पर इसका अस्तित्व होना चाहिए, किन्तु विभावादि रूप कारण के नष्ट हो जाने पर रस रूप कार्य नहीं रहता है। अतः रस कार्य नहीं है। इसी प्रकार रस ज्ञाप्य भी नहीं है, क्योंकि ज्ञाप्य पदार्थ ज्ञान के पूर्व भी विद्यमान रहता है

---

१. डॉ० पारसनाथ द्विवेदी-कृत अग्निपुराणोक्त काव्यालङ्कारशास्त्र, चतुर्थ अध्याय, पृ० ७१-७५।

और बाद में भी; किन्तु रस का अस्तित्व तो न तो अनुभाव के पूर्व रहता है और न बाद में रहता है। अतः रस ज्ञाप्य भी नहीं है। इस प्रकार रस जब कार्य नहीं है तो उसका कारण कारक भी नहीं है और रस जब ज्ञाप्य नहीं तो उसका कारण ज्ञापक भी नहीं है। यदि यह कहा जाय कि कारक और ज्ञापक हेतुओं से भिन्न तीसरा हेतु क्या कहीं देखा गया है? तो इसका उत्तर होगा—कहीं नहीं। यही तो इसकी अलौकिकता है। इसलिए यह अलौकिकता रस का भूषण है, दूषण नहीं, अतः रस अलौकिक है।

इस प्रकार रस की अलौकिकता का प्रतिपादन करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं कि रस विभावादि कारणों से उत्पन्न नहीं होता है, अतः वह कार्य नहीं है और विभावादि उसके 'कारक' हेतु नहीं है, क्योंकि ज्ञान के नष्ट हो जाने पर भी रस की सम्भावना बनी रहती है (**अत एव विभावादयो न निष्पत्ति-हेतवो रसस्य, तद्‌बोधापगमेऽपि रससम्भवप्रसङ्गात्**)। इसी प्रकार रस ज्ञाप्य भी नहीं है और न विभावादि रस के ज्ञापक हेतु हैं; क्योंकि पूर्वसिद्ध घट के समान प्रमेयभूत रस का पूर्व अस्तित्व नहीं रहता (**नापि ज्ञप्तिहेतवः, येन प्रमाणमध्ये पतेयुः। सिद्धस्य कस्यचित्प्रमेयभूतस्य रसस्याभावात्**)। इस प्रकार लौकिक विषयों से भिन्न होना रस की अलौकिकता की सिद्धि का भूषण है। अतः रस न कार्य है और न ज्ञाप्य है।

इस प्रकार रस लौकिक ज्ञान से सर्वथा विलक्षण संवेदन का विषय है, लौकिक ज्ञान तीन प्रकार के होते हैं—१. प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्राप्त लौकिक वस्तुओं का साक्षात्कारात्मक ज्ञान। २. **प्रमाणताटस्थ्यावबोधशालिभितयोगि-ज्ञान**। यह युञ्जान नामक योगियों का ज्ञान है, जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों के बिना सविकल्प समाधि में होता है। इसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भेद बना रहता है। ३. **मितेतरज्ञान**—यह निर्विकल्प समाधि में स्थित सिद्धयोगियों का ज्ञान है। यह ज्ञान वेद्यान्तरसम्पर्कशून्य आत्मानुभूतिमात्र ज्ञान है। इसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भेद मिट जाता है, किन्तु रसानुभूति इन तीनों प्रकार के ज्ञानों से विलक्षण अलौकिक है। क्योंकि रस स्वसंवेदन का विषय है, जिसमें किसी भी विषय का सम्पर्क नहीं रहता। यह संवेदन समस्त संवेदनों से विलक्षण है, अलौकिक है और आनन्द रूप है।

अभिनवगुप्त के अनुसार रस अलौकिक स्वसंवेदन का विषय है और संवेदन ज्ञान रूप है। ज्ञान दो प्रकार का होता है—निर्विकल्प और सविकल्प। जब केवल वस्तुमात्र का ज्ञान होता है तो उसे निर्विकल्प ज्ञान कहते हैं और जब वस्तु के नाम, जाति, रूप आदि का ज्ञान होता है तो उसे सविकल्प ज्ञान कहते हैं। किन्तु रस न निर्विकल्प ज्ञान का विषय है और न सविकल्प ज्ञान का विषय है। यह तो इन दोनों ज्ञानों से परे विलक्षण है, अलौकिक है, आनन्दरूप है।

विश्वनाथ का कहना है कि रस अलौकिक स्वसंवेदनवेद्य तत्त्व है, किन्तु इसे सविकल्प संवेदन का विषय नहीं माना जा सकता है, क्योंकि घटपटादि सविकल्प ज्ञान संवेदन के विषय होते हैं और संवेदनवेद्य है। यह निर्विकल्प संवेदन का भी विषय नहीं है, क्योंकि निर्विकल्प संवेदन प्रत्यवमर्श से रहित होता है। रस तो विभावादि प्रत्यवमर्शों से युक्त होता है, अतः निर्विकल्प संवेदन का विषय नहीं है। इस प्रकार रस एक अनिर्वचनीय अलौकिक आनन्दरूप है।

साधारणीकरण––अभिवगुप्त भट्टनायक के साधारणीकरण सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि अनुकर्त्ता नट जब अनुकार्य रामादि के स्वरूप (मुकुटादि) को धारण कर रङ्गमञ्च पर प्रवेश कर अभिनय में प्रवृत्त होता है तो उस समय सहृदय सामाजिक अनुकर्त्ता और अनुकार्य दोनों के देश और काल की भावना को भूल जाता है। उस समय उसे न यह भान होता है कि 'यह राम है' और न यही भान होता है कि 'यह राम नहीं है, यह नट है'। ऐसी स्थिति में सामाजिक के अन्तःकरण में संस्कार के रूप में विद्यमान रत्यादि स्थायीभाव स्व-परभाव को भूलकर साधारणकृत हो जाते हैं। साधारणीकरण की यही स्थिति रसानुभूति की स्थिति कही जा सकती है।

साधारणीकरण की यह स्थिति दो रूपों में ग्रहण की जा सकती है। क्षणिकतावादी बौद्धों के अनुसार धाराप्रवाह रूप चित्तवृत्ति का साधारणीकरण होता है और स्थिरतावादी नैयायिकों के अनुसार ज्ञान के विषयभूत रत्यादि स्थायीभावों का साधारणीकरण होता है।

भट्टनायक के अनुसार भावकत्व व्यापार के द्वारा सामाजिक में रामादि रूप विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है। इस भावकत्व व्यापार के द्वारा साधारणीकृत विभावादि व्यक्ति-विशेष के सम्बन्ध से उन्मुक्त होकर सामाजिक से सम्बद्ध हो जाते हैं, तब उसमें व्यक्तिगत विशेषताएँ नहीं रह जातीं। इस प्रकार विभावादि के साधारणीकरण हो जाने पर भावकत्व व्यापार के द्वारा भाव्यमान रत्यादि स्थायीभाव का भी साधारणीकरण हो जाता है और भोजकत्व व्यापार के द्वारा (भाव्यमान) साधारणीकृत रत्यादि स्थायीभाव रस रूप में परिणत हो जाता है।

अभिनवगुप्त के अनुसार सामाजिक के हृदय में वासना के रूप में विद्यमान रत्यादि स्थायीभाव का नियत प्रमातृगत होने पर भी व्यक्ति-विशेष के सम्बन्ध से रहित विभावादि के द्वारा उसका भी साधारणीकरण हो जाता है। इस प्रकार स्थायीभाव के साधारणीकरण द्वारा स्व-पर-तटस्थगत भावना से रहित सामाजिक देश-काल की भावना के व्यक्तिगत संसर्ग से मुक्त हो जाता है। साधारणीकरण की यही स्थिति रसानुभूति की स्थिति है। काव्यप्रकाश के टीकाकार गोविन्द ठक्कुर का कहना है कि भट्टनायक के अनुसार 'भावकत्व

का अर्थ साधारणीकरण है। इस व्यापार के द्वारा विभावादि का और स्थायी-भावों का साधारणीकरण होता है। साधारणीकरण से अभिप्राय है—सीतादि विशेष पात्रों का सामान्य कामिनी आदि के रूप में उपस्थित होना।' तदनन्तर भोजकत्व व्यापार के द्वारा साधारणीकृत विभावादि के साथ रत्यादि का सहृदयों द्वारा आस्वादन किया जाता है। यह आस्वाद ही रस की अनुभूति है[1]। इस प्रकार भट्टनायक के अनुसार वस्तुतः रस अनुभूति का विषय है। विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है, यह भरत-सूत्रार्थ है। यहाँ रस के स्वरूप एवं अनुभूति को समझने के लिए विभावादि शब्दों की व्याख्या अपेक्षित है। विभाव का अर्थ विज्ञान है। विभाव, कारण, हेतु, निमित्त—ये पर्यायवाची शब्द हैं। इनके द्वारा वाचिक, आङ्गिक और सात्त्विक अभिनय विभावित होते हैं, इसलिए ये विभाव कहे जाते हैं। इस प्रकार विभाव कारण रूप हैं। इसके दो भेद होते हैं—आलम्बन एवं उद्दीपन। अनुभाव का अर्थ है—जिसके द्वारा वाचिक, आङ्गिक एवं सात्त्विक अभिनय अनुभावित होते हैं, अनुभूति के योग्य बनाये जाते हैं वे अनुभाव कहे जाते हैं। इस प्रकार वाचिक, आङ्गिक एवं सात्त्विक अभिनयों से युक्त व्यापार 'अनुभाव' हैं। जो भाव वाचिकादि अभिनयों से युक्त रसों की ओर उन्मुख होकर सञ्चरणशील होते हैं, वे व्यभिचारी या सञ्चारी भाव हैं। यहाँ 'संयोग' का अर्थ 'संयोजन' है और 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अनुभूति' है। इस प्रकार विभाव, अनुभाव, सञ्चारीभाव के संयोजन से रस की अनुभूति होती है।

रसानुभूति में अभिनय का बड़ा महत्त्व है। अभिनेता आङ्गिकादि चेष्टाओं के द्वारा मनोगत भावों का प्रदर्शन कर रस का सञ्चार करता है, अभिनेता (नट) पहले रामादि की अवस्थाओं का अनुकरण करता है। फिर आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य आदि अभिनयों के द्वारा अनुभूति के योग्य बनाया जाता है। फिर सञ्चारीभावों के द्वारा रसों की ओर उन्मुख किये जाते हैं। फिर इन सबके संयोजन से रस की अनुभूति होती है। भाव यह है कि मानव के हृदय में चित्तवृत्ति के रूप में निरन्तर भाव विद्यमान रहते हैं, वे स्थायीभाव कहे जाते हैं। इस प्रकार आलम्बनोद्दीपन विभावों के द्वारा विभावित आङ्गिकादि अभिनयों के द्वारा अनुभूति के योग्य बनाया गया और सञ्चारीभावों के द्वारा रसोन्मुख किया गया भाव ही रस है। विभावादि के संयोजन से ही उसकी अनुभूति होती है। यह अनुभूति ही आस्वाद है। जिसे वाणी से व्यक्त नहीं किया जा सकता है, इसलिए वह अनिर्वचनीय है, विलक्षण है, अलौकिक है।

अभिनव के अनुसार चमत्कारैकप्राण आनन्दरूप अखण्ड रस की अनुभूति ही आस्वाद है। यह आस्वाद ही रस है।

१. काव्यप्रकाश (निर्णयसागर), पृ० ९१।

आचार्य मम्मट ने अभिनवगुप्त के रस-सिद्धान्त को ध्यान में रखकर रस-निष्पत्ति का विवेचन किया है। अभिनव के समान ही उन्होंने रससूत्र के 'संयोग' पद का अर्थ व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव सम्बन्ध और 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अभिव्यक्ति' स्वीकार किया है। उनके मतानुसार विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव तीनों मिलकर ही रस के व्यञ्जक होते हैं। उनके विचार से एक विभाव या अनुभावादि कई रस के विभावादि हो सकते हैं। उनकी दृष्टि में कोई भी विभावादि किसी एक रस की अभिव्यक्ति का कारण नहीं होता, अपितु विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव तीनों मिलकर रसाभिव्यक्ति के कारण होते हैं।

धनञ्जय और धनिक ने अभिनवगुप्त के मत को स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने भट्टनायक के मत का अनुसरण करते हुए भट्टनायक के समान विभावादि के साथ रस का भाव्य-भावक सम्बन्ध माना है। उनका कहना है कि रसादि का काव्य के साथ भी व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव सम्बन्ध नहीं है और न काव्य व्यञ्जक है और रसादि व्यङ्ग्य है। तो इनका कौन-सा सम्बन्ध है? इस पर कहते हैं कि काव्य और रस का परस्पर भाव्य-भावक सम्बन्ध है। काव्य भावक है और रसादि व्यङ्ग्य। ये रसादि सहृदय में स्वतः विद्यमान रहते हैं और विशिष्ट विभावादि के द्वारा काव्य से भावित होते हैं[1]। इस प्रकार धनञ्जय और धनिक दोनों ही भरत-रससूत्र के 'संयोग' पद का अर्थ भाव्य-भावक सम्बन्ध और 'निष्पत्ति' का अर्थ भाविति या भावित होना करते हैं। उनके मतानुसार विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और व्यभिचारीभाव के संयोग अर्थात् भाव्य-भावक सम्बन्ध से रस की निष्पत्ति (भाविति) होती है। भाव यह है कि विभावादि के द्वारा आस्वाद्य बनाया गया स्थायीभाव ही रस है[2]।

महिमभट्ट रसवादी आचार्य हैं। उन्होंने अभिनवगुप्त के समान रस की स्थिति सामाजिक में मानी है। उनके अनुसार सामाजिक ही रत्यादि स्थायीभावों का रस के रूप में करता है, किन्तु अभिनवगुप्त के विचारों से अन्तर यह है कि वे स्थायीभाव को न वास्तविक मानते हैं और न संस्कार के रूप में चित्त में विद्यमानता स्वीकार करते हैं, अपितु प्रतिबिम्ब रूप मानते हैं[3]।

---

१. अतो न रसादीनां काव्येन सह व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभावः। किं तर्हि? भाव्य-भावकसम्बन्धः। काव्यं हि भावकं भाव्या रसादयः। ते हि स्वतो भवन्त एव भावकेषु विशिष्टविभावादिमता काव्येन भाव्यन्ते।

(दशरूपकावलोक ४।३७ की वृत्ति)

२. विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायिभावो रसः स्मृतः॥ (दशरूपक ४।१)

३. तैरेव करुणादिभिः कृत्रिमैर्विभावाद्यभिधानै रसन्त एव रत्यादयः प्रतिबिम्बकल्पाः स्थायिभावव्यपदेशभाजः। (व्यक्तिविवेक, पृ० ७९)

उनके अनुसार रत्यादि स्थायीभावों की स्थिति प्रमाता में नहीं होती; अपितु वे रङ्गमञ्च पर प्रदर्शित स्थायीभावों के प्रतिबिम्ब मात्र होते हैं। उन्होंने रससूत्र के संयोग' पद का अर्थ अनुभाव्य-अनुभावक सम्बन्ध और 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अनुमिति' माना है। इस प्रकार विभाव, अनुभाव, सञ्चारीभाव के संयोग अर्थात् अनुभाव्य-अनुभावक सम्बन्ध से रस की अनुमिति या प्रतीति होती है। यह महिमभट्ट का मत है।

भट्टनायक के अनुसार विभाव, अनुभाव, सञ्चारीभाव और स्थायीभाव आदि रस के सभी अङ्गों का साधारणीकरण होता है। पहले विभावादि का साधारणीकरण होता है, बाद में रत्यादि स्थायीभाव का साधारणीकरण होता है। अभिनवगुप्त के अनुसार विभाव, अनुभाव, सञ्चारीभाव और स्थायीभाव आदि सभी अङ्गों का साधारणीकरण होता है। किन्तु अन्त में स्थायीभाव का साधारणीकरण ही प्रमुख हो जाता है और अन्य ज्ञान उसी में अन्तर्भूत हो जाते हैं। भट्टतौत के अनुसार साधारणीकरण प्रक्रिया के तीन बिन्दु हैं—कवि, नायक और सहृदय। इन तीनों के भावों का तादात्म्य होना साधारणीकरण है।

विश्वनाथ के अनुसार भी विभावादि सभी अङ्गों का साधारणीकरण होता है, किन्तु उनके विवेचन में अन्य आचार्यों की अपेक्षा कुछ विशेषताएँ हैं। विश्वनाथ आश्रय के साथ प्रमाता का तादात्म्य सम्बन्ध मानते हैं। उनका कहना है कि साधारणीकरण विभावादि का विभावन नामक व्यापार है। इस विभावन व्यापार के द्वारा प्रमाता अपने को प्रमेय से अभिन्न समझने लगता है। यही साधारणीकरण की स्थिति है।

नृत्यरस

नाट्य और काव्य के अतिरिक्त नृत्य और गीत तथा चित्रादि कलाओं में भी रस की स्थिति रहती है, किन्तु नाट्य और काव्य में प्रतिपादित भावादि से नृत्य के भावादि में किञ्चित् अन्तर होता है। काव्य और नाट्य में जिसके हृदय में भाव उत्पन्न होता है वह आश्रय कहलाता है। जैसे—रामायण में 'धनुर्यज्ञ' के अवसर पर लक्ष्मण को देखकर परशुराम के हृदय में क्रोध उत्पन्न होता है, अतः परशुराम आश्रय है और लक्ष्मण को देखकर क्रोध उत्पन्न हुआ, अतः लक्ष्मण आलम्बन विभाव हुए। किन्तु नृत्य में जो कुछ होता है उसका सीधा प्रभाव दर्शक पर पड़ता है। ऐसी स्थिति में दर्शक ही स्वयं आश्रय बन जाता है और नर्तक आलम्बन। आश्रय का अर्थ होता है—जिसके हृदय में भाव जागृत हो। नर्त्तक का कार्य भाव का जगाना होता है और उसकी प्रतिक्रिया दर्शक के हृदय पर सीधी होती है। भाव का परिणाम अनुभाव होता है और वह दर्शक के हृदय में उत्पन्न होता है तो उसका परिणाम भी दर्शक में होना चाहिए। नृत्य में अनुभाव को आलम्बनगत उद्दीपन कहते हैं। जिन कारणों से अनुभाव का स्वरूप स्पष्ट होते हैं, उन्हें 'अनुभाव' कहते हैं।

बनता है, वे कारण सञ्चरणशील होने के कारण 'सञ्चारीभाव' कहलाते हैं। इन्हीं के सहयोग से स्थायीभाव रसरूप को प्राप्त होते हैं।

गीतरस

अभिनवगुप्त के अनुसार गीत-ध्वनि से भी रस की अभिव्यक्ति होती है (**गीतादिशब्देभ्योऽपि रसाभिव्यक्तिरस्ति**[१])। उनका कहना है कि जिस प्रकार वाचक शब्द वाक्यार्थ-बोधन के पश्चात् व्यङ्ग्यार्थबोध कराते हैं, उसी प्रकार गेय स्वर भी अपने स्वरूप-बोधन के पश्चात् भाव या रस का बोध कराते हैं। इस प्रकार प्राचीन आचार्य गीत-ध्वनि को रस का व्यञ्जक मानते हैं[२]। रस-कौमुदीकार श्रीकण्ठ का कहना है कि गीत, काव्य और नाट्य — ये तीनों निरपेक्ष रूप से रस के उद्गमस्थान हैं[३]। किन्तु काव्य की अपेक्षा गीत-ध्वनि का क्षेत्र अधिक व्यापक होता है, क्योंकि काव्य का रसास्वादन तो सहृदय व्यक्ति ही कर सकता है, किन्तु गीत के द्वारा बालक भी आनन्दानुभव करते हैं, तिर्यग्योनि के प्राणी (पशु-पक्षी) भी गीत से आनन्द में निमग्न हो जाते हैं; यहाँ तक कि अचेतन जड़ प्रकृति भी उससे प्रभावित हो जाती है[४]। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि गीत के द्वारा असहृदय, सहृदय सभी का हृदय रसमय हो जाता है।

गीत की रस-प्रक्रिया में स्थायीभाव का आलम्बन 'अंशस्वर' होता है, जिसे स्थायी स्वर भी कहते हैं। इस स्थायी स्वर का संवादी स्वर उद्दीपन-विभाव होता है और अनुवादी स्वर अनुभाव का कार्य करता है तथा सञ्चारी स्वर सञ्चारीभावों को प्रकाशित करता है। इसीलिए कहा जाता है कि स्थायी स्वर पर आलम्बित, उसके संवादी स्वर द्वारा उद्दीप्त एवं अनुवादी स्वर द्वारा अनुभावित तथा सञ्चारी स्वरों द्वारा परिपोषित सहृदयों का चेतना-विशेष रस है, जिसकी अनुभूति के समय रजस्तमोगुणजनित राग-द्वेषादि ग्रन्थियाँ विगलित हो जाती हैं[५]। नन्दिकेश्वर के अनुसार संगीत के सात स्वर और उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और कम्पित — ये चार वर्ण होते हैं। इनमें उदात्त के साथ आरोही का, अनुदात्त के साथ अवरोही का, स्वरित के साथ स्थायी का और कम्पित के साथ सञ्चारी स्वर का सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है।

---

१. ध्वन्यालोक (वृत्ति), ३।३३।

२. तथाहि — गीतध्वनीनामपि व्यञ्जकत्वमस्तीति रसादिविषयम्।
(ध्वन्यालोक, ३।३३ की वृत्ति)

३. नाट्ये गीते च काव्ये त्रिषु वसति रसश्शुद्धबुद्धस्वभावः।
(भरतकोष, पृ० ४२९)

४. श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्ध २१।१५।

५. भरत का संगीत सिद्धान्त, पृ० २६९-२७१।

रस-संख्या

(भरत एवं धनञ्जय ने नाटच में रसों की संख्या आठ बतायी है) मम्मट ने भी इसी मत को स्वीकार किया है (अष्टौ नाटचे रसाः स्मृताः)। अभिनव-गुप्त का कथन है कि नाटच में शान्त नामक नवाँ रस भी होता है। नाटचशास्त्र के एक संस्करण में **'एवमेते रसा ज्ञेया नवलक्षणलक्षिताः'** पाठ मिलता है। इस पर अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती टीका में लिखा है कि **'एवमेते रसा ज्ञेया नव'**। इस आधार पर वे नाटच में नौ रस मानते हैं, किन्तु नाटचशास्त्र के अन्य सभी संस्करणों में **'एवमेते रसा ज्ञेयास्त्वष्टौ लक्षणलक्षिताः'** पाठ मिलता है। वस्तुतः **'रसा ज्ञेयास्त्वष्टौ'** पाठ ही शुद्ध है। इस मूल पाठ के अनुसार इसका अर्थ होता है—'इस प्रकार आठ रस समझने चाहिए'। वस्तुतः रसों की संख्या आठ ही है। भरत ने ब्रह्मा के मत से रसों की संख्या आठ बतायी है (**एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ताः द्रुहिणेन महात्मना**)। भरत ने छठे अध्याय के प्रारम्भ में भी **'अष्टौ नाटचरसाः स्मृताः'** कहा है। इस प्रकार नाटच में आठ रस स्वीकृत हैं, किन्तु अभिनव शान्त नामक नवाँ रस भी मानते हैं।

कुछ आचार्यों का कथन है कि नाट्य में अवस्था का अनुकरण होता है और शान्त में समस्त विषयों से निवृत्ति होती है। अतः अवस्थानुकृति रूप नाटच में सर्वविषयोपरक्तिरूप शान्त रस सम्भव नहीं है। क्योंकि नाटच अभिनय-प्रधान होता है और शान्त रस निवृत्ति-प्रधान होता है। अतः निवृत्ति-प्रधान शान्त रस में रोमाञ्च आदि का अभाव होने से अभिनय नहीं हो सकता और गीत-वाद्यादि का भी शान्त रस के साथ विरोध है। जैसा कि कहा गया है—

'न यत्र दुःखं न सुखं न द्वेषो नापि मत्सरः।
समः सर्वेषु भावेषु स शान्तः प्रथितो रसः'॥

इस प्रकार अभिनय के योग्य होने से अभिनय-प्रधान नाटच में शान्त रस का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इसीलिए भरतमुनि ने **'अष्टौ नाटचे रसाः स्मृताः'** कहा है।

अभिनवगुप्त आदि आचार्य 'अष्टौ नाट्ये रसाः' इस वाक्य को उपलक्षण मात्र मानते हैं। उनके अनुसार नाट्य में शान्त नामक नवाँ रस भी होता है। उन्होंने शान्त को अभिनेय भी माना है। उनका कहना है कि गीत-वाद्य आदि को शान्त रस के साथ कोई विरोध नहीं है। जैसा कि संगीतरत्नाकर में कहा गया है—

'अष्टावेव रसा नाट्ये इति केचिदचूचुदन्।
तदचारु ततः कश्चिन्न रसं स्वदते नटः'॥

इस प्रकार नाट्य में भी शान्त रस होता है, ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं। अभिनवगुप्त ने शान्त को ही मूलभूत रस माना है। उनके अनुसार शान्त रस प्रकृति है और अन्य सभी रस विकृति हैं। शृङ्गारादि विकृति रस अपने-अपने विशिष्ट हेतुओं के आश्रयण से प्रकृत शान्त रस के रूप में आविर्भूत होते हैं और निमित्त का अपाय होने पर उसी में विलीन हो जाते हैं। जैसा कि कहा गया है—

'स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्त्तते।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते'।।

इस प्रकार अभिनवगुप्त शान्त को नवाँ रस मानते हैं और उसे प्रकृति के रूप में स्वीकार करते हैं। नारद एवं वासुकि ने भी शान्त को प्रमुख रस माना है।

इनके अतिरिक्त कुछ आचार्यों ने स्नेह, भक्ति और लौल्य (वात्सल्य) को अलग रस माना है। विश्वनाथ वात्सल्य को दसवाँ रस स्वीकार करते हैं[१] और रुद्रट 'प्रेयान्' नामक दसवाँ रस मानते हैं। किन्तु दूसरे आचार्य उनका खण्डन करते हैं। उनका कहना है कि स्नेह, भक्ति, वात्सल्य (लौल्य) रति के ही विशेष रूप हैं। समान व्यक्तियों का परस्पर रति 'स्नेह' है, छोटे का बड़े के प्रति रति 'भक्ति' है और बड़े का छोटे के प्रति रति 'वात्सल्य' है। इस प्रकार ये भी रति के ही विशेष रूप हैं। रुद्रट ने प्रेयान् नामक दसवाँ रस माना है[२]। इसी प्रकार 'प्रेयान्' और 'लौल्य' को भी अलग से रस नहीं माना जा सकता, किन्तु इसका भाव में अन्तर्भाव हो जाता है[३]। रूपगोस्वामी आदि आचार्य मधुर नामक 'भक्ति' रस को स्वीकार करते हैं और उसके पाँच मुख्य भेद मानते हैं और सात गौण भेद स्वीकार करते हैं। भोज नौ रसों के अतिरिक्त प्रेयान्, उदात्त और उद्धत तीन रस और मानते हैं[४]। भोज के अनुसार आठ रसों के अतिरिक्त अन्य चार रस शान्त, प्रेयान्, उदात्त और उद्धत नायक के भेदों के अनुसार उद्भावित होते हैं। उनके अनुसार धीरशान्त नायक में शान्त रस, धीरललित में प्रेयान् रस, धीरोदात्त में उदात्त रस और धीरोद्धत नायक में उद्धत रस की स्थिति मानी जा सकती है[५]। इनके अतिरिक्त भोज ने आनन्द,

१. साहित्यदर्पण, ३।२५१।
२. काव्यालङ्कार : रुद्रट (१२।३)।
३. प्रेयांस-लौल्यादित्रयस्तु भावान्तर्गता एव (बालबोधिनी)।
४. शृङ्गारवीरकरुणरौद्राद्भुतभयानकाः।
बीभत्सहास्यप्रेयांसः शान्तोदात्तोद्धताः।।
(सरस्वतीकण्ठाभरण ५।१६४)
५. न चाष्टावेति नियमः। यतः शान्तम्, प्रेयांसम्, उद्धतम्, ऊर्जस्विनं

प्रशम, स्वातन्त्र्य, पारवश्य, साध्वस, विलास, अनुराग और सङ्गम आदि
नवीन रस भी प्रस्तुत किये हैं[१]। इससे प्रतीत होता है कि भोज रसों के
आनन्त्य में विश्वास करते हैं।

अग्निपुराणकार नौ रस स्वीकार करते हैं। रामचन्द्र-गुणचन्द्र अग्नि-
पुराणोक्त नौ रसों के अतिरिक्त लौल्य, स्नेह, व्यसन, सुख, दुःख आदि अन्य
रस भी मानते हैं। उनके अनुसार गर्द्ध-स्थायीभावात्मक लौल्य रस, आर्द्रता-
स्थायीभावात्मक, आसक्ति-स्थायीभावात्मक व्यसन, अरति-स्थायीभावात्मक
दुःख और सन्तोष-स्थायीभावात्मक सुख रस होता है। किन्तु पूर्वोक्त नौ रसों
में इनका अन्तर्भाव हो जाने से अतिरिक्त रस के रूप में उन्हें मान्यता नहीं
मिल सकी[२]।

भानुदत्त ने रसतरङ्गिणी में वात्सल्य, लौल्य, भक्ति, कार्पण्य और माया
रस का उल्लेख किया है। एक जैन लेखक ने लज्जा-स्थायीभावात्मक 'व्रीडनक'
रस भी माना है। इस प्रकार काव्यालङ्कारशास्त्र भावों की अनन्तता के
आधार पर अनन्त रसों की परिकल्पना की परम्परा रही है, जिसके अनुसार
रसों की संख्या की कोई सीमा नहीं मानी जाती थी। किन्तु पण्डितराज
जगन्नाथ ने रस-संख्या की इस विस्तार-प्रवृत्ति का जोरदार खण्डन कर प्राचीन
परम्परा का समर्थन करते हुए नौ रस माना है। उनका कहना है कि भक्ति
आदि को अलग रस मानने पर भरतमुनि द्वारा प्रतिपादित संख्या भङ्ग हो
जायेगी, अतः मुनिसम्मत शास्त्र-परम्परा का अनुसरण करना ही श्रेयस्कर
है[३]। इस प्रकार गम्भीरतापूर्वक विचार करने के पश्चात् आचार्यों ने आठ या
नौ रस स्वीकार किया है।

एकरसवाद

भारतीय नाट्यशास्त्र-परम्परा में जहाँ एक ओर रसों की अनन्तता का
प्रतिपादन हो रहा था, वहीं दूसरी ओर एक ही मूल रस मानने की परम्परा
भी विद्यमान थी। इस परम्परा के आचार्य एक मूलरस स्वीकार करते थे

च केचित् समाचक्षते। तन्मूलाश्च किल नायकानां धीरशान्त-धीरललित-
धीरोदात्त-धीरोद्धतव्यपदेशः। (शृङ्गारप्रकाश, एकादश प्रकाश, पृ० ४४१)

१. शृङ्गारप्रकाश, ६१९-७२३।

२. एवं शृङ्गारादयो नवैव रसाः······पूर्वाचार्योपदिष्टाः। सम्भवन्ति
त्वपरेऽपि। यथा गर्द्धस्थायी लौल्यः, आर्द्रतास्थायी स्नेहः, आसक्तिस्थायी
व्यसनम्, अरतिस्थायी दुःखम्, सन्तोषस्थायी सुखमित्यादि। केचिदेषां पूर्वेष्वन्त-
र्भावमाहुरिति। (नाट्यदर्पण ९।११२)

३. रसानां नवत्वगणना च मुनिवचननियन्त्रिता भज्यते इति यथाशास्त्रमेव
ज्यायः। (रसगङ्गाधर, पृ० १७६)

और उसी में अन्य रसों का समाहार कर लेते थे और उसी मूल रस से अन्य रसों का विकास मानने थे।

शृङ्गार—अग्निपुराणकार का कहना है कि वास्तव में रस एक होता है और वह अखण्ड, चैतन्य और अनिर्वचनीय होता है। अग्निपुराण के अनुसार परब्रह्म के सहज आनन्द की अभिव्यक्ति को चैतन्य, चमत्कार और रस नाम से अभिहित किया गया है। इस प्रकार चैतन्य ही रस है और भावों के आधार पर विविध रूपों में अवभासित होता है। उस चैतन्य रस का प्रथम अनुभव अहङ्कार या अभिमान है। इसी अहङ्कार का दूसरा नाम शृङ्गार है, यही मूल रस है। इस प्रकार आत्मा का अहङ्कार-विशेष ही शृङ्गार है, जो सहृदयों के द्वारा रस्यमान होने से 'रस' कहलाता है। इसे शृङ्गार इसलिए कहते हैं कि यह मनुष्य को शृङ्ग तक पहुँचा देता है। अग्निपुराण का शृङ्गार स्त्री-पुरुष का वासनात्मक प्रेम नहीं है, अपितु आत्मनिष्ठ निरपेक्ष प्रेम है। इसी शृङ्गार से अन्य रसों की अभिव्यक्ति मानी गई है। अग्निपुराण के अनुसार जहाँ शृङ्गार है वहीं रस है। बिना शृङ्गार के तो सब कुछ रस-विहीन है—

'शृङ्गारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स एव चेदशृङ्गारी नीरसं सर्वमेव तत्'॥

(अग्निपुराणोक्त काव्यालङ्कारशास्त्र ४।२७)

इस प्रकार अग्निपुराण के अनुसार शृङ्गार ही एकमात्र मूल रस है और भावों की विशेषता से वह हास्यादि अनेक रूपों में अवभासित होता है।

भोज ने अग्निपुराण की परम्परा का अनुसरण कर शृङ्गार को ही एकमात्र रस माना है[1]। उनका कहना है कि रस मूलतः एक ही है और वह शृङ्गार है। भोज के अनुसार आत्मप्रतीति या आत्मज्ञान का नाम अहङ्कार है और अहङ्कार आत्मा का विशेष गुण है; वही अभिमान है, वही शृङ्गार है और शृङ्गार ही रस है[2]। भोज ने शृङ्गार को 'रसराज' कहा है और इसी से हास्यादि अन्य रसों की अभिव्यक्ति होती है।

शान्तरस—अभिनवगुप्त ने शान्त रस को ही मूल रस के रूप में प्रतिष्ठित किया है, जिससे अपने-अपने हेतुओं के आश्रयण से नाना भाव समुद्भूत होते हैं और निमित्त का अपाय होने पर उसी में विलीन हो जाते हैं।

---

१. (क) शृङ्गारमेव रसनाद्रसमामनामः। (शृङ्गारप्रकाश १।६-७)
(ख) राजा तु शृङ्गारमेकमेव शृङ्गारप्रकाशे रसमुररीचकार।
(एकावली, पृ० ९८)
(ग) शृङ्गार एक एव रसः इति शृङ्गारप्रकाशकारः।
(रत्नापण, पृ० २२१)

२. रसोऽभिमानोऽहङ्कार शृङ्गार इति गीयते।
(सरस्वतीकण्ठाभरण ५।१)

'स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्त्तते ।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते' ॥
(अभिनवभारती, अध्याय ६)

अभिनवगुप्त ने शान्त रस को प्रकृति माना है और अन्य रस विकृति हैं। उनके अनुसार शृङ्गारादि विकृत रस अपने-अपने विशिष्ट हेतुओं को प्राप्त कर उसी प्रकृत शान्त रस से उद्भूत हुआ करते हैं। नारद और वासुकि ने भी शान्त को प्रमुख रस माना है। शान्त रस का स्थायीभाव शम है, किन्तु मम्मट शान्त का स्थायीभाव निर्वेद मानते हैं (निर्वेदः स्थायीभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः)।

करुण रस—भवभूति ने करुण को ही एकमात्र मूल रस माना है और अन्य रसों को उसका विवर्त्त बताया है। उनका कहना है कि जिस प्रकार जल निमित्त भेद से कभी आवर्त्त (भँवर), कभी बुद्बुद, कभी तरङ्ग (लहर) का रूप धारण कर लेता है, वस्तुत वह जल ही होता है, उसी प्रकार करुण भी निमित्त-भेद से शृङ्गारादि भिन्न-भिन्न रसों के रूप में परिणत होकर भिन्न-भिन्न रूप में भासित होता है—

'एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्-
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान् ।
आवर्त्तबुद्बुदतरङ्गमयान् विकारान्
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समग्रम्' ॥
(उत्तररामचरित ३।४७)

उत्तररामचरित के टीकाकार वीरराघव का कहना है कि करुण रस को एकमात्र प्रधान रस इसलिए माना है कि उसका आस्वादन रागी, विरागी सभी को समान रूप से होता है। अन्य रसों के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है। जैसे शृङ्गार रस का आस्वादन रागी तो कर सकता है, किन्तु विरागी सही रूप में उसका आस्वादन नहीं कर सकता। इसीलिए करुण को ही सर्वश्रेष्ठ रस माना जाता है। रामायण का प्रधान रस करुण है। आनन्दवर्धन ने क्रौञ्च-सहचरीवियोगोत्त्थ शोक (करुण) को ही काव्य की आत्मा कहा है—

'काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्त्थः शोकः श्लोकत्वमागतः' ॥

क्रौञ्च पक्षी की घटना को देखते ही महर्षि वाल्मीकि के हृदय में वासना के रूप में विद्यमान शोक ही करुणरस के रूप में प्रस्फुरित हो गया। वही शोक (करुण) काव्य की आत्मा है। वही निमित्तों के आधार पर विभिन्न रसों के रूप में परिणत हो जाता है। करुण ही एकमात्र रस है, अन्य रस उसके विकार रूप हैं, विवर्त्त हैं।

भक्तिरस या मधुररस—रूपगोस्वामी ने भक्तिरस की प्रतिष्ठा ही नहीं की है बल्कि उसे एक मात्र मूल रस माना है और शृङ्गारादि को उसका विकार स्वीकार किया है। उनका कहना है कि जो मम्मट आदि आचार्य देवादि-विषयक रति को भाव कहते हैं और भक्ति को भाव में अन्तर्भूत मानते हैं वह समीचीन नहीं प्रतीत होता। क्योंकि देवादि-विषयक रति तो भाव है, किन्तु भगवद्विषयक रति भाव नहीं, अपितु स्थायीभाव है और वही भक्तिरस है। वही मूलभूत प्रधान रस है, अन्य रस तो उसके विकार हैं।

चमत्कार—अग्निपुराण में चमत्कार को ही रस कहा है। अग्निपुराण के अनुसार चैतन्य, चमत्कार और रस पर्यायवाची हैं। इस प्रकार चमत्कार ही रस है और रस ही चमत्कार है तथा चमत्कार ही चैतन्य है। यह चैतन्य रूप चमत्कार को आत्मा कहा गया है (**चमत्कार एवात्मा स चैतन्यं च यदुच्यते**)। वही आश्रय-भेद से विभिन्न रूपों में अवभासित होता है (**स एवाश्रयभेदेन धत्ते विविधरूपताम्**)। यह चमत्कार सभी रसों में प्राणरूप में अवस्थित है। इसे ही रसन, आस्वादन, चमत्करण आदि नामों से अभिहित किया जाता है। अभिनव के अनुसार चमत्कारैकप्राण आनन्दरूप अखण्ड रस की अनुभूति ही आस्वाद है और यह आस्वाद ही अलौकिक चमत्कार है और चमत्कार ही रस है और रस ही चमत्कार है।

विश्वनाथ के वृद्ध प्रपितामह नारायण पण्डित ने चमत्कार को ही समस्त रसों का प्राण कहा है। अपने मत के समर्थन में उन्होंने धर्मदत्त का वचन उद्धृत किया है। उनका कहना है कि चमत्कार ही रस का सार है, सभी रसों में उसकी अनुभूति होती है; चाहे कोई भी रस हो सर्वत्र चमत्कार ही है। उन्होंने अद्भुत को चमत्कार का पर्याय मानकर सर्वत्र अद्भुत की स्थिति मानी है—

'रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः' ॥

(साहित्यदर्पण ३.२ की वृत्ति)

हेमचन्द्र के अनुसार चमत्कार एक विचित्र प्रकार का आनन्दावेश है,[१] जिसमें एक विचित्र प्रकार का सुख मिलता है। चमत्कार अनुभूति का विषय है, अतः यह अनिर्वचनीय है। पण्डितराज जगन्नाथ ने चमत्कार को लोकोत्तरत्व का पर्याय माना है। इस चमत्कारत्व में ही रमणीयता रहती है। अभिनवगुप्त के अनुसार चमत्कार एक निर्विघ्न संवेदन है, यह एक अखण्ड भोगावेश है, यह चमत्कार ही आस्वाद, आनन्द एवं भोग रूप है।

---

१. अलौकिकचमत्कारात्मा रसास्वादः स्मृत्यनुमानलौकिकस्वसंवेदन-विलक्षण एव। (अभिनवभारती, षष्ठ अध्याय)

रसक्रम—भरत ने आठ रसों का प्रतिपादन किया है—शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत।

'शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' ।।

अभिनवगुप्त ने रसक्रम का सुन्दर विवेचन किया है। भरत ने शृङ्गार रस को प्रथम स्थान दिया है। पुरुषार्थचतुष्टय में 'काम' का प्रमुख स्थान है। यह काम समस्त प्राणियों में सामान्य रूप से पाया जाता है। उसके प्रति सभी लोगों का सामान्य आकर्षण होता है। अतः शृङ्गार रस का सबसे पहले विवेचन किया गया है। शृङ्गार का अनुगामी होने से हास्य रस को द्वितीय स्थान प्राप्त है। हास्य का विरोधी होने से उसके बाद करुण रस को तृतीय स्थान प्राप्त है। करुण से सम्बन्ध होने से करुण के बाद 'रौद्र' रस को चतुर्थ स्थान प्राप्त है। रौद्र अर्थ-प्रधान होता है। उसके बाद काम और अर्थ के धर्ममूलक होने से 'वीर' रस को पञ्चम स्थान प्राप्त है। वीर रस धर्म-प्रधान है। भय से पीड़ितों को अभय प्रदान करना वीरों का काम है। इसलिए वीर रस के बाद उसके विरोधी भयानक रस का प्रतिपादन किया है। भयानक रस के समान ही बीभत्स रस के भी विभावादि हैं। इसलिए भयानक के बाद बीभत्स रस को सातवाँ स्थान प्राप्त है। इसके बाद अद्भुत रस का आठवाँ स्थान है। नारायण पण्डित ने समस्त रसों में अद्भुत की स्थिति मानी है। उसे 'चमत्कारसार' कहा है। अभिनवगुप्त ने इन आठ रसों के अतिरिक्त निवृत्तिमूलक शान्त नामक नवाँ रस भी माना है। यह शान्त रस धर्मरूप मोक्षफल का दायक है।

रसभेद

शृङ्गार—नाट्यशास्त्र में भरत ने शृङ्गार की दो अवस्थाएँ बतायी हैं—संयोग और विप्रलम्भ। अग्निपुराण में इनके दो भेद किये गये हैं—प्रच्छन्न और प्रकाश। इनमें विप्रलम्भ शृङ्गार के चार भेद होते हैं—पूर्वानुराग, मान, प्रवास और करुण। मम्मट ने विप्रलम्भ शृङ्गार के पाँच भेद बताये हैं—अभिलाष, ईर्ष्या, विरह, प्रवास और शाप। मम्मट ने पूर्वानुराग को अभिलाष के नाम से अभिहित किया है। विश्वनाथ ने पूर्वराग के तीन भेद किये हैं—नीलीराग, कुसुम्भीराग और मञ्जिष्ठराग। 'मान' कोप को कहते हैं, जो सम्भुक्ता के प्रेम से उत्पन्न होता है। मम्मट ने इसे ईर्ष्या नाम से अभिहित किया है। इसमें समीप में रहने पर भी मान के कारण समागम नहीं होता। प्रवास का अर्थ विदेशगमन है। इसमें संभुक्ता नायिका का वियोग परदेश-गमन से होता है। प्रवास के तीन भेद होते हैं—कार्यजन्य, सम्भ्रमवश और शापवश। करुण विप्रलम्भ शोक से उत्पन्न होता है।

इसमें नायक-नायिका की एक-दूसरे के प्रति विरक्ति होती है। मम्मट ने 'विरह' नामक पाँचवाँ उपभेद भी स्वीकार किया है। पुरुषार्थचतुष्टय की दृष्टि से शृङ्गार के चार भेद होते हैं—कामशृङ्गार, अर्थशृङ्गार, धर्मशृङ्गार और मोक्षशृङ्गार। अभिनय की दृष्टि से शृङ्गार के दो भेद होते हैं—वाक्-क्रियात्मक और नेपथ्यक्रियात्मक[1]।

हास्य—हास्य रस का स्थायीभाव हास है, जो अपनी अथवा दूसरे की वेशभूषा, आकृति एवं वाणी से उत्पन्न होता है। अभिनवगुप्त ने हास्य रस को 'हास-स्थायीभावात्मक' कहा है। हास आदि स्थायीभाव सजातीय प्रतीति को उत्पन्न करते हैं, अतः उन्हें स्थायीभावात्मक कहा गया है। हास्य रस के मुख्यतः दो भेद होते हैं—आत्मस्थ और परस्थ। जो अपने ही विकृत वेष-भूषादि को देखकर स्वयं हँसता है, उसे 'आत्मस्थ' हास्य कहते हैं और दूसरों की वेष-भूषादि देखकर हँसना 'परस्थ' हास्य होता है। अग्निपुराण में हास्य रस के छः भेद बताये हैं—स्मित, हँसित, विहसित, उपहसित, अपहसित और अतिहसित। इनमें से—(१) जिस हँसी में दाँत न दिखायी दे, उसे **'स्मित'** कहते हैं। (२) जिसमें दाँत थोड़ा-सा दिखायी दे, उसे **'हसित'** कहते हैं। (३) हसित की अपेक्षा अधिक और मधुर शब्द सुनायी दे तो **'विहसित'** कहलाता है और (४) विहसित से भी अधिक (विशेष) एवं कुटिल (वक्र) हास होने पर **'उपहसित'** हास्य होता है तथा (५) उससे भी विशेष सशब्द हँसी को **'अपहसित'** कहते हैं। (६) जोर से हँसने पर तीव्र स्वर सुनायी दे तो **'अतिहसित'** कहलाता है। इनमें स्मित और हँसित को उत्तम प्रकृति के हास्य कहते हैं। विहसित और उपहसित मध्यम प्रकृति के हास्य हैं और अपहसित एवं अतिहसित अधम प्रकृति के हास्य होते हैं। अभिनय की दृष्टि से हास्य रस के दो भेद होते हैं—वाक्क्रियात्मक और नेपथ्यक्रियात्मक[2]।

करुण रस—करुण रस का स्थायीभाव 'शोक' है। नाट्यशास्त्र में करुण को 'शोक-स्थायीभाव' कहा गया है। करुण रस के तीन भेद हैं—धर्मोपघातज, वित्तनाशजन्य और शोकजन्य। इनमें तीनों प्रकार के करुण का स्थायीभाव शोक है। अभिनय की दृष्टि से करुण रस के दो भेद होते हैं—वाक्क्रियात्मक और नेपथ्यक्रियात्मक।

रौद्र रस—रौद्र रस का स्थायीभाव 'क्रोध' है। भरत ने करुण को क्रोध-स्थायीभावात्मक कहा है। रौद्र रस के तीन भेद होते हैं—आङ्गिक, वाचिक और नेपथ्यज। इन तीनों के द्वारा रौद्र रस का प्रदर्शन किया जाता है।

वीर रस—वीर रस का स्थायीभाव 'उत्साह' है। उत्साह से ही वीर रस

१. अग्निपुराणोक्तं काव्यालङ्कारशास्त्रम्, ४।१०–१५।
२. वही, ४।१५–१७।

की अभिव्यक्ति होती है। वीर रस के तीन भेद होते हैं—दानवीर, धर्मवीर, और युद्धवीर। धनञ्जय ने धर्मवीर के स्थान पर 'दयावीर' नामक भेद स्वीकार किया है। विश्वनाथ ने वीर रस के चार भेद स्वीकार किये हैं—दानवीर, धर्मवीर, दयावीर और युद्धवीर। अभिनय की दृष्टि से वीर रस के दो भेद होते हैं—काव्य में वाक्क्रियात्मक और नाटच में नेपथ्यक्रियात्मक।

भयानक रस—भय-स्थायीभाव वाला भयानक रस होता है। विकृत शब्द, पिशाचादि के दर्शन, युद्ध, जङ्गल, शून्यगृह और गुरु एवं राजा के अपराध से भयानक रस उत्पन्न होता है। भयानक रस के तीन भेद हैं—कृत्रिम, अपराधजन्य और वित्रासिक। अभिनय की दृष्टि से इसके दो भेद होते हैं—वाक्क्रियात्मक और नेपथ्यक्रियात्मक।

बीभत्स रस—जुगुप्सा-स्थायीभावात्मक 'बीभत्स' रस होता है। कुछ आचार्य बीभत्स रस के तीन भेद बताते हैं—कायिक, वाचिक और मानसिक। अग्निपुराण के अनुसार बीभत्स रस के दो भेद होते हैं—उद्वेजन और क्षोभण। उद्वेजन कृमि, विष्ठा आदि घृणित वस्तुओं को देखकर उत्पन्न होता है और क्षोभण रुधिर, मांस आदि के देखने से उत्पन्न होता है। भरत 'शुद्ध' नामक एक तीसरा भेद मानते हैं, किन्तु अग्निपुराणकार 'शुद्ध' नामक भेद स्वीकार नहीं करते। अभिनय की दृष्टि से इसके दो भेद होते हैं—वाक्क्रियात्मक और नेपथ्यक्रियात्मक।

अद्भुत रस—अद्भुत रस का स्थायीभाव विस्मय है। विस्मय चमत्कार का पर्यायवाची है। अद्भुत रस के दो भेद हैं—दिव्यज और आनन्दज। अभिनय की दृष्टि से इसके दो भेद होते हैं—वाक्क्रियात्मक और नेपथ्य-क्रियात्मक।

भाव-विवेचन

रस और भाव

भरत नाटचशास्त्र में रस और भावों के सम्बन्ध में तीन पक्ष प्रस्तुत करते हैं—

१. क्या भावों से रसों की अभिनिर्वृत्ति (निष्पत्ति) होती है?

२. क्या रसों से भावों की अभिनिर्वृत्ति (निष्पत्ति) होती है?

३. क्या रस और भाव परस्पर एक-दूसरे को उत्पन्न करते हैं?

इनमें प्रथम पक्ष के समर्थक भट्टलोल्लट हैं। वे भावों के उपचय को ही रस मानते हैं। द्वितीय पक्ष के समर्थक श्रीशङ्कुक हैं। उनका कहना है कि अभिनय में अनुकर्त्ता नट में रस का आस्वादन करने वाले सामाजिक को अनुकार्य रामादि में रत्यादि भावों की प्रतीति होती है। यह प्रतीति लोक में प्रकृति रस निष्पन्न करती है। तीसरा रस और भाव को परस्पर एक-दूसरे का उपकारक मानता है। उनका कहना है कि रस भावहीन नहीं होता और

न भाव रसहीन होता है[1]। रसहीन भाव और भावहीन रस की कल्पना ही नहीं की जा सकती। भाव रसों को भावित करते हैं और रस भावों से भावित होते हैं, इसलिए भाव कहे जाते हैं। इस प्रकार भरत के अनुसार भावों से रस की निष्पत्ति होती है; क्योंकि भावों से सूक्ष्म रूप में रसों की सत्ता विद्यमान रहती है, किन्तु रस की निष्पत्ति तो भावों से ही होती है। रसों से भाव की निष्पत्ति नहीं देखी जाती (**दृश्यते हि भावेभ्यो रसानामभिनिर्वृत्तिः, न रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिः**[2])। अभिनवगुप्त ने भी दो पक्षों का खण्डन कर सिद्धान्त रूप में 'भावों से रस की निष्पत्ति होती है' इस पक्ष को स्वीकार किया है। अभिनव के अनुसार रसों से भावों की निष्पत्ति नहीं होती (**अतो न रसेभ्यो भावाः**[3]), किन्तु दोनों परस्पर एक-दूसरे के आश्रित रहते हैं। रस भाव के आश्रित और भाव रस के आश्रित होते हैं।

भाव

भाव शब्द से चित्तवृत्ति-विशेष विवक्षित है। भाव चित्तवृत्ति के रूप में प्राणिमात्र में विद्यमान रहते हैं। भरत ने इसके शास्त्रीय स्वरूप का विवेचन किया है। भरत भाव शब्द की व्याख्या करते हुए प्रश्न करते हैं कि **किं भवन्तीति भावाः ? किं वा भावयन्तीति भावाः ?'** भाव यह है कि क्या ये चित्तवृत्ति के रूप में स्थित होने के कारण 'भाव' कहे जाते हैं ? अथवा वाचिकादि अभिनयों के द्वारा चित्तवृत्ति रूप काव्यार्थों को भावित करते हैं, इसलिए 'भाव' कहे जाते हैं ? इस पर कहते हैं कि वाचिक, आङ्गिक एवं सात्त्विक आदि अभिनयों के साथ काव्यार्थ अर्थात् रसों को भावित करते हैं, इसलिए 'भाव' कहे जाते हैं[4]। भाव यह है कि नाना प्रकार के अभिनयों से सम्बद्ध रसों को भावित करते हैं, सामाजिकों को रस की प्रतीति कराते हैं, इसलिए 'भाव' कहे जाते हैं[5]। ये

---

१. न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।
परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत्॥
एवं भावा रसाश्चैव भावयन्ति परस्परम्॥
(नाटचशास्त्र ६।३७–३८)

२. दृश्यते हि भावेभ्यो रसानामभिनिर्वृत्तिर्न तु रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिरिति। (नाटचशास्त्र (गायकवाड़), पृ० २९२)

३. अभिनवभारती, भाग १ पृ० २९२।

४. वागङ्गसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः।
(अभिनवभारती, भाग १)

५. नानाभिनयसम्बद्धान् भावयन्ति रसानिमान्।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाटचयोक्तृभिः॥
(नाटचशास्त्र ७।३)

भाव विभाव और अनुभाव से युक्त होते हैं, अतः विभावादि का लक्षण करना अपेक्षित है। अतः विभाव का लक्षण करते हैं।

विभाव

भरत के अनुसार विभाव शब्द का अर्थ विज्ञान है। विभाव, कारण, निमित्तहेतु—ये पर्यायवाची शब्द हैं। इनके द्वारा वाचिक, आङ्गिक एवं सात्त्विक अभिनय विभावित होते हैं, जाने जाते हैं, इसलिए इन्हें 'विभाव' कहा जाता है[1]। विभाव दो प्रकार के होते हैं—आलम्बन और उद्दीपन[2]। जिसके आश्रय से रत्यादि स्थायीभाव उद्बुद्ध होते हैं, उसे आलम्बनविभाव कहा जाता है। आलम्बनविभाव नायक-नायिका होते हैं। आलम्बनविभाव (नायक-नायिका) में स्थित संस्कारों के द्वारा जो रत्यादि भावों को उद्दीप्त करते हैं वे 'उद्दीपन' विभाव कहे जाते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने उद्दीपनविभाव को भावों के उत्कर्ष का हेतु माना है (**निमित्तानि चोद्दीपकानीति बोध्यम्**[3])। शाङ्र्गदेव ने संगीतरत्नाकर में चार प्रकार के उद्दीपनविभावों का उल्लेख किया है—आलम्बनगत गुण, आलम्बनगत चेष्टा, आलम्बनगत अलङ्कार और आलम्बनगत तटस्थता। इनमें आलम्बनाश्रित गुण यौवन, रूप, लावण्य, सौन्दर्य, अभिरूपता, मार्दव और सौकुमार्य हैं। आलम्बनगत चेष्टाएँ दस हैं—लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्चित्, मोट्टायित, कुट्टमित, विव्वोक, ललित और विहृत। आलम्बनगत अलङ्कार चार हैं—वस्त्रालङ्कार, भूषालंकार, माल्यालंकार और अङ्गलेपनालङ्कार। देशकालाश्रित तटस्थता नामक उद्दीपन विभाव चन्द्रिका, धारागृह, चन्द्रोदय, कोकिलालाप, माकन्द, मन्दमारुत, षट्पदस्वन, लतामण्डप, भूगेह, दीर्घिका, जलदारव, प्रासादगर्भ, संगीत, क्रीड़ाशैल तथा सरित् आदि हैं। शारदातनय ने भावप्रकाशन में आठ प्रकार के उद्दीपनविभावों की चर्चा की है—ललित, ललिताभास, स्थिर, चित्र, रूक्ष, खर, निन्दित और विकृत। ये आठ रसों से सम्बद्ध हैं। ये अभिनयों के माध्यम से स्थायीभावों को उद्दीप्त करते हैं, प्रतीति के योग्य बनाते हैं; इसलिए 'विभाव' कहे जाते हैं।

---

१. (क) अथ विभाव इति कस्मात्? उच्यते—विभावो विज्ञानार्थः। विभावः कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः। विभाव्यतेऽनेनेति वागङ्गसत्त्वाभिनयाः इत्यतो विभावाः। यथा विभावितं विज्ञातमित्यनर्थान्तरम्।

(नाटचशास्त्र (गायकवाड़), भाग १)

(ख) विभाव्यते हि रत्यादिर्यत्र येन विभाव्यते।
विभावो नाम स द्वेधाऽऽलम्बनोद्दीपनात्मकः॥

(अग्निपुराणोक्त काव्यालङ्कारशास्त्र ४।५१)

२. रसगंगाधर, पृ० ४०।

३. भावप्रकाशन, पृ० ४-५।

अनुभाव

विभाव के प्रति आश्रय में जो भी भाव अभिनय द्वारा व्यक्त किये जाते हैं उनका भावन, साक्षात्कार या प्रतीति अनुभावों के द्वारा होती है। ये अनुभाव वाचिक, आङ्गिक और सात्त्विक अभिनयों के अन्तर्गत अनेक चेष्टाएँ एवं व्यापार हैं। भाव यह है कि नाटच में वाचिक, आङ्गिक, सात्त्विक अभिनयों के द्वारा शाखा, अङ्ग एवं उपाङ्ग से युक्त अर्थ अनुभावित होते हैं, इसलिए वे अनुभाव कहे जाते हैं[१]। परवर्त्ती आचार्यों ने अनुभाव का व्युत्पत्ति-परक अर्थ किया है—**अनु पश्चात् भावो यस्य सोऽनुभावः**। अर्थात् भावों के पश्चात् जो होते हैं वे 'अनुभाव' हैं। भावों के पश्चात् उत्पन्न होने वाले ये भाव कार्यरूप माने जाते हैं, किन्तु उनका यह मत युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता है; क्योंकि ये भावों के साथ ही व्यक्त होते हैं और तिरोहित होते हैं। अतः भरत के अनुसार ये भाव कारणरूप हैं। ये अङ्गोपाङ्गादि की चेष्टाओं द्वारा नाटकीय वस्तु का अनुभावन करते हैं, अतः 'अनुभाव' है।

अग्निपुराण के अनुसार शरीर, मन, वचन एवं बुद्धि से ये आरम्भ किये जाते हैं। इसलिए अनुभाव की चार श्रेणियाँ हैं—चित्तारम्भ शरीरारम्भ, वागारम्भ और बुद्धचारम्भ। चित्तारम्भ अनुभाव दो प्रकार का होता है—पौरुष और स्त्रैण। इनमें पुरुषगत मनोऽनुभाव आठ प्रकार का होता है—शोभा, विलास, माधुर्य, स्थैर्य, गाम्भीर्य, ललित, औदार्य और तेज। स्त्रीगत मन-आरम्भानुभाव बारह हैं—हाव, भाव, हेला, शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, धैर्य, प्रागल्भ्य, औदार्य, स्थैर्य और गाम्भीर्य। शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों द्वारा किया गया व्यापार शरीरारम्भ अनुभाव है। इसके बारह भेद हैं—लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्चित्, मोट्टायित, कुट्टमित, विव्वोक, ललित, विकृत, क्रीड़ित और केलि। वागारम्भ अनुभाव के बारह भेद होते हैं—आलाप, विलाप, संलाप, प्रलाप, अनुलाप, अपलाप, सन्देश, अतिदेश, निर्देश, आदेश, उपदेश और व्यपदेश। बुद्धचारम्भ अनुभाव तीन प्रकार के हैं—रीति, वृत्ति और प्रवृत्ति[२]।

नाटचशास्त्र के अनुसार भाव विभाव और अनुभाव से युक्त होते हैं। अब विभावों एवं अनुभावों से युक्त भावों के लक्षण एवं उदाहरणों की व्याख्या करेंगे। इनमें विभाव और अनुभाव लोक में प्रसिद्ध हैं। ये विभाव और अनुभाव लोक में जैसे देखे जाते हैं वैसे ही नाटच में भी देखे जाते हैं। अतः नाटच-प्रदर्शन में विभाव और अनुभाव लोक-स्वभाव के अनुरूप ही होते हैं।

---

१. वागङ्गाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते।
शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः॥ (नाटचशास्त्र ७।५)

२. अग्निपुराणोक्त काव्यालङ्कारशास्त्र ४।६०–७०।

भावों की संख्या उनचास होती है। इनमें आठ स्थायीभाव, तैंतीस व्यभिचारी-भाव और आठ सात्त्विकभाव होते हैं। इन भावों से सामान्य गुणों के योग से सामाजिक के हृदय में रस की अनुभूति होती है। सामान्यगुणयोग का अर्थ है—विशिष्ट तथा व्यक्तिपरक भावों को साधारणीकरण की भूमि पर प्रतिष्ठित करना। इस प्रकार साधारणीकृत विभावादि के द्वारा सामाजिक के हृदय में रस की अनुभूति होती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि काव्यार्थ पर आश्रित विभाव एवं अनुभाव से व्यञ्जित उनचास भावों के सामान्य गुणों के योग से रस की निष्पत्ति होती है तो फिर स्थायीभाव ही रसत्व को प्राप्त होते हैं—ऐसा क्यों कहा गया है? इस पर कहते हैं कि स्थायीभाव सात्त्विक एवं व्यभिचारी भावों से विशिष्ट होते हैं। जिस प्रकार सामान्य लक्षण वाले, समान हस्त-पादादि अङ्ग-प्रत्यङ्ग वाले पुरुष कुल, शील, विद्या आदि में विचक्षण (विशिष्ट) होने के कारण राजत्व को प्राप्त हो जाते हैं (राजा हो जाते हैं) और वहीं अन्य अल्प बुद्धि वाले उनके अनुचर हो जाते हैं; उसी प्रकार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव स्थायी-भाव के आश्रित होने से अनुचर के समान हैं और अनेक आश्रितों के कारण स्थायीभाव स्वामी (राजा) के समान प्रधान होते हैं—

'यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः।
एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह' ॥

(नाट्यशास्त्र ७।८)

इस प्रकार विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभावों से परिवृत स्थायीभाव रसत्व को प्राप्त होता है। अतः पहले स्थायीभाव का लक्षण करते हैं।

स्थायीभाव का लक्षण

जो भाव अपने अनुकूल एवं प्रतिकूल भावों से विच्छिन्न नहीं होता और समुद्र के समान सभी भावों को आत्मसात् कर लेता है, वह स्थायीभाव कहलाता है। भाव यह है कि जिस प्रकार समुद्र सभी प्रकार के जलों को आत्मसात् कर स्व-रूप (अपने रूप के समान खारा) बना लेता है, उसी प्रकार स्थायीभाव सभी अनुकूल-प्रतिकूल भावों को आत्मसात् करके आत्मरूप बना लेता है—

'विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः' ॥

(दशरूपक ४।७)

भरत के अनुसार स्थायीभाव आठ हैं—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय—

'रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्त्तिताः' ॥

(नाट्यशास्त्र ६।१७)

(१) रति—भरत ने रति को शृङ्गार रस का स्थायीभाव माना है। रति भाव ऋतु, माला, अनुलेपन, आभरण, प्रियजन, उत्तम-भोजन, पर-भवन का उपयोग, आनुकूल्य आदि विभावों से उत्पन्न होता है। मुस्कराहट से युक्त मुख, मधुर-वचन, भ्रूक्षेप, कटाक्ष आदि अनुभावों से इसका अभिनय करना चाहिए[१]।

(२) हास—हर्ष आदि से जो चित्त का विकास होता है, उसे 'हास' कहते हैं। हास-स्थायीभाव परचेष्टानुकरण, कुहक, असम्बद्ध प्रलाप, कुटिल कर्म और मूर्खता के प्रदर्शन आदि विभावों से उत्पन्न होता है। हसित, स्मित, उपहसित, अपहसित, अतिहसित आदि अनुभावों से इसका अभिनय करना चाहिए[२]।

(३) शोक—करुण रस का स्थायीभाव 'शोक' है। शोक-स्थायीभाव प्रियजन के वियोग, विभव-नाश, वध, बन्धन, दुःखानुभव आदि विभावों से उत्पन्न होता है। अश्रुपात, विलाप, वैवर्ण्य, स्वर-भङ्ग, अङ्ग-शैथिल्य, भूमि-पतन, करुण-क्रन्दन, दीर्घ-निःश्वास, जड़ता, उन्माद, मोह और मरण आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए[३]।

(४) क्रोध—'क्रोध' रौद्र रस का स्थायीभाव होता है। क्रोध नामक स्थायीभाव संघर्ष, आक्रोश, कलह, विवाद, प्रतिकूलता आदि विभावों से उत्पन्न होता है। इसका अभिनय नाक के खींचने, आँखों के चढ़ाने, ओठ चबाने, गण्डस्थल के फड़कने आदि अनुभावों से किया जाता है। यह रिपुज, गुरुज, प्रणयि-प्रभव, भृत्यज एवं कृत्रिम भेद से पाँच प्रकार का होता है[४]।

(५) उत्साह—वीर रस का स्थायीभाव 'उत्साह' है। उत्साह नामक स्थायीभाव उत्तम प्रकृति के लोगों में होता है। यह अविषाद, शक्ति, धैर्य, शौर्य आदि विभावों से उत्पन्न होता है। धैर्य, त्याग, वैशारद्य आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए[५]।

(६) भय—भयानक रस का स्थायीभाव 'भय' है। यह स्त्रियों तथा नीच लोगों से सम्बद्ध माना गया है। यह स्थायीभाव गुरुजन एवं राजा के प्रति अपराध, हिंसक पशु, सूना घर, जंगल, पर्वत, हाथी तथा साँप का दर्शन, भर्त्सना, दुर्दिन, रात्रि, अन्धकार, उल्लू आदि के शब्दों के श्रवण आदि विभावों से उत्पन्न होता है। कम्पित हस्तपाद, हृदय-कम्पन, मुखशोष, जिह्वा-परिलेहन,

---

१. नाटचशास्त्र, ७।९।

२. वही, ७।१०।

३. वही, ७।११–१४।

४. वही, ७।१५–२०।

५. वही, ७।२१।

स्वेद, वेपथु, त्रास, परित्राण, पलायन, आक्रोशन आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए[1]।

(७) **जगुप्सा**—बीभत्स रस का स्थायीभाव 'जुगुप्सा' है। 'जुगुप्सा' नामक स्थायीभाव का सम्बन्ध स्त्रियों एवं नीच प्रकृति के लोगों से है। यह स्थायीभाव अरुचिकर वस्तुओं के दर्शन एवं श्रवण आदि विभावों से उत्पन्न होता है। सर्वाङ्ग-सङ्कोच, ष्ठीवन, मुख-सङ्कोच, हृदय-पीड़ा, हृदय-कम्पन आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए[2]।

विस्मय--अद्भुत रस का स्थायीभाव 'विस्मय' है। विस्मय नामक स्थायीभाव माया, इन्द्रजाल, चित्र, पुस्तक एवं शिल्पकला की अतिशयिता आदि विभावों से उत्पन्न होता है। नेत्रों के विस्फारण, निर्निमेष दृष्टि, भ्रूक्षेप, रोमाञ्च, शिरःकम्पन, साधुवाद आदि अनुभावों से इसका अभिनय करना चाहिए[3]।

व्यभिचारीभाव

'वि' और 'अभि' उपसर्गपूर्वक गत्यर्थक 'चर्' धातु से 'व्यभिचारी' शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है—चलना या गतिशील होना। अर्थात् जो विविध प्रकारों से रस की ओर उन्मुख होकर सञ्चरणशील होते हैं वे 'व्यभिचारीभाव' कहे जाते हैं[4]। धनञ्जय के अनुसार जिस प्रकार समुद्र में लहरें उठती हैं और विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार व्यभिचारीभाव रत्यादि स्थायीभावों में उन्मग्न और निमग्न होते रहते हैं[5] अर्थात् ये स्थायीभावों में नानारूप से विचरण करते हैं, इसलिए 'सञ्चारीभाव' भी कहलाते हैं। ये व्यभिचारीभाव तैंतीस होते हैं—निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, श्रम, धृति, जड़ता, हर्ष, दैन्य, औग्रच, चिन्ता, त्रास, असूया, अमर्ष, गर्व, स्मृति, मरण, मद, सुप्त, निद्रा, विबोध, व्रीड़ा, अपस्मार, मोह, सुमति, अलसता, वेग, तर्क, अवहित्त्था, व्याधि, उन्माद, विषाद, औत्सुक्य और चपलता।

(१) **निर्वेद**—निर्वेद नामक व्यभिचारीभाव दरिद्रता, रोग, अपमान, तिरस्कार, आक्रोश, क्रोध, ताड़न, प्रियजन-वियोग और तत्त्वज्ञान आदि

---

१. वही, ७।२२–२५।

२. वही, ७।२६।

३. नाटचशास्त्र ७।२७।

४. वि अभि इत्येतावुपसर्गौ। चर इति गत्यर्थो धातुः। विविधमाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः। (नाटचशास्त्र, गायकवाड़)

५. विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ॥ (दशरूपक ४।७)

विभावों से उत्पन्न होता है। स्त्री, नीच एवं कुत्सित लोगों के रुदन, निःश्वास, उच्छ्वास आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए[१]।

(२) **ग्लानि**--ग्लानि नामक व्यभिचारीभाव वमन, रेचन, व्याधि, तप, नियम, उपवास, मनस्ताप, कामभाव, मद्यसेवन, अतिशय व्यायाम, दीर्घयात्रा, भूख, प्यास, निद्राभङ्ग आदि विभावों से उत्पन्न होता है। इस व्यभिचारीभाव का अभिनय वाणी में दुर्बलता, कान्तिहीनता, नेत्र, उदर एवं कपोलों की क्षीणता, मन्दगति, कम्पन, अनुत्साह, गात्रक्षीणता, विवर्णता और स्वरभङ्ग आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए[२]।

(३) **शङ्का**--शङ्का नामक व्यभिचारीभाव चोरी में पकड़े जाने, राजद्रोह, पापकर्म आदि विभावों से उत्पन्न होता है। कम्पन, मुखशोष, जिह्वा-परिलेहन, वैवर्ण्य, वेपथु, स्वरभङ्ग, कण्ठावरोध आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए[३]। शङ्का दो प्रकार की होती है—आत्मसमुत्त्था और परसमुत्त्था।

(४) **श्रम**--श्रम नामक व्यभिचारीभाव दूर की यात्रा, व्यायाम आदि विभावों से उत्पन्न होता है। दीर्घ-निःश्वास, शिथिल गति, सीत्कार आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए[४]।

(५) **असूया**--असूया नामक व्यभिचारीभाव दूसरों के ऐश्वर्य, सौभाग्य, विद्या, बुद्धि एवं लीला आदि विभावों से उत्पन्न होता है। सभा में दोष-ख्यापन, गुणों के तिरस्कार, दृष्टि-निक्षेप, अधोमुख, भ्रुकुटीक्षेप, पर-निन्दा आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए[५]।

(६) **मद**--मद नामक व्यभिचारीभाव मद्य के उपयोग से उत्पन्न होता है। भरत ने मद के तीन प्रकार बताये हैं—तरुण, मध्य और अवकृष्ट[६]।

(७) **आलस्य**--आलस्य नामक व्यभिचारीभाव खेद, व्याधि, गर्भ, श्रम आदि विभावों से उत्पन्न होता है। इसका अभिनय अरुचि, शयन, आसन, निद्रा, तन्द्रा आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए[७]।

(८) **दैन्य**--दुर्गति और मनस्ताप आदि विभावों से दैन्य व्यभिचारीभाव

---

१. नाटचशास्त्र (गायकवाड़), पृ० ३५६।
२. वही, पृ० ३५७।
३. नाट्यशास्त्र (गायकवाड़), पृ० ३५७–३५८।
४. वही, पृ० ३६०।
५. वही, पृ० ३५८–३५९।
६. वही, पृ० ३५९।
७. वही, पृ० ३६१।

उत्पन्न होता है। अधीरता, शिरोरोग, अन्यमनस्कता, अशुद्धता आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए[1]।

(९) **चिन्ता**--चिन्ता नामक व्यभिचारीभाव इष्टनाश, ऐश्वर्य का क्षय, दरिद्रता आदि विभावों से उत्पन्न होता है। इसका अभिनय उच्छ्वास, निःश्वास, सन्ताप, ध्यान, अधोमुख-चिन्तन, गात्र-क्षीणता आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए[2]।

(१०) **मोह**--मोह नामक व्यभिचारीभाव दैवोपघात, आकस्मिक चोट, व्याधि, भय, आवेग, पूर्व वैर का स्मरण आदि विभावों से उत्पन्न होता है। निश्चेष्टता, भ्रमण, पतन, आघूर्णन, अदर्शन आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए[3]।

(११) **स्मृति**--स्मृति नामक व्यभिचारीभाव स्वास्थ्य, निद्राभङ्ग, दर्शन, चिन्ता, अभ्यास आदि विभावों से उत्पन्न होता है। इसका अभिनय शिरःकम्पन, अवलोकन, भ्रुकुटि-क्षेप आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए[4]।

(१२) **धृति**--धृति नामक व्यभिचारीभाव विज्ञान, शौर्य, श्रुति, विभव, शौच, आचार, गुरुभक्ति, मनोरथ, क्रीड़ा आदि विभावों से उत्पन्न होता है। इस व्यभिचारीभाव का अभिनय प्राप्त विषयों के उपभोग और अप्राप्त, अतीत, विनष्ट एवं उपहत आदि अनुभावों द्वारा करना चाहिए[5]।

(१३) **व्रीड़ा**—व्रीडा नामक व्यभिचारीभाव कार्यकारणमूलात्मक होता है। यह गुरुजनों के प्रति विपरीत आचरण, अपमान, प्रतिज्ञा का अनिर्वाह और पश्चात्ताप आदि विभावों से उत्पन्न होता है। लज्जा, अधोमुख-चिन्तन, भूमि-लेखन, वस्त्र और अंगूठी का स्पर्श, नख-निकृन्तन आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए[6]।

(१४) **चपलता**--चपलता नामक व्यभिचारीभाव राग, द्वेष, मात्सर्य, अमर्ष, ईर्ष्या, प्रतिकूलता आदि विभावों से उत्पन्न होता है। वाक्पारुष्य, निर्भर्त्सन, वध-बन्धन, प्रहार, ताड़न आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए[7]।

(१५) **हर्ष**—हर्ष नामक व्यभिचारीभाव मनोरथ-लाभ, प्रियजन-समागम, मनः-परितोष, देवता, गुरु, राजा तथा स्वामी की प्रसन्नता, भोजन,

---

१. नाट्यशास्त्र (गायकवाड़), पृ० ३६१।

२. वही, पृ० ३६१।

३. वही, पृ० ३६२।

४. वही, पृ० ३६२।

५. वही, पृ० ३६३।

६. नाट्यशास्त्र (गायकवाड़), पृ० ३६३।

७. वही, पृ० ३६४।

वस्त्र तथा धन की प्राप्ति तथा उपभोग आदि विभावों से उत्पन्न होता है। इसका अभिनय नेत्र और मुख की प्रसन्नता, प्रियभाषण, आलिङ्गन, रोमाञ्च, अश्रुपात, स्वेद आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए[१]।

(१६) **आवेग**—आवेग नामक व्यभिचारीभाव उत्पात, आँधी, वर्षा, अग्नि-प्रकोप, कुञ्जर-भ्रमण, प्रिय और अप्रिय का श्रवण, विपत्ति तथा प्रहार आदि विभावों से उत्पन्न होता है। इसका अभिनय अङ्ग-शैथिल्य, मनःखेद, वैवर्ण्य, विषाद तथा विस्मय आदि अनुभावों से करना चाहिए[२]।

(१७) **जड़ता**—जड़ता नामक व्यभिचारीभाव इष्टानिष्ट विषय के श्रवण एवं दर्शन तथा व्याधि आदि विभावों से उत्पन्न होता है। इसका अभिनय अकथन, अस्पष्ट भाषण, मौन और हक्का-बक्का रहना, एकटक देखना तथा परवश होना आदि अनुभावों द्वारा करना चाहिए[३]।

(१८) **गर्व**—गर्व नामक व्यभिचारीभाव ऐश्वर्य, कुल, रूप, यौवन, विद्या, बल और धन-लाभ आदि विभावों से उत्पन्न होता है। असूया, अवज्ञा, आघर्षण, अनुत्तर, न बोलना, अङ्गावलोकन, हँसी उड़ाना, कठोर-वचन, गुरु-व्यतिक्रम, अधिक्षेप, वचन-विच्छेद आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए[४]।

(१९) **विषाद**—विषाद नामक व्यभिचारीभाव कार्य का निर्वाह न करने तथा दैवी आपत्ति से उत्पन्न होता है। उत्तम और मध्यम व्यक्तियों के विषाद का अभिनय वैचित्र्योपाय एवं चिन्ता तथा अधम व्यक्तियों के विषाद का अभिनय निद्रा, निःश्वास एवं ध्यान आदि अनुभावों द्वारा करना चाहिए[५]।

(२०) **उत्सुकता**—उत्सुकता व्यभिचारीभाव प्रियजन-वियोग एवं उनके स्मरण से उत्पन्न होता है। इसका अभिनय निद्रा, तन्द्रा, शयन, दीर्घ-निःश्वास, शरीर के भारीपन आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए[६]।

(२१) **निद्रा**—निद्रा नामक व्यभिचारीभाव आलस्य, दुर्बलता, थकान, श्रम, चिन्ता, मद आदि विभावों से उत्पन्न होता है। मुख के भारीपन, शरीर-कम्पन, नेत्र-घूर्णन, जम्भा, मन्दता, जड़ता, अक्षि-निमीलन आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए[७]।

---

१. नाटचशास्त्र (गायकवाड़), पृ० ३६४।
२. वही, पृ० ३६५।
३. वही, पृ० ३६६।
४. वही, पृ० ३६६।
५. वही, पृ० ३६७।
६. वही, पृ० ३६७।
७. वही, पृ० ३६७।

(२२) **अपस्मार**—अपस्मार नामक व्यभिचारीभाव भूत-प्रेत-पिशाचादि से गृहीत होने, उनके स्मरण करने, उच्छिष्ट-भोजन, शून्यगृह-सेवन, समय-पालन में असावधानी तथा व्याधि आदि विभावों से उत्पन्न होता है। इसका अभिनय स्फुरण, निःश्वास, कम्पन, धावन, पतन, स्वेद, मुखफेन, स्तम्भन आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए[1]।

(२३) **सुप्त**—सुप्त नामक व्यभिचारीभाव निद्रा-व्याघात, विषयोपभोग, मोहित होने, भूमि-शयन, शरीर के प्रसारण एवं सङ्कोचन आदि विभावों से उत्पन्न होता है। इसका अभिनय उच्छ्वास, निश्चेष्टता, अक्षि-निमीलन, इन्द्रियसम्मोहन, स्वप्न-जल्पन आदि अनुभावों से करना चाहिए[2]।

(२४) **विबोध**—विबोध नामक व्यभिचारीभाव आहार-परिणाम, निद्रा-भङ्ग, स्वप्नान्त में तीव्र शब्द, स्पर्श, श्रवण आदि विभावों से उत्पन्न होता है। इसका अभिनय जँभाई लेने, मुख एवं आँखों के मलने आदि अनुभावों द्वारा करना चाहिए[3]।

(२५) **अमर्ष**—अमर्ष नामक व्यभिचारीभाव विद्या, ऐश्वर्य, शौर्य तथा बल में अधिक व्यक्तियों द्वारा अपमानित एवं तिरस्कृत व्यक्तियों में उत्पन्न होता है। इसका अभिनय शिरः-कम्पन, स्वेदागम, अधोमुख-चिन्तन, ध्यान, अध्यवसाय आदि अनुभावों द्वारा करना चाहिए[4]।

(२६) **अवहित्था**—अवहित्था नामक व्यभिचारीभाव लज्जा, भय, पराजय, गौरव और छल आदि विभावों से उत्पन्न होता है। इसका अभिनय अन्यथा-कथन, अवलोकन, कथा-भङ्ग, कृत्रिम धैर्य आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए[5]।

(२७) **उग्रता**—उग्रता नामक व्यभिचारीभाव चोरी में पकड़े जाने, राजा के प्रति अपराध, असत्य-भाषण आदि विभावों से उत्पन्न होता है। वध, बन्धन, ताड़न, फटकार आदि अनुभावों से इसका अभिनय करना चाहिए[6]।

(२८) **मति**—मति नामक व्यभिचारीभाव नानाशास्त्र-चिन्तन तथा ऊहापोह आदि विभावों से उत्पन्न होता है। शिष्यों के उपदेश देने, अर्थ-प्रख्यापन, संशय को दूर करना आदि अनुभावों द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए[7]।

---

१. नाटचशास्त्र (गायकवाड़), पृ० ३६८।
२. वही, पृ० ३६८-६९।
३. वही, पृ० ३६९।
४. वही, पृ० ३६९-७०।
५. वही, पृ० ३७०।
६. वही, पृ० ३७०।
७. वही, पृ० ३७१।

(२९) व्याधि--व्याधि नामक व्यभिचारीभाव वात, पित्त, कफ के सन्निपात से उत्पन्न होता है। इसका अभिनय अङ्ग-शैथिल्य, शरीर-विक्षेप, मुख-सङ्कोच आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए[1]।

(३०) उन्माद--उन्माद नामक व्यभिचारीभाव प्रियजन-वियोग, विभव-नाश, वात, पित्त, कफ के प्रकोप आदि विभावों से उत्पन्न होता है। अकारण रोने, हँसने, चिल्लाने, सोने, उठने, बैठने, दौड़ने, नाचने, गाने, पढ़ने, भस्माव-धूलन, तृणमर्दन और अन्य विकारों द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए[2]।

(३१) मरण--मरण नामक व्यभिचारीभाव व्याधि एवं चोट लगने आदि विभावों से उत्पन्न होता है। इनमें व्याधिजन्य मरण, व्यभिचारीभाव का अभिनय, गात्रों की विषण्णता, निश्चेष्टता, नेत्र-निमीलन, इन्द्रियों का अपने व्यापारों से विरत होना आदि अनुभावों द्वारा करना चाहिए और अभिघात-जन्य मरण का अभिनय शस्त्र-प्रहार, सर्पदंश, विषपान, गजादि से पतन, हिंसक पशुओं द्वारा मारे जाने आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए[3]।

(३२) त्रास--त्रास नामक व्यभिचारीभाव विद्युत्पात, उल्कापात, वज्रपात, भयङ्कर ध्वनि आदि विभावों से उत्पन्न होता है। इस व्यभिचारी-भाव का अभिनय अङ्ग-सङ्कोच, कम्पन, स्तम्भन, रोमाञ्च, गद्गद होने और प्रलाप आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए[4]।

(३३) वितर्क—वितर्क नामक व्यभिचारीभाव सन्देह, विमर्श, तर्क-वितर्क आदि विभावों से उत्पन्न होता है। इसका अभिनय विविध प्रकार के विचार-विमर्श, मन्त्रगोपन, प्रश्न-सम्प्रधारण आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए[5]।

इस प्रकार तैंतीस व्यभिचारीभावों का विवेचन किया गया है।

सात्त्विकभाव

सत्त्व मन की एकाग्रता से उत्पन्न होता है। अश्रु, रोमाञ्च, वेपथु आदि उसके स्वभाव हैं। उसका अभिनय अन्यमनस्क होकर नहीं किया जा सकता। इस प्रकार एकाग्र मन से स्वरभेदादि का अभिनय सात्त्विक अभिनय है। सात्त्विकभाव इस प्रकार हैं—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभेद, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय—ये आठ सात्त्विक भाव कहे गये हैं[6]। ये भाव सत्त्व से उत्पन्न होते हैं, इसलिए सात्त्विकभाव कहे जाते हैं।

---

१. वही, पृ० ३७१।

२. नाट्यशास्त्र (गायकवाड़), पृ० ३७२।

३. वही, पृ० ३७२।

४. वही, पृ० ३७३-७४।

५. वही, पृ० ३७४।

६. स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभेदोऽथ वेपथुः।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः मताः ॥ (नाट्यशास्त्र ७।९४)

(१) स्तम्भ--हर्ष, भय, शोक, विस्मय, विषाद, रोष आदि के कारण मन अथवा शरीर के व्यापारों का रुक जाना (निश्चेष्ट हो जाना) 'स्तम्भ' है। स्तम्भ-सात्त्विकभाव का अभिनय निश्चेष्टता, निष्कम्प, स्थिरता, शून्यता, जड़ आकृति तथा शरीर को कड़ा करने आदि के द्वारा करना चाहिए।

(२) स्वेद—क्रोध, भय, हर्ष, लज्जा, दु:ख, ताप, घात, व्यायाम, श्रम, रति, धूप आदि के कारण शरीर से जल का निकलना 'स्वेद' है। पंखा झलना, पसीना पोंछना, हवा की अभिलाषा आदि के द्वारा 'स्वेद' सात्त्विक भाव का अभिनय करना चाहिए।

(३) रोमाञ्च--हर्ष, विस्मय, भय, क्रोध, शीत, स्पर्श, रोग आदि के कारण रोंगटे खड़े होना 'रोमाञ्च' है। 'रोमाञ्च' सात्त्विक भाव का अभिनय शरीर के बार-बार कण्टकित होने, रोंगटे खड़े होने, पुलकित होने तथा गात्र-स्पर्श के द्वारा करना चाहिए।

स्वरभेद--हर्ष, पीड़ा, भय, क्रोध, जरा (बुढ़ापा), रूक्षता, मद आदि के कारण गले का रुँध जाना (कण्ठावरोध) 'स्वरभेद' कहलाता है। 'स्वरभेद' सात्त्विकभाव का अभिनय स्वरों की भिन्नता तथा गद्‌गद होने के द्वारा करना चाहिए।

(५) वेपथु—हर्ष, भय, शीत, रोष, स्पर्श, जरा तथा रोग आदि से कँपकँपी होना 'वेपथु' है। कम्पन, स्फुरित होना तथा घबराहट के द्वारा 'वेपथु' सात्त्विकभाव का अभिनय करना चाहिए।

(६) वैवर्ण्य—शीत, भय, क्रोध, श्रम, रोग, क्लान्ति और ताप के कारण उत्पन्न कान्ति-मलिनता 'वैवर्ण्य' है। नाड़ियों के पीड़न का मुख का रङ्ग फीका करने के द्वारा 'वैवर्ण्य' नामक सात्त्विकभाव का अभिनय करना चाहिए।

(७) अश्रु--आनन्द, अमर्ष, धुआँ, अञ्जन, जँभाई लेने, भय, शोक, शीत, रोग आदि के कारण आँखों में पानी आना 'अश्रु' है। अश्रु-सात्त्विक-भाव का अभिनय आँखों में आँसू भर जाने से, आँसुओं को गिराने एवं पोंछने आदि के द्वारा करना चाहिए।

(८) प्रलय--श्रम, मूर्च्छा, मद, निद्रा, चोट एवं मोह आदि से 'प्रलय' उत्पन्न होता है। प्रलय नामक सात्त्विकभाव का अभिनय निश्चेष्टता, निष्कम्प, अस्पष्ट श्वास, भूमि-पतन आदि के द्वारा करना चाहिए।

सात :

नाटच का प्रस्तुतीकरण

पूर्वरङ्ग-विधान

नाटच-प्रयोग के प्रारम्भ के पूर्व अभिनय की निर्विघ्न परिसमाप्ति के लिए जो माङ्गलिक अनुष्ठान आदि किये जाते हैं उन्हें 'पूर्वरङ्ग' कहते हैं। भरत के अनुसार रङ्गमञ्च पर यह पहले प्रयोग किया जाता है, इसलिए इसे 'पूर्वरङ्ग' कहते हैं[१]। अभिनव 'पूर्वरङ्ग' शब्द की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि 'पूर्वो रङ्गे इति पूर्वरङ्गः' अर्थात् रङ्गमञ्च पर जो पहले प्रयोग किया जाता है, उसे 'पूर्वरङ्ग' कहते हैं। हर्ष रङ्ग शब्द का अर्थ 'तौर्यत्रिक' मानते हैं और पूर्वरङ्ग शब्द में 'पूर्वश्चासौ रङ्गश्च' इस प्रकार कर्मधारय समास मानकर पूर्वरङ्ग शब्द का अर्थ 'नृत्यगीतवाद्यादि का पूर्व प्रयोग' मानते हैं[२]। किन्तु अभिनव इससे सहमत नहीं है। उनका कहना है कि पूर्वरङ्ग मण्डप का कोई एकदेश भाग नहीं है और न नाटच का अङ्ग है तथा न अनुकरण रूप है; अपितु देवतुष्टि के समान लौकिक-पारलौकिक फल रूप कार्य होने से 'पूर्वो रङ्गे इति पूर्वरङ्गः' इस प्रकार व्याख्यान मानना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। धनिक ने सामाजिकों की पूर्व परितुष्टि के कारण इसे 'पूर्वरङ्ग' माना है[३]। इसी परम्परा का अनुसरण करते हुए शारदातनय सभापति, सामाजिक, गायक, वादक, नटी, नट आदि अभिनेतृवर्ग जहाँ पर परस्पर एक दूसरे का अनुरञ्जन करते हैं उसे 'रङ्ग कहते हैं और रङ्ग (रङ्गमञ्च) में नाटच-प्रयोग के पहले गायन, वादन आदि जो कुछ किया जाता है उसे पूर्वरङ्ग' कहते हैं[४]। विश्वनाथ के अनुसार नाटच-प्रयोग के पूर्व नाटच-मण्डप

---

१. यस्माद्रङ्गे प्रयोगोऽयं पूर्वमेव प्रयुज्यते ।
तस्मादयं पूर्वरङ्गः................ ॥ (नाटचशास्त्र ५।७)

२. तेन पूर्वो रङ्गो पूर्वरङ्गः ।
श्रीहर्षस्तु रङ्गशब्देन तौर्यत्रिकं ब्रुवन् नाटचाङ्गप्रयोगस्य तस्यैव पूर्वरङ्गतां मन्यमानः पूर्वश्चासौ रङ्गस्य इति समासममंस्त ॥
(अभिनवभारती, भाग १ पृ० २०९)

३. पूर्वमुच्यते अस्मिन्निति पूर्वरङ्गो नाटचशाला तत्स्थप्रथमप्रयोगव्युत्थापनादौ पूर्वरङ्गता ।
(दशरूपकावलोक ३।२)

४. सभापतिः सभा सभ्यः गायका वादका अपि ।
नटी नटाश्च मोदन्ते यत्रान्योऽन्यानुरञ्जनात् ॥

की विघ्न-शान्ति के लिए नट के द्वारा जो मङ्गलमय गायन, वादन आदि कार्य किया जाता है उसे 'पूर्वरङ्ग' कहते हैं[1]। भरतमुनि द्वारा प्रतिपादित पूर्वरङ्ग-विधान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने भरत के मत का ही अनुसरण किया है।

पूर्वरङ्ग के अङ्ग

भरत ने नाट्यशास्त्र में पूर्वरङ्ग के उन्नीस अङ्गों का विवेचन किया है। उन्होंने पूर्वरङ्ग-विधियों को दो वर्गों में विभाजित किया है। यवनिकान्तर्गत सम्पादित किये जाने वाले नौ अङ्ग निम्नलिखित हैं—

१. **प्रत्याहार**—वाद्ययन्त्रों के विधिवत् स्थापन को प्रत्याहार कहते हैं।

२. **अवतरण**—गायक-गायिकाओं के निवेश को 'अवतरण' कहते हैं।

३. **आरम्भ**—परिगीत क्रिया का आरम्भ 'आरम्भ' कहलाता है।

४. **आश्रवणा**—बादन के वाद्ययन्त्रों में एकरूपता लाना 'आश्रवणा' है।

५. **वक्त्रपाणि**—वादक के द्वारा वाद्य-यन्त्रों का स्वर-सन्धान 'वक्त्रपाणि' कहलाता है।

६. **परिघट्टना**—वीणा आदि तन्त्री-वाद्यों की 'सारणा' परिघट्टना है।

७. **संघोटना**—हाथों से वाद्यों पर प्रहार या संगत करना 'संघोटना' है।

८. **मार्गासारित**—विविध प्रकार के वाद्यों का समवेत प्रयोग 'मार्गासारित' है।

९. **आसारित**—कला और पात का अनुसन्धान 'आसारित' है।

यवनिका के बाहर यवनिका को हटाकर की जाने वाली विधियाँ दस हैं—

१. **गीतक**—देवताओं के कीर्त्तन के लिए गीत-प्रयोग 'गीतक' कहलाता है।

२. **उत्थापन**—नान्दी-पाठकों द्वारा प्रयोग का उत्थापन 'उत्थापन' है।

३. **परिवर्त्तन**—सूत्रधार द्वारा बार-बार घूमकर इन्द्रादि की वन्दना 'परिवर्त्तन' है।

४. **नान्दी**—देवता, द्विज, राजा आदि की आशीर्वचन युक्त स्तुति-पाठ 'नान्दी' है।

५. **शुष्कावकृष्ट**—शुष्काक्षरों द्वारा संयोजित जर्जर श्लोक का पाठ 'शुष्कावकृष्टा' कहलाती है।

अतो रङ्ग इति ज्ञेयः पूर्वं यत्स प्रकल्प्यते।
तस्मादयं पूर्वरङ्ग इति विद्वद्भिरुच्यते॥
(भावप्रकाशन, पृ० १९४)

१. यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये।
कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते॥ (साहित्यदर्पण ६।१०)

६. रङ्गद्वार--आङ्गिक, वाचिक अभिनयों का सर्वप्रथम प्रयोग 'रङ्गद्वार' कहलाता है।

७. चारी--शृङ्गार रस का प्रसार 'चारी' है।

८. महाचारी--रौद्ररस का प्रसारण 'महाचारी' है।

९. त्रिगत--सूत्रधार, पारिपार्श्विक और विदूषक द्वारा परस्पर संलाप 'त्रिगत' कहा जाता है।

१०. प्ररोचना—प्रयोजन के साथ नाटच-वस्तु के उपक्षेप के द्वारा सिद्धि से उपलक्षित सामाजिकों को 'आमन्त्रित' करना 'प्ररोचना' है।

अग्निपुराण के अनुसार पूर्वरङ्ग के बत्तीस अङ्ग होते हैं—

पाँच प्रकार की नान्दी, पाँच निर्देश, तीन प्रकार के आमुख, दो प्रकार के इतिवृत्त, पाँच अर्थप्रकृतियाँ, पाँच चेष्टाएँ, पाँच सन्धियाँ, देशकाल का संकलन, रस, विभाव, अनुभाव, अभिनय, अङ्क और स्थिति—ये बत्तीस पूर्वरङ्ग के अङ्ग हैं। इसमें प्रारम्भ के तेरह अङ्ग नाटच में पूर्वरङ्ग हैं।

नान्दी

भरत के अनुसार नान्दी आशीर्वचन से युक्त एक पूर्वरङ्गकालीन माङ्गलिक अनुष्ठान है, जिसमें देवता, द्विज एवं राजा आदि की स्तुति की जाती है। नान्दी शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है—**'नन्दन्ति देवा अत्र इति नान्दी'**—इस विग्रह में नन्द् धातु से घञ् और ङीप् अथवा—**'नन्दयति देवादीन् स्तुत्या आनन्यति च सभ्यान् इति नान्दी'**—इस विग्रह में नन्द् धातु से अण् एवं ङीप् प्रत्यय होकर 'नान्दी' शब्द बनता है, जिसका अर्थ होता है कि जहाँ देवता आनन्दित होते हैं अथवा स्तुति के द्वारा जिससे देवता प्रसन्न होते हैं, उसे 'नान्दी' कहते हैं। नाटच-प्रदीप में 'नान्दी' की व्युत्पत्ति बताते हुए कहते हैं—

'नन्दन्ति काव्यानि कवीन्द्रवर्गाः कुशीलवाः पारिषदाश्च सन्तः।
यस्मादलं सज्जनसिन्धुहंसी तस्मादियं सा कथितेह नान्दी'॥

सज्जन रूपी समुद्र की हँसी के समान नान्दी काव्य, कविगण, कुशीलव, सामाजिक को आनन्दित (नन्दन) करती है, इसलिए उसे 'नान्दी' कहते हैं। नान्दी शब्द की एक अन्य व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

'नन्दी वृषः कोऽपि महेश्वरस्य रङ्गत्वमादौ किल खे जगाम।
तदङ्गमुद्दिश्य कृतां तु पूजां नान्दीति तां नाटचविदो वदन्ति'॥

भगवान् शङ्कर का नान्दी नामक वृषभ (बैल) सर्वप्रथम स्वर्ग में रङ्ग-भाव को प्राप्त हो गया था। उस रङ्गमञ्च के उद्देश्य से की गयी पूजा को नाटचवेत्ता लोग 'नान्दी' कहते हैं।

आदिभरत के अनुसार आशीर्वचन एवं नमस्कार से युक्त काव्यार्थ के ... श्लोक को 'नान्दी' कहते हैं—

'आशीर्नमस्क्रियारूपः श्लोकः काव्यार्थसूचकः ।
नान्दीति कथ्यते.........................' ॥

(अभिज्ञानशाकुन्तल : राघवभट्ट की टीका, पृ० ३)

भरत का मत आदिभरत के विचारों के निकट प्रतीत होता है। भरत के अनुसार आशीर्वचन से युक्त देवता, द्विज, नृपादि की स्तुति 'नान्दी' कहलाती है—

'आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते ।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता' ॥

अग्निपुराण में प्राप्त नान्दी का लक्षण भरतानुसारी है, किन्तु भरत के अनुसार नान्दीपाठ सूत्रधार करता है, जब कि अग्निपुराण के अनुसार नान्दीपाठ के पश्चात् सूत्रधार प्रवेश करता है[1]। भास के नाटक इसी परम्परा के हैं। भास के नाटकों में 'नान्द्यन्ते प्रविशति सूत्रधारः' अर्थात् नान्दी के अन्त में सूत्रधार प्रवेश करता है, यह उल्लेख मिलता है।

कोहल ने अग्निपुराण के अनुसार ही नान्दी का लक्षण प्रस्तुत किया है। कोहल का नान्दी-लक्षण इस प्रकार है—

देवतादेर्नमस्कारो गुरूणामपि च स्तुतिः ।
गोब्राह्मणनृपादीनामाशीर्नान्दीति कोहलः' ॥

शारदातनय ने भावप्रकाशन में नान्दी का लक्षण इस प्रकार दिया है—जगत्पति शिव के नृत्यकाल में वृषभ नन्दी रङ्गत्व को प्राप्त हो गया था। उसके तद्रूप के सम्बन्ध से होने वाली पूजा 'नान्दी' कही जाती है—

'नन्दी वृषो वृषाङ्कस्य जगदादौ जगत्पतेः ।
नृत्यतः कल्पनायोगाज्जगाम किल रङ्गताम् ॥
तस्य तद्रूपसम्बन्धात्पूजा नान्दीति कथ्यते' ॥

(भावप्रकाशन, पृ० १९६-९७)

रसार्णवसुधाकर और नाटकलक्षणरत्नकोश का नान्दी-लक्षण पूर्ण भरतानुसारी है। किन्तु रसार्णवसुधाकर में अग्निपुराण की परम्परा के अनुसार दसपदा नान्दी का उल्लेख है। नाटकलक्षणरत्नकोष के अनुसार नान्दीपाठ सूत्रधार करता है। प्रतापरुद्रीय में नान्दी का लक्षण आदिभरत के अनुसार है। विश्वनाथ ने भरत के अनुसार नान्दी का लक्षण दिया है कि नाटक के प्रारम्भ में आशीर्वचनों से युक्त देवता, ब्राह्मण और राजा आदि की जो स्तुति की जाती है उसे नान्दी कहते हैं—

---

१. देवतानां नमस्कारो गुरूणामपि च स्तुतिः ।
गोब्राह्मणनृपादीनामाशीर्वादश्च गीयते ।
नान्द्यन्ते सूत्रधारोऽसौ रूपकेषु निबध्यते ॥

'आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात् प्रयुज्यते ।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता' ।।

(साहित्यदर्पण ६।२४)

भरत के अनुसार विशेष नट अथवा सूत्रधार को नान्दीपाठ करना चाहिए। दूसरे मत के अनुसार सूत्रधार अथवा कोई अन्य अभिनेता नान्दीपाठ कर सकता है। एक अन्य मत के अनुसार सूत्रधार अथवा स्थापक नेपथ्य से नान्दीपाठ करता है, उसके बाद रङ्गमञ्च पर प्रवेश करता है। किन्तु नियमतः रङ्गमञ्च पर ही नान्दीपाठ करना चाहिए और वह नट के द्वारा होना चाहिए। नाटक के प्रारम्भ में सर्वप्रथम नान्दीपाठ होना चाहिए; तब सूत्रधार या स्थापक रङ्गमञ्च पर प्रवेश कर प्रस्तावना का प्रारम्भ करे।

नाटचप्रदीप में आठ, दश या बारह पद वाली नान्दी का उल्लेख है। पद का अर्थ सुबन्त, तिङन्त पद है (**सुप्तिङन्तं पदम्**)। कुछ आचार्य श्लोक के चतुर्थांश को पद कहते हैं। अन्य आचार्य अवान्तर वाक्य को पद कहते हैं[1]। अभिनवगुप्त के अनुसार त्र्यस्र नान्दी में तीन, छः और बारह पद तथा चतुरस्र नान्दी में चार, आठ और सोलह पद हो सकते हैं। उन्होंने पद को अवान्तर वाक्य के अर्थ में ग्रहण किया है[2]। शारदातनय के अनुसार सूत्रधार मध्यम स्वर से नान्दी-पाठकों को अष्टपदा एवं द्वादशपदा नान्दीपाठ करना चाहिए। विद्यानाथ ने बाईस पदों वाली नान्दी का उल्लेख किया है। अभिज्ञानशाकुन्तल में चतुष्पदा अथवा अष्टपदा नान्दी है।

नान्दी का अधिष्ठातृ देवता चन्द्र है और चन्द्र रसेश्वर हैं। रस आनन्द रूप है और रस ही नाटच है तथा नाटच भी आनन्दमूलक है। शारदातनय ने नान्दी का रसेश्वर चन्द्र से सम्बन्ध बताया है। उनके अनुसार रस-सम्पत्ति चन्द्रमा के अधीन होने से नाटच में नान्दी-पाठकों को चार अङ्गों से युक्त नान्दीपाठ करना चाहिए।

नान्दी के भेद––नान्दी दो प्रकार की होती है–शुद्ध और पत्रावली। इनमें शुद्ध नान्दी आशीर्वचन, नमस्कृति और माङ्गलिक अनुष्ठान से युक्त होती है और पत्रावलीसंज्ञक नान्दी में श्लेष अथवा समासोक्ति के द्वारा बीज का विन्यास एवं अभिधेय वस्तु का विन्यास होता है।

भरतमुनि के अनुसार नाटक के प्रारम्भ में सूत्रधार द्वारा नान्दी का पाठ

---

१. अष्टाभिर्दशभिर्वापि नान्दी द्वादशभिः पदैः ।
आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम् ।।
श्लोकपादः केचित् सुप्तिङन्तमथापरे ।
पदेऽवान्तरवाक्यैकस्वरूपं पदमूचिरे ।।

२. संस्कृत-नाटक, पृ० ३६९।

करना चाहिए, किन्तु कुछ आचार्य इस मत से सहमत नहीं हैं। आचार्य
विश्वनाथ ने नान्दी का लक्षण तो किया है किन्तु पूर्वरङ्ग के अङ्ग रङ्गद्वार
को अधिक महत्त्व दिया है। उनका कहना है कि विक्रमोर्वशीय का प्रारम्भिक
श्लोक, जिसे सामान्यतः नान्दी कह दिया जाता है, वस्तुतः नान्दी नहीं है
अपितु रङ्गद्वार है, जिससे नाट्य का आरम्भ होता है। दूसरे विक्रमोर्वशीय का
यह श्लोक भरतोक्त नान्दी-लक्षण से मेल नहीं खाता। विश्वनाथ के अनुसार
नान्दी पूर्वरङ्ग का अङ्ग है, अतः नान्दी का सम्बन्ध पूर्वरङ्ग की विधि से
है। नाटक का प्रारम्भिक श्लोक माङ्गलिक श्लोक है, जिसे नान्दी का पूर्व-
द्वार कहा गया है, नान्दी नहीं। किन्तु भरत के अनुसार नान्दी-पाठ पूर्वद्वार
से पहले होता है[1]। अतः विश्वनाथ का यह नान्दी-विषयक विचार परम्परा-
विहित नहीं कहा जा सकता।

सूत्रधार

जो नाट्य-प्रयोग के सूत्र को धारण करता है या संचालित करता है उसे
'सूत्रधार' कहते हैं (**सूत्रं प्रयोगानुष्ठानं धारयतीति सूत्रधारः**)। इस व्युत्पत्ति
के अनुसार रङ्गमञ्च पर होने वाले प्रयोग को नियमित रूप से धारण करने
के कारण उसे सूत्रधार कहा जाता है। सूत्रधार रङ्गमञ्च पर उपस्थित
होकर नाटक का आरम्भ करता है, पात्रों को आवश्यक निर्देश देता है और
मध्यम स्वर से नान्दी का पाठ करता है। नाट्य के विभिन्न उपकरणों को
'सूत्र' कहते हैं; जो सूत्र को धारण करता है, सँभालता है, उसे 'सूत्रधार' कहा
जाता है।

'नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते।
सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो निगद्यते' ॥

शारदातनय के अनुसार नान्दीपाठ के अन्त में काव्य-निक्षिप्त कथावस्तु,
नायक, रस आदि को जो सूत्र रूप में (संक्षेप में) धारण करता है, उसे
'सूत्रधार' कहते हैं—

'सूत्रयन् काव्यनिक्षिप्तवस्तुनेतृकथारसान्।
नान्दीश्लोकेन नान्द्यन्ते सूत्रधार इति स्मृतः' ॥

(भावप्रकाशन, दशम अधिकार)

सूत्रधार रङ्गमञ्च को सजाने में निपुण, चार प्रकार के वाद्यों के विधान
को जानने वाला, वाक्पटु, प्रिय बोलने वाला, गीत तथा ताल का ज्ञाता होता
है। वह रङ्गदेवता की पूजा करता है। वह रूपक की कथावस्तु, नेता एवं
कवि के गुणों का संक्षेप में वर्णन करता है और नाटक की वागडोर को
सँभालता है, इसलिए 'सूत्रधार' कहा जाता है। सूत्रधार नाटकीय दल का

१. साहित्यदर्पण ६।११।

नेता और नाटच-प्रयोगों का निर्देशक तथा नाटकीय गतिविधियों का संचालक होता है। वह नाटक की कथा का सूत्र प्रस्तुत करने के लिए रङ्गमञ्च पर उपस्थित होता है। वह प्रयोग की समस्त व्यवस्थाओं को सँभालता है।

नाटचशास्त्र के अनुसार सूत्रधार रस, भाव, ताल, लय, गान, पाठच, नाटच-प्रयोग, अभिनय आदि का ज्ञाता, सभी प्रकार के वाद्यों के वादन में कुशल, सभी प्रकार की वेश-भूषाओं के धारण का ज्ञाता, नीतिशास्त्र का तत्त्वज्ञाता, कामशास्त्र में विचक्षण, प्रिय-भाषी, नाना शिल्पकला में मर्मज्ञ, वेश्योपचार में निपुण इत्यादि गुणों से युक्त होता है। इनके अतिरिक्त सूत्रधार में स्मृति, प्रज्ञा, उदारता, धैर्य, मधुरता, प्रियवादिता, सहनशीलता, सत्यवादिता, पवित्रता आदि स्वाभाविक गुण भी होने चाहिए।

स्थापक

पूर्वरङ्ग के प्रयोग के पश्चात् सूत्रधार के समान गुण एवं आकृति वाला जो नट रङ्गमञ्च पर प्रवेश कर काव्यार्थ की स्थापना करता है, उसे 'स्थापक' कहते हैं। नाटचशास्त्र के अनुसार वह रूपक के समस्त वृत्तों का स्थापन करता है, इसलिए 'स्थापक' कहा जाता है। वह स्थापक सूत्रधार के समान गुणाकृति वाला होता है[1]। धनञ्जय और विश्वनाथ के अनुसार सूत्रधार के पूर्वरङ्ग का विधान करके रङ्गमञ्च से चले जाने के पश्चात् उसी की तरह वेश-भूषा को धारण करने वाला दूसरा नट रङ्गमञ्च पर प्रवेश कर काव्य की स्थापना करता है[2]। शारदातनय भी भरत का अनुसरण करते हुए कहते हैं कि सूत्रधार पूर्वरङ्ग का विधान करके अपने अनुयायिओं के साथ चला जाता है और उसके बाद सूत्रधार के गुण एवं आकृति वाला स्थापक प्रवेश कर कथावस्तु, बीज, मुख तथा पात्र की सूचना देता है[3]। वह स्थापक काव्यार्थ-सूचक मधुर श्लोकों से रङ्ग (सभा) को प्रसन्न कर किसी ऋतु

---

१. स्थापकः प्रविशेत्तत्र सूत्रधारगुणाकृतिः।

(नाटचशास्त्र ५।१७०)

२. पूर्वरङ्गं विधायादौ सूत्रधारे विनिर्गते।
प्रविश्य तद्वदपरः काव्यमास्थापयेन्नटः॥

(दशरूपक ३।२ तथा साहित्यदर्पण ६।२६)

३. प्रयुज्य रङ्गं निष्क्रामेत् सूत्रधारः सहानुगः।
स्थापकः प्रविशेत्तत्र सूत्रधारगुणाकृतिः॥
सूचयेद्वस्तु बीजं वा मुखं पात्रमथापि वा।
रङ्गं प्रसाद्य मधुरैः श्लोकैः काव्यार्थसूचकैः॥
ऋतुं कञ्चिदुपादाय भारतीं वृत्तिमाश्रयेत्॥

(भावप्रकाशन, पृ० २२८; दशरूपक ३।४)

को लेकर 'भारती वृत्ति' का आश्रयण करे[1]। शारदातनय ने धनञ्जय का अनुसरण ही नहीं किया, अपितु उनके श्लोक को ही उद्धृत कर दिया है।

अभिनवगुप्त के अनुसार सूत्रधार ही स्थापक है, इसलिए सूत्रधार ही पूर्वरङ्ग का प्रयोग करने के बाद फिर वही स्थापक के रूप में प्रवेश करता है। अतः सूत्रधार और स्थापक दोनों एक ही है, अलग-अलग नहीं है[2]। विश्वनाथ का कहना है कि आजकल पूर्वरङ्ग का सम्यक् प्रयोग नहीं होता, अतः सूत्रधार ही स्थापक का भी कार्य कर देता है। इस प्रकार कालान्तर में सूत्रधार ने स्थापक का स्थान ले लिया। वही पूर्वरङ्ग में सूत्रधार और प्रस्तावना में 'स्थापक' कहलाता था। अग्निपुराण में भी सूत्रधार ही स्थापक कहा गया है (**सूत्रधार एव स्थापकः**)। इस प्रकार एक ही नट सूत्रधार और स्थापक दोनों का कार्य करता था।

पारिपार्श्विक

पारिपार्श्विक सूत्रधार का सबसे विश्वस्त सहचर होता है। नाटचशास्त्र के अनुसार वह सूत्रधार की अपेक्षा गुणों में किञ्चित् न्यून होता है। वह मध्यम प्रकृति का पात्र होता है और उज्ज्वल, रूपवान्, मेधावी, नाटच-विधान का ज्ञाता और अपने कार्य में कुशल होता है—

> **'सूत्रधारगुणैश्चैव किञ्चिदूनैः समन्वितः।**
> **मध्यमप्रकृतिस्तज्ज्ञैर्विज्ञेयः पारिपार्श्विकः'॥** (नाटचशास्त्र ३५।५३)

नाटचशास्त्र के अनुसार पूर्वरङ्ग एवं प्रस्तावना के विधान में सूत्रधार के साथ पारिपार्श्विक की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। सूत्रधार विश्वस्त एवं रङ्गमञ्च की कला में योग्यतम अपने दो सहयोगियों को पारिपार्श्विक के रूप में नियुक्त करता है। उनमें से एक वेश-भूषा, भाषा आदि के द्वारा विदूषक का काम करता था और दूसरा सूत्रधार का सहायक एवं परामर्शदाता होता था।

शारदातनय के अनुसार जो भरत द्वारा अभिनीत रसों पर आश्रित भावों का परिष्कार करता है और सूत्रधार के पार्श्व (बगल) में विद्यमान रहता है, उसे 'पारिपार्श्विक' कहते हैं—

> **'भरतेनाभिनीतं यद्भावं नानारसाश्रयम्।**
> **परिष्करोति पार्श्वस्थः स भवेत्पारिपार्श्विकः॥**
> (भावप्रकाशन, दशम अधिकार)

---

१. सूत्रधार एव स्थापकः। सूत्रधारः पूर्वरङ्गं प्रयुज्य स्थापकः सन् प्रविशेदिति न भिन्नकर्तृता। (अभिनवभारती, भाग १)

२. इदानीं पूर्वरङ्गस्य सम्यक् प्रयोगाभावादेक एव सूत्रधारः सर्वं प्रयोजयतीति। (साहित्यदर्पण, ६।१२)

नटी

रूपकों की प्रस्तावनाओं में सूत्रधार के साथ नटी भी विद्यमान रहती है। नटी सूत्रधार की पत्नी होती थी। सूत्रधार और नटी नाटच-व्यवसाय करने वाली एक ही जाति के लोग प्रतीत होते हैं। नाटच-प्रयोग उनका वंश-परम्परागत व्यवसाय था। नटी अभिनयकला में निपुण एवं गीत-नृत्य में निष्णात होती थी। नाटच-प्रयोग में वह सूत्रधार की सहायिका (सहानुगा) होती थी। भास के नाटकों में, मृच्छकटिक, मुद्राराक्षस, रत्नावली, अभिज्ञानशाकुन्तल आदि रूपकों में वह सूत्रधार की पत्नी के रूप में उपस्थित होती है। इस प्रकार अनेक प्राचीन नाटकों की प्रस्तावना में पारिपार्श्विक के स्थान पर नटी ही प्रस्तुत होकर प्रस्तावना सम्पन्न करती थी। नाटचशास्त्र में नाटकीया का उल्लेख है, जो नाना वेश-भूषा आदि से सुसज्जित होकर रसभावसमन्वित सत्त्व का अभिनय करती थी। नाटचशास्त्र के अनुसार नृत्य-वाद्यचतुरा, रूपयौवन-सम्पन्ना, चतुष्षष्टिकलान्विता सर्वांगसुन्दरी नटी ही 'नाटकीया' होती थी।

परवर्त्ती नाटचाचार्यों ने सूत्रधार, पारिपार्श्विक, स्थापक के अतिरिक्त नट, नटी, नर्तक, नर्तकी, स्त्रीजीवी और रङ्गाचार्य आदि पात्रों का भी उल्लेख किया है। शारदातनय ने नाटच-प्रयोक्ताओं में सूत्रधार, नट, नटी, पारिपार्श्विक, कुशीलव, शैलूष, भरत, विदूषक आदि का उल्लेख किया है। नाटचशास्त्र में तौरिक का उल्लेख है। वह वाद्य-वादन में कुशल और युद्धकला में निपुण होता था। नाटचशास्त्र में तौरिक का लक्षण निम्नलिखित दिया है—

'शूरपतिस्तूर्यपतिः सर्वातोद्यप्रवादनकुशलः।
तूर्यपरिग्रहयुक्तो विज्ञेयः तौरिको नाम'॥

(नाटचशास्त्र ३५।७२)

नाटचशास्त्र में नर्त्तकी का लक्षण इस प्रकार बताया गया है—

'समागतासु नाटीषु रूपयौवनकान्तिषु।
न दृश्यते गुणैस्तुल्या नर्त्तकी सा प्रकीर्त्तिता'॥

(नाटचशास्त्र ३४।४७)

प्रस्तावना

प्रस्तावना का नाटच-प्रयोग में महत्त्वपूर्ण स्थान है। नटी, विदूषक अथवा पारिपार्श्विक सूत्रधार के साथ अपने कार्य के लिए चित्र-विचित्र वाक्यों से अथवा वीथी के अङ्गों सहित अन्य प्रकार से परस्पर जो वार्तालाप करते हैं, उसे आमुख या प्रस्तावना कहते हैं—

'नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः वीथ्यङ्गैरन्यथापि वा।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं बुधैः प्रस्तावनाऽपि सा'॥

(नाटचशास्त्र २०।३०–३१; अग्निपुराणोक्तं काव्यालङ्कारशास्त्रम् २।१२–१३; साहित्यदर्पण ६।३१–३२)

भरत प्रस्तावना को आमुख तथा स्थापना भी कहते हैं। उनकी दृष्टि में प्रस्तावना, आमुख एवं स्थापना एक ही वस्तु है। धनञ्जय, शारदातनय के अनुसार सूत्रधार नटी, विदूषक अथवा पारिपार्श्विक के साथ प्रस्तुत वस्तु का आक्षेप (सङ्केत) करते हुए चित्र-विचित्र उक्तियों से जो अपने कार्य का वर्णन करता है, उसे 'आमुख' कहते हैं।

'सूत्रधारो नटीं ब्रूते मार्षं वाथ विदूषकम्।
स्वकार्यं प्रस्तुताक्षेपि चित्रोक्त्या यत्तदामुखम्' ॥

(दशरूपक ३।७–८; भावप्रकाशन, पृ० २२९)

अग्निपुराण में प्रस्तावना के तीन भेद बताये हैं—प्रवृत्तक, कथोद्घात और प्रयोगातिशय—

'प्रवृत्तकं कथोद्घातः प्रयोगातिशयस्तथा।
आमुखस्य त्रयो भेदाः..................' ॥

(अग्निपुराणोक्तं काव्यालङ्कारशास्त्रम् २।१४)

धनञ्जय और शारदातनय ने भी आमुख के तीन प्रकार बताये हैं—प्रवृत्तक, कथोद्घात और प्रयोगातिशय। नाट्यशास्त्र में आमुख के पाँच अङ्गों का उल्लेख किया गया है। विश्वनाथ ने भी नाट्यशास्त्र के अनुसार पाँच अङ्गों को ही माना है—उद्घातक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवृत्तक और अवगलित—

'उद्घातकः कथोद्घातः प्रयोगातिशयस्तथा।
प्रवृत्तकावगलिते पञ्चाङ्गान्यामुखस्य तु' ॥

(नाट्यशास्त्र २०।३३)

उद्घातक––जहाँ अनिश्चितार्थक पदों की अर्थ-प्रतीति के लिए निश्चितार्थक पदों की योजना कर स्थापक के अभिप्रेत अर्थ का निर्धारण होता है, उसे 'उद्घातक' कहते हैं।

कथोद्घात––जहाँ सूत्रधार के वाक्य अथवा वाक्यार्थ को लेकर उसी के अनुकूल उक्ति का प्रयोग करता हुआ पात्र रङ्गमञ्च पर प्रवेश करता है, वहाँ 'कथोद्घात' नामक आमुख होता है।

प्रयोगातिशय––जहाँ पर सूत्रधार नाट्य-प्रयोग में किसी दूसरे प्रयोग का वर्णन करे तब पात्र प्रवेश करे, तो वहाँ प्रयोगातिशय नामक आमुख होता है।

प्रवृत्तक—जहाँ सूत्रधार काल और उसकी प्रवृत्ति का आश्रय लेकर वर्णन करता है और उस वर्णना का आश्रय लेकर अर्थात् उसी वर्णना के अनुसार पात्र का प्रवेश होता है, उसे 'प्रवृत्तक' कहते हैं।

अवगलित—जहाँ सूत्रधार एक प्रयोग में नाट्यारम्भ रूप दूसरे प्रयोग की योजना करता है और पात्र का प्रवेश होता है वहाँ 'अवगलित' नामक आमुख कहलाता है।

अभिनव के अनुसार सूत्रधार पूर्वरङ्ग का प्रयोग कर रङ्गमञ्च से चला जाता है, फिर वही स्थापक के रूप में प्रवेश कर सामाजिक के हृदय में रूपक की कथावस्तु का बीज आरोपित कर रङ्गमञ्च से चला जाता है। अभिनव के अनुसार प्रस्तावना दो प्रकार की होती है—एक पूर्वरङ्ग की अङ्गभूता प्रस्तावना और दूसरी अन्य की अङ्गभूता प्रस्तावना। जहाँ पूर्वरङ्ग के विधान को काव्य के अभिमुख ले जाया जाता है वहाँ पूर्वरङ्ग की अङ्गभूता प्रस्तावना होती है और जहाँ पूर्वरङ्ग की विधि के अभिमुख काव्य का आरम्भ होता है वहाँ दूसरे प्रकार की प्रस्तावना होती है।

आठ :

नाट्य-प्रयोगविज्ञान

अभिनय-विज्ञान

अभिनय का स्वरूप

'अभि' उपसर्गपूर्वक 'णीञ् प्रापणे' (नी) धातु से 'अच्' प्रत्यय होकर 'अभिनय' शब्द बनता है[1], जिसका अर्थ नाटच-प्रयोग के अर्थों को प्रेक्षकों (सामाजिकों) के समक्ष प्रत्यक्षतः प्रदर्शित करना है। भाव यह है कि जिसके द्वारा सामाजिक अभिनेय (रामादि) का साक्षात्कारात्मक अनुभव किया करते हैं, उसे 'अभिनय' कहते हैं। इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए भरत कहते हैं कि जिसके साङ्गोपाङ्ग प्रयोग के द्वारा नाटच के नानाविध अर्थों का सामाजिक को विभावन या रसास्वादन कराया जाय, उसे 'अभिनय' कहते हैं[2]। विश्वनाथ ने अवस्थानुकार को अभिनय बताया है। उनके अनुसार जिसमें अभिनेता द्वारा शरीर, मन एवं वाणी से अभिनेय (रामादि) की अवस्थाओं का अनुकरण होता है, उसे 'अभिनय' कहते हैं[3]। इस प्रकार अभिनेता द्वारा अभिनेय की अवस्थाओं का अनुकरण करना 'अभिनय' है। अभिनेता अनुकृति के द्वारा रङ्गमञ्च पर प्रकृत वस्तु को बड़े कला-कौशल के साथ प्रस्तुत करता है, जिससे सामाजिकों में याथार्थ्य का अनुभव होता है।

अभिनय एक वह कला है जिसके द्वारा नट अभिनेय रामादि के क्रिया-कलापों, वेश-भूषा, विविध चेष्टाओं एवं भाव-भङ्गिमाओं को रंगमञ्च पर प्रदर्शित कर दर्शकों का मनोरञ्जन करता है, रङ्गमञ्च पर घूम-घूम कर भाव-मुद्राओं का प्रदर्शन करता है; संयम के साथ उचित स्थल पर काकु, यति आदि का संयोजन कर उचित ढंग से वाक्याभिनय करता है; पात्रों के अनुरूप देशकालोचित वेश-भूषा एवं साज-सज्जा का संयोजन करता है और अभिनेय पात्रों के मानसिक भावों का प्रकाशन करता है। अभिनय की पूर्ण सफलता की दृष्टि से अभिनय में अनुकरण-नैपुण्य, दृश्य-सौष्ठव, श्रुति-माधुर्य एवं परिहास—

---

१. अभिनय इति कस्मात् ? अत्रोच्यते—अभीत्युपसर्गः। णीञित्ययं धातुः प्रापणार्थः। अस्या अभिनीत्येवं व्यवस्थितस्य एरजित्यच्प्रत्ययान्तस्याभिनय इति रूपं सिद्धम्। (अभिनवभारती, भाग २ पृ० २)

२. विभावयति यस्माच्च नानार्थानिह प्रयोगतः।
शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्तस्मादभिनयः स्मृतः॥ (नाटचशास्त्र, ८।८)

३. भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः। (साहित्यदर्पण, ६।२)

इन चार गुणों का होना परमावश्यक माना गया है[1]। मानव की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि यथार्थ वस्तु की अपेक्षा अनुकृति को देखने के लिए अधिक उत्सुक दिखाई देता है। 'चित्रतुरगन्याय' से जिस प्रकार वास्तविक घोड़े की अपेक्षा चित्रस्थ घोड़े को देखने में लोग अधिक रुचि लेते हैं, उसी प्रकार दर्शक वास्तविक रामादि की अपेक्षा अभिनय में अनुकृति रूप रामादि को देखकर अधिक आनन्द का अनुभव करता है। अतः उसके लिए अनुकरण-निपुणता आवश्यक है। अभिनय में दृश्य-सौष्ठव भी परम आवश्यक है। अभिनय कितना ही सुन्दर क्यों न हो यदि उसमें श्रुति-सुखद स्वर-माधुर्य नहीं है तो वह दर्शकों का अनुरञ्जन नहीं कर सकता। स्वर-माधुर्य के लिए रस, भाव, सुस्वर, लय आदि का होना आवश्यक है। प्रसङ्गानुकूल स्वरों में उतार-चढ़ाव, भाषा में माधुर्य, वाक्य-विन्यास में सौष्ठव आदि गुणों का होना आवश्यक है। अभिनय में जनानुरञ्जनार्थ बीच-बीच में हास-परिहास एवं व्यङ्ग्य भी अपेक्षित हैं। इसी दृष्टि से अभिनय में विदूषक, वसन्तक आदि की कल्पना की गई है। अभिनय को अधिक रोचक बनाने के लिए नृत्य, गीत, वाद्य की भी योजना अपेक्षित है।

अभिनय के प्रकार

नाटचशास्त्र में भरत ने अभिनय के चार प्रकारों का उल्लेख किया है—आङ्गिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक। इनमें विभिन्न प्रकार के अङ्गों के द्वारा प्रदर्शित किये जाने वाले अभिनय को 'आङ्गिक' अभिनय कहते हैं। इसमें हस्त-पादादि की चेष्टाओं का समावेश है। वाणी के द्वारा काव्य एवं संवादादि का अभिनय 'वाचिक' कहलाता है। वेश-भूषा आदि नेपथ्य-विधियों से सम्बन्धित अभिनय 'आहार्य' अभिनय है। जिसमें सुख-दुःखादि मनोभावों का अभिव्यञ्जन होता है, उसे 'सात्त्विक' अभिनय कहते हैं। नन्दिकेश्वर के अनुसार ये चारों प्रकार के अभिनय नटराज शिव के चार रूप हैं और वे ही उसके अधिष्ठाता हैं[2]। इस प्रकार दृश्य सामग्री से लेकर रङ्गमञ्च पर जो भी व्यापार प्रदर्शित किया जाता है, वही अभिनय है। इनके अतिरिक्त नाटचशास्त्र में दो और अभिनयों का उल्लेख है—सामान्याभिनय और चित्राभिनय। किन्तु परवर्त्ती आचार्यों ने इन दोनों अभिनयों को मान्यता नहीं दी है।

आङ्गिक अभिनय

अङ्गों के द्वारा प्रदर्शित किये जाने वाला अभिनय आङ्गिक अभिनय

---

१. अभिनयदर्पण, पृ० २२-२३।

२. आङ्गिकं भुवनं यस्य वाचिकं सर्ववाङ्मयम्।
आहार्यं चन्द्रतारादि तं नुमः सात्त्विकं शिवम्॥ (अभिनयदर्पण, १)

कहलाता है। नाट्यशास्त्र में आङ्गिक अभिनय के तीन प्रकार बताये गये हैं—शरीरज, मुखज और चेष्टाकृत[१]। इनमें शरीरज अभिनय शाखा, अङ्ग और उपांग से युक्त होता है। उपांगों द्वारा किया गया अभिनय मुखज कहलाता है और चेष्टा द्वारा किया जाने वाला अभिनय चेष्टाकृत अभिनय कहा जाता है। इस प्रकार अङ्ग, प्रत्यङ्ग एवं उपांगों द्वारा किये जाने वाले अभिनय को 'आङ्गिक' अभिनय कहते हैं[२]। आङ्गिक अभिनय के छः अङ्ग बताये गये हैं—शिर, हस्त, वक्षःस्थल, पार्श्व, कटि और पाद। इनके अतिरिक्त कुछ आचार्यों ने 'ग्रीवा' को अतिरिक्त अङ्ग माना है। प्रत्यङ्ग भी छः प्रकार के हैं—दोनों स्कन्ध, दोनों बाहु, पीठ, उदर, दोनों ऊरु और दोनों जङ्घाएँ। कुछ आचार्यों ने दोनों मणिबन्ध, दोनों जानु और घुटने—ये तीन अधिक प्रत्यङ्ग माने हैं। कुछ आचार्य 'ग्रीवा' की प्रत्यङ्गों में गणना करते हैं[3]। नाट्यशास्त्र के विद्वानों ने केवल स्कन्ध को ही एकमात्र प्रत्यङ्ग माना है। किन्तु नाट्यशास्त्र में छः प्रकार के उपाङ्ग निर्दिष्ट हैं—नेत्र, भ्रू, नासिका, अधर, कपोल और चिबुक। नन्दिकेश्वर ने बारह प्रकार के उपाङ्गों का निर्देश किया है।

शिरोऽभिनय

नाट्यशास्त्र में शिरोऽभिनय के तेरह भेद बताये गये हैं—आकम्पित, कम्पित, धूत, विधूत, परिवाहित, आधूत, अवधूत, अञ्चित, निकुञ्चित, परावृत, उत्क्षिप्त, अधोगत और लोलित[४]। अभिनयदर्पण में शिरोऽभिनय के नौ प्रकार बताये गये हैं[५], जब कि भरतार्णव और नाट्यसंग्रह में उनकी संख्या चौदह बताई गई है। उनमें तेरह भेद नाट्यशास्त्र में मिलते हैं, किन्तु उद्वाहित नामक एक भेद भरतार्णव में अधिक बताया गया है, जिसका नाट्यशास्त्र में उसका उल्लेख नहीं है। इनके अतिरिक्त भरतार्णव में पाँच भेद और बताये गये हैं। इस प्रकार भरतार्णव में शिरोऽभिनय के भेदों की संख्या उन्नीस हो गयी है[६]। शाङ्र्गदेव ने सङ्गीतरत्नाकर में भरत के मत से चौदह भेद और अन्य मत से पाँच भेद बताये हैं। इनमें तेरह भेद नाट्यशास्त्र के और एक भरतार्णवोक्त 'उद्वाहित' कुल चौदह भेद और अन्य मतानुसार पाँच भेद कुल उन्नीस भेद हैं।

---

१. त्रिविधस्त्वाङ्गिको ज्ञेयः शारीरो मुखजस्तथा।
तथा चेष्टाकृतश्चैव शाखाङ्गोपाङ्गसंयुतः॥ (नाट्यशास्त्र, ८।११)

२. तत्राङ्गिकोऽङ्गप्रत्यङ्गोपाङ्गैस्त्रिधा। (अभिनयदर्पण, ४२)

३. अभिनयदर्पण, ४२-४४।

४. नाट्यशास्त्र, ८।१९-२०।

५. अभिनयदर्पण, ४९-५०।

६. भरतार्णव, २०४-२०५।

'आकम्पित' में शिर को धीरे-धीरे ऊपर और नीचे की ओर हिलाया जाता है। अन्य मतानुसार सरलस्थित शिर का ऊपर और नीचे की ओर सञ्चालन करना 'आकम्पित' होता है और उसे बार-बार द्रुतगति से कम्पित करना 'कम्पित' शिर कहलाता है। शिर का धीरे-धीरे इधर-उधर हिलाना 'धुत' शिर कहा जाता है और तीव्रगति से शिर का हिलाना 'विधुत' कहलाता है। यदि शिर को क्रमशः दोनों पार्श्वों की ओर कम्पित किया जाता है तो 'परिवाहित' शिर कहलाता है और जब उसे तिरछा करके एक बार कम्पित किया जाता है तो 'आधूत' शिर कहा जाता है। जब शिर को नीचे की ओर एक बार हिलाया जाता है तो 'अवधूत' शिर होता है। जब ग्रीवा को पार्श्व की ओर झुका दिया जाता है तो 'अञ्चित' शिर कहलाता है। जब दोनों कन्धें ऊपर की ओर उठे हुए हों और ग्रीवा नीचे की ओर अञ्चित हो तो 'निहञ्चित' शिरोऽभिनय होता है। जब शिर को पीछे की ओर मोड़ दिया जाता है तो 'परावृत' शिरोऽभिनय कहलाता है। जब शिर ऊपर की ओर उन्मुख होकर अवस्थित होता है तो 'उत्क्षिप्त' शिर कहलाता है। यदि शिर को नीचे की ओर झुका दिया जाय तो 'अधोगत' शिरोऽभिनय होता है और जब शिर को चारों ओर घुमाया जाता है तो 'लोलित' शिर कहलाता है तथा सरल स्वभाव में प्रकृत अवस्था में शिर का स्थित होना 'स्वभावज' शिरोऽभिनय होता है। इनके अतिरिक्त सामान्य लोकाभिनय के आधार पर शिरोऽभिनय के अन्य अनेक भेद हो सकते हैं[१]।

दृष्टि-अभिनय

अभिनय में दृष्टियों का सर्वाधिक महत्त्व है। दृष्टि एक वह दर्पण है जिसमें मानव का हृदय प्रतिबिम्बित होता है। वह आत्मदर्शन का दर्पण है। भरत ने तीन रूपों में दृष्टियों का विवेचन किया है—रस की दृष्टि से, स्थायीभाव की दृष्टि से और व्यभिचारीभाव की दृष्टि से। भरत के अनुसार कान्ता, हास्या, करुणा, रौद्री, वीरा, भयानका, बीभत्सा और अद्भुता—ये आठ रस-दृष्टियाँ हैं। स्निग्धा, हृष्टा, दीना, क्रुद्धा, दृप्ता, भयान्विता, जुगुप्सिता और विस्मिता—ये आठ स्थायीभाव-दृष्टियाँ हैं। शून्या, मलिना, श्रान्ता, लज्जान्विता, ग्लाना, शङ्किता, विषण्णा, मुकुला, कुञ्चिता, अभितप्ता, जिह्मा, ललिता, वितर्किता, अर्धमुकुला, विभ्रान्ता, विलुप्ता, आकेकरा, विकोशा, त्रस्ता और मदिरा—ये बीस व्यभिचारीभाव-दृष्टियाँ हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर छत्तीस दृष्टियाँ हैं,[२] जिनके द्वारा रसों का उन्मेष होता है।

---

१. नाटयशास्त्र (गायकवाड़), ८।२०-३८; भरतार्णव, ९३-१०६ एवं मिरर आफ जेश्चर ३६-३९।

२. नाटयशास्त्र, ८।४०-९५।

भरतार्णव में भी नाटचशास्त्र के अनुसार आठ रस-दृष्टियाँ, आठ स्थायी-भाव-दृष्टियाँ और बीस व्यभिचारीभाव-दृष्टियाँ—कुल छत्तीस दृष्टियाँ स्वीकार की गई हैं और उनके लक्षण और विनियोग भी नाटचशास्त्र के अनुसार ही स्वीकृत हैं[१]। नाटचशास्त्र में दृष्टि के अन्तर्गत भौंह, तारा, पुट आदि का भी पृथक् रूप से विवेचन किया गया है और भौंहों के सात भेद, तारा के नौ भेद और पुट के नौ भेदों तथा उनके विनियोग का विधान भी प्रतिपादित हैं, किन्तु भरतार्णव और अभिनयदर्पण में इनका विवेचन नहीं है। अभिनयदर्पण में केवल आठ प्रकार के दृष्टिभेद बताये गये हैं—सम, आलोकित, साची, प्रलोकित, निमीलित, उल्लोकित, अनुवृत्त और अवलोकित[२]। भरतार्णव में छत्तीस दृष्टियों का वैज्ञानिक एवं शास्त्रीय विवेचन किया गया है। अभिनय-दर्पण में जो आठ दृष्टिभेद निरूपित हैं, भरतार्णव के छत्तीस भेद उनसे पृथक् हैं, अतः दोनों एक-दूसरे के पूरक प्रतीत होते हैं। इस प्रकार नन्दिकेश्वर के मतानुसार चौवालीस प्रकार की दृष्टियाँ अभिमत हैं। कुमारस्वामी ने भी चौवालीस दृष्टियाँ मानी हैं।

पुत्तलिका या ताराभिनय

आँख की पुत्तलियों के माध्यम से होने वाली विभिन्न प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति पुत्तलिका-कर्म या तारा-अभिनय है। नाटचशास्त्र में भ्रमण, वलन, पात, चलन, सम्प्रवेशन, विवर्त्तन, समुद्वृत्त, निष्क्राम और प्राकृत—ये नौ तारा के कार्य (पुत्तलिका-कर्म) कहे गये हैं[३]। पुतलियों का पलकों के भीतर मण्डलाकार घूमना **'भ्रमण'** है[४]। पुतलियों का तिरछी घुमाना **'वलन'** है। पुतलियों का नीचे-ऊपर ले जाना **'पातन'** है। पुतलियों का कम्पन **'चलन'** है। पलकों के भीतर पुतलियों का प्रवेश **'प्रवेशन'** है। कटाक्ष करना **'विवर्तन'** है। पुतलियों का ऊपर की ओर घुमाना **'समुद्वृत्त'** है और पुतलियों का बाहर निकलना 'निष्क्राम' है तथा स्वाभाविक स्थिति में रहना 'प्राकृत' कर्म है[५]।

संगीतरत्नाकर में ताराकर्म के दो प्रकार बताये गये हैं—आत्मनिष्ठ और विषयाभिमुख। इनमें आत्मनिष्ठ ताराकर्म के नौ भेद बताये गये हैं, जो नाटचशास्त्र में वर्णित भेदों के समान हैं। विषयाभिमुख ताराकर्म के आठ भेद वर्णित हैं—सम, साची, अनुवृत्त, अवलोकित, विलोकित, आलोकित, उल्लोकित और प्रविलोकित। नाटचशास्त्र में इनका दर्शन (अवलोकन) के प्रकार के रूप में वर्णन किया गया है[६]।

---

१. भरतार्णव ४।२३३-२३८।

२. मिरर आफ जेश्चर, पृ० ४०।

३–५. नाटचशास्त्र ८।९८-१०२।

६. वही, १०७-१०८।

पुटकर्म

पलकों के माध्यम से किया गया अभिनय 'पुटकर्म' कहा जाता है। नाटचशास्त्र में पुटकर्म के नौ भेद बताये गये हैं—उन्मेष, निमेष, प्रसृत, कुञ्चित, सम, विवर्त्तित, स्फुरित, पिहित और विताड़ित। नृत्याध्याय और संगीतरत्नाकर में भी नाटचशास्त्र के अनुसार ही पुटकर्म के भेद स्वीकार किये गये हैं। दोनों पलकों का विश्लेष (खोल देना) **'उन्मेष'** है और उनका संश्लेष (बन्द करना) **'निमेष'** है। पलकों का फैलाव **'प्रसृत'** होता है और सिकुड़ना **'कुञ्चित'** कहलाता है। पलकों का स्वाभाविक अवस्था में रहना **'सम'** है और ऊपर की ओर उठाना **'विवर्त्तित'** कहलाता है। पलकों का स्पन्दन (फड़कना) **'स्फुरित'** और पलकों का बन्द होना **'पिहित'** कहलाता है। पलकों का आहत होना **'विताड़ित'** कहलाता है[1]। इस प्रकार रस और भावों में पलकों के अभिनय का विधान बताया गया है।

भ्रूकर्म

भौंहों के माध्यम से विविध भावों की अभिव्यञ्जना 'भ्रूकर्म' है। नाटचशास्त्र में भ्रूकर्म के सात भेद बताये गये हैं—उत्क्षेप, पातन, भ्रूकुटि, चतुर, कुञ्चित, रेचित और सहज। अग्निपुराण, नृत्याध्याय और सङ्गीतरत्नाकर में भी नाटचशास्त्र के अनुसार ही भ्रूकर्म के भेद वर्णित हैं। भौंहों को एक साथ या बारी-बारी से ऊपर उठाना **'उत्क्षेप'** है और उनका क्रमशः नीचे की ओर गिराना **'पातन'** है। भौंहों के मूल का एक साथ उन्नयन **'भ्रूकुटि'** है और भ्रूकुटियों की मधुरता एवं विस्तार **'चतुर'** कहा जाता है। भौंहों का एक साथ झुकाना **'कुञ्चित'** कहलाता है और एक ही भौंह का ललित उत्क्षेप **'रेचित'** कहलाता है। भौंहों का स्वाभाविक स्थिति में रहना **'सहज'** भ्रूकर्म कहा जाता है[2]। इस प्रकार भ्रूकुटी के कर्म का वर्णन किया गया है।

नासाकर्म

नासिका द्वारा किये गये कर्म 'नासिका-अभिनय' कहलाते हैं। नाटचशास्त्र के अनुसार नासिका के छः प्रकार होते हैं—नता, मन्दा, विकृष्टा, सोच्छ्वासा, विकूणिता और स्वाभाविकी। यदि नासापुट का बार-बार संश्लेषण किया जाय तो **'नता'** नासिका कहलाती है और यदि नासापुट स्थिर हो तो **'मन्दा'** नासिका होती है। यदि नासापुट अत्यधिक फूला हुआ हो तो **'विकृष्टा'** नासिका और यदि नासापुट में श्वास को खींचा जाय तो **'सोच्छ्वासा'** नासिका

१. नाटचशास्त्र, ८।१११–११८; नृत्याध्याय, ४८२–४९०; संगीतरत्नाकर, ७।४४०–४४६।

२. नाटचशास्त्र, ८।११८–१२७; अग्निपुराणोक्त काव्यालङ्कारशास्त्र, ६।२५–२६; नृत्याध्याय, ४७५–४८१; संगीतरत्नाकर, ७।४३२–४३३।

होती है। यदि नासापुट सिकुड़े हुए हों तो 'विकूणिता' नासिका और यदि स्वाभाविक रूप में स्थित हो तो 'स्वाभाविकी' नासिका कहलाती है। अग्निपुराण, नृत्याध्याय और संगीतरत्नाकर में भी नाटचशास्त्र के अनुसार ही नासिका के कर्म कहे गये हैं[1]।

कपोलकर्म

कपोलों की विभिन्न स्थितियों द्वारा भावों का अभिनय करना कपोल-अभिनय है। नाट्यशास्त्र में कपोलाभिनय के छः भेद बताये गये हैं—क्षाम, फुल्ल, पूर्ण, कम्पित, कुञ्चित और सम। नृत्याध्याय, संगीतरत्नाकर, नृत्तरत्नावली में भी नाट्यशास्त्र के अनुसार ही कपोलाभिनय के भेदों का वर्णन किया गया है। क्षीण या चिपके हुए कपोल को '**क्षाम**' कपोल कहते हैं। विकसित अर्थात् फूले हुए कपोल को **फुल्ल** तथा उन्नत (ऊपर उठे हुए) कपोलों को '**पूर्ण**' कपोल कहते हैं। इसी प्रकार स्फुरित कपोलों को '**कम्पित**' तथा सिकुड़े हुए कपोल को '**कुञ्चित**' और स्वाभाविक दशा में स्थित कपोल को **सम** कहते हैं[2]।

अधरोष्ठकर्म

अधरों के द्वारा किया गया अभिनय 'अधरोष्ठ' कर्म कहा जाता है। नाट्यशास्त्र में अधर-कर्म के छः भेद बताये गये हैं—विवर्त्तन, कम्पन, विसर्ग, विनिगूहन, सन्दष्टक और समुद्ग। अग्निपुराण में अधर-कर्म के छः भेद माने हैं, किन्तु उनके नाम नहीं गिनाये गये हैं। नृत्याध्याय, सङ्गीतरत्नाकर और नृत्तरत्नावली में नाट्यशास्त्रोक्त छः भेद ही स्वीकार किये गये हैं, किन्तु नृत्याध्याय में अन्य आचार्यों के मत से चार भेद और बतलाये गये हैं—विकासी, रेचित, उद्वृत्त और आयत। इस प्रकार उसके अनुसार अधर-कर्म दस प्रकार के होते हैं[3]।

अधर का तिरछा सिकुड़ना '**विवर्त्तन**' (विवर्त्तित) कहलाता है। अधर का कम्पन '**कम्पित**' अधर और अधर का बाहर निकालना '**विसर्ग**' (विसृष्ट) अधर कहा जाता है। अधर का भीतर की ओर ले जाना '**विनिगूहन**' और ओठ को दाँतों से काटना '**संदष्टक**' तथा ओठ को बाहर की ओर उन्नत करना

---

१. नाट्यशास्त्र, ८।१३०—१३८; अग्निपुराणोक्त काव्यालङ्कारशास्त्र ६।२८; नृत्याध्याय, ४।५१०—५१५; संगीतरत्नाकर ७।४६५—४७१।

२. नाटचशास्त्र, ८।१३९-१४२; नृत्याध्याय, ५६१-५६४; संगीतरत्नाकर, ७।४६१-४६५; नृत्तरत्नावली, २।४६-४८।

३. नाटचशास्त्र, ८।१४३-१४४; अग्निपुराणोक्त काव्यालङ्कारशास्त्र, ६।२१; नृत्याध्याय, ४।५३४-५३५; संगीतरत्नाकर, ७।४८८-४९६; नृत्तरत्नावली, २।३७-४५।

'समुद्ग' अधर कहलाता है[१]। इनके अतिरिक्त अन्य मतानुसार नृत्याध्याय में वर्णित अधर के कर्म हैं—अधर के ऊपर दांत का दिखाई देना 'विकासी', साफ किया गया अधर 'रेचित', मुख की ओर उठाया गया अधर 'उद्वृत्त' और ऊपर के ओठ के साथ फैला हुआ अधर 'आयत' कहलाता है[२]।

चिबुक के कर्म

चिबुक (ठोढ़ी) के द्वारा किया गया अभिनय 'चिबुक-कर्म' कहा जाता है। यद्यपि ओष्ठादि के अभिनय से चिबुक के अभिनय का ज्ञान हो जाता है फिर भी सरलता से जानकारी के लिए उसका पृथक् रूप से यहाँ निरूपण किया जा रहा है। नाटयशास्त्र में चिबुक के सात कर्म कहे गये हैं—कुट्टन, खण्डन, छिन्न, चुक्कित, लेहित, सम और दष्ट[३]। नाट्यशास्त्र में वर्णित चिबुक-कर्म वास्तव में दन्तकर्म हैं। नाटयशास्त्र और नृत्तरत्नावली में अलग से दन्तकर्म वर्णित नहीं हैं। उनके अनुसार चिबुक-कर्म का निरूपण ही दन्तकर्म का निरूपण है। नृत्याध्याय और संगीतरत्नाकर में दन्तकर्म और चिबुक-कर्म का अलग-अलग निरूपण है।

दाँतों का किटकिटाना 'कुट्टन' है। दाँतों का बार-बार चबाना 'खण्डन' है। दाँतों का दृढ़ता से मिलाना 'छिन्न' और दाँतों को दूर हटा लेना 'चुक्कित' है। जिह्वा से दाँतों का चाटना 'लेहित' और दाँतों का मिलाना सम तथा दाँतों से अधर को काटना 'दष्ट' कहलाता है[४]। नृत्याध्याय एवं संगीतरत्नाकर में चिबुक-कर्म के आठ भेद बताये गये हैं।

दन्तकर्म

दाँतों के द्वारा किया गया अभिनय 'दन्तकर्म' कहा गया है। नाटयशास्त्र और नृत्तरत्नावली में अलग से दन्तकर्म का निरूपण नहीं किया गया है, वहाँ चिबुक-कर्म को ही दन्तकर्म माना गया है। नृत्तरत्नावली और संगीतरत्नाकर में दन्तकर्म और चिबुक-कर्म का अलग-अलग निरूपण किया गया है। उनके अनुसार दन्तकर्म आठ प्रकार के हैं—सम, छिन्न, खण्डन, चुक्कित, कुट्टन, दष्ट, निष्कर्षण और ग्रहण। जिनमें से सम, छिन्न, खण्डन, चुक्कित, कुट्टन और दष्ट—ये छः भेद नाटयशास्त्रोक्त चिबुक-कर्म से मिलते हैं और उनके लक्षण और विनियोग भी दोनों में एक से हैं। इसीलिए भरत ने दन्तकर्म को चिबुक-कर्म के अन्तर्गत ही मान लिया है। दाँतों का किञ्चित् मिलाना सम

१. नाटयशास्त्र, ८।१४४-१४९।

२. नृत्याध्याय, ४।५३४-५४४।

३. नाटयशास्त्र, ८।१४७-१५३।

४. नाटयशास्त्र, ८।१५०–१५५; नृत्याध्याय, ४।५६५–५७३; संगीतरत्नाकर, ७।५०७–५१२।

और दाँतों का दृढ़ता से मिलाना **छिन्न** कर्म कहा जाता है। दाँतों का बार-बार मिलाना और हटाना **खण्डन** कहलाता है। दाँतों का किटकिटाना **'कुट्टन'** और दाँतों को दूर हटा लेना **'चुक्कित'** कर्म हैं। दाँतों से ओठ को काटना **'दष्ट'** और दाँतों को बाहर निकालना **'निष्कर्षण'** कर्म कहलाता है। दाँतों से तृण आदि का ग्रहण करना (पकड़ना) **ग्रहण** कहलाता है[1]। भरत ने 'ग्रहण' के स्थान पर 'लेहन' कर्म बताया है। जिह्वा से दाँतों का चाटना 'लेहित' कर्म है।

जिह्वाकर्म

जिह्वा के द्वारा विभिन्न भावों का प्रदर्शन करना 'जिह्वाकर्म' है। नृत्याध्याय में जिह्वाकर्म के छः भेद बताये गये हैं—ऋज्वी, लोला, लेहनी, वक्रा, सृक्कानुगा और उन्नता। जयसेनापति ने 'उन्नता' के स्थान पर 'नता' भेद माना है। खोले हुए मुख में फैलायी गयी जिह्वा **'ऋज्वी'** कहलाती है। खोले हुए मुख में लपलपाती जिह्वा को **'लोला'** कहते हैं। दाँत और ओठ चाटती हुई जिह्वा **'लेहनी'** कहलाती है। आगे फैली हुई और अग्रभाग से झुकी हुई जिह्वा **'वक्रा'** और ओठ के प्रान्तभाग को चाटती हुई जिह्वा **'सृक्कानुगा'** कहलाती है। फैलाये हुए मुख में ऊपर उठी हुई जिह्वा **'उन्नता'** कही जाती है[2]।

वायु के कर्म

उच्छ्वास और निःश्वास क्रियाओं द्वारा किया गया अभिनय वायुकर्म कहलाता है। कोहल ने उच्छ्वास और निःश्वास के नौ भेद बताये हैं—स्वस्थ, चल, विमुक्त, प्रवृद्ध, उल्लासित, निरस्त, स्खलित, प्रसृत और विस्मित। अन्य आचार्यों ने वायु के दस भेदों का उल्लेख किया है—सम, भ्रान्त, कम्पित, विलीन, आन्दोलित, स्तम्भित, उच्छ्वास, निःश्वास, सूत्कृत और सीत्कृत[3]। उच्छ्वास का अर्थ है—श्वास को ऊपर खींचना; इसे दीर्घश्वास भी कहते हैं। निःश्वास का अर्थ है श्वास का नीचे की ओर छोड़ना। नासाकर्म के अन्तर्गत नासा-वायु का उल्लेख है। मुखवायु का उल्लेख यहाँ किया गया है। संगीत-रत्नाकर में वायुकर्म को दो भागों में बाँटा है। प्रथम अपने मतानुसार तथा दूसरा कोहल के मतानुसार।

मुखज कर्म

मुख की भावमुद्राओं द्वारा किया गया अभिनय 'मुखज कर्म' कहलाता

---

१. नृत्याध्याय, ४।५५२–५६०; संगीतरत्नाकर, ७।४९६–५०२; नृत्त-रत्नावली, २।४९–५४।

२. नृत्याध्याय, ४।५४५–५५१; संगीतरत्नाकर, ७।५०३–५०६; नृत्तरत्ना-वली, २।५४–६१।

३. नृत्याध्याय, ४।५१६–५३३।

है। नाटचशास्त्र में मुखज कर्म के छः भेद बताये गये हैं—विधुत, विनिवृत्त, निर्भुग्न, भुग्न, विवृत और उद्वाहि। तिरछा खुले हुए मुख को 'विधुत' और खुले हुए मुख को 'विनिवृत्त' कहते हैं। नीचे की ओर झुका हुआ मुख 'निर्भुग्न' और थोड़ा फैला हुआ मुख 'व्याभुग्न' (भुग्न) कहलाता है। ओठों के साथ खुला हुआ मुख 'विवृत' और ऊपर की ओर उठा हुआ मुख 'उद्वाहि' कहलाता है। अग्निपुराण, नृत्याध्याय और संगीतरत्नाकर में भी मुखज कर्म के छः भेद बताये गये हैं और उनके लक्षण और विनियोग भी उसी के अनुसार निर्दिष्ट हैं[1]।

मुखराग

अभिनय में मुखराग का विशेष महत्त्व है। जिसके द्वारा धीर पुरुषों में रसात्मक चित्तवृत्ति की अभिव्यक्ति होती है, रसाभिव्यक्ति का हेतु होने से उसे 'मुखराग' कहते हैं। नाटचशास्त्र में मुखराग के चार प्रकार बताये गये हैं—स्वाभाविक, प्रसन्न, रक्त और श्याम। **स्वाभाविक** मुखराग स्वाभाविक अभिनय के आश्रित होता है। स्वच्छ मुखराग **प्रसन्न** कहलाता है। इसका अद्भुत, श्रृङ्गार एवं हास्य में प्रयोग किया जाता है। लाल मुखराग 'रक्त' कहलाता है। वीर, रौद्र और करुण रस में 'रक्त' मुखराग का विनियोग होता है। काला मुखराग '**श्याम**' कहलाता है। भयानक और बीभत्स रस में 'श्याम' मुखराग का विनियोग किया जाता है। नृत्याध्याय और संगीतरत्नाकर में भी नाट्यशास्त्र के समान ही मुखराग का विवेचन किया गया है[2]। भरत, अशोकमल्ल, शार्ङ्गदेव आदि आचार्यों का कहना है कि मुखराग रसात्मक और भावात्मक होता है। मुखराग अङ्ग का शोभाकारी होता है। शाखा, अङ्ग और उपाङ्ग से युक्त किया गया अभिनय मुखराग से रहित होने पर शोभाकारी नहीं होता। जिस प्रकार रात्रि में चन्द्रमा दुगुनी शोभा को प्राप्त करता है उसी प्रकार मुखराग से समन्वित होने पर आङ्गिक अभिनय दुगुनी शोभा को धारण करता है। भरत के अनुसार मुखराग से युक्त नेत्रों का अभिनय भी अनेक प्रकार के रसों एवं भावों को स्फुट करता है। क्योंकि मुखराग में ही नाट्य प्रतिष्ठित है। अतः रस और भावों के आश्रित मुखराग का रस एवं भावों के अनुरूप नाट्य में प्रयोग करना चाहिए।

ग्रीवा के अभिनय

मुख की चेष्टाओं के साथ ग्रीवा की स्थितियों का अत्यधिक महत्त्व है। यह ग्रीवा ही शिर को घड़ से मिलाती है और इसी पर ही शिर का सारा

---

१. नाट्यशास्त्र, ८।१५५–१६२; नृत्याध्याय, ४।५७४–५७९; संगीतरत्नाकर, ७।५१३–५१७; अग्निपुराणोक्त काव्यालङ्कारशास्त्र, ६।२१।

२. नाट्यशास्त्र, ८।१६३–१७१; नृत्याध्याय, ४।५८०–५८९; संगीतरत्नाकर, ७।५१७–५१८।

अभिनय आधारित है। नाट्यशास्त्र में ग्रीवा की नौ स्थितियाँ स्वीकार की गयी हैं—समा, नता, उन्नता, अस्रा, रेचिता, कुञ्चिता, अञ्चिता, वलिता और विवृता[१]। अग्निपुराण, नृत्याध्याय, संगीतरत्नाकर और नृत्तरत्नावली में भी ग्रीवा की नौ स्थितियाँ स्वीकार की गयी हैं, जो नाट्यशास्त्र के समान हैं। अभिनयदर्पण में ग्रीवा की चार स्थितियाँ बतायी गयी हैं—सुन्दरी, तिरश्चीना, परिवर्त्तिता और प्रकम्पिता[२]। भरतार्णव में ग्रीवा-अभिनय का विवेचन नहीं हैं। अभिनयदर्पण में इनके स्वरूप के साथ विनियोग भी बताये गये हैं। अभिनयदर्पण और नाट्यशास्त्र दोनों की संख्या, लक्षण और विनियोगों में अन्तर पाया जाता है।

अपनी स्वाभाविक स्थिति में विद्यमान ग्रीवा **'समा'** कहलाती है और झुकी हुई ग्रीवा **'नता'** ग्रीवा कहलाती है। ऊपर की ओर उठी हुई ग्रीवा **'उन्नता'** और पार्श्व (बगल) में झुकी हुई ग्रीवा **'त्र्यस्रा'** कहलाती है। काँपती हुई अथवा घूमती हुई ग्रीवा **'रेचिता'** ग्रीवा और नीचे की ओर थोड़ी झुकी हुई ग्रीवा **'कुञ्चिता'** कही जाती है। पीछे की ओर फैली हुई ग्रीवा **'अञ्चिता'** और पार्श्व की ओर उन्मुख की जाने वाली ग्रीवा **'वलिता'** ग्रीवा तथा सामने की ओर अभिमुख ग्रीवा **'निवृत्ता'** कहलाती है[3]। ये सभी प्रकार के ग्रीवाकर्म शिर की क्रिया के अनुगामी होते हैं। अतः शिरोऽभिनय के साथ ग्रीवाभिनय के कर्म भी प्रवृत्त होते हैं।

अभिनयदर्पण के अनुसार गरदन को इधर-उधर समतल रूप में चलाने को **'सुन्दरी'** ग्रीवा कहते हैं। साँप की चाल के समान गरदन को चलाना **'तिरश्चीना'** ग्रीवा कही जाती है। सर्प की गति के प्रदर्शन में इसका विनियोग होता है। अर्धचन्द्र की तरह दायें-बायें गरदन को चलाना **'परिवर्त्तिता'** ग्रीवा कहलाती है। लास्य नृत्त और प्रिय-चुम्बन में इसका विनियोग होता है। कबूतरी के ग्रीवा-कम्पन के समान आगे-पीछे गरदन को चलाना **'प्रकम्पिता'** ग्रीवा कहलाती है। देशीनाट्य और झूला झुलाने के समय इसका प्रयोग किया जाता है[४]।

हस्ताभिनय

आङ्गिक अभिनय के भेदों में हस्ताभिनय का सर्वोपरि स्थान है। इसीलिए भरतमुनि ने अन्य आङ्गिक अभिनयों की अपेक्षा हस्ताभिनय का विस्तार से विवेचन किया है। अभिनय की दृष्टि से ऐसा कोई भी नाटचार्थ नहीं है

---

१. नाट्यशास्त्र, ८।१७२–१७३।

२. अभिनयदर्पण, ७९–८०।

३. नाट्यशास्त्र, ८।१७३–१७८।

४. अभिनयदर्पण, ८०–८६।

जिसको रूप देने में हस्ताभिनय का प्रयोग न होता हो[१]। हस्ताभिनय के द्वारा ही मानव-हृदय के सुख-दुःखादि भावों की अभिव्यक्ति होती है। संसार में मानव नाना भावों को अभिव्यक्त करने के लिए हाथों की विभिन्न भाव-भङ्गिमाओं का संचालन करता है, किन्तु हाथों की प्रत्येक मुद्रा के मूल में भाव एवं रस की आन्तरिक प्रेरणा अवश्य रहती है। नाटच-प्रयोग में पात्र हस्तमुद्राओं के द्वारा न जाने कितने-कितने व्यङ्ग्य अर्थों का प्रतिपादन करता है। अतः हस्ताभिनय के प्रसङ्ग में अर्थयुक्ति का अवेक्षण नितान्त आवश्यक होता है। उसके द्वारा ही न जाने कितनी चमत्कारपूर्ण अर्थ-परम्पराओं का सृजन होता है[२]।

नाटचसंग्रह में चौथे तत्त्व के रूप में 'धर्मी' का निरूपण किया गया है। अभिनवगुप्त और शाङ्र्गदेव दोनों इतिकर्त्तव्यता को 'धर्मी' कहकर परिभाषित करते हैं। इतिकर्त्तव्यता रूप धर्मी के दो प्रकार होते हैं—लोकधर्मी और नाटचधर्मी। लोकधर्मी में व्यावहारिक जगत् के यथार्थ रूप में जस का तस वर्णन तथा प्रयोग किया जाता है। लोकधर्मी इतिकर्त्तव्यता के भी दो रूप हैं—अन्तरा और बाह्या। इनमें अन्तरा के द्वारा आन्तरिक चित्तवृत्तियों का प्रकाशन होता है और दूसरी बाह्या अवयवरूपा इतिकर्त्तव्यता है। नाट्यधर्मी इतिकर्त्तव्यता कला-सर्जना प्रक्रिया के द्वारा उसे संस्कृत एवं अतिरञ्जित कर एक रूप प्रदान करती है, जिससे नाट्य में चमत्कार एवं सौन्दर्य का योग होता है और नाट्य वैचित्र्यपूर्ण एवं अनुरञ्जक हो जाता है।

हस्ताभिनय के भेद

नाट्यशास्त्र के अनुसार हस्ताभिनय के मुख्यतः तीन भेद होते हैं—असंयुत, संयुत और नृत्त हस्त। इनमें असंयुतहस्त के चौबीस, संयुतहस्त के तेरह और नृत्तहस्त के तीस प्रकार होते हैं। भरत, जयसेनापति, शाङ्र्गदेव, अशोकमल्ल आदि आचार्यों ने भी हस्ताभिनय के असंयुत, संयुत और नृत्त हस्त—ये तीन भेद ही स्वीकार किये हैं। अग्निपुराण में हस्ताभिनय के असंयुत और संयुत ये दो ही भेद स्वीकार किये हैं। इनके अतिरिक्त नन्दिकेश्वर ने कुछ अन्य हस्ताभिनयों का भी विवेचन किया है।

असंयुतहस्त

एक हाथ से किये जाने वाले अभिनय को 'असंयुतहस्त' कहते हैं। नाट्यशास्त्र में असंयुतहस्त के चौबीस भेद बताये गये हैं—पताक, त्रिपताक, कर्त्तरीमुख, अर्द्धचन्द्र, अराल, शुकतुण्ड, मुष्टि, शिखर, कपित्थ, कटकामुख,

---

१. नास्ति कश्चिदहस्तस्तु नाट्येऽर्थोऽभिनयं प्रति।

(नाट्यशास्त्र, ९।१६२)

२. भरत और भारतीय नाट्यकला, पृ० ३५२–३५३।

सूचीमुख (सूच्यास्य), पद्मकोश, सर्पशीर्ष, मृगशीर्ष, काङ्गुल, अलपद्म, चतुर, भ्रमर, हंसास्य, हंसपक्ष, सन्दंश, मुकुल, ऊर्णनाभ और ताम्रचूड़। भरतार्णव में असंयुतहस्त के सत्ताईस भेद बताये गये हैं। उन्होंने नाट्यशास्त्रोक्त चौबीस भेदों के अतिरिक्त अर्धपताक, मयूर और सिंहमुख ये तीन भेद अधिक स्वीकार किये हैं, किन्तु अभिनयदर्पण में असंयुतहस्त के अट्ठाईस भेद बताये गये हैं। अभिनयदर्पण में भरतार्णव के सत्ताईस भेदों के अतिरिक्त 'त्रिशूल' नामक एक अतिरिक्त भेद स्वीकार किया है। नृत्याध्याय और संगीतरत्नाकर में असंयुत-हस्त के चौबीस भेद स्वीकार किये हैं, जो नाट्यशास्त्र के समान हैं। शार्ङ्गदेव ने नाट्यशास्त्र के चौबीस भेदों के अतिरिक्त अन्य मतानुसार 'निकुञ्च' नामक एक अन्य भेद भी माना है और जयसेनापति ने अलपद्म की जगह 'अलपल्लव' नामक भेद स्वीकार किया है[1]।

असंयुतहस्तों में सर्वप्रथम पताकहस्त है। इस हस्त का उद्भव ब्रह्मा से माना जाता है। इसका वर्ण श्वेत, देवता विष्णु और जाति ब्राह्मण है। कहा जाता है कि एक बार ब्रह्मा ने विष्णु के पास जाकर उनकी वन्दना की। उस समय विष्णु का हस्त पताका (ध्वज) के आकार का हो गया, तब से इस हस्त को **पताकहस्त** कहा जाने लगा। इस हस्तमुद्रा में अङ्गुलियाँ सम और प्रसृत होती हैं और अङ्गुष्ठ कुञ्चित होता है। इस हस्त का क्षेत्र अनन्त है। प्रकृति के दिव्य एवं भयानक रूपों की अभिव्यक्ति के लिए विनियोग किया जाता है। अभिनयदर्पण के अनुसार पताकहस्त में अङ्गुलियाँ परस्पर सटाकर आगे की ओर फैलायी जाती है और अँगूठे को मोड़कर तर्जनी के मूल में मिला दिया जाता है[2]।

त्रिपताकहस्त भी पताकहस्त के समान होता है। इसमें केवल अनामिका अङ्गुली वक्र होती है। **कर्त्तरीमुख** भी त्रिपताक के समान होता है। केवल इसकी तर्जनी पीछे की ओर मुड़ी हुई होती है। **चतुरहस्त** में तर्जनी, मध्यमा, अनामिका तीनों अंगुलियाँ प्रसारित होती हैं। मानव-जीवन के सुकुमार भावों का अभिनय 'चतुर' हस्त के द्वारा होता है। यदि पताक-हस्तमुद्रा में अँगूठे को बाहर की ओर सीधे प्रसारित कर दिया जाय तो उसे **'अर्द्धचन्द्र'** हस्त कहते हैं। कृष्णपक्ष की अष्टमी के चन्द्रमा तथा किसी के गले को पकड़ने में इस हस्त का प्रयोग होता है। यदि पताकहस्त में तर्जनी को मोड़ दिया जाय तो

---

१. नाट्यशास्त्र, ९।४–७; भरतार्णव, १।१–४; अभिनयदर्पण, ८९–९२; नृत्याध्याय, १।१–२११; संगीतरत्नाकर, ७।७८–८१; नृत्तरत्नावली, २।७६–७८; संगीतरत्नाकर, ७।२८३।

२. नाट्यशास्त्र, ९।१८–४७; अभिनयदर्पण, ९३।

अरालहस्त कहा जाता है और अराल-हस्तमुद्रा में अनामिका को वक्र कर दिया जाय तो **'शुकतुण्ड'** हस्त होता है[1]।

मुष्टि, शिखर और **कपित्थ** ये तीन हस्तमुद्राएँ एक-दूसरे के अधिक निकटवर्त्ती हैं। जिस हाथ की चारों अँगुलियाँ हथेली के अन्दर झुकी हुई हों और उनके ऊपर अंगूठा हो तो उसे **'मुष्टि'** हस्त कहते हैं। यदि मुष्टिहस्त में अंगूठा ऊपर उठा दिया जाय तो **शिखरहस्त** कहा जाता है और जब शिखर-हस्त की मुद्रा में तर्जनी वक्र होकर अंगूठे से दाबी जाय तो **'कपित्थ'** हस्त होता है। केशग्रहण, मल्लयुद्ध आदि के अभिनय में मुष्टिहस्त; काम, धनुष आदि के भावों के प्रदर्शन में शिखरहस्त और नटों के द्वारा तालधारण, गो-दोहन आदि के भावों के प्रदर्शन में 'कपित्थ' हस्त का विनियोग होता है। यदि कपित्थहस्त में तर्जनी वक्र कर दिया जाय और अंगूठे के मध्यभाग का स्पर्श करती हो तो **'खटकामुख'** हस्त होता है और खटकामुख में यदि तर्जनी को सीधे फैला दिया जाय तो **'सूचीहस्त'** कहलाता है तथा सूचीमुख-हस्तमुद्रा में यदि अंगूठे को खोल दिया जाय तो **'चन्द्रकला'** हस्त होता है। पुष्पावचय आदि में खटकामुख, परब्रह्म-भावना आदि में सूचीमुख तथा चन्द्र, मुख आदि के प्रदर्शन में चन्द्रकलाहस्त का प्रयोग होता है[2]। भरतार्णव में चन्द्रकला के स्थान पर **'बाण'** हस्तमुद्रा का वर्णन है।

'पद्मकोष' हस्त की सभी अँगुलियाँ अलग-अलग फैलती रहती हैं, सभी को मोड़कर झुका दिया जाता है। इसके द्वारा बिल्व, स्त्रियों के कुच आदि का प्रदर्शन किया जाता है। जब पताकहस्त की अँगुलियों को मिलाकर अग्रभाग को कुछ झुका दिया जाता है तब **'सर्पशीर्ष'** हस्त कहलाता है। चन्दन, सर्प आदि के अभिनय में इसका विनियोग होता है। यदि सर्पशीर्षहस्त में कनिष्ठिका और अंगूठे को फैला दिया जाय **'मृगशीर्ष'** हस्त कहलाता है। स्त्रियों के कपोल आदि के प्रदर्शन में इसका विनियोग होता है। यदि मध्यमा और अनामिका को अंगूठे से मिला दिया जायँ और शेष अँगुलियाँ फैला दी जाय तो **'सिंहमुख'** हस्त होता है। जब पद्मकोशहस्त में अनामिका को मोड़कर झुका दिया जाय तो **'काङ्गूल'** हस्त कहलाता है। छोटे फल आदि का प्रदर्शन इसके द्वारा किया जाता है। यदि समस्त अँगुलियाँ किञ्चित् टेढ़ी कर दी जायँ और वे परस्पर अलग रहें तो **'अलपल्लव'** हस्त कहलाता है। विकसित कमल, कुचमण्डल आदि के भाव-प्रदर्शन में इसका विनियोग किया जाता है[3]।

---

१. नाट्यशास्त्र, ९।२८–५४; भरतार्णव, १।१५–२९, ४७–४८; अभिनय-दर्पण, १०८–११५, १४९–१५२; नृत्याध्याय, १।१०७–१६४; १–१९।

२. नाट्यशास्त्र, ९।५५-७८; भरतार्णव, १।२७-३१; अभिनयदर्पण, १२४-१३३; नृत्याध्याय, १।४५-७९; नृत्तरत्नावली, २।११३-१३२।

३. नाट्यशास्त्र, ९।८०-१००; भरतार्णव, १।३२-४६; अभिनयदर्पण,

भ्रमर—हस्तमुद्रा में मध्यमा और अङ्गुष्ठ परस्पर संयुक्त होते हैं और तर्जनी वक्र होती है तथा शेष अगुलियाँ (अनामिका और कनिष्ठिका) फैली हुई होती हैं। नाटचशास्त्र और अभिनयदर्पण में भ्रमरहस्त का लक्षण समान है, किन्तु भरतार्णव में कुछ भिन्न है। भरतार्णव के अनुसार 'भ्रमर' हस्तमुद्रा में मध्यमा और अनामिका दोनों अंगुलियाँ मुड़कर नीचे झुकी हुई होती हैं और शेष अंगुलियाँ फैली हुई होती हैं। अभिनयदर्पण के अनुसार भ्रमर, शुक, सारस आदि पक्षियों के तथा भरतार्णव के अनुसार योग, मौनव्रत, गजों के दन्तप्रहार आदि भावों के प्रदर्शन में 'भ्रमर' हस्त का प्रयोग होता है[1]।

हंसास्य (हंसमुख), हंसपक्ष, सन्दंश, मुकुल, ऊर्णनाभ और ताम्रचूड़ हस्तमुद्राएँ परस्पर एक-दूसरे के बहुत निकट हैं। **हंसास्य**-हस्तमुद्रा में मध्यमा, अनामिका और कनिष्ठिका ये तीनो अंगुलियाँ फैली हुई होती हैं और तर्जनी एवं अंगूठा परस्पर मिले हुए होते हैं। चित्रलेखन, मङ्गलसूत्र, रोमाञ्च आदि भावों के प्रदर्शन में इसका विनियोग होता है। यदि सर्पशीर्षहस्त में कनिष्ठिका अंगुली को फैला दिया जाय तो **'हंसपक्ष'** कहा जाता है। यदि पद्मकोश-हस्तमुद्रा में अंगुलियाँ बार-बार सटायी और हटायी जाती हैं तो उसे **'सन्दंश'** हस्त कहते हैं। भरतार्णव के अनुसार तर्जनी अंगुली मध्यमा और अंगूठे से मिली हुई हों और शेष अंगुलियाँ फैली हुई हों तो **'सन्दंश'** होता है। यदि पाँचों अङ्गुलियों को एक साथ मिला दिया जाय तो **मुकुल**-हस्त होता है। यदि पद्मकोशहस्त की अंगुलियाँ कुञ्चित कर दी जाँय तो ऊर्णनाभहस्त कहलाता है। यदि मुकुलहस्त में तर्जनी को वक्र कर दी जाय तो **ताम्रचूड़**हस्त होता है। मुर्गा, बगुला, काक, ऊँट आदि के भावों के प्रदर्शन में इसका विनियोग किया जाता है[2]।

इनके अतिरिक्त भरतार्णव में सिंहमुख, मयूर और अर्धपताक ये तीन हस्त अधिक बताये गये हैं। इनमें सिंहमुखहस्त का लक्षण पहले बताया जा चुका है। **मयूर**हस्त में अनामिका को अंगूठे से मिलाकर शेष अंगुलियों को प्रसारित किया जाता है। यदि त्रिपताकहस्त में कनिष्ठिका अंगुली वक्र हो तो **'अर्धपताक'** हस्त कहलाता है। **'त्रिशूल'** हस्त का वर्णन केवल अभिनयदर्पण में मिलता है। यदि कनिष्ठिका और अङ्गुष्ठ को मिलाकर झुका दिया जाय

१३४-१४८; नृत्याध्याय, प्रथम अध्याय; नृत्तरत्नावली, २।१०८-११०, २।१४१-१४४, २।१६८-१६९।

१. नाटचशास्त्र, ९।१०१–१०२; भरतार्णव, ११४९-५०; अभिनयदर्पण, १५२-१५४; नृत्याध्याय, १।३१-३३।

२. नाटचशास्त्र, ९।१०३-१२५; भरतार्णव, ११५१-६१; अभिनयदर्पण, १५५-१६४; नृत्याध्याय, १।२०-३०; ४१-४४; १६९-१९०; १९९-२०२।

तो उसे 'त्रिशूल' हस्त कहते हैं। बिल्वपत्र के भाव-प्रदर्शन में इस हस्त का विनियोग होता है[१]। असंयुतहस्ताभिनयों में पताका, पद्मकोश, सूचीमुख, मुकुल, भ्रमर और चतुर आदि हस्तमुद्राएँ प्रमुख हैं। इनके द्वारा अनेक नई-नई हस्तमुद्राओं का सृजन होता है।

संयुतहस्त

दोनों हाथों के द्वारा परस्पर मिलकर किये जाने वाले अभिनय को 'संयुत-हस्त' कहते हैं। नाटचशास्त्र के अनुसार असंयुतहस्त की विभिन्न मुद्राओं के समन्वय से ही संयुतहस्त की मुद्राओं की रूप-रचना होती है। संयुतहस्त वस्तुतः असंयुतहस्त के ही विकसित एवं परिवर्तित विभिन्न रूप हैं। नाटच-शास्त्र में संयुतहस्त के तेरह भेद बताये गये हैं—अञ्जलि, कपोत, कर्कट, स्वस्तिक, कटकावर्धमान, उत्सङ्ग, निषध, दोल, पुष्पपुट, मकर, गजदन्त, अवहित्थ तथा वर्द्धमान[२]। अग्निपुराण[३]। नृत्तरत्नावली[४] तथा संगीतरत्नाकर[५] में भी तेरह ही भेद बताये गये हैं। अभिनयदर्पण[६] में संयुतहस्त के तेईस भेद निर्दिष्ट हैं, किन्तु भरतार्णव[७] में संयुतहस्त के केवल सोलह भेद निर्दिष्ट हैं। अभिनयदर्पण में भरतार्णव की अपेक्षा सात भेद अधिक बताये गये हैं।

अञ्जलि एक प्रसिद्ध संयुत-हस्तमुद्रा है। यदि दो पताक-हस्तमुद्राओं को परस्पर जोड़ दिया जाय तो '**अञ्जलि**' हस्तमुद्रा होती है। इसका विनियोग देवता, गुरु और मित्रों के अभिवादन में किया जाता है। यदि दोनों हाथों के पार्श्वों को परस्पर मिला दिया जाय तो '**कपोत**' हस्त कहलाता है। शीत और भय के प्रदर्शन में स्त्रियाँ इस हस्त को वक्षःस्थल पर रखती हैं। दोनों हाथों की अंगुलियाँ परस्पर एक-दूसरे से ग्रथित हों तो '**कर्कट**' हस्त कहलाता है। इसका विनियोग कामाङ्ग-मर्दन, अङ्गत्रोटन, उदर-प्रदर्शन आदि भावों के प्रदर्शन में होता है। यदि मणिबन्ध पर विन्यस्त दो अरालहस्तों को उत्तान करके वामपार्श्व में रख दिया जाय तो **स्वस्तिकहस्त** होता है। इसका प्रयोग स्त्रियों को करना चाहिए। यदि खटकहस्त को खटकहस्त पर रख दिया जाय तो '**खटकावर्द्धमानक**' हस्त होता है। शृङ्गार के प्रदर्शन में इसका विनियोग होता है। यदि दोनों अरालहस्त स्वस्तिक-हस्तमुद्रा में उत्तान रख

१. अभिनयदर्पण, १६५।
२. नाटचशास्त्र, ९।८-१०।
३. अग्निपुराणोक्त काव्यालङ्कारशास्त्र, ६।२१-२२।
४. नृत्तरत्नावली, २।७९-८०।
५. संगीतरत्नाकर।
६. अभिनयदर्पण, १७२-१७५।
७. भरतार्णव, २।१३-१४।

दिये जाँय तो 'उत्सङ्ग' हस्त कहलाता है[1]। नाटयशास्त्र में 'निषध' हस्त के कई लक्षण बताये गये हैं—

(१) यदि मुकुलहस्त को कपित्थहस्त के द्वारा परिवेष्टित कर दिया जाय तो प्रथम प्रकार का 'निषध' हस्त होता है। संग्रह, दान, धारण, सत्य-वचन, निपीड़न आदि में इसका विनियोग होता है। (२) शिखरहस्त यदि मृगशीर्षहस्त से निपीड़ित कर दिया जाय तो द्वितीय प्रकार का 'निषध' हस्त होता है। भय से पीड़ित अवस्था के अभिनय में इसका विनियोग होता है। (३) यदि बाँयें हाथ से दाहिनी भुजा को कोहनी के भीतर से ग्रहण कर दाहिने हाथ को बाँयें हाथ की कोहनी पर रख दिया जाय और वह दाहिना हाथ अच्छी तरह मुष्टीकृत हो तो वह तीसरे प्रकार का 'निषध' हस्त होता है। धैर्य, मद, गर्व, सौष्ठव, औत्सुक्य, स्तम्भ, स्थैर्य, अभिमान आदि के अभिनय में इसका प्रयोग करना चाहिए। (४) यदि दो हंसपक्षहस्त पराङ्-मुख हों तो चतुर्थ प्रकार का 'निषध' हस्त समझना चाहिए। जाली, खिड़की आदि के तोड़ने में इसका अभिनय करना चाहिए[2]।

जिस हस्त के दोनों कन्धे शिथिल हों और दोनों पताकहस्त प्रलम्बित (हिलते हुए) हों तो दोल (दोला) हस्त कहलाता है। सम्भ्रम, विषाद, मूर्च्छा, मद, आवेग आदि के अभिनय में इसका प्रयोग करना चाहिए। सर्प-शीर्षहस्त की संहत अंगुलियाँ यदि द्वितीय पार्श्व में संश्लिष्ट (सटी हुई) हों तो उसे 'पुष्पपुट' हस्त कहते हैं। धान्य, फल, पुष्पादि के आदान-प्रदान में इसका अभिनय होगा। यदि दो पताकहस्त ऊपर की ओर उठे हुए हों और अंगूठा अधोमुख हो तथा दोनों को एक-दूसरे के ऊपर रख दिया जाय तो 'मकरहस्त' होता है। सिंह-व्याघ्रादि के प्रदर्शन में इस हस्त का विनियोग होता है। यदि दो सर्पशीर्षहस्तों को कोहनी और कन्धों पर रख दिया जाय तो 'गजदन्त' हस्त होता है। पाणिग्रहण, बोझ उठाने, स्तम्भ-गुण और शिलोत्पाटन आदि में इसका विनियोग होता है। यदि दोनों शुकतुण्डहस्तों को वक्षःस्थल पर सामने की ओर से अञ्चित कर धीरे-धीरे अधोमुख आविद्ध कर दिया जाय तो 'अवहित्थ' कहलाता है। क्षीणता-प्रदर्शन, शरीर-प्रदर्शन आदि में इसका विनियोग होता है। जब मुकुलहस्त को कपित्थहस्त से परिवेष्टित कर दिया जाय तो 'वर्धमान' हस्त समझना चाहिए। सम्भ्रम, परिग्रह, धारण, संक्षेप, निपीड़न आदि के अभिनय में इस हस्त का विनियोग करना चाहिए[3]।

इस प्रकार संक्षेप में असंयुत और संयुत दो प्रकार के हस्तों का विवेचन

१. नाटयशास्त्र, ९।१२८-१४०।

२. वही, ९।१४१-१४७।

३. नाटयशास्त्र, ९।१४८-१६०।

किया है। आकृति, चेष्टा, चिह्न जाति से जानकर और तर्क-वितर्क करके विद्वानों को हस्ताभिनय करना चाहिए। देश, काल, प्रयोग, अर्थयुक्ति आदि को देखकर पुरुषों को विशेषकर स्त्रियों को हस्ताभिनय करना चाहिए। नाटच और नृत्य में किये जाने वाले अङ्गों के प्रचार तीन प्रकार के होते हैं—उत्तान, पार्श्वग और अधोमुख। अन्य मतानुसार नाटच और नृत्य में किये जाने वाले हस्त-प्रचार के पाँच प्रकार हैं—उत्तान, वर्तुल, त्र्यस्र, स्थित और अधोमुख[1]। इस प्रकार नाटच (अभिनय) के समाश्रित हस्तों का विवेचन किया गया है।

नृत्तहस्त

नाटचोपयोगी हस्तों का विवेचन करने के बाद अब नृत्तहस्तों का निरूपण करते हैं। नृत्तहस्त हस्त-पादादि के सामञ्जस्य से सौन्दर्य उत्पन्न करते हैं और नृत्य को शोभायुक्त बनाते हैं। अङ्ग-प्रत्यङ्गों के सौन्दर्य-वर्धन में नृत्त-हस्तों का बड़ा हाथ रहता है। नाटचशास्त्र में तीस प्रकार के नृत्तहस्तों का विवेचन किया गया है, जब कि भरतार्णव में १६+५=२२ (बाईस) नृत्त-हस्त वर्णित हैं। अभिनयदर्पण में तेरह नृत्तहस्तों का निरूपण है। नृत्तरत्नावली और सङ्गीतरत्नाकर में नाटचशास्त्र के समान तीस नृत्तहस्तों का विवेचन है[2]। इन नृत्तहस्तों की रूप-रचना असंयुत और संयुत हस्ताभिनय के विविध रूपों के आधार पर होती है। अभिनय की प्रधानता होने पर ये नाटचहस्त और नृत्य की प्रधानता होने पर नृत्तहस्त कहे जाते हैं।

नाट्यशास्त्र के अनुसार तीस नृत्तहस्त हैं—चतुरस्र, उद्वृत्त, तलमुख, स्वस्तिक, विप्रकीर्ण, अरालखटकामुख, आविद्धवक्र, सूचीमुख, रेचित, अर्ध-रेचित, उत्तानवञ्चित, पल्लव, नितम्ब, केशबन्ध, लता, करि, पक्षवञ्चित, पक्षप्रद्योत, गरुड़पक्ष, दण्डपक्ष, ऊर्ध्वमण्डलिन्, पार्श्वमण्डलिन्, उरोमण्डलिन्, उरःपार्श्वार्धमण्डल, मुष्टिकस्वस्तिक, नलिनीपद्मकोश, उल्वण, ललित, वलित और अलपल्लव[3]।

नाट्यहस्त की मुद्राओं एवं नृत्तहस्त की मुद्राओं का अभिनय के सम्पादन के लिए करणों का ज्ञान आवश्यक है। सभी हस्तों के करण चार प्रकार के होते हैं—आवेष्टित, उद्वेष्टित, व्यावर्त्तित और परिवर्त्तित। इन चारों करणों के द्वारा हस्तमुद्राएँ रूप ग्रहण करती हैं। यदि तर्जनी आदि अँगुलियाँ क्रमशः भीतर की ओर आवेष्टित हों तो **'आवेष्टित'** करण होता है। जब तर्जनी आदि सभी अंगुलियाँ क्रमशः बाहर की ओर उद्वेष्टित होती हैं तो **'उद्वेष्टित'** करण कहा जाता है। यदि कनिष्ठा आदि अँगुलियाँ क्रमशः भीतर की ओर

---

१. वही, ९।१८२–१८३।

२. वही, ९।११-१६; भरतार्णव, ३।९१-९३; अभिनयदर्पण, २४८-२४९।

३. नाटचशास्त्र, ९।११–१६।

आवर्तित हों तो '**व्यावर्त्तित**' करण कहलाता है और जब कनिष्ठा आदि अँगुलियाँ क्रमशः बाहर की ओर परिवर्त्तित कर दी जाँय तो '**परिवर्त्तित**' करण होता है। नाट्य और नृत्त में इन करणों का प्रयोग मुख, नेत्र, भौंह और मुखराग के सन्दर्भ में करना चाहिए। अभिनय का कोई भी रूप तब तक पूर्ण नहीं हो सकता, जब तक नेत्र, भ्रू तथा मुखराग आदि की व्यंजना न होती हो[1]। इस प्रकार जिनके द्वारा नेत्र, भ्रू और मुखराग की व्यञ्जना होती है, वह अभिनयों की पूर्णता के लिए प्रक्रिया है। इनके अतिरिक्त नन्दिकेश्वर ने विभिन्न भावों एवं विचारों की हस्तमुद्राओं का भी विवेचन किया है। उन्होंने पन्द्रह देवहस्त, दशावतार हस्त, विभिन्नजातीय हस्त, बान्धव हस्त, नवग्रह हस्त, षड्तु हस्त, कालमान हस्त, वेदहस्त, चतुरुपायादि हस्त, षट्तन्त्र हस्त, नानार्थ हस्त, संकर हस्त आदि हस्तों का भी विस्तृत विवेचन किया है।

नाट्य और नृत्य हस्ताभिनय का सर्वाधिक महत्त्व है। उनके द्वारा मानव अपने मानसिक विचारों को अभिव्यक्त करता है। हाथ तथा अँगुलियों के द्वारा ही स्वीकृति-अस्वीकृति, प्रकाशन तथा गोपन, ग्रहण तथा मोचन, विश्वास एवं सान्त्वना आदि भावों को प्रकट किया जाता है। कहा जाता है कि अंगुलियों के द्वारा मानसिक भावों को, हथेली के द्वारा अनुभवों एवं उत्तेजनाओं को और हाथ के पृष्ठभाग के द्वारा शारीरिक शक्ति को अभिव्यक्त किया जाता है। नन्दिकेश्वर ने इन हस्तचेष्टाओं का बड़ा ही वैज्ञानिक विवेचन किया है। इनके अतिरिक्त उन्होंने हाथों से सम्पन्न होने वाले नानाभावरसाश्रित अभिनयों, मुद्राओं एवं चेष्टाओं के नाम, रूप, लक्षण एवं विनियोग आदि का भी समुचित वर्णन किया है।

उरःकर्म

हृदय (उरस्) के पाँच कर्म कहे गये हैं—आभुग्न, निर्भुग्न, प्रकम्पित, उद्वाहित और सम। यदि उर सामने नत हो, पृष्ठ उन्नत हो, स्कन्ध झुके हुए और शिथिल हों तो '**आभुग्न**' उर कहलाता है। यदि उर स्तब्ध, पृष्ठ निम्न (नत), स्कन्ध निर्भुग्न एवं समुन्नत हो तो '**निर्भुग्न**' उर कहा जाता है। जहाँ पर ऊर्ध्वक्षेप से उर में कम्पन होता है, उसे '**प्रकम्पित**' उर कहते हैं। ऊपर उठे हुए उर को '**उद्वाहित**' उर कहते है। चतुरस्र सौष्ठव युक्त सभी अङ्गों के विन्यास से '**सम**' उर होता है। सम्भ्रम, शोक, भय, मूर्च्छा, व्याधि, शीत, वर्षा, लज्जा, स्तम्भ, मानग्रहण, विस्मय-दृष्टि, दर्प, गर्व, हँसी, रोदन, श्रम, श्वास, जँभाई लेने आदि भावों के प्रदर्शन में इनका प्रयोग होता है[2]।

---

१. वही, ९।२१६—२२०।

२. नाटचशास्त्र, ९।२२३—२३४।

पार्श्वकर्म

नत, समुन्नत, प्रसारित, विवर्तित और अपसृत—ये पाँच प्रकार के पार्श्व-कर्म कहे गये हैं। यदि कटि व्याभुग्न, पार्श्व आभुग्न और स्कन्ध कुछ अपसृत हों तो 'नत' पार्श्व कहलाता है। यदि नत पार्श्व का अपर पार्श्व विपरीत हो और कटि, पार्श्व, स्कन्ध ऊपर उठे हुए हों, तो 'समुन्नत' पार्श्व होता है। यदि त्रिक को परिवर्त्तित कर दिया जाय तो 'विवर्त्तित' पार्श्व होता है और विवर्त्तित पार्श्व के अपनयन से 'अपसृत' पार्श्व कहा जाता है। उपसर्पण में नत, अपसर्पण में समुन्नत, प्रहर्षादि में प्रसारित, परिवर्त्त में विवर्त्तित और विनिवर्त्तन में अपसृत पार्श्व का विनियोग करना चाहिए[1]।

उदर-कर्म

क्षाम, खल्व और पूर्ण—ये तीन प्रकार के उदर-कर्म होते हैं। इनमें क्षीण उदर 'क्षाम', नत उदर 'खल्व' और भरा हुआ उदर 'पूर्ण' कहलाता है। हास्य, रोदन, निःश्वास और जँभाई लेने में 'क्षाम' उदर; व्याधि, तपस्या, श्रम एवं भूख में 'खल्व' उदर और उच्छ्वास, व्याधि, अतिभोजन, स्थूलता आदि में 'पूर्ण' उदर होता है[2]। अशोकमल्ल, शार्ङ्गदेव आदि आचार्य उदर के क्षाम, खल्व, सम और पूर्ण—ये चार प्रकार मानते हैं।

कटिकर्म

छिन्ना, निवृत्ता, रेचिता, कम्पिता और उद्वाहिता—ये पाँच प्रकार के कटिकर्म कहे गये हैं। मध्यभाग में वलन से 'छिन्ना' कटि, पराङ्मुख व्यक्ति की ओर निर्वर्तित होने वाली कटि 'निवृत्ता', चारों ओर घूमने वाली कटि 'रेचिता', तिरछे आने-जाने वाली कटि 'प्रकम्पिता' और नितम्ब एवं पार्श्व भाग से उद्वहन करने वाली कटि 'उद्वाहिता' कहलाती है। व्यायाम तथा पीछे घूमकर देखने में 'छिन्ना', गोल घूमने में 'निवृत्ता', भ्रमण आदि में 'रेचिता', कूबड़े, बौने आदि की गति में 'प्रकम्पिता' और स्थूल पुरुष एवं स्त्रियों के लीलापूर्ण गमन में 'उद्वाहिता' कटि का विनियोग करना चाहिए[3]।

ऊरुकर्म

ऊरु के द्वारा किया गया अभिनय 'ऊरुकर्म' कहलाता है। नाटचशास्त्र के अनुसार ऊरु के पाँच भेद होते हैं—कम्पन, वलन, स्तम्भन, उद्वर्त्तन और निवर्त्तन। एड़ी के बार-बार नमन-उन्नमन से 'कम्पन' ऊरु होता है और यदि जानु भीतर की ओर हो तो 'वलन' नामक ऊरु कहा जाता है तथा यदि ऊरु

---

१. वही, ९।२३६–२४२।

२. नाटचशास्त्र, ७।२४३–२४५।

३. वही, ९।२४६–२५१।

निष्क्रिय हो तो उसे **'स्तम्भन'** ऊरु कहते हैं। ऊरु के वलित एवं आविद्ध करने से **'उद्वर्त्तन'** होता है और यदि पैर की एड़ी भीतर की ओर चली जाय तो **'निवर्त्तन'** ऊरु कहलाता है। अधम पात्रों की गति और भय में 'कम्पन', स्त्रियों की स्वच्छन्द गति में 'वलन', भय और विषाद में 'स्तम्भन', व्यायाम और ताण्डव में 'उद्वर्त्तन' और सम्भ्रमपूर्वक भ्रमण में 'निवर्त्तन' ऊरु का प्रयोग किया जाता है[1]।

जङ्घाकर्म

नाटचशास्त्र में जङ्घा के कर्म पाँच प्रकार के कहे गये हैं—आवर्त्तित, नत, क्षिप्त, उद्वाहित और परिवृत्त। यदि बाँयें पैर को दाहिने और दाहिने पैर को बाँयें पार्श्व की ओर घुमा दिया जाय तो **'आवर्त्तित'** जङ्घा होती है। जङ्घा के आकुञ्चन होने से **'नत'** जङ्घा कहलाती है। जङ्घा के बाहर की ओर फेंकने से **'क्षिप्त'** जङ्घा होती है। जङ्घा को यदि ऊपर की ओर ऊठाया जाय तो **'उद्वाहित'** और जङ्घा को यदि पीछे की ओर मोड़ दिया जाय तो **'परिवृत्त'** जङ्घा कहलाती है। विदूषक के परिभ्रमण में 'आवर्त्तित'; स्थान, आसन तथा गमन आदि में 'नता' जङ्घा; व्यायाम और ताण्डव में 'क्षिप्त'; आविद्ध गमन आदि में 'उद्वाहिता' तथा ताण्डव नृत्य में 'परिवृत्त' जङ्घा का प्रयोग करना चाहिए[2]।

पादाभिनय

पैरों से किया जाने वाला अभिनय 'पादाभिनय' कहलाता है। नाटच-शास्त्र के अनुसार पादाभिनय के पाँच भेद होते हैं—उद्घट्टित, सम, अग्रतल-सञ्चर, अञ्चित और कुञ्चित। भरतार्णव में प्रथम पादाभिनय के सात भेद बताये हैं। इसके बाद बाईस प्रकार के अन्य पादभेदों का निरूपण किया है। तदनन्तर पुनः पाँच पादभेदों का वर्णन किया है। अभिनयदर्पण में पादाभिनय के चार प्रकारों का उल्लेख किया है—मण्डल, उत्प्लवन, भ्रमरी और पाद-चारी। इनमें खड़े होने के ढंग को मण्डल, उछलने, कूदने आदि विधियों को उत्प्लवन, घूमने की स्थिति को भ्रमरी और चलने की स्थिति को पादचारी कहते हैं। नन्दिकेश्वर ने मण्डलपाद के दस भेद माने हैं—स्थानक, आयत, आलीढ़, प्रत्यालीढ़, प्रेङ्खण, प्रेरित, स्वस्तिक, मोटित, समसूची और पार्श्व-सूची। उत्प्लवन के पाँच भेद बताये गये हैं—अलग, कर्त्तरी, अश्व, मोटित और कृपालग। भ्रमरी के सात भेद हैं—उत्प्लुत, चक्र, गरुड़, एकपाद,

---

१. नाटचशास्त्र, ९।२५२–२५८; नृत्तरत्नावली, २।३०७; नृत्याध्याय, २।३९४–३९८; संगीतरत्नाकर, ७।३५७।

२. नाटचशास्त्र, ९।२५९–२६५; नृत्याध्याय, २।३९९–४०९; संगीत-रत्नाकर, ७।३६१–३६८; नृत्तरत्नावली, २।३१६–३२०।

कुञ्चित, आकाश और अङ्ग। पादचारी के भी सात भेद बताये हैं—चलन, सङ्क्रमण, सरण, वेगिनी, कुट्टन, लुठित, लोलित और विषम[१]।

नृत्याध्याय में पादाभिनय के छः प्रकार बताये हैं—सम, अञ्चित, कुञ्चित, सूची, अग्रतलसञ्चर और उद्घट्टित। इनमें पाँच भेद नाट्यशास्त्र से मिलते हैं। 'सूची' नामक भेद अलग से माना गया है। तदनन्तर सात अन्य भेदों का उल्लेख है। इस प्रकार नृत्याध्याय में तेरह भेद वर्णित हैं। संगीतरत्नाकर में पादाभिनय के नृत्याध्याय के समान तेरह भेद वर्णित हैं। उनके लक्षण, विनियोग भी दोनों में ज्यों-के-त्यों मिलते हैं[२]।

नाट्यशास्त्र के अनुसार जिस पैर के तलवे के अग्रभाग से स्थित होकर एड़ी को भूमि पर गिराया जाय तो उसे '**उद्घट्टित**' पाद कहते हैं। स्वाभाविक रूप से समतल भूमि पर स्थित पाद को '**समपाद**' कहते हैं। इसी समपाद की एड़ी यदि दूसरे पैर के भीतर की ओर हो और अंगूठा बाहर की ओर पार्श्व में स्थित हो तो '**त्र्यस्रपाद**' कहा जाता है। इसी प्रकार यदि एड़ी उठी हुई हो और अंगूठा फैला हुआ हो तथा समस्त अँगुलियाँ अञ्चित हों तो '**अग्रतल-सञ्चर**' पाद होता है। जिस पैर की एड़ी भूमि पर अञ्चित हो और पैर का अग्रतल आगे की ओर हो तथा सारी अँगुलियाँ फैली हुई हों तो '**अञ्चित**' पाद कहलाता है। जिस पैर की एड़ी ऊपर उठी हुई हो तथा अँगुलियाँ और मध्यभाग कुञ्चित हो तो उसे '**कुञ्चित**' पाद कहते हैं। कुछ आचार्य सूचीपाद को षष्ठपाद के रूप में स्वीकार करते हैं। यदि दाहिने पैर की एड़ी उठी हुई हो और अंगूठे के अग्रभाग में स्थित हो तथा बायाँ पैर स्वाभाविक स्थिति में हो तो उसे '**सूचीपाद**' कहते हैं[३]।

स्थान या स्थानक

नाट्य और नृत्य में खड़े होने की मुद्रा को 'स्थान या स्थानक' कहते हैं। खड़े होने की मुद्रा एक पादस्थिति है। नाट्यशास्त्र के अनुसार वैष्णव, समपाद, वैशाख, मण्डल, आलीढ़ और प्रत्यालीढ़—ये छः स्थानक हैं। यदि दोनों पैर ढ़ाई ताल के अन्तर पर स्थित हों और उनमें से एक पैर समुत्थित हो तथा दूसरा पैर पार्श्व में तिरछा किया हुआ हो और जङ्घा थोड़ी झुकी हुई हो तो सौष्ठवाङ्ग से युक्त '**वैष्णव**' नामक स्थान होता है। इस स्थानक का विनियोग उत्तम-मध्यम पात्रों के स्वाभाविक वार्त्तालाप, चक्र-मोक्षण, धनुर्धारण, धैर्य, उदात्त, अङ्गलीला, क्रोध, शङ्का, असूया, उग्रता, चिन्ता, मति, स्मृति, दीनता,

---

१. नाटचशास्त्र, ९।२६६; भरतार्णव, ४।२८८–३३०; अभिनयदर्पण, २५९–२५२, २८२–२८३, २८९–२९१, २९८–३०० ।

२. नृत्याध्याय, २।३४४–३४५।

३. नाट्यशास्त्र, १०।२६७–२८०; नृत्याध्याय, २।३४६–३५१।

चपलता तथा शृङ्गारादि रसों में होता है। यदि दोनों पैर एक ताल के अन्तर पर स्वाभाविक सौष्ठवयुक्त स्थित हों तो '**समपाद**' स्थान होता है। इसका विनियोग विप्रमङ्गलधारण, पक्षियों आदि के अभिनय में होता है। यदि दोनों पैर साढ़े तीन ताल के अन्तर पर स्थिर हों और साढ़े तीन ताल के अन्तर पर ऊरु सूची की अपेक्षा से विश्रान्त हो तथा दोनों पैर तिरछे और पक्षस्थित हों तो '**वैशाख**' स्थानक होता है। इसका विनियोग अश्वारोहण, व्यायाम, स्थूल पक्षियों के निरूपण, शरासनसमुत्कर्ष आदि के अभिनय में किया जाता है। यदि दोनों पैर चार ताल के अन्तर पर तिरछे पक्ष (पार्श्व) में स्थित हों और कटि एवं जानु समान हों तो '**मण्डल**' स्थान कहलाता है। धनुष एवं वज्रादि के चलाने में, गजारोहण तथा स्थूल पक्षियों के निरूपण में इस स्थानक का विनियोग होता है। यदि मण्डलस्थानक में दाहिने पैर को पाँच ताल के अन्तर पर फैला दिया जाय तो '**आलीढ़**' स्थानक कहा जाता है। वीर और रौद्र रस के अभिनय में इस स्थानक का विनियोग होता है। यदि आलीढ़स्थानक के विपरीत अर्थात् दाहिने पैर को कुञ्चित करके बाँयें पैर को फैला दिया जाय तो '**प्रत्यालीढ़**' स्थानक कहलाता है। इसका विनियोग शस्त्रमोक्षण में होता है। शस्त्रमोक्षण की चार विधियाँ हैं—भारत, सात्त्वत, वार्षगण्य और कैशिक। भारत के अनुसार कटि पर, सात्त्वत के अनुसार पाद पर, वार्षगण्य के अनुसार वक्षःस्थल पर और कैशिक के अनुसार सिर पर शस्त्र-प्रहार करना चाहिए[1]।

भरतार्णव में बत्तीस प्रकार के स्थानकों का प्रतिपादन किया गया है। इनमें सात पुरुषजातीय, सात स्त्रीजातीय और अठारह मिश्रित जातियों का वर्णन है। अभिनयदर्पण में स्थानक के छः भेद बताये गये हैं। नाट्यशास्त्र में भी छः स्थानक बताये गये हैं, किन्तु अभिनयदर्पण में निरूपित छः स्थानक नाट्यशास्त्र में वर्णित छः स्थानकों से भिन्न हैं। नृत्याध्याय में छः पुरुष-स्थानकों, आठ स्त्रीस्थानकों और तेईस देशी स्थानकों का वर्णन किया गया है। इनके अतिरिक्त छः सुप्तस्थानक भी वर्णित हैं[2]। नाट्यशास्त्र में छः पुरुष-जातीय स्थानक और तीन स्त्रीजातीय स्थानक वर्णित हैं[3]। इनमें पुरुषजातीय स्थानक का विवेचन पहले किया जा चुका है। अब स्त्रीजातीय स्थानक का निरूपण करते हैं। स्त्रीजातीय स्थानक तीन हैं—आयत, अवहित्थ और अश्व-क्रान्त। यदि दाहिना पैर सम और बाँया पैर त्र्यस्र (तिरछा) होकर पक्ष (बगल) में स्थित हो और कटि समुन्नत हो तो '**आयत**' स्थानक कहा जाता

१. नाट्यशास्त्र, १०।५२–७५।

२. भरतार्णव, ५।३३३–३३८; अभिनयदर्पण, २७४–२८२; नृत्याध्याय, ९।८६६–८७७।

३. नाट्यशास्त्र, १२।१६०–१७४।

है। यदि बाँया पैर सम और दाहिना पैर तिरछा होकर पार्श्व में स्थित हो और कटि बाँयीं ओर समुन्नत हो तो 'अवहित्थ' स्त्रीस्थानक होता है। यदि एक पैर उठा हुआ हो (पाठभेद के अनुसार एक पैर समस्थित हो) और दूसरा पैर अग्रतलाञ्चित हो तथा सूचीविद्ध या आविद्ध हो तो 'अश्वक्रान्त' स्त्रीस्थानक होता।

चारी

नाट्य और नृत्य दोनों के लिए चारी का महत्त्व स्वीकृत है। भरत ने नाट्यशास्त्र में कटि, पार्श्व, ऊरु, जङ्घा और पाद द्वारा किये जाने वाले अभिनय के समानीकरण को चारी कहा है[१]। किन्तु साथ ही शिर, हस्त एवं वक्ष का सामञ्जस्य भी अपेक्षित है। भरत का कहना है कि जो 'यह नाट्य-तत्त्व प्रस्तुत किया गया है उसका आधार चारी ही है। नाट्य में चारी के बिना कोई अङ्ग प्रवृत्त नहीं होता'[२]। चारी से ही नृत्त प्रस्तुत किया जाता है, चारी से ही सारी चेष्टाएँ होती हैं, चारी से ही शस्त्र छोड़े जाते हैं और चारी का प्रयोग युद्ध में भी होता है[3]। नाट्य में तो चारी का विशेष महत्त्व है, क्योंकि चारी के द्वारा ही अभिनय सम्पन्न होता है। नाट्य का समस्त प्रयोग चारी पर ही आधारित है।

भरत के अनुसार एक पैर से जो अभिनय प्रस्तुत किया जाता है, उसे 'चारी' कहते हैं और दो पैरों के संचालन से जो अभिनय किया जाता है, उसे 'करण' कहते हैं। करणों के समायोग (सामञ्जस्य) द्वारा 'खण्ड' और तीन-चार खण्डों के योग से 'मण्डल' की निष्पत्ति होती है[४]। नन्दिकेश्वर ने भी एक

---

१. एवं पादस्य जङ्घायाः ऊर्वोः कट्यास्तथैव च।
समानकरणाच्चेष्टा सा चारीत्यभिधीयते॥
(नाट्यशास्त्र १०।१)

२. यदेतत्प्रस्तुतं नाट्यं तच्चारीष्वेव संज्ञितम्।
नहि चार्या विना किञ्चिन्नाट्येऽङ्गं सम्प्रवर्त्तते॥
(नाट्यशास्त्र १०।६)

३. चारीभिः प्रसृतं नृत्तं चारीभिश्चेष्टितं तथा।
चारीभिः शस्त्रमोक्षश्च चार्यो युद्धे च कीर्त्तिताः॥
(नाट्यशास्त्र १०।५)

४. एकपादप्रचारो यः सा चारीत्यभिसंज्ञिता।
द्विपादक्रमणं यत्तु करणं नाम तद्भवेत्॥
करणानां समायोगात् खण्ड इत्यभिधीयते।
खण्डैस्त्रिभिश्चतुर्भिर्वा संयुक्तैर्मण्डलं भवेत्॥
(नाट्यशास्त्र १०।३-४)

पैर से किये जाने वाले अभिनय को 'चारी' कहा है[1]। भरत ने चारी को दो भागों में विभाजित किया है--भौमी और आकाशिकी। भौमी चारी के सोलह और आकाशिकी चारी के सोलह—कुल बत्तीस भेद होते हैं। भरत के अनुसार समपाद, स्थितावर्त्ता, शकटास्या, अध्यर्धिका, चाषगति, बिच्यवा, एलकाक्रीड़िता, बद्धा, अरुद्वृत्ता, अड्डिता, उत्स्यन्दिता, जनिता, स्यन्दिता, उपस्यन्दिता, समोत्सारितमत्तली और मत्तली—ये सोलह भौमी चारी के भेद हैं और अतिक्रान्ता, अपक्रान्ता, पार्श्वक्रान्ता, ऊर्ध्वजानु, सूची, नूपुरपादिका, डोलापादा, आक्षिप्ता, आविद्धा, उद्वृत्ता, विद्युद्भ्रान्ता, अलाता, भुजङ्गभासिता, मृगप्लुता, दण्डा और भ्रमरी—ये सोलह आकाशिकी चारी के भेद हैं[2]। ये मार्गचारी के भेद हैं।

नृत्याध्याय में भरत के अनुसार सोलह भौमी चारी और सोलह आकाशचारी का वर्णन किया है। नृत्याध्याय और संगीतरत्नाकर में देशी चारियों का भी विवेचन हैं, जिनमें पैंतीस भौमी चारी और उन्नीस आकाशिकी चारी का वर्णन है। इस प्रकार अशोकमल्ल ने नृत्याध्याय में मार्ग और देशी दोनों प्रकार की चारियों का निरूपण किया है। उनके अनुसार बत्तीस मार्गचारी और चौवन देशी चारी—कुल छियासी चारियाँ हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने कोहल के मतानुसार पचीस मुडुपचारियों का भी निरूपण किया है। संगीतरत्नाकर के टीकाकार कल्लिनाथ ने कोहल के मतानुसार पचीस मधुपचारियों का विवेचन किया है। नृत्याध्याय में वर्णित पचीस मुडुपचारी और कल्लिनाथ के पचीस मधुपचारी एक ही प्रतीत होते हैं। केवल दोनों में नाम का अन्तर है[3]।

अभिनयदर्पण में केवल आठ चारियों का उल्लेख है। उसमें भूचारी और आकाशचारी भेदों की परिकल्पना नहीं की गयी है। जब कि भरतार्णव में भूचारी और आकाशचारी दोनों भेदों की परिकल्पना की है। उसमें आकाशचारी के नौ और भौमी चारी के सोलह भेद बताये गये हैं। भरतार्णव में आकाशचारी के जो नौ भेद बताये गये हैं वे पूर्वोक्त सभी मतों से सर्वथा भिन्न हैं[4]। कोहल का कथन है कि चारियों की संख्या में नाट्य-प्रयोक्ताओं द्वारा आवश्यकतानुसार परिवर्त्तन किया जा सकता है[5]।

---

१. यत्केवलेन पादेन नृत्तं चार्युदाहृता ॥ (भरतार्णव ८।५२१)

२. नाट्यशास्त्र, १०।८–१३।

३. नृत्याध्याय, १०।९५४–९६९ तथा १०८२–१०८८; संगीतरत्नाकर, ४।९०२–९१६ तथा ३१३–३१७।

४. भरतार्णव, ८।४९५–४९७ तथा ८।५१७–५२१; अभिनयदर्पण, २९९–३००।

५. संगीतरत्नाकर, भाग ४ पृ० ११७।

भूमितल पर किये जाने वाले पाद-संचरण को भौमी चारी कहते हैं। नाटचशास्त्र, भरतार्णव, नृत्याध्याय, संगीतरत्नाकर, नृत्तरत्नावली आदि ग्रन्थों में भूचारी का वर्णन समान रूप से पाया जाता है। भूमितल के ऊपर आकाश की ओर होने वाले अभिनय-व्यापार को आकाशचारी कहते हैं। दोनों चारियों के नाम अन्वर्थ हैं। किन्तु दोनों में अन्तर यह है कि भौमी चारी का प्रयोग मुख्यतः द्वन्द्वयुद्ध और करणाश्रित नृत्य-प्रसङ्गों में होता है तथा आकाशिकी चारी का प्रयोग मुख्यतः ललित अभिनय एवं शस्त्रमोक्षण में होता है[1]। चारियों का प्रयोग विशेष रूप से नाटच और नृत्य में होता है, किन्तु युद्ध, अस्त्र-प्रहार तथा ललित आङ्गिक चेष्टाओं के प्रसङ्ग में भी चारी का प्रयोग होता है। भरतार्णव के अनुसार नाटच एवं नृत्य में पादप्रचार के साथ हस्त-प्रचार का भी प्रयोग होता है। जिस प्रकार चारी में पैर जा-जाकर भूमि पर अवस्थित होता है, उसी प्रकार हाथ भी अपनी क्रियाओं को कर-करके कटि पर अवस्थित होता है। इस प्रकार चारी-प्रयोग में पाद एवं हस्त के साथ कटि का भी प्रयोग आवश्यक बताया गया है।

मण्डल एवं उत्प्लवन

नाटचशास्त्र के अनुसार कई चारियों के संयोग से मण्डल की निष्पत्ति होती है। अभिनयदर्पण में पादाभिनय के अन्तर्गत **'मण्डल'** नामक एक पादभेद स्वीकार किया गया है। मण्डल दस प्रकार के होते हैं—स्थानक, आयत, आलीढ़, प्रत्यालीढ़, प्रेङ्खण, प्रेरित, स्वस्तिक, मोटित, समसूची और पार्श्व-सूची। नाटचशास्त्र में दस भूमिमण्डल और दस आकाशीय मण्डलों का वर्णन है, जिनका प्रयोग युद्ध आदि के अभिनय में किया जाता है।

उछल-कूद कर किये जाने वाले अभिनय को **'उत्प्लवन'** कहते हैं। नटों द्वारा नाटच-प्रदर्शन में इसका विशेष प्रयोग होता है। नन्दिकेश्वर ने अभिनय-दर्पण में पादभेदों के अन्तर्गत 'उत्प्लवन' पादभेद का निरूपण किया है। 'उत्प्लवन' पादभेद के पाँच भेद होते हैं—अलग, कर्त्तरी, अश्व, मोटित और कृपालग।

वाचिक अभिनय

नाटच में वाचिक अभिनय का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भरत ने वाचिक अभिनय को नाटच का शरीर कहा है, क्योंकि अभिनय के अङ्ग उसके अर्थ को व्यञ्जित करते हैं[2]। नाटककार उसी के आधार पर और इसी के माध्यम से अपनी कथावस्तु को हमारे सम्मुख प्रस्तुत करता है तथा कथात्मक एवं चारित्रिक विकास-क्रम को उपस्थित करता है। सूत्रधार और अभिनेता इसी

१. नाटचशास्त्र, १०।२९, ४६।
२. नाटचकला, पृ० १६१–१६२।

आधार को ग्रहण करता है। नाटच में जिस वार्त्तालाप या कथोपकथन का प्रयोग किया जाता है वह जीवन की सम्पूर्ण परिस्थिति के साथ सजीव रूप में प्रयुक्त हो सकता है। इस प्रकार नाटकीय कथोपकथन हमारे चिन्तन एवं मनन की भाषा की अपेक्षा जीवन की भाषा के अधिक निकट होता है। प्राचीन काल में साहित्यिक और जीवन की भाषा में अन्तर नहीं रहा है। उस समय साहित्य की भाषा वही थी जो साधारण बोल-चाल की भाषा थी। यही कारण है कि नाटचशास्त्र में भाषाओं और बोलियों के साथ-साथ वाचिक अभिनय में पाठच के प्रयोग पर विशेष रूप से विचार किया गया है।

नाटचशास्त्र के अनुसार वाचिक अभिनय नाटच का शरीर है और पाठच वाचिक अभिनय का प्राण है। नाटचशास्त्र में पाठच के छः अङ्ग बताये गये हैं—स्वर, स्थान, वर्ण, काकु, अलङ्कार और अङ्ग। किन्तु पाठच के इन छः अङ्गों का समुचित प्रयोग व्याकरण, काव्य, छन्द एवं संगीत के ज्ञान के बिना नहीं हो सकता। अतः पाठच के सम्यक् प्रयोग के लिए उपर्युक्त शास्त्रों का अध्ययन आवश्यक है। इस प्रकार वाचिक अभिनय का मुख्य सम्बन्ध वाणी से है। नाटचशास्त्र में भरत का कथन है कि ब्रह्माण्ड में वाणी से बढ़कर कोई भी अन्य वस्तु नहीं है। उन्होंने वाणी को ही समस्त विश्व का कारण माना है[१]। अतः अभिनेता को शुद्ध एवं युक्तिसंगत वाणी का प्रयोग करना चाहिए।

स्वर—स्वर सात हैं—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद। शृङ्गार और हास्य में मध्यम तथा पञ्चम; वीर, रौद्र एवं अद्भुत में षड्ज एवं ऋषभ; करुण रस में गान्धार एवं निषाद; बीभत्स और भयानक रसों में धैवत स्वरों का प्रयोग उचित माना गया है[२]।

स्थान—नाटचशास्त्र के अनुसार वाणी के तीन स्थान हैं—शिर, कण्ठ एवं उरस्। किस अवसर पर किस प्रकार की वाणी का प्रयोग करना चाहिए, इसकी विधि जानने के लिए स्वरों एवं स्थानों का ज्ञान आवश्यक है। पाठच के प्रसङ्ग में समीपवर्त्ती पात्रों के साथ संवाद-योजना में उरस् का, थोड़ी दूर पर स्थित पात्रों के साथ संवाद में कण्ठ का और दूरस्थ पात्रों के साथ संवाद में शिर स्थान का प्रयोग होता है[३]।

वर्ण—वर्ण चार हैं—उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और कम्पित। वर्ण का उपयोग हास्यादि रसों के योग में होता है। हास्य और शृङ्गार में उदात्त और स्वरित का; वीर, रौद्र और अद्भुत रसों में उदात्त और कम्पित का; करुण, बीभत्स और भयानक रसों में अनुदात्त एवं स्वरित वर्णों के प्रयोग का विधान है।

---

१. नाटचशास्त्र, १४।३।

२. वही, १७।२०–२१; १०५–१०६।

३. वही, १७।१०७–१०८।

काकु---काकु पाठ्य-गुण का प्राण है। काकु के दो भेद हैं—साकांक्ष और निराकांक्ष। प्रकरणादि की अपेक्षा करने वाला काकु साकांक्ष होता है। इसमें तार से मन्द्र तक के स्वर, अनियत अर्थ, उदात्तादि वर्ण तथा उच्चादि अलङ्कार अपरिसमाप्त होते हैं। निराकांक्ष में नियत अर्थ, वर्णालङ्कार परिसमाप्त, शिर-स्थान और मन्द्र से तार तक स्वर होते हैं। जिह्वा के द्वारा इसका सम्पादन होता है। **अलङ्कार**—उच्चारण के छः अलङ्कार होते हैं—उच्च, दीप्त, मन्द्र, नीच, द्रुत और विलम्बित। इनसे काकु को पूर्णता प्राप्त होती है। **अङ्ग**—अङ्ग छः होते हैं—विच्छेद, अर्पण, विसर्ग, अनुबन्ध, दीपन और प्रशमन। विच्छेद विराम को कहते हैं। प्रयोक्ता द्वारा लीलापूर्वक मधुर स्वरों का प्रयोग अर्पण है। विसर्ग का अर्थ वाक्य-न्यास और अनुबन्ध का अर्थ पदान्तर में विच्छेद है। तीनों स्थानों में उच्चरित होकर दीप्त होना दीपन है[1]।

भाषा—भाषा नाटय का शरीर है और छन्द, लक्षण, अलङ्कार, गुण आदि नाटय-शरीर के शोभावर्द्धक तत्त्व हैं। नाटयशास्त्र में भाषा के अन्तर्गत नाटय में प्रयुक्त होने वाली भाषाओं, सम्बोधन, नामकरण एवं पाठयशैली का विवेचन किया गया है। नाटकों में प्रयुक्त होने वाली भाषाएँ चार हैं—अतिभाषा, आर्यभाषा, जातिभाषा और योन्यन्तरीभाषा[2]। अतिभाषा वैदिक शब्दबहुल होती है। वह देवगणों की भाषा होती है। श्रेष्ठ जनों की भाषा आर्यभाषा है। जातिभाषा दो रूपों से युक्त होती है—संस्कृत और प्राकृत भाषा। संस्कृत भाषा संस्कारयुक्त होती है और प्राकृत भाषा जनभाषा होती है। भरत ने सात प्रकार की प्राकृत भाषाओं का उल्लेख किया है—मागधी, आवन्ती, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, बाह्लीका और दाक्षिणात्या[3]। इनके अतिरिक्त सात विभाषाएँ भी बतायी गयी हैं—शकारी, आभीरी, चाण्डाली, शबर, द्रविड़ एवं आन्ध्रभाषा। योन्यन्तरी भाषा पशु-पक्षियों की भाषा है।

नाटयशास्त्र के अनुसार वाचिक अभिनय के अन्तर्गत शब्द, छन्द, लक्षण, अलङ्कार, गुण, दोष आदि पर भी विचार किया जाता है। नाटय में शब्दों के साथ छन्दों का ज्ञान आवश्यक है। नाटय में लक्षण महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। भरत ने छत्तीस लक्षणों का निरूपण किया है। लक्षणों के बाद अलङ्कारों का विवेचन किया गया है। भरत ने चार अलङ्कारों का निरूपण किया है—उपमा, रूपक, दीपक और यमक। इसके बाद दस काव्यदोषों और दस गुणों की विवेचना की गयी है।

आहार्य-अभिनय

नाटयशास्त्र के अनुसार अवस्था के अनुरूप प्रकृतिगत वेष-विन्यास,

१. नाटयशास्त्र (गायकवाड़), भाग २ पृ० २९१–२९४, ३९६–३९७।
२. वही, १८।२६।
३. वही, १८।४।

अलङ्कार-परिधान, अङ्ग-रचना आदि को 'आहार्य' अभिनय कहा जाता है[1]। अभिनेता देश-काल के अनुरूप वेश-भूषा धारण कर और अङ्गों के वर्ण-विन्यास से युक्त होकर विभिन्न चेष्टाओं के द्वारा प्रेक्षकों के समक्ष भावों को अभिव्यक्त करता है, जिससे प्रेक्षकों में रसानुभूति होती है। भट्टि, कालिदास, भारवि आदि महाकवि आहार्य-कल्पना से पूर्ण परिचित थे। उनके अनुसार नैसर्गिक सुन्दरता होने पर आहार्य की आवश्यकता नहीं है। नन्दिकेश्वर के अनुसार हार, केयूर, वेश-भूषा आदि प्रसाधनों से सुसज्जित होकर किया जाने वाला अभिनय 'आहार्य' कहलाता है[2]। शार्ङ्गदेव और जयसेनापति भी इसी पक्ष को स्वीकार करते हैं।

भरत के अनुसार आहार्य अभिनय के चार प्रकार हैं—पुस्त, अलङ्कार, अङ्ग-रचना और सञ्जीव[3]। जयसेनापति ने इन्हें आहार्य अभिनय का भाग माना है।

'पुस्त' का अर्थ है—संयोजन अर्थात् सांकेतिक पदार्थों की रचना। शैल, यान, विमान, चर्म, ध्वज, दण्ड, गज, रथ आदि अलौकिक पदार्थों के सांकेतिक माडलों के द्वारा रङ्गभूमि पर सारूप्य-सृजन होता है। भरत के अनुसार पुस्त-विधि के तीन रूप हैं—सन्धिम, व्याजिम और वेष्टिम या चेष्टिम[4]। **'सन्धिम'** का अर्थ है—जोड़ना या बाँधना। जो वस्तुएँ परस्पर जोड़कर रङ्गोपयोगी बनायी जाती हैं, उसे 'सन्धिम-पुस्त' कहते हैं। यान्त्रिक साधनों के द्वारा भौतिक पदार्थों का रङ्गमञ्च पर प्रस्तुत करना **'व्याजिम'** पुस्त कहलाता है। जिसमें किसी वस्तु के स्वरूप को वस्त्र आदि से लपेट कर प्रयोग किया जाता है उसे **'वेष्टिम'** कहते हैं। नाटच में इस पुस्त-विधि का प्रयोग शैल, यान, विमान, वाहन आदि को रङ्गमञ्च पर प्रस्तुत करने में किया जाता है[5]।

अलङ्कार—पुष्पमाला, आभूषण, वस्त्र आदि का अनेक प्रकार से समायोजन 'अलङ्कार' है। ये अलङ्कार पात्रों का एक मनोहारी प्रसाधन है। अलङ्कार के तीन प्रकार हैं—माल्यधारण, आभूषण-प्रसाधन और वस्त्र-विन्यास। माला के द्वारा शरीर का प्रसाधन पाँच प्रकार का होता है—

---

१. नानावस्थाप्रकृतयः पूर्वं नेपथ्यसाधिताः।
अङ्गादिभिरभिव्यक्तिमुपगच्छन्त्ययत्नतः॥
आहार्याभिनयो नाम······। (नाटचशास्त्र २१।२-३)

२. अभिनयदर्पण, ४०।

३. चतुर्विधं तु नेपथ्यं पुस्तोऽलङ्कार एव च।
तद्यङ्गरचना चैव ज्ञेयं सञ्जीवमेव च॥ (नाटचशास्त्र २१।५)

४. नाटचशास्त्र, २१।६।

५. वही, २१।७-९।

वेष्टित, वितत, संघात्य, ग्रन्थिम और प्रालम्बित। आभूषणों के द्वारा शरीर का प्रसाधन चार प्रकार का होता है—आवेध्य, बन्धनीय, प्रक्षेप्य और आरोप्य[1]। इन प्रसाधनों के द्वारा स्त्री और पुरुषों का देश, जाति, अवस्था आदि के अनुसार अलङ्करण होता है।

अङ्ग-रचना—अङ्ग-रचना आहार्य अभिनय का महत्त्वपूर्ण प्रकार है। इसके अन्तर्गत शरीर के अवयवों की रचना तथा केश-विन्यास आदि देश, जाति, अवस्था के अनुसार विभिन्न शैलियों में निष्पादित होते हैं। भरत का कहना है कि पहले पात्रों को अपने अङ्गों को रङ्गों से रंगना चाहिए, तदनन्तर प्रकृति एवं कार्य के अनुरूप वेष धारण करना चाहिए। नाटचशास्त्र में चार स्वाभाविक वर्णों का उल्लेख है—सित (श्वेत), पीत, नील और रक्त। इन वर्णों के परस्पर मिश्रण से अनेक अन्य वर्णों की योजना की जा सकती है[2]।

सञ्जीव—सञ्जीव आहार्य अभिनय का चतुर्थ प्रकार है। इसके अन्तर्गत द्विपद, चतुष्पद और अपद प्राणियों को रङ्गमञ्च पर प्रस्तुत करने का विधान बताया गया है। रङ्गमञ्च पर तीन प्रकार के प्राणियों का प्रवेश होता है। द्विपद मनुष्य और पक्षी आदि का तथा चतुष्पद गाय, घोड़ा, हिरण, सिंह आदि पशु और अपद अर्थात् बिना पैर वाले साँप आदि को प्रस्तुत करने की कल्पना की जा सकती है, किन्तु सिंह, सर्प आदि हिंसक प्राणियों के प्रवेश से कठिनाइयाँ उपस्थित हो सकती हैं। अतः उनका कृत्रिम रचना-विधान बताया गया है। नाटचशास्त्र में सञ्जीव शैली के अन्तर्गत 'पटी' की भी परिकल्पना की है। 'पटी' एक प्रकार का आवरण है, जिसका प्रयोग आवश्यकतानुसार किया जा सकता है[3]।

अभिनयदर्पण के अनुसार अभिनेत्री को बहुमूल्य वेश-भूषा किये हुए खिले हुए कमल की भाँति प्रसन्नमुख होना चाहिए। इसके अतिरिक्त अभिनेत्री को कांस्य-निर्मित, मधुर-ध्वनि से युक्त सुन्दर घुँघुरुओं को धारण करना चाहिए। अभिनेता और अभिनेत्री को देश, काल, जाति एवं अवस्था के अनुरूप वेश-भूषा धारण कर रङ्गमञ्च पर प्रवेश करना चाहिए। अग्निपुराण के अनुसार आहार्य अभिनय बुद्धि-प्रेरित अभिनय है।

नाटच-प्रयोग में लौकिक पदार्थों और जीवों का रूप-सादृश्य जीवन प्रदान करता है। इससे अभिनय का महत्त्व बढ़ जाता है। इस प्रकार आहार्य अभिनय नाटच-प्रयोग एवं सारूप्य-सृजन की एक महत्त्वपूर्ण विधा है। इसके द्वारा दृश्यों को रङ्गमञ्च पर कृत्रिम रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

---

१. वही, २१।१०-१२।

२. नाट्यशास्त्र, २१।७८-८६।

३. वही, २१।१६२-१६३, १८६।

सात्त्विक अभिनय

सत्त्व मन को कहते हैं (**सत्त्वं मनः**)। सात्त्विक भावों से किया गया अभिनय 'सात्त्विक' अभिनय कहलाता है। सात्त्विक अभिनय मन की एकाग्रता के बिना सम्भव नहीं है। अभिनव के अनुसार सात्त्विक भाव के पूर्ण होने पर ही नाट्य-प्रयोग प्रशंसनीय होता है। नाट्य ही रस है और रस का अन्तरङ्ग सात्त्विक है तथा सात्त्विक में ही नाट्य प्रतिष्ठित है[1]। नन्दिकेश्वर ने सात्त्विक अभिनय को शिव रूप माना है (**तं नुमः सात्त्विकं शिवम्**)[2]। नन्दिकेश्वर के अनुसार भावज्ञ व्यक्तियों के द्वारा सात्त्विक भावों के माध्यम से किया गया अभिनय 'सात्त्विक' अभिनय कहलाता है[3]। नाट्यशास्त्र में सात्त्विक अभिनय के अन्तर्गत स्त्री-पुरुषों के शृङ्गार सम्बन्धी अनेक प्रकार के हाव-भावों आदि का वर्णन किया गया है। स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय—ये आठ सात्त्विक भाव कहे गये हैं[4]। इन सात्त्विक भावों का प्रयोग विभिन्न अभिनयों में अलग-अलग विधि से किया जाता है। सात्त्विक भावों के द्वारा अभिनेता मुख से शब्द उच्चारण किये बिना ही सामाजिकों के समक्ष अपने मनोगत भावों को प्रकट कर सकता है।

सामान्याभिनय

नाट्यशास्त्र के अनुसार आङ्गिक, वाचिक और सात्त्विक अभिनयों का सम्मिलित रूप सामान्याभिनय है। आङ्गिकादिगत समस्त अभिनयों की विशेषताओं का सूचन सामान्याभिनय की विशेष प्रणाली से होता है। शिर, हस्त, कटी, वक्ष, जङ्घा, ऊरु, करण आदि के द्वारा सम्पाद्य अभिनय का समानीकृत प्रयोग के द्वारा सामान्य अभिनय सम्पन्न होता है[5]। अभिनवगुप्त के अनुसार एक गान्धिक जब किसी किराने की दुकान से विविध गन्ध-द्रव्यों को लाकर उनका सन्तुलित प्रयोग करता है तो इनसे एक सुगन्धित पदार्थ (इत्र आदि) बनता है; उसी प्रकार विविध अभिनयों के सन्तुलित प्रयोग से सामान्याभिनय सम्पन्न होता है[6]। कोहल के अनुसार सामान्याभिनय छः प्रकार के होते हैं—

---

१. नाट्यं सत्त्वे प्रतिष्ठितम्। (नाट्यशास्त्र, २२।१)

२. अभिनयदर्पण, १।

३. सात्त्विकः सात्त्विकैर्भावैर्भावज्ञेन विभावितः। (अभिनयदर्पण, ४०)

४. नाट्यशास्त्र, ७।९५।

५. सामान्याभिनयो नाम ज्ञेयो वागङ्गसत्त्वजः। (नाट्यशास्त्र, २४।१)
शिरोहस्तकटीवक्षोजङ्घोरुकरणेषु यत्।
समः कर्मविभागो यः सामान्याभिनयस्तु सः॥
(नाट्यशास्त्र, २४।७३)

६. अभिनवभारती, भाग ३ पृष्ठ १४८।

शिष्ट, काम, मिश्र, वक्र, संभूत और एकत्वयुक्त[1]। नाट्य-प्रयोग की दृष्टि से सामान्याभिनय का विशेष महत्त्व है।

चित्राभिनय

नाट्य-प्रयोग में चित्राभिनय का विशेष महत्त्व है। नाट्य-प्रयोग में प्रतीकों, कल्पनाओं, प्राकृतिक पदार्थों आदि के विशिष्ट अभिनयों के प्रयोग से सौन्दर्य एवं वैचित्र्य का सृजन होता है। चित्राभिनय मुख्य रूप से आङ्गिक अभिनय से सम्बद्ध होता है। आङ्गिक अभिनय के द्वारा ही चित्राभिनय को रूप दिया जाता है। लोक-व्यवहार में प्रसिद्ध आङ्गिक अभिनय का विशेष स्वरूप तथा प्राकृतिक एवं लौकिक पदार्थों को रङ्गमञ्च पर प्रस्तुत कर किया जाने वाला अभिनय 'चित्राभिनय' कहलाता है।

चित्राभिनय के द्वारा प्रभात, सन्ध्या, रात्रि, दिन, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, पर्वत, नदी, समुद्र, विद्युत्, उल्कापात, मेघगर्जन आदि प्राकृतिक रूपों की भव्यता; हेमन्त, शिशिर, शरद्, ग्रीष्म, वसन्त आदि ऋतुओं की मनोहारिता; प्राकृतिक पदार्थों की नानारूपता तथा मानव की मनोदशाओं को रूप देकर रङ्गमञ्च पर प्रत्यक्षवत् प्रस्तुत किया जाता है। प्रतीकों के विधानों के साथ-साथ सिंह-व्याघ्रादि पशुओं, शुक, सारिका, मोर, सारस आदि पक्षियों तथा भूत-पिशाचादि का भी संकेतों द्वारा विवरण प्रस्तुत किया जाता है।

इस प्रकार भरत ने चित्राभिनय के अन्तर्गत प्राकृतिक पदार्थों, ऋतुओं के प्रतीक विधान के साथ-साथ मानव की मनोदशाओं का भी चित्रात्मक शैली में अभिनीत करने की विधियों का निर्धारण किया है।

---

१. वही, भाग ३ पृ० १४६।

नव :

नृत्य, गीत और वाद्य

नृत्यकला

नाटचशास्त्र के अनुसार नृत्य स्वभाव से ही आह्लाद-व्यञ्जक होता है, मङ्गलकारी होता है तथा शोभा का जनक होता है। विवाह, जन्मोत्सव तथा अभ्युदय आदि के अवसर पर नृत्य को प्रवर्त्तित किया जाता है[1]। नृत्य-कला के अन्तर्गत जिन क्रियाओं का सम्पादन किया जाता है वे स्थान, चारी, करण, अङ्गहार और रेचक हैं। अतः पहले इनका विवेचन किया जा रहा है। स्थान, चारी, नृत्तहस्तादि करणों के ही तत्त्व हैं। स्थान और चारी का निरूपण तो पहले अभिनयाध्याय में किया जा चुका है, अतः करणों का विवेचन करते हैं।

करण—नाटचशास्त्र में एक पैर से किये जाने वाले अभिनय को 'चारी' और दो पैरों के सञ्चालन से किये जाने वाले अभिनय को 'करण' कहा गया है। सभी अङ्गहारों की निष्पत्ति करणों से होती है, अतः अङ्गहारों के पूर्व करणों का ज्ञान आवश्यक है। नृत्य में हस्तों एवं पादों की गतियों को 'करण' कहा गया है[2]। नाटचशास्त्र में एक सौ आठ करणों का निर्देश है[3]। इन करणों का उपयोग विशेष रूप से नृत्य के अभ्यास में किया जाता है, किन्तु कभी-कभी नाटच के मध्य बचे हुए समय की पूर्त्ति के लिए भी किया जाता है। इनके अतिरिक्त युद्ध-नियुद्ध, बाहुयुद्ध और नृत्य-सौष्ठव के लिए भी करणों का प्रयोग होता है[4]। इनकी क्रियान्विति का दर्शन 'चिदम्बरम्' एवं 'तञ्जौर' के मन्दिरों की मूर्त्तिकलाओं में किया जा सकता है। 'चिदम्बरम्' के मन्दिर में नटराज मन्दिर के पूर्व एवं पश्चिम के गोपुरों पर चट्टानों को काटकर 'करण' बनाये गये हैं। प्रत्येक चित्र के नीचे तत्सम्बन्धी श्लोक भी दिये गये हैं। इसी प्रकार तञ्जौर के मन्दिर में एक दूसरी कृति है······इसकी डचोढ़ी में चारों ओर करणों की स्थितियाँ खोदी गयी हैं, जो संख्या में लगभग इक्यासी हैं। इनके अतिरिक्त सत्ताईस करण और भी हैं, किन्तु वे अपने रूप में उत्कीर्ण नहीं हैं। इन स्थितियों में प्रत्येक के चार हाथ हैं, जो शिव के नृत्य को सूचित करते हैं।

---

१. नाटचशास्त्र, ४।२७०–२७१।

२. हस्तपादसमायोगो नृत्यस्य करणं भवेत्। (नाट्यशास्त्र ४।२९–३०)

३. नाट्शास्त्र (चौखम्बा), ४।३४–५५।

४. अभिनवभारती, भाग १ पृ० ९४।

प्रत्येक स्थिति लगभग तीन फुट की है। नाटच के वर्णन में ये चिदम्बर के मन्दिर की स्थितियों से भी बढ़कर हैं[1]। इन करणों का विस्तृत विवेचन अभिनवभारती में किया गया है। करण दो अवस्थाओं से गुजरते हैं—चलित और स्थित। इनमें 'चलित' करणों में चारियों का प्रयोग होता है। इनमें शरीर के अङ्गों की विभिन्न चेष्टाएँ होती रहती हैं। 'स्थित' करणों में स्थानकों का प्रयोग होता है, जिनमें एक नर्तक एक स्थान पर स्थित रहते हुए विविध करणों का प्रयोग करता है। शिव ने इन करणों का उपदेश नन्दिकेश्वर को और नन्दिकेश्वर ने ताण्डव नृत्त में उनका संयोजन किया।

अङ्गहार

नाट्यशास्त्र के अनुसार समस्त अङ्गहारों की निष्पत्ति करणों से होती है। छः, सात, आठ तथा नौ करणों के मेल से अङ्गहार बनते हैं[2]। नृत्य करते समय अङ्गहारों के तरह-तरह के प्रयोग होते हैं। हाथ, पैर, कटि आदि के बहुत से सञ्चालन मिलकर एक अङ्गहार बनते हैं। अभिनवगुप्त के अनुसार अङ्गों का समुचित संचालन 'अङ्गहार' कहलाता है। भरतार्णव में चित्र-विचित्र ताल, लय एवं करणों के संयोग से बतायी गयी है[3]। नन्दिकेश्वर ने भरतार्णव में अङ्गहारों की निष्पत्ति के सम्बन्ध में अन्य मतों का भी उल्लेख किया है। तदनुसार कुछ विद्वानों के मतानुसार प्रातःकालीन कार्यक्रम में किये जाने वाले नृत्य को अङ्गहार कहते है[4]। कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि अभिनय की एक भाग की समाप्ति के पश्चात् हाव-भाव युक्त मुद्राओं में किया जाने वाला नर्तन (नृतिक्रम) 'अङ्गहार' है[5]। भरतार्णव में नौ प्रकार के अङ्गहारों का वर्णन है और प्रत्येक अङ्गहार का सम्बन्ध रस से जोड़ा गया है तथा वे अङ्गहार सौन्दर्यशास्त्र से भी सम्बद्ध हैं।

नाट्यशास्त्र में बत्तीस प्रकार के अङ्गहारों का निर्देश है। तालों की विशिष्ट गतियों के आधार पर उनको दो वर्गों में विभाजित किया जाता है।

---

१. संगीत-परम्परा और भरतार्णव (भारतीय साहित्य, पृ० ७२)।

२. सर्वेषामङ्गहाराणां निष्पत्तिः करणैर्यतः।
षड्भिः सप्तभिर्वापि अष्टाभिर्नवभिस्तथा।
करणैरिह संयुक्ता अङ्गहाराः प्रकीर्त्तिताः॥ (नाट्यशास्त्र ४।२९, ३३)

३. आश्चर्यशब्दवचनैस्तत्तत्तालयोद्यतैः।
करणानां मेलनं स्यादङ्गहारनृतिक्रमः॥ (भरतार्णव ९।५७९)

४. वदन्ति केचिद्विबुधा भरतार्णवविचक्षणाः।
प्रातर्नृत्तप्रकटनैरङ्गहारो विधीयते॥ (भरतार्णव ९।५८०)

५. एवं वदन्ति चापरे तयोरुत्पत्तिरिष्यते।
अर्थाभिनयमार्गेण सम्भूतो यो नृतिक्रमः॥ (भरतार्णव ९।५८१)

चाहे उसमें तीन पाद-प्रचार हो अथवा चार, प्रत्येक वर्ग में सोलह अङ्गहार होते हैं। इस प्रकार कुल बत्तीस अङ्गहार होते हैं। इनमें सोलह त्र्यस्र तालों को तीन प्रकार के लय के ठेकों के साथ निष्पादित किया जाता है और चतुरस्र तालों को चार प्रकार के लय से ठेकों के साथ निष्पादित किया जाता है। प्रत्येक अङ्गहार तथा नृत्य के चालन को निरन्तर क्रियाशील रखने वाली एवं स्थिति को प्रदर्शित करने वाली जो-जो वर्ण्य ताले हैं वे नाट्यशास्त्र एवं अन्य प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त नहीं होतें, किन्तु वे एक हस्तलेख में सुरक्षित हैं, जो सरस्वती महल तन्जौर के पुस्तकालय में है। उसका नाम 'संगीतमुक्तावली' है और उसके लेखक आचार्य देवेन्द्र हैं, किन्तु जो अङ्गहार भरतार्णव में दृष्टि-गोचर होते हैं वे उनसे पूर्णतया भिन्न हैं। भरतार्णव में वर्णित अङ्गहारों में विशिष्ट हाव-भावों का प्रदर्शन तथा प्रत्येक रूप का अपना सोद्देश्य प्रयोग अन्तर्निहित है। इन अङ्गहारों का नामकरण भी एक निश्चित वर्ण्य विषय तथा वर्ण्य रस के आधार पर किया गया है[1]।

नाट्यशास्त्र एवं अन्य ग्रन्थों में जो अङ्गहार शब्द प्रयुक्त है वह एक पारिभाषिक सीमा है, जिसमें नृत्य की आठ, नौ, दस और अधिक इकाइयों तथा परम शिव द्वारा नृत्य में परीक्षित एक सौ आठ करणों का प्रतिपादन किया गया है। प्रत्येक करणों में स्थितियों का मिश्रण, शिर एवं हस्त-पादादि का सञ्चालन और सोद्देश्य दृष्टिपात का संयोजन होता है तथा नृत्य के अभ्यास में करणों की आवश्यकता अनिवार्य होती है। इस प्रकार नाट्यशास्त्र में निर्दिष्ट बत्तीस अङ्गहार शिव की देन हैं और भरतार्णव में वर्णित अङ्गहार पार्वती की देन है।

ताण्डव और लास्य

नाटचशास्त्र में दो प्रकार के नृत्यों का वर्णन किया गया है—ताण्डव और लास्य। 'ताण्डव' पुरुषों का उद्धत नृत्य है और 'लास्य' पार्वती का सुकुमार नृत्य है। ताण्डव का सम्बन्ध शिव से है और लास्य का सम्बन्ध पार्वती से है। ताण्डव और लास्य की उद्भावना में शिव और पार्वती दोनों का योगदान रहा है। नाटचशास्त्र में तण्डु द्वारा उपदिष्ट पुरुष-प्रयोज्य उद्धत नृत्य को 'ताण्डव' नृत्य कहा गया है और पार्वती द्वारा उपदिष्ट स्त्री-प्रयोज्य सुकुमार नृत्य को 'लास्य' कहा गया है। 'ताण्डव' नृत्य वीररस-प्रधान होता है और लास्य में शृङ्गार रस की प्रधानता रहती है। ताण्डव नृत्य पुरुषों के लिए अधिक उपयुक्त माना जाता है, क्योंकि इसमें अङ्गसञ्चालन अत्यन्त कठोर और आवेशपूर्ण होता है, पदाघात काफी शक्तिशाली होते हैं; विराट् शक्ति के भिन्न-भिन्न रूपों का प्रदर्शन होता है। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे अङ्गहारों का प्रदर्शन होता है, जो स्त्रियों के द्वारा प्रयुक्त किये जाने पर असौन्दर्य प्रकट

---

१. आचार्य नन्दिकेश्वर और उनका नाट्य-साहित्य, पृ० १७२–१७३।

करते हैं[1]। लास्य नृत्य कोमलता का प्रतीक है, अतः उसका प्रयोग स्त्रियों द्वारा किये जाने पर लोक-रञ्जन होता है। वैसे दोनों नृत्य स्त्री-पुरुष दोनों के द्वारा किये जा सकते हैं।

संगीतरत्नाकर में ताण्डव और लास्य दोनों प्रकार के नृत्यों के तीन-तीन भेद बताये गये हैं—विषम, विकट और लघु। इनमें भालों, छुरियों और वाणों के मध्य रस्सियों से परिभ्रमण करना 'विषम' नृत्य है। रंग-बिरंगी विकृत वेश-भूषा के साथ नृत्य करना 'विकट' नृत्य कहलाता है और अल्प साधनों का अवलम्बन कर उछल-कूद कर नृत्य करना 'लघु' नृत्य कहा जाता है[2]। इनके अतिरिक्त ताण्डव और लास्य के अन्य भेद भी मिलते हैं। तदनुसार ताण्डव के दो भेद होते हैं—'पेलवि' और 'बहुरूपक'। इनमें अङ्गसंचालन 'पेलवि' और छेद-भेदादि भावों से सम्पन्न अभिनय 'बहुरूपक' कहलाता है। इसी प्रकार लास्य के भी दो भेद होते हैं—'छुरित' और 'यौवत'। नाना भावों को प्रदर्शित करते हुए नायक-नायिका का परस्पर आलिङ्गनादि-पूर्वक नृत्य करना 'छुरित' कहलाता है और अकेली नायिका का नृत्य 'यौवत' कहा जाता है[3]।

भरतार्णव में ताण्डव के दो प्रकार बताये गये हैं—शुद्धनाट्य और देशीनाट्य। इनमें शुद्धनाट्य के अन्तर्गत सात प्रकार के ताण्डव सम्मिलित हैं। उनके नाम हैं—दक्षिणभ्रमण, वामभ्रमण, लीलाभ्रमण, भुजङ्गभ्रमण, विद्युद्भ्रमण, लताभ्रमण और ऊर्ध्वताण्डव। ये सात शुद्ध ताण्डव कहे जाते हैं[4]। इनमें से प्रत्येक ताण्डव गति, करण, चारी और ताल से युक्त होता है। देशीनाट्य में पाँच प्रकार के ताण्डव सम्मिलित हैं—निकुञ्चित, कुञ्चित, आकुञ्चित, पार्श्वकुञ्चित और अर्धकुञ्चित—ये पाँच प्रकार के देशी ताण्डव हैं[5]। इनमें भी प्रत्येक ताण्डव गति, करण, चारी और ताल से युक्त होता है। इनके अतिरिक्त प्रेरणी, प्रेङ्खणी, कुण्डली, दण्डिक और कलश—ये पाँच प्रकार के लास्य बताये गये हैं। नन्दिकेश्वर के अनुसार इन पाँचों लास्यों का सम्मिश्रण 'चारीदर्पण' कहलाता है। गति, करण, चारी से युक्त शुद्ध और देशी ताण्डवों का संयोग 'चारीभूषण' कहा जाता है। इनमें शुद्ध नाट्य शिव के द्वारा और देशी नाट्य पार्वती के द्वारा प्रयुक्त किया गया था।

नाट्यशास्त्र में दस प्रकार के लास्यों का निर्देश है—गेयपद, स्थितपाठ्य, आसीन, पुष्पगण्डिका, प्रच्छेदक, त्रिगूढक, सैन्धव, द्विमूढक, उत्तमोत्तमक और

---

१. आचार्य नन्दिकेश्वर और उनका नाट्यसाहित्य, पृ० १७७।

२. विषमं विकटं लघ्वित्येतद् भेदत्रयं विदुः। (संगीतरत्नाकर ४।३१)

३. नर्तन-निर्णय।

४. भरतार्णव, १३।७०९–७१०।

५. वही, १३-७२१-७२२।

उक्तप्रत्युक्त[१]। इनके अतिरिक्त भरत ने 'भावित' और 'विचित्रपद' दो अतिरिक्त लास्याङ्गों का उल्लेख किया है।

१. **गेयपद**—इस लास्याङ्ग में रङ्गमञ्च पर बैठे हुए गायकों के द्वारा वीणा आदि तन्त्रीवाद्यों के साथ गाया जाता है।

२. **स्थितपाठ्य**—इसमें कामपीड़िता नायिका आसनस्थ होकर प्राकृत पाठ करती है।

३. **आसीन**—शोकमग्न नायिका का आतोद्य एवं आङ्गिकादि अभिनयों के बिना रङ्गमञ्च पर प्रस्तुत होना 'आसीन' कहा जाता है।

४. **पुष्पगण्डिका**—स्त्री का नरवेष में और पुरुष का स्त्रीवेष में वाद्यों के साथ विभिन्न छन्दों में गायन 'पुष्पगण्डिका' है।

५. **प्रच्छेदक**—अपने पति के अन्यासक्ति के कारण संतप्त सुन्दरी का वीणावादन के साथ गायन 'प्रच्छेदक' कहलाता है।

६. **त्रिगूढक**—स्त्री-वेषधारी पुरुष का अभिनय 'त्रिगूढक' कहलाता है।

७. **सैन्धव**—विस्मृत सङ्केत प्रिय को न पाकर वीणावादन आदि के साथ प्राकृत भाषा में गायन करना '**सैन्धव**' है।

८. **द्विमूढक**—रसभावपूर्ण चतुरस्र गीत का गायन 'द्विमूढक' है।

९. **उत्तमोत्तमक**—विरहिणी नायिका का पति से क्षुब्ध कटुतापूर्ण चित्र-विचित्र गायन करना 'उत्तमोत्तमक' कहलाता है।

१०. **उक्तप्रत्युक्त**—उपालम्भपूर्ण उक्ति-प्रत्युक्तिमय संभाषण 'उक्तप्रत्युक्त' कहलाता है।

११. **भावित**—काम-संतप्ता नारी का प्रियतम को स्वप्न में देखकर विविध भावों का प्रकाशन करना 'भावित' लास्याङ्ग होता है।

१२. **विचित्रपद**—विरहिणी नायिका का प्रियतम की प्रतिकृति को देखकर मनोविनोद करना 'विचित्रपद' लास्याङ्ग है।

नृत्य-प्रयोग—नृत्य का प्रायोगिक विश्लेषण मालविकाग्निमित्र में स्पष्ट रूप से किया गया है। मालविकाग्निमित्र के अनुसार नाट्य-प्रयोग के दो रूप हैं—क्रिया और संक्रान्ति। जब नर्तक स्वयं नृत्य प्रस्तुत करता है तो 'क्रिया' होती है और जब आचार्य शिष्य में नृत्य की शिक्षा का संक्रमण करता है तो सङ्क्रान्ति होती है[२]। नृत्य-प्रयोग के दो उद्देश्य हैं—अङ्गसौष्ठव और अभिनय। अभिनेता अभिनय द्वारा रसों और भावों का उद्भावन करता है और अङ्ग-सौष्ठव द्वारा अङ्गों की सुकुमारता का आकर्षक प्रदर्शन करता

---

१. वही; नाट्यशास्त्र (काव्यमाला) १८।१८२-१९३।

२. भरत और भारतीय नाट्यकला (मालविकाग्निमित्र १।१९), पृ० ४७५।

है। अङ्ग-सौष्ठव के प्रदर्शन के लिए चारी और नेपथ्य-विधान आवश्यक है[1]। हरिवंश में हल्लीसक नृत्य का प्रयोगात्मक वर्णन अत्यन्त विशद है। नाट्य के पूर्वरङ्ग-विधान में नृत्य का प्रयोग सौन्दर्य-वर्द्धन के लिए आवश्यक है।

गीत एवं वाद्य

नाट्य-प्रयोग में नृत्य के साथ गीत एवं वाद्य का प्रयोग एवं ज्ञान नितान्त आवश्यक है। भरत ने नाट्यशास्त्र में गीत को नाट्य के प्रमुख अङ्गों में अन्यतम माना है और वादन एवं नर्तन को उसका अनुगामी बताया है[2]। नाट्य में नृत्य, गीत एवं वाद्य का संतुलित प्रयोग भारतीय नाट्य-परम्परा की अपनी विलक्षणता है। नाट्य-प्रयोग में किसी प्रकार से उत्पन्न हुई नीरसता के निराकरण के लिए गीत-वाद्यादि की योजना आवश्यक है। अभिनवगुप्त और शारदातनय ने गीत को नाट्यतत्त्व का प्राण बताया है। विद्वानों का कहना है कि नृत्य, गीत, वाद्य का सम्मिलित रूप सङ्गीत एक वह कला है जिसके द्वारा प्रेक्षकों के हृदय में स्थित राग-द्वेषादि विगलित हो जाते हैं और शुद्ध सत्त्व का उदय होता है। उस समय राग-द्वेषादि से विनिर्युक्त मानव-हृदय स्वच्छ दर्पण के समान हो जाता है और उसकी चेतना आनन्द रूप हो जाती है तथा आनन्द ही रस है एवं यही आनन्द गीत की आत्मा है।

नाद और स्वर--नाद का अर्थ है अव्यक्त ध्वनि। यह ध्वनि ही नाद है और यह नाद ही स्फोट का व्यञ्जक है। जब उस ध्वनि में वर्णों का स्पष्ट उच्चारण सन्निविष्ट हो तो वह व्यक्त ध्वनि कहलाती है। इस प्रकार नाद से ही वर्ण व्यक्त होता है, वर्ण से पद और पद से वाक्य (वचन)। वचन से ही यह समस्त जागतिक व्यवहार चलता है। अतः समस्त जगत् इसी नाद के अधीन है। यह समस्त जगत् नादात्मक है। इस नाद के बिना न गीत है और न स्वर। वस्तुतः नाद से ही नृत्त भी प्रवृत्त होता है। नाद ही श्रुति है, क्योंकि उसका श्रवण होता है। श्रवणेन्द्रिय से ग्राह्य होने से ध्वनि ही श्रुति कहलाती है[3]। श्रुतियों से ही उत्पन्न अनुरणनात्मक स्वर होता है। इस प्रकार स्पष्ट श्रुतियाँ ही स्वरों की जननी हैं। इन श्रुतियों से ही सात स्वर उत्पन्न होते हैं—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद। भरत के अनुसार स्वर चार होते हैं—वादी, संवादी, अनुवादी और विवादी। इनमें वादी स्वर रागजनक होने के कारण राजा की तरह स्वरों में प्रधान होता है और अंश स्वर के समान स्वरों में प्रमुख होता है। संवादी स्वर मन्त्री की तरह वादी स्वर का सहायक होता है। दो स्वरों के मध्य में नौ और तेरह श्रुतियों का

---

१. वही।

२. नाट्यशास्त्र, ४।२६०–२६५।

३. संगीतरत्नाकर, १।२।२; बृहद्देशी १७; संगीतदामोदर, पृ० १६।

अन्तराल होता है, अतः उसे संवादी कहते हैं। विवादी स्वर वह है, जिनके मध्य में बीस श्रुतियों का अन्तराल होता है। वादी, संवादी और विवादी के अतिरिक्त स्वर अनुवादी होते हैं। इनकी स्थिति सेवक के समान हैं।

ग्राम--स्वरों के समूह को 'ग्राम' कहते हैं। भरत ने नाट्यशास्त्र में दो स्वरों का उल्लेख किया है—षड्ज और मध्यम। कुछ विद्वान् गान्धार ग्राम को भी मानते हैं, किन्तु इसका प्रयोग स्वर्ग में मानते हैं।

स्वर-वर्णालङ्कार--राग के प्रधान स्वर तीन हैं—ग्रह, अंश और न्यास। इनमें अंशस्वर के प्रयोग होने पर ही राग की अभिव्यक्ति होती है। भरत के अनुसार गान-क्रिया के चार वर्ण हैं—आरोही, अवरोही, स्थायी और संचरी। स्वरों के उत्थान होने पर आरोही, स्वरों का उतार (पतन) अवरोही, स्वरों का सम और स्थिर होना स्थायी और स्वरों का सञ्चरण सञ्चारी स्वर कहलाता है[१]। नाट्य के अलङ्कार छः प्रकार के होते हैं—उच्च, दीप्त, मन्द, नीच, द्रुत तथा विलम्बित।

गीति--नाट्यशास्त्र के अनुसार पदाश्रित गीतियाँ चार प्रकार की होती हैं—मागधी, अर्धमागधी, सम्भाविता और पृथुला। इनमें त्रिरावृत्ति पदों में गाये जाने वाली गीति 'मागधी' कहलाती है और 'मागधी' की अपेक्षा अर्धकाल में अर्थात् द्रुत लय में गाये जाने वाली गीति 'अर्धमागधी' तथा गुरु अक्षरों से युक्त गीति 'सम्भाविता' और लघु अक्षरों से युक्त गीति 'पृथुला' कहलाती है[२]। स्वराश्रित गीतियाँ पाँच हैं—शुद्ध, भिन्न, गौड़ी, वेसरा और साधारणी। इसमें अवक्र एवं ललित स्वरों से युक्त गीति 'शुद्धा' है। वक्र स्वरों एवं सूक्ष्म तथा मधुर गमकों से युक्त गीति 'भिन्ना' कहलाती है। गाढ़ त्रिस्थान गमकों और 'औहाटी' के कारण ललित स्वरों के द्वारा तीनों स्थानों में अखण्ड रूप से स्थिति 'गौड़ी' कहलाती है। चारों वर्णों में अतिरक्ति होने से वेगवान् स्वरों से रागों का गायन 'वेसरा' गीति है। उपर्युक्त चारों गीतियों की विशेषताओं से युक्त गायन करना 'साधारणी' गीति कही जाती है।

ताल, लय एवं यति--नृत्य, गीत, वाद्य तीनों कलाओं में 'ताल' का महत्त्व है। प्रतिष्ठार्थक 'तल्' धातु से 'ताल' शब्द निष्पन्न होता है, क्योंकि नृत्य, गीत, वाद्य तीनों 'ताल' में ही प्रतिष्ठित रहते हैं। लघु, गुरु, प्लुत आदि तालों में क्रिया के मान को बताते हैं। इस प्रकार ताल के द्वारा गीत एवं क्रिया के ताल का अवधारण होता है। भरत के अनुसार ताल का अवधारण न जानने वाला न गायक होता है, न वादक। ताल नृत्य, गीत एवं वाद्य तीनों को एक लयात्मक आधार प्रदान करता है। द्रुत, मध्य, विलम्बित—ये तीन लय हैं। लय का प्रवर्त्तन यति के द्वारा होता है। लय-प्रयोग के नियम को यति कहते

१. नाट्यशास्त्र, २८।७१; २९।१८–१९।

२. वही, २९।४७–५०।

हैं। नाटचशास्त्र के अनुसार यति तीन प्रकार की होती है—समा, स्रोतोगता और गोपुच्छा।

ध्रुवागान

स्वर, वर्ण, पद, वाक्य आदि का समुचित चयन, अलङ्कारों का प्रयोग, आङ्गिक भाव-भङ्गिमा और गीतों के उत्कर्ष के द्वारा 'ध्रुवागान' की रचना होती है। इसके प्रयोग के द्वारा नाट्य के पात्रों की गति-चेष्टाओं की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है। अतः नाट्य में अन्य गीतों की अपेक्षा ध्रुवा-गान की अधिक उपयुक्तता प्रतीत होती है। नारद आदि के द्वारा अनेक प्रकार से गीत के जिन अङ्गों का विनियोग किया गया है, उन्हें 'ध्रुवा' कहते हैं[१]। भरत ने ध्रुवागान के पांच प्रकार बताये हैं—प्रावेशिकी, नैष्क्रामिकी, आक्षेपिकी, प्रासादिकी और अन्तरा[२]।

प्रावेशिकी--नाट्य के प्रारम्भ में पात्र रङ्गमञ्च पर आकर विविध रसों एवं अर्थों से युक्त जिस ध्रुवागान का प्रयोग करते हैं, उसे **'प्रावेशिकी'** ध्रुवा कहते हैं[३]।

नैष्क्रामिकी—नाटच में अङ्क के अन्त में निष्क्रमण के समय निष्क्राम के गुणों से युक्त जिस ध्रुवागान का प्रयोग किया जाता है, उसे **'नैष्क्रामिकी'** ध्रुवा कहते हैं[४]।

आक्षेपिकी--नाटच-प्रयोग में विधिवेत्ता क्रम का उल्लंघन कर द्रुत लय से जिस ध्रुवागान का प्रयोग किया जाता है, उसे **'आक्षेपिकी'** ध्रुवा कहते हैं[५]।

प्रासादिकी—आक्षेपिकी ध्रुवा के प्रयोग में हुए क्रम-भङ्ग का आक्षेप से परिवर्त्तन करके जिस ध्रुवागान के द्वारा रङ्गमञ्च पर प्रसन्नता का सञ्चार किया जाता है, उसे **'प्रासादिकी'** ध्रुवा कहते हैं[६]। प्रासादिकी के द्वारा प्रेक्षकों का मनोरञ्जन होता है।

---

१. ध्रुवेति संज्ञितानि स्युर्नारदप्रमुखैर्द्विजैः।
यान्यङ्गानीह युक्तेषु तानि मे तन्निबोधत ॥ (नाटचशास्त्र, ३२।१)

२. प्रवेशाक्षेपनिष्क्रामप्रासादिकमथान्तरम्।
गानं पञ्चविधं विद्यात्.............. ॥ (नाटचशास्त्र, ३२।३१०)

३. नानारसार्थयुक्ता नृणां या गीयते प्रवेशे तु।
प्रावेशिकी तु नाम्ना विज्ञेया तु सा ध्रुवा तज्ज्ञैः ॥ (वही, ३२।११)

४. अङ्कान्ते निष्क्रमणे पात्राणां गीयते प्रयोगेषु।
निष्क्रामोपगतगुणां विद्यान्नैष्क्रामिकीं तां तु ॥ (वही, ३२।१२)

५. क्रममुल्लङ्घ्य विधिज्ञैः क्रियते या द्रुतलयेन नाटचविधौ।
आक्षेपिकी ध्रुवाऽसौ द्रुता स्थिता वापि विज्ञेया ॥ (वही, ३२।१३)

६. या च रसान्तरमुपगतमाक्षेपवशात् प्रसादयति।
रङ्गरागप्रसादजननी विद्यात् प्रासादिकीं तां तु ॥ (वही, ३२।१४)

अन्तरा––नाट्य-प्रयोग के समय पात्र के विषादयुक्त, मूर्च्छित, भ्रान्त, तथा वस्त्र एवं आभरण के अव्यवस्थित हो जाने पर दोष-प्रच्छादन के लिए जिस ध्रुवागान का प्रयोग किया जाता है, उसे 'अन्तरा' ध्रुवा कहते हैं[1]। इस गान के प्रयोग से प्रेक्षकों का ध्यान गाने की ओर आकृष्ट हो जाता है, जिससे दोष का प्रच्छादन हो जाता है।

वाद्य

वाद्य सङ्गीत की एक महत्त्वपूर्ण विधा है। नाट्य में वाद्य का प्रयोग आवश्यक बताया गया है। गीत और वाद्य का समुचित प्रयोग होने पर नाट्य-प्रयोग में किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़ती। नाट्यशास्त्र के अनुसार चार प्रकार के वाद्य होते हैं—तत, सुषिर, अवनद्ध और घन[2]। ये वाद्य विभिन्न शैलियों में बनाये एवं बजाये जाते हैं। इनमें तार वाले तन्त्रीवाद्यों को 'तत-वाद्य', फूंककर बजाये जाने वाले बाँसुरी आदि को 'सुषिरवाद्य', चमड़े से मढ़े हुए मृदङ्ग आदि को 'अवनद्ध वाद्य' और कांस्य आदि धातुओं से निर्मित करताल आदि वाद्यों को 'घनवाद्य' कहते हैं। नाट्य-प्रयोग में इनमें से कभी तत एवं सुषिर वाद्यों का, कभी अवनद्ध वाद्यों का और कभी सभी प्रकार के वाद्यों का प्रयोग होता था।

तन्त्रीवाद्य––तन्त्रीवाद्यों में वीणा का सर्वाधिक महत्त्व है। वीणा की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती हैं। वीणा-वादन में नारद और तुम्बुरु अत्यन्त प्रसिद्ध थे। नारद ने वीणा के उन्नीस भेद बताये हैं। पूर्वरङ्ग-विधि में बहिर्गीतों के विधान में वीणा-वादन का प्रमुख स्थान था। उस समय अनेक प्रकार के बोलों एवं लयों के साथ इसका प्रयोग किया जाता था[3]। चित्रा नामक वीणा में सात तार होते थे और अंगुलियों से उनका वादन किया जाता था और विपञ्ची वीणा में नव तार होते थे, उनका वादन कोण के द्वारा किया जाता था। शाङ्र्गदेव के अनुसार 'घोषका' एकतन्त्री वीणा है। संगीतरत्नाकर में 'मत्तकोकिला' नामक वीणा का उल्लेख है, जिसमें इक्कीस तार होते थे।

सुषिरवाद्य—सुषिरवाद्यों में 'वेणु' या 'वंशी' का प्रमुख स्थान है। वंशी को बाँसुरी भी कहते थे। बाँसुरी-वादन में मतङ्गमुनि का मत प्रमाण माना जाता है। बाँसुरी बाँस की बनाई जाती है[4]। बाँसुरी-वादन में श्रीकृष्ण का

---

१. विषण्णे मूर्च्छिते भ्रान्ते वस्त्राभरणसंयमे।
दोषप्रच्छादना या सा गीयते सान्तरा ध्रुवा ॥ (नाट्यशास्त्र, ३२।

२. ततं चैवावनद्धं च घनं सुषिरमेव च।
चतुर्विधं तु ज्ञेयमातोद्यं लक्षणान्वितम् ॥ (वही, २८।१)

३. वही, २८।१७।

४. वही, ३०।५–१०।

प्रमुख स्थान था। उनकी बाँसुरी की आवाज सुनकर जड़-चेतन सभी मोहित हो जाते थे। बाँसुरी में सात छिद्र होते थे।

अवनद्धवाद्य—चमड़े से मढ़े हुए वाद्य को अवनद्धवाद्य कहते हैं। अवनद्ध वाद्यों का अपर नाम 'भाण्डवाद्य' अथवा भाण्ड है। भरत ने अवनद्धवाद्यों के के लिए 'पुष्करवाद्य' संज्ञा दी है। नाटचशास्त्र में पुष्करवाद्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक कथा वर्णित है। तदनुसार एक बार स्वाति मुनि किसी अनध्याय के दिन पानी लाने के लिए सरोवर पर गये। वहाँ पर वे कमल के पत्तें पर गिरते हुए वर्षा की बूँदों की ध्वनि को सुनकर आश्चर्यचकित हुए। उसी ध्वनि के आधार पर उन्होंने 'पुष्करवाद्य' की कल्पना की। तब विश्वकर्मा से उन्होंने मृदङ्ग, पणव, दर्दुर आदि भाण्डवाद्यों का निर्माण कराया[1]। भरतार्णव में चमड़े में मढ़े हुए वाद्यों में मृदङ्ग, दर्दुर, ढक्का, डमरू आदि वाद्यों का उल्लेख है। डमरू भगवान् शङ्कर का प्रमुख वाद्य था। नन्दिकेश्वर के अनुसार डमरू की ध्वनि से ही सांगीतिक स्वरों एवं तालों की उत्पत्ति हुई है। नाटच-प्रयोग में पुष्करवाद्यों के प्रयोग का सर्वाधिक महत्त्व बताया गया है।

भरत के अनुसार अवनद्धवाद्यों का प्रौढ़तम स्वरूप पुष्करवाद्य है। भरत ने पुष्करवाद्य के तीन अङ्ग बताये हैं—वामक, सव्यक और ऊर्ध्वक। उनके अनुसार पुष्करवाद्य पर बजाये जाने वाले सोलह वर्ण होते हैं—क, ख, ग, घ, ट, ठ, ड, ढ, त, थ, द, ध, म, र, ल, ह—ये सोलह वर्ण हैं। कुशल वादक इन्हीं वर्णाक्षरों के मेल से अनेक प्रकार के बोलों का निर्माण करते हैं। वर्णों की उत्पत्ति के पाँच प्रकार हैं—समपाणि, अर्धपाणि, अर्धार्धपाणि, पार्श्वपाणि और प्रदेशिनी। पुष्करवाद्यों के चार मार्ग हैं—आलिप्त, अड्डित, गोमुख और वितस्त। ये चारों पुष्कर-वादन की चार विभिन्न शैलियाँ हैं। भरत के अनुसार पुष्करवाद्यों पर बजाये जाने वाले छः करण हैं—रूप, कृतप्रतिकृत, प्रतिभेद, रूपशेष, ओघ तथा प्रतिशुक्ल। तीन यति हैं—समा, स्रोतोगता, गोपुच्छा तथा तीन लय हैं—द्रुत, मध्य और विलम्बित। तत्त्व, अनुगत और ओघ—ये तीन गत (त्रिगत) हैं। भरत के अनुसार तीन प्रहार हैं—निगृहीत, अर्धनिगृहीत और मुक्त। इन्हीं को त्रिप्रहार कहते हैं। पुष्करवाद्यों में बोल बजाने हेतु पाँच पाणि बताये गये हैं—समपाणि, अर्धपाणि, अर्धार्धपाणि, पार्श्वपाणि और प्रदेशिनीजन्य। इन्हें ही पञ्चपाणि कहते हैं। पुष्कर-वादक की चार श्रेणियाँ हैं—वादक, मुखरी, प्रतिमुखरी और गीतानुग[2]। पुष्करवाद्य के सम्बन्ध में ग्रह के तीन प्रकार निर्दिष्ट हैं—शम्या, ताल और आकाश।

---

१. आचार्य नन्दिकेश्वर और उनका नाटच-साहित्य, पृ० २१९।

२. वही।

नाटचशास्त्र के अनुसार नर्तकी के रङ्गमञ्च पर प्रवेश के समय पुष्कर-वाद्य का वादन होता था। पुष्करवाद्य का वादन अङ्गहारों के प्रयोग की दशा में तथा पूर्वरङ्ग के विधान में आवश्यक बताया गया है। नाटचशास्त्र के अनुसार पुष्करवाद्य के प्रथम प्रयोक्ता स्वाति हैं। पुष्करवाद्यों में मृदङ्ग प्रमुख माना जाता है। मृदंग देवताओं का अत्यन्त प्रिय वाद्य था। मृदंग से अनेक पुष्करवाद्यों का विकास हुआ है। पखावज, मुरज, तबला आदि इसी के विकसित रूप हैं।

घनवाद्य--कांस्य (धातु) से निर्मित झाँझ, करताल, घण्टा आदि घनवाद्य कहे जाते हैं।

दस :

नाट्यमण्डप एवं रङ्गमञ्च

प्रेक्षागृह

नाटचशास्त्रीय ग्रन्थों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि प्राचीन नाट्य-प्रदर्शन के लिए प्रेक्षागृह (नाट्यशालाएँ) नहीं होते थे। नाटक का अभिनय प्रायः खुले प्राङ्गण में किया जाता था अथवा मन्दिर में अस्थायी रूप से बनायी गई रङ्गशाला में। राजप्रासाद में प्रेक्षागृह हुआ करते थे। कालिदास के मालविकाग्निमित्र से पता चलता है कि उस समय राजप्रासाद में रङ्गशालाएँ होती थीं, जिनमें अभिनय एवं नृत्य की योजना की जाती थी।

नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में भरत का नाट्यशास्त्र सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। इसमें नाट्य के सभी अङ्गों पर विचार किया गया है। नाट्यशास्त्र के अनुसार अभिनय के लिए प्रेक्षागृह तीन प्रकार का होता है--विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र। ये ही तीनों प्रकार के नाट्यमण्डप ज्येष्ठ, मध्यम और अवर कहे गये हैं अर्थात् विकृष्ट नाट्यमण्डप ज्येष्ठ (उत्तम), चतुरस्र नाट्यमण्डप मध्यम तथा त्र्यस्र नाट्यमण्डप अवर (निकृष्ट) होता है। इनमें ज्येष्ठ नाट्यमण्डप देवताओं के लिए होता है और इसकी लम्बाई एक सौ आठ (१०८) हाथ की होती है। मध्यम नाट्यमण्डप चौसठ हाथ का होता है। अवर नाट्यमण्डप त्रिभुजाकार और बत्तीस हाथ का होता है। इस प्रकार नाट्यमण्डप तीन प्रकार के ही होते हैं। ऐसा आकार के आधार पर ज्येष्ठता आदि का निर्धारण करने वाले कुछ आचार्यों का मत है।

अन्य आचार्य उपर्युक्त विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र तीनों प्रकारों के परिमाण के आधार पर प्रत्येक के ज्येष्ठ, मध्यम और अवर भेद से तीन-तीन प्रकार का मानते हैं। उन्होंने 'हस्तदण्डसमाश्रयम्' का अर्थ 'हाथभर का दण्ड' ऐसा अर्थ कल्पित कर नौ प्रकार का प्रेक्षागृह माना है। उनके अनुसार 'हाथभर का दण्ड' अर्थ लेने पर हाथ के प्रमाण (नाप) के आधार पर नौ प्रकार के प्रेक्षागृह कल्पित किये जा सकते हैं--

(१) विकृष्ट प्रेक्षागृह—

१. ज्येष्ठ (उत्तम)--१०८ × ६४ हाथ।

२. मध्यम--६४ × ३२ हाथ।

३. अवर (कनिष्ठ)--३३ × १६ हाथ।

(२) चतुरस्र प्रेक्षागृह—

१. ज्येष्ठ--१०८×१०८ हाथ।

२. मध्यम--६४×६४ हाथ।

३. कनिष्ठ--३२×३२ हाथ।

(३) त्र्यस्र प्रेक्षागृह—

१. ज्येष्ठ--१०८ हाथ समत्रिबाहु (त्रिभुजाकार)।

२. मध्यम--६४ हाथ समत्रिबाहु (,,)।

३. अवर--३२ हाथ समत्रिबाहु (,,)।

कुछ आचार्य 'हस्तदण्डसमाश्रयम्' में हाथ और दण्ड दोनों को अलग-अलग पद मानते हैं। भरत के अनुसार चार हाथ का दण्ड होता है (चतुर्हस्तो भवेद्दण्डः)। इस प्रकार हाथ के प्रमाण के आधार पर नौ भेद और उसी प्रकार दण्ड के प्रमाण के आधार पर नौ भेद—कुल अठारह प्रकार के नाट्यमण्डप होते हैं। किन्तु अभिनवगुप्त इतने अधिक भेदों को प्रयोग की दृष्टि से व्यावहारिक नहीं मानते। शारदातनय ने भरत के अनुसार विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र तीन प्रकार के प्रेक्षागृहों का उल्लेख किया है, किन्तु उन्होंने तीन प्रेक्षागृहों के अतिरिक्त 'वृत्त' नामक एक अतिरिक्त प्रेक्षागृह की भी परिकल्पना की है।

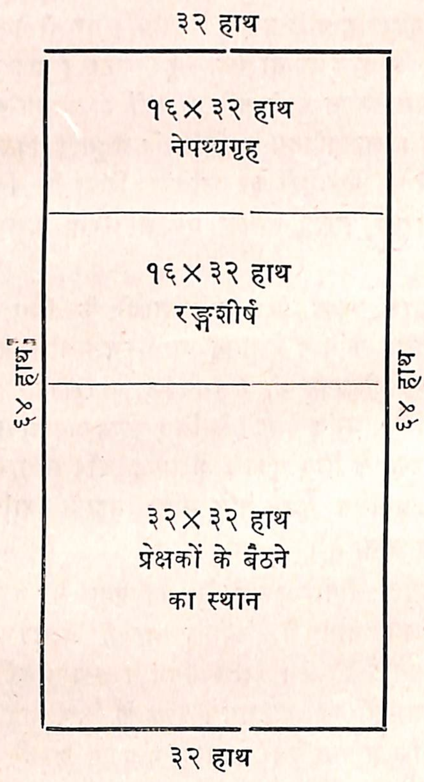
भरत के अनुसार ज्येष्ठ प्रेक्षागृह देवताओं के लिए, मध्यम प्रेक्षागृह राजाओं के लिए तथा कनिष्ठ प्रेक्षागृह साधारण प्रजाओं के लिए होता है। अभिनवगुप्त ने ज्येष्ठ प्रेक्षागृह को युद्ध-नियुद्ध, मार-काट, भगदड़, उल्कापात आदि दृश्यों वाले डिम आदि रूपकों के लिए उपयुक्त माना है। राजा आदि के चरित्र वाले नाटकों के लिए मध्यम प्रेक्षागृह और साधारण लौकिक जीवन की विकृतियों को प्रदर्शित करने वाले भाण, प्रहसन आदि रूपकों में अवर प्रेक्षागृह को उचित माना है।

भरत ने उपर्युक्त तीनों प्रकार के प्रेक्षागृहों में मध्यम आकार वाले प्रेक्षागृह को सर्वोत्तम माना है, क्योंकि मध्यम प्रेक्षागृह में संवाद, गीत आदि स्पष्टतया सुनाई देते हैं। अभिनवगुप्त ने अत्यन्त बड़े और अत्यन्त छोटे परिमाण वाले प्रेक्षागृहों को नाट्याभिव्यक्ति के लिए अनुपयुक्त बताया है। उनका कहना है कि अत्यन्त बड़े प्रेक्षागृह में दृश्य अच्छी तरह दिखाई नहीं देते, पाठ्य संवादी गीत-वाद्य का अच्छी तरह प्रयोग सुनाई न देने से विस्वर हो जाते हैं, भावों की अभिव्यक्ति स्पष्ट नहीं हो पाती और अत्यन्त छोटे प्रेक्षागृह में उच्चस्वर से उच्चरित पाठ्य समीपवर्ती होने के कारण माधुर्य को खो देते हैं।

भरत मुनि ने विकृष्ट मध्यम आकार वाले प्रेक्षागृह को प्रशस्त मानते हुए नाट्यशास्त्र में उसका विस्तार से वर्णन किया है। भरत के अनुसार

विकृष्ट (आयताकार) मध्यम प्रेक्षागृह चौसठ हाथ लम्बा और बत्तीस हाथ चौड़ा होता है। प्रथम समस्त भूमिखण्ड को दो भागों में विभाजित करे। इस प्रकार ३२×३२ के दो खण्ड बने। इनमें आगे के आधे भाग में प्रेक्षकों के बैठने की व्यवस्था करे। पीछे का आधा भाग पुन: दो खण्डों में विभाजित करे। इस प्रकार पीछे के भूमिभाग के १६×३२ हाथ के दो भाग बनेंगे। इसके आधे भाग १६×३२ हाथ वाले भाग रङ्गशीर्ष प्रकल्पित करे और पीछे के शेष १६×३२ हाथ वाले भाग में नेपथ्यगृह बनाये। इस प्रकार भरत के अनुसार प्रेक्षागृह का स्वरूप इस प्रकार होगा—

भरत के अनुसार विकृष्ट (आयताकार) मध्यम नाट्यमण्डप (६४×३२) का स्वरूप



रङ्गपीठ एवं रङ्गशीर्ष

भरतमुनि ने प्रेक्षागृह के विभिन्न भागों की प्रकल्पना के प्रसङ्ग में **'सममर्धविभागेन रङ्गशीर्षं प्रकल्पयेत्'** श्लोकार्द्ध का उल्लेख किया है। नाट्यशास्त्र के काशी संस्कृत सीरीज वाले संस्करण में उपर्युक्त श्लोकार्ध के स्थान पर **'तस्यार्द्धेन भागेन रङ्गशीर्षं प्रकल्पयेत्'** पाठ मिलता है। दोनों पाठों में

'रङ्गशीर्ष' शब्द एकवचन में प्रयुक्त है। अतः 'रङ्गशीर्ष' एक शब्द है और रङ्गपीठ रङ्गशीर्ष का पर्यायवाची शब्द है।

कुछ व्याख्याकार रङ्गशीर्ष शब्द में समाहारद्वन्द्व समास मानकर उसका अर्थ रङ्ग और शीर्ष करते हैं (**रङ्गश्च शीर्षश्च रङ्गशीर्षम्**)। उनका कहना है कि 'रङ्ग' शब्द 'रङ्गपीठ' का वाचक है और 'शीर्ष' शब्द 'रङ्गशीर्ष' का बोधक है। वे 'सममर्धविभागेन' तथा 'तस्यार्धेन विभागेन' के स्थान पर 'तस्याप्यर्धार्धभागेन' पाठ मान कर उस द्विधाभूत पृष्ठभाग के १६×३२ हाथ वाले भाग को भी दो भागों में विभाजित कर ८×३२ हाथ के एक भाग में रङ्गपीठ और ८×३२ हाथ के दूसरे भाग में रङ्गशीर्ष की कल्पना करते हैं।

किन्तु डॉ० घोष और सुब्बाराव प्रभृति विद्वानों ने रङ्गशीर्ष शब्द को एक ही शब्द मानकर रङ्गपीठ को रङ्गशीर्ष का पर्याय स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि रङ्गपीठ और रङ्गशीर्ष दो पर्यायवाची हैं। चाहे उसे रङ्गपीठ कहें अथवा रङ्गशीर्ष; दोनों एक ही बात है। वे अपने इस विचार-धारा के समर्थन में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं—

१. नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में नाट्यमण्डप की रक्षा के प्रसङ्ग में 'रङ्गपीठ' का दो बार उल्लेख हुआ है। 'रङ्गशीर्ष' का उल्लेख नहीं है[१]।

२. द्वितीय अध्षाय में नाट्यमण्डप के विभिन्न विभागों के निर्देशन के प्रसङ्ग में 'रङ्गशीर्ष' शब्द का उल्लेख है, 'रङ्गपीठ' का नहीं[२]।

३. द्वितीय अध्याय में ही 'रङ्गशीर्ष' के निर्माण के प्रसङ्ग में 'रङ्गशीर्ष शब्द का उल्लेख है, 'रङ्गपीठ' का नहीं[३]।

४. द्वितीय अध्याय में चतुरस्र नाट्यमण्डप के निर्माण के प्रसङ्ग में 'रङ्गपीठ' शब्द का चार बार और 'रङ्गशीर्ष' का एक बार उल्लेख है[४]।

५. इसी प्रकार द्वितीय अध्याय में त्र्यस्र नाट्यमण्डप के निरूपण के अवसर पर 'रङ्गपीठ' का दो बार उल्लेख है, रङ्गशीर्ष का नहीं[५]।

इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर डॉ० घोष एवं सुब्बाराव आदि ने 'रङ्गपीठ' और 'रङ्गशीर्ष' शब्दों को समानार्थक माना है। भरत का भी यही अभिप्राय था। इसीलिए उन्होंने कहीं 'रङ्गपीठ' शब्द का उल्लेख किया है और कहीं 'रङ्गशीर्ष' शब्द का। इस प्रकार दोनों अलग-अलग अर्थ के वाचक अलग-अलग शब्द नहीं अपितु दोनों समानार्थक पर्यायवाची हैं।

---

१. नाट्यशास्त्र, १।९६-९७।

२. नाट्यशास्त्र, २।४०-४१।

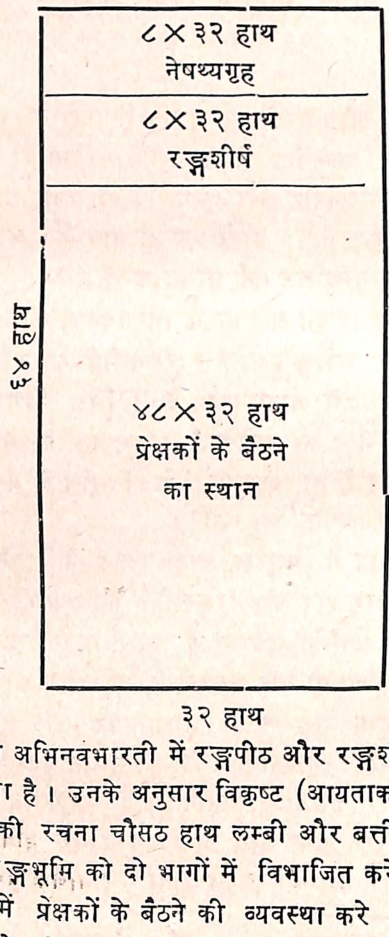
३. वही, २।७९-८२,१०६।

४. नाट्यशास्त्र (डॉ० द्विवेदी), ९८, १००, १०२, १०४।

५. वही, १०८-१०९।

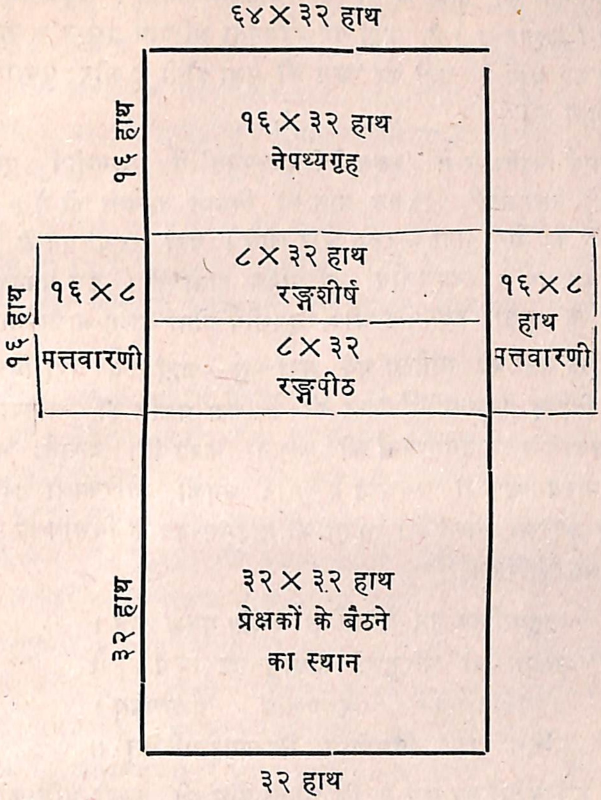
डॉ० घोष ने विकृष्ट मध्यम नाटचमण्डप के विभाग के सम्बन्ध में एक नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार समस्त रङ्गभूमि के प्रमाण में तीन चौथाई भाग (४८×३२ हाथ) प्रेक्षकों के बैठने के लिए तथा चतुर्थांश १६×३२ हाथ वाले भाग को दो भागों में कल्पित कर एक भाग में रङ्गशीर्ष (रङ्गपीठ) तथा दूसरे भाग में नेपथ्यगृह के लिए स्थान कल्पित किया है।

डॉ० घोष के अनुसार विकृष्ट मध्यम नाटचमण्डप का स्वरूप



अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में रङ्गपीठ और रङ्गशीर्ष दोनों की पृथक्ता का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार विकृष्ट (आयताकार) मध्यम परिमाण वाले नाटचमण्डप की रचना चौसठ हाथ लम्बी और बत्तीस हाथ चौड़ी होनी चाहिए। प्रथम रङ्गभूमि को दो भागों में विभाजित करे। उनमें ३२×३२ हाथ के एक भाग में प्रेक्षकों के बैठने की व्यवस्था करे और ३२×३२ हाथ वाले दूसरे भाग को दो बराबर-बराबर खण्डों में विभाजित करे। उनमें ऊपर के भाग में नेपथ्यगृह बनाये और बीच वाले १६×३२ हाथ के भी दो खण्ड करे। उनमें ८×३२ हाथ के एक भाग में रङ्गपीठ और दूसरे भाग में रङ्गशीर्ष की कल्पना करे। इस प्रकार अभिनवगुप्त ने विकृष्ट मध्यम नाटच-मण्डप की कल्पना की है।

अभिनवगुप्त के अनुसार विकृष्ट मध्यम नाटचमण्डप का स्वरूप



डॉ० मनकद और डॉ० राघवन् अभिनवगुप्त के उक्त विचारधारा से पूर्णतया सहमत दिखायी देते हैं। डॉ० मनकद ने रङ्गपीठ एवं रङ्गशीर्ष की पृथक्ता के समर्थन में निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

'रङ्गपीठं ततः कार्यं विधिदृष्टेन कर्मणा।
रङ्गशीर्षं तु कर्त्तव्यं दारुषट्कसमन्वितम्' ॥

मनकद का कहना है कि इस श्लोक में रङ्गपीठ और रङ्गशीर्ष दोनों का अलग-अलग निर्देश है। अतः दोनों अलग-अलग शब्द हैं, पर्यायवाची नहीं। दूसरे नाटचशास्त्र में रङ्गशीर्ष का विकृष्ट नाट्यमण्डप में समुन्नत तथा चतुरस्र में सम होना बताया गया है। वहाँ यह प्रश्न उठता है किसकी अपेक्षा रङ्गशीर्ष समुन्नत होना चाहिए ? इस पर अभिनवगुप्त का कथन है 'रङ्गपीठापेक्षया' अर्थात् रङ्गपीठ की अपेक्षा रङ्गशीर्ष समुन्नत होना चाहिए। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि रङ्गपीठ और रङ्गशीर्ष दोनों अलग-अलग हैं। डॉ० राघवन् का कहना है कि उपर्युक्त कारिका में रङ्गपीठ और रङ्गशीर्ष दोनों का अलग-

अलग उल्लेख दोनों की पृथक्ता का सूचक है। नाट्यप्रयोग की व्यावहारिकता तथा उपयोगिता की दृष्टि से भी दोनों अलग-अलग हैं। रङ्गपीठ तो मुख्य रङ्गभूमि (रङ्गमञ्च) है, जहाँ पर अभिनेता अभिनय प्रस्तुत करते हैं[१] और रङ्गशीर्ष वह भाग है जहाँ पर रङ्ग की पूजा होती है और पुष्पाञ्जलि का विधान होता है।

आचार्य विश्वेश्वर ने 'रङ्गशीर्षं प्रकल्पयेत्' में 'रङ्गशीर्षं' एकवचन के स्थान पर 'रङ्गशीर्षे' द्विवचन पाठ की क्लिष्ट कल्पना की है। तदनुसार 'रङ्गशीर्षे' का अर्थ होगा — रङ्ग और शीर्ष। यहाँ 'रङ्ग' पद से 'रङ्गपीठ' और 'शीर्ष' पद से 'रङ्गशीर्ष' का ग्रहण होता है[२]। इस प्रकार आचार्य विश्वेश्वर के अनुसार रङ्गपीठ और रङ्गशीर्ष दोनों अलग-अलग भाग हैं।

उपर्युक्त मतों की समीक्षा एवं मेरा मत--जहाँ तक मेरा विचार है कि उपर्युक्त विद्वान् 'रङ्गशीर्ष' शब्द की विभिन्न प्रकार की व्याख्याओं द्वारा विभिन्न प्रकार के नाट्यमण्डपों की कल्पना करते हैं। वस्तुतः भरत द्वारा कल्पित नाट्यमण्डप ही सर्वश्रेष्ठ है और उनकी कारिकाओं द्वारा नाट्यमण्डप की रूपरेखा स्पष्ट है। भरत की नाट्यमण्डप के विभाग के सम्बन्ध में निम्नलिखित कारिकाएँ हैं—

'चतुष्षष्टिकरान् कृत्वा द्विधा कुर्यात् पुनश्च तान्।
पृष्ठतो यो भवेद्भागो द्विधाभूतस्य तस्य तु॥
सममर्धविभागेन रङ्गशीर्षं प्रकल्पयेत्।
पश्चिमे च विभागेऽथ नेपथ्यगृहमादिशेत्'॥

इन कारिकाओं का अर्थ है कि चौसठ हाथ की लम्बी भूमि को रस्सी से नापकर फिर उसे दो भागों में विभाजित करे। फिर पीछे का जो भाग है उसके भी बराबर-बराबर दो भाग करे। उसके आधे भाग में रङ्गशीर्ष की कल्पना करे और पीछे के भाग में नेपथ्यगृह बनाये।

इस प्रकार भरत के अनुसार विकृष्ट (आयताकार) मध्यम नाट्यमण्डप चौसठ हाथ लम्बा और चौसठ हाथ चौड़ा होता है। प्रथम समस्त भूमिखण्ड को ३२×३२ हाथ के दो खण्डो में विभाजित करे। इनमें से आगे के ३२×३२ हाथ के आधे भाग में प्रेक्षको के बैठने की व्यवस्था करे। पीछे के आधे भाग को पुनः १६×३२ हाथ के दो भागो में विभाजित करे। इनमें १६×३२ हाथ के एक भाग में रङ्गशीर्ष की कल्पना करे और पीछे के १६×३२ हाथ के दूसरे भाग में नेपथ्यगृह की रचना करे। यही भरतसम्मत नाट्यमण्डप का स्वरूप है और यही समीचीन भी प्रतीत होता है।

१. भरत और भारतीय नाट्यकला, पृ० ८८।
२. हिन्दी अभिनवभारती, पृ० २९०।

किन्तु अभिनवगुप्त भरतोक्त उपर्युक्त कारिकाओं में 'सममर्धविभागेन रङ्गशीर्षं प्रकल्पयेत्' इस कारिकार्ध के स्थान पर 'तस्याप्यर्धार्धभागेन रङ्गशीर्षं प्रकल्पयेत्' पाठ के आधार पर इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं—

'तत्राग्रगतं भागमर्धेन विभज्याष्टहस्तं रङ्गशिरः। प्रविशतां पात्राणां चान्तःस्थानम्। नाट्यमण्डपस्य ह्युत्तानसुप्तवदवस्थितस्य रङ्गपीठं मुख्यम्। तदष्टहस्तं शिरः'।

अर्थात् द्विधाभूत उस ३२×३२ हाथ के पुनः दो भाग करे। फिर आधे के आगे के १६×३२ हाथ को पुनः दो भागों में विभाजित करे। उनमें ८×१६ के एक भाग में रङ्गशीर्ष और दूसरे भाग में रङ्गपीठ की कल्पना करे।

इस प्रकार नाट्यमण्डप के विभाग के सम्बन्ध में हमारे सामने दो पक्ष प्रस्तुत हैं। प्रथम भरतोक्त नाट्यमण्डप का स्वरूप, जिसका समर्थन डॉ० एम० एम० घोष प्रभृति विद्वान् करते हैं और दूसरा पक्ष अभिनवगुप्त द्वारा कल्पित नाट्यमण्डप का स्वरूप, जिसका समर्थन डॉ० राघवन्, मनकद एवं विश्वेश्वर आदि विद्वान् करते हैं, किन्तु उनके व्याख्यानों में किञ्चित् अन्तर परिलक्षित होता है। हम यहाँ उनके मतों की समीक्षा करते हैं।

अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में भरतोक्त कारिकार्थ की जो व्याख्या की है वह सुसंगत नहीं प्रतीत होती, क्योंकि वह मूल पाठ के अनुसार नहीं है। मूल पाठ में 'रङ्गशीर्ष' शब्द का पाठ है, किन्तु 'रङ्गपीठ' शब्द का पाठ नहीं है। जब कि अभिनवभारती में 'रङ्गपीठ' शब्द का पाठ है। ऐसा प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त ने यहाँ रङ्गपीठ शब्द का उल्लेख 'रङ्गशीर्ष' के पर्याय के रूप में किया होगा। इस प्रकार यहाँ रङ्गशीर्ष शब्द रङ्गपीठ के अर्थ में प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। रङ्ग अर्थात् रङ्गभूमि का शीर्षस्थानीय होने के कारण इसे 'रङ्गशीर्ष' कहा जाता है। रङ्गपीठ के पिछले हिस्से को षड्दारुक से अलङ्कृत करना चाहिए और उसके ऊपर कुछ आगे की ओर निकलते हुए काष्ठखण्डों से सुसज्जित कर उसे अलङ्करणों से अलङ्कृत करे; यही रङ्गशीर्ष है। जैसा कि भरत ने कहा है कि—

'रङ्गपीठं ततः कार्यं विधिदृष्टेन कर्मणा।
रङ्गशीर्षं तु कर्त्तव्यं षड्दारुकसमन्वितम्'॥

अर्थात् मत्तवारणी के निर्माण के पश्चात् शास्त्रविधि से रङ्गपीठ की रचना करे और रङ्गपीठ के शीर्ष भाग को षड्दारु से सुसज्जित करे। इस प्रकार षड्दारु से अलंकृत रङ्गपीठ ही रङ्गशीर्ष है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि भरत ने कहीं रङ्गपीठ का प्रयोग किया है तो कहीं रङ्गशीर्ष का। यहाँ रङ्गपीठ और रङ्गशीर्ष दोनों का प्रयोग कर दिया तो क्या हुआ? उसके

अर्थ में तो कोई अन्तर नहीं आया। अतः एक ही श्लोक में रङ्गपीठ और रङ्ग-शीर्ष दोनों शब्दों के प्रयोग के आधार पर दोनों को पृथक् मानना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। इसके अतिरिक्त भरत ने एक ही अर्थों के वाचक भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग नाट्यशास्त्र में किया है। जैसे नाट्यमण्डप के लिए कहीं प्रेक्षागृह तो कहीं नाट्यमण्डप; कहीं नाट्यगृह (नाट्यवेश्म) और कहीं रङ्ग-मण्डप। उसी प्रकार भरत ने रङ्गपीठ के लिए कहीं रङ्गपीठ का प्रयोग किया है और कहीं रङ्गशीर्ष का।

इसके अतिरिक्त पृथक्तावादी विद्वानों ने अपने मत के समर्थन में नाटच-शास्त्र की निम्नलिखित कारिका के द्वारा रङ्गपीठ और रङ्गशीर्ष को अलग-अलग सिद्ध करने का प्रयास किया है—

'समुन्नतं नत चैव रङ्गशीर्षं तु कारयेत्।
विकृष्टे तून्नतं कार्यं चतुरस्रे समं तथा' ॥

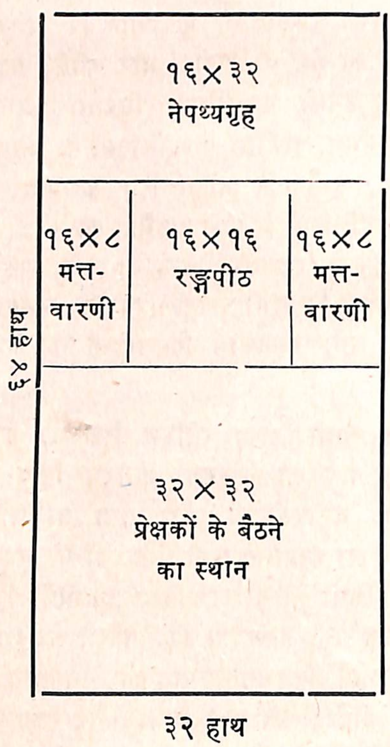
इस श्लोक में विकृष्ट नाटचमण्डप में रङ्गशीर्ष को समुन्नत और चतुरस्र नाटचगृह को सम बनाने का उल्लेख है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि किसकी अपेक्षा रङ्गशीर्ष समुन्नत हो? इस पर अभिनवगुप्त कहते हैं कि 'समुन्नत-मिति रङ्गपीठापेक्षया' अर्थात् रङ्गपीठ की अपेक्षा समुन्नत होना चाहिए। किन्तु अभिनवभारती का वह पाठ त्रुटिपूर्ण प्रतीत होता है, क्योंकि गायकवाड़ संस्करण को छोड़कर काशी संस्कृत सीरिज संस्करण तथा काव्यमाला संस्करण में और इसी प्रकार मलयालम् पाण्डुलिपि राजकीय पुस्तकालय मद्रास, अडचार पुस्तकालय तथा मालावार पाण्डुलिपियों में रङ्गशीर्ष के स्थान पर 'रङ्गपीठ' पाठ मिलता है (**समुन्नतं समं चैव रङ्गपीठं तु कारयेत्**)। इस प्रकार इसका अर्थ होगा 'समुन्नत और सम रङ्गपीठ की रचना करे'। अब यहाँ भी प्रश्न उपस्थित होगा कि किसकी अपेक्षा रङ्गपीठ समुन्नत हो? क्या यह उत्तर समीचीन होगा कि रङ्गपीठ रङ्गपीठ की अपेक्षा समुन्नत हो? मेरे विचार से यहाँ कुछ और पाठ होना चाहिए था, क्योंकि काव्यमाला संस्करण सबसे प्राचीन संस्करण है और उसके बाद के संस्करण निर्णयसागर और काशी संस्करण हैं; इन सभी संस्करणों में 'रङ्गपीठं' ही पाठ है। ऐसा लगता है कि सम्पादक महोदय ने किसी पाण्डुलिपि के आधार पर 'रङ्गशीर्षं' पाठ ले लिया और उसकी अर्थसंगति बैठाने के लिए बड़ौदा संस्करण का 'रङ्ग-पीठापेक्षया' पाठ जोड़ दिया। यदि वे 'रङ्गपीठ' पाठ की ओर ध्यान देते तो संभवतः ऐसी भूल न होती, क्योंकि अभिनवभारती के पाठ अत्यन्त त्रुटिपूर्ण एवं भ्रष्ट हैं। हस्तलेखकों की असावधानी से कुछ अस्पष्ट लिखा गया होगा और सम्पादक महोदय ने 'रङ्गपीठापेक्षया' समझ लिया होगा। यहाँ पर 'रङ्गापेक्षया' पाठ रहा होगा और भूल से 'रङ्गपीठापेक्षया' लिखा गया। 'रङ्गापेक्षया' पाठ मानने पर अर्थसंगति भी बैठ जाती है और त्रुटि भी दूर

हो जाती है। इस प्रकार 'विकृष्ट नाटचमण्डप में रङ्गपीठ समुन्नत होना चाहिए'। 'किसकी अपेक्षा समुन्नत हो'? इस प्रश्न का उत्तर होगा 'रङ्गापेक्षया' अर्थात् रङ्गभूमि की अपेक्षा; क्योंकि कोषग्रन्थों में 'रङ्ग' का अर्थ 'रङ्गभूमि दिया गया है। इसके अतिरिक्त मत्तवारणी-निर्माण के प्रसङ्ग में कहा गया है कि रङ्गपीठ के प्रमाण के अनुसार डेढ़ हाथ ऊँची मत्तवारणी बनानी चाहिए और मत्तवारणी के बराबर तथा मूल भूमिभाग की अपेक्षा डेढ़ हाथ ऊँचा रङ्गपीठ होना चाहिए। यहाँ अभिनव ने स्वयं स्वीकार किया है कि रङ्गपीठ मूल भूभाग अर्थात् रंगभूमि की अपेक्षा डेढ़ हाथ ऊँचा होना चाहिए। अतः प्रस्तुत प्रसङ्ग में भी रङ्गपीठ रङ्गभूमि की अपेक्षा समुन्नत होना चाहिए, यही अर्थ संगत है। इस प्रकार यहाँ रङ्गशीर्ष रङ्गपीठ का वाचक प्रतीत होता है और उसी अर्थ में रङ्गशीर्ष का यहाँ प्रयोग हुआ है।

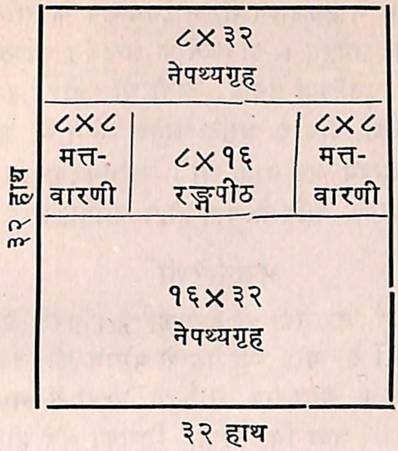
आचार्य विश्वेश्वर 'रङ्गशीर्षम्' के स्थान पर 'रङ्गशीर्षे' द्विवचनान्त पाठ मानकर 'रङ्ग' का अर्थ 'रङ्गपीठ' और 'शीर्ष' पद का अर्थ रङ्गशीर्ष ग्रहण करते हैं, किन्तु उनकी यह कल्पना निराधार प्रतीत होती है। प्रो० रामकृष्ण कवि ने लगभग चालीस पाण्डुलिपियों के आधार पर गायकवाड़ प्राच्य विद्या संस्थान, बड़ौदा से नाट्यशास्त्र का एक प्रामाणिक संस्करण निकाला है और पाण्डुलिपियों में प्राप्त पाठभेदों को नीचे पादटिप्पणी (फुटनोट) में दिया है, किन्तु 'रङ्गशीर्ष' शब्द का कोई पाठभेद नहीं दिया गया है। इससे प्रतीत होता है कि सभी पाण्डुलिपियों में 'रङ्गशीर्षम्' एकवचनान्त पाठ ही मिलता है। अतः 'रङ्गशीर्षे' द्विवचनान्त पाठ का कोई आधार नहीं दिखता।

इसके अतिरिक्त काशी संस्कृत सीरिज संस्करण, काव्यमाला संस्करण, घोष द्वारा सम्पादित कलकत्ता संस्करण, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित, मोतीलाल बनारसीदास द्वारा तथा सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी द्वारा प्रकाशित सभी संस्करणों में 'रङ्गशीर्ष' एकवचनान्त ही पाठ मिलता है, किसी भी संस्करण में 'रङ्गशीर्षे' द्विवचनान्त पाठ नहीं मिलता है। किन्तु इन सभी संस्करणों की अनदेखी कर आचार्य विश्वेश्वर ने न जाने कहाँ से 'रङ्गशीर्षे' द्विवचनान्त पाठ की मनगढ़न्त कल्पना कर 'रङ्गशीर्ष' में रङ्ग और शीर्ष दो पद मान लिया और रङ्ग पद से रङ्गपीठ और शीर्ष पद से रङ्गशीर्ष की कल्पना कर ली। पाठशोध का कुछ-न-कुछ आधार होता है। जब नाट्यशास्त्र की प्रकाशित-अप्रकाशित सभी प्रतियों में 'रङ्गशीर्ष' एकवचन ही पाठ मिलता है और अर्थ की सङ्गति भी ठीक बैठती है तो एक भ्रान्त एवं मनगढ़न्त पाठ की नवीन कल्पना कर त्रुटिपूर्ण कल्पना करना पाण्डित्य-प्रदर्शन मात्र ही प्रतीत होता है।

मेरे विचार से नाट्यमण्डप के निर्माण में मुख्य रूप से चार भाग कल्पित करने चाहिए—(१) प्रेक्षकोपवेशन स्थान, (२) रङ्गपीठ या रङ्गशीर्ष, (३) नेपथ्यगृह और (४) मत्तवारणी। प्रथम समस्त रंगभूमि को ३२×३२ हाथ के दो भागों में विभाजित करे। उसके बाद ३२×३२ हाथ के एक भाग में प्रेक्षकों के बैठने का स्थान नियत करे। उसके बाद ३२×३२ हाथ वाले दूसरे भाग को भी १६×३२ हाथ के दो भागों में विभाजित करे। फिर बीच वाले (१६×३२) भाग के मध्य में १६×१६ हाथ में रङ्गपीठ या रङ्गशीर्ष की कल्पना और उस रङ्गपीठ के दोनों ओर बगल में आयताकार १६×८ हाथ की मत्तवारणी बनाये और बचे हुए १६×३२ हाथ वाले अन्तिम खण्ड में नेपथ्यगृह की रचना करे। इस प्रकार विकृष्ट मध्यम नाट्यमण्डप का स्वरूप इस प्रकार होगा—



इसी प्रकार समचतुरस्र नाट्यमण्डप के लिए भी उक्त प्रकार से कल्पना करनी चाहिए। डॉ० द्विवेदी के अनुसार समचतुरस्र नाट्यमण्डप का स्वरूप इस प्रकार है—



षड्दारुक

नाट्यशास्त्र में रङ्गशीर्ष में छः विशेष काष्ठखण्ड लगाने की विधि को 'षड्दारुक' कहा गया है। अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में 'षड्दारुक' के सम्बन्ध में तीन व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। प्रथम व्याख्या के अनुसार नेपथ्यगृह के द्वार से लगे हुए एक-दूसरे से आठ हाथ की दूरी पर खम्भे खड़े करने चाहिए। फिर उसके पास चार-चार हाथ की दूरी पर दो और खम्भे खड़ा करे, फिर उनके ऊपर और नीचे दो और काष्ठ लगाये। ये छः काष्ठ 'षड्-दारुक' कहलाते हैं। दूसरी व्याख्या के अनुसार दोनों पार्श्वों के ऊपर और नीचे के दो काष्ठ और दोनों पार्श्वों (किनारे) के दो खम्भे और बीच के दो खम्भे—इन छः काष्ठों को 'षड्दारुक' कहते हैं।

तृतीय व्याख्या के अनुसार ऊह, प्रत्यूह, निर्यूह, व्यूह (संजवन), संव्यूह (अनुबन्ध) और कुहर—इन छः काष्ठों को 'षड्दारुक' कहते हैं। खम्भे के ऊपरी भाग से निकला हुआ काष्ठ 'ऊह' कहलाता है। उस काष्ठ से बाहर की ओर निकली हुई तुला को 'प्रत्यूह' कहते हैं। तुला के बाहर दो खम्भों के मध्य लगे हुए भित्तिसदृश फलक को 'निर्यूह' कहते हैं। ऊपर की ओर उठे हुए भित्ति के समान चतुःशालफलक को 'सञ्जवन' या 'व्यूह' कहते हैं। खम्भों के ऊपर बने हुए सिंह, गज, सर्प आदि के उभरे हुए चित्र को 'अनुबन्ध' या 'संव्यूह' कहते हैं। खम्भों के ऊपर भीतर की ओर खोदकर बनाये गये पर्वत, नगर, कुञ्ज, गुहा आदि का अङ्कन 'कुहर' कहलाता है। इन छः प्रकार के दारुकर्म को 'षड्दारुक' कहते हैं। ये षड्दारुक अलङ्करण रङ्गमञ्च की शोभा-वृद्धि के लिए होते हैं।

दारुकर्म

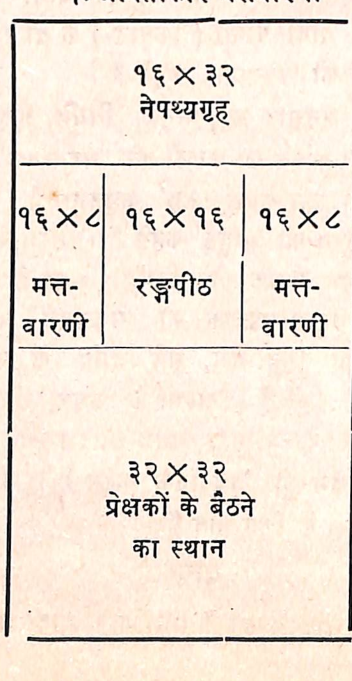
भरत के अनुसार नाट्यमण्डप के निर्माण के बाद दारुकर्म अर्थात् लकडी

का काम प्रारम्भ करे। नाट्यशास्त्र में नाट्यमण्डप के सौन्दर्य के लिए दारुकर्म का विधान करना चाहिए। दारुकर्म के अन्तर्गत काष्ठफलकों पर अनेक प्रकार के चित्रों एवं पुतलियाँ बनाई जाती थीं और उन्हें नाट्यमण्डप में स्तम्भ, किवाड़, खिड़की, दीवार आदि अनेक रूपों में सजाया जाता था। इससे नाट्यगृह का सौन्दर्य बढ़ जाता था। अभिनवगुप्त के अनुसार दारुकर्म ऊह, प्रत्यूह आदि षड्दारुक आदि से युक्त होना चाहिए।

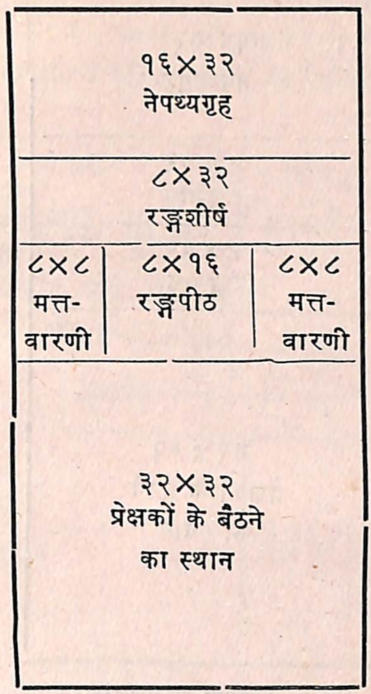
मत्तवारणी

मत्तवारणी का अर्थ 'बरामदा या बराण्डा' है। भरत के अनुसार रङ्गपीठ के बगल में चार स्तम्भों से युक्त रङ्गपीठ के प्रमाण की डेढ़ हाथ ऊँची मत्तवारणी बनानी चाहिए। कोश एवं साहित्य ग्रन्थों में मत्तवारणी शब्द नहीं मिलता है, 'मत्तवारण' शब्द मिलता है, जिसका अर्थ होता है—'वरण्डा'। प्रो० सुब्बाराव ने मत्तवारणी शब्द का अर्थ **'मत्तानां वारणानां श्रेणिः मत्तवारणी'** अर्थात् मत्त गजों की श्रेणी किया है। रङ्गपीठ के सामने डेढ़ हाथ ऊँची दीवाल पर मतवाले (मत्त) हाथियों की पंक्ति चित्रित होती है, इसे ही मत्तवारणी कहते हैं। किन्तु उनका यह मत भरत के सिद्धान्त के विपरीत होने के कारण ग्राह्य नहीं है। डॉ० घोष तथा प्रो० मनकद ने मत्तवारणी की स्थिति नाटचमण्डप के भीतर मानी है। उनके मतानुसार मत्तवारणी का स्वरूप इस प्रकार है—

१. आयताकार मत्तवारणी



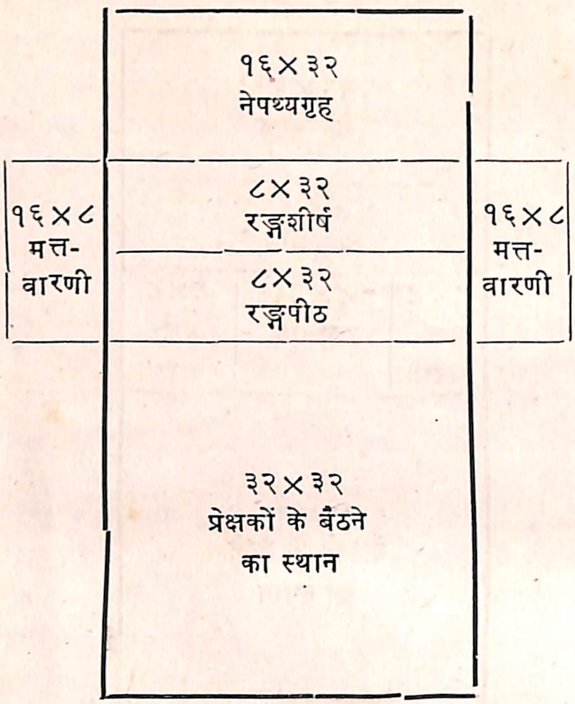
२. समचतुरस्र मत्तवारणी



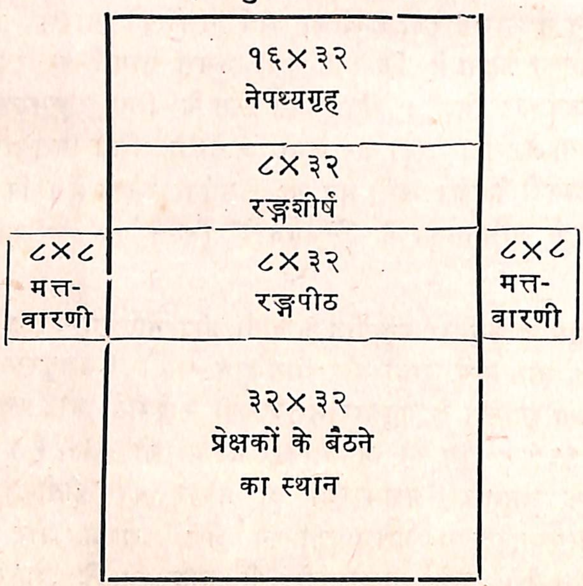
प्रो० भानु ने मत्तवारणी शब्द का अर्थ 'मत्तों को वारण करने वाली' किया है। उनका कहना है कि कभी-कभी उन्मत्त सामाजिक रङ्गमञ्च पर पहुँच कर उपद्रव कर देते हैं। अतः उनसे रक्षा के लिए रङ्गमञ्च के सामने एक दीवाल या कटघरा खड़ा कर दिया जाता है, जिसे 'मत्तवारणी' कहते हैं। कु० गोदावरी केतकर इसी मत का समर्थन करती हैं। किन्तु उनका मत भरत एवं अभिनवगुप्त के सिद्धान्त के विरुद्ध होने के कारण ग्राह्य नहीं है।

अभिनवगुप्त के अनुसार रङ्गपीठ के दोनों ओर नाटचमण्डप के बाहर चार स्तम्भों से युक्त आठ हाथ लम्बी और आठ हाथ चौड़ी समचतुरस्र मत्तवारणी होती है। अन्य व्याख्या के अनुसार मत्तवारणी रङ्गपीठ और रङ्गशीर्ष दोनों के बगल में १६×८ हाथ की आयताकार मत्तवारणी होती है। इस प्रकार अभिनवगुप्त के अनुसार मत्तवारणी दो प्रकार की होती है—आयताकार और समचतुरस्र। मत्तवारणी का अर्थ वराण्डा और वराण्डागृह के बाहर होता है। अतः मत्तवारणी भी नाटचगृह के बाहर रङ्गपीठ के बगल में होनी चाहिए। अभिनव के अनुसार मत्तवारणी का स्वरूप इस प्रकार है—

१. आयताकार मत्तवारणी



२. चतुरस्र मत्तवारणी



इस प्रकार मत्तवारणी रङ्गभूमि (प्रेक्षकोपवेशन-स्थान) से डेढ़ हाथ ऊँची और रङ्गपीठ की ऊँचाई के बराबर होती है।

यवनिका या जवनिका

रङ्गपीठ के पीछे यवनिका होती है। नाटचशास्त्र के कुछ संस्करणों में जवनिका पाठ भी मिलता है। 'जवनिका' प्राकृत नाम है। जवनिका का पर्याय तिरस्करिणी है। इसी अर्थ में पटी-अपटी का भी प्रयोग होता है। कुछ नाटकों में 'यमनिका' का भी प्रयोग पाया जाता है। जब रङ्गमञ्च पर कोई पात्र प्रवेश करता है तो पर्दा हटा दिया जाता है, इसी को 'अपटीक्षेप' कहते हैं। रङ्गपीठ और नेपथ्यगृह के मध्य दो यवनिकाओं का विधान बताया गया है, जिन्हें हटाकर पात्र प्रवेश करते होंगे। इसके लिए 'पटीक्षेप' या 'अपटीक्षेप' का प्रयोग होता होगा। डॉ० घोष के अनुसार चार यवनिकाओं का प्रयोग रङ्गमण्डप पर होता था। इनमें दो यवनिकाएँ रङ्गपीठ और नेपथ्यगृह के मध्य होती थीं और दो दोनों ओर की मत्तवारणियों के दरवाजे पर। इस प्रकार चार यवनिकाएँ होती थीं। नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय में यवनिका का उल्लेख नहीं है, किन्तु पञ्चम और द्वादश अध्याय में यवनिका का उल्लेख मिलता है। अभिनवगुप्त ने रङ्गपीठ और रङ्गशीर्ष के मध्य यवनिका का विधान बताया है।

नेपथ्यगृह

नाट्यमण्डप के पिछले भाग में १६×३२ हाथ के नेपथ्यगृह की रचना करे। नेपथ्य का अर्थ है—वेश-भूषा धारण करने का स्थान। नेपथ्य का अर्थ वेश-भूषा धारण करना भी होता है। भरत के अनुसार नट में रामादि के व्यञ्जक वेश-भूषा को धारण करना नेपथ्य-विधान है (**रामादिव्यञ्जको वेशो नटे नेपथ्यमुच्यते**)। इस प्रकार वेश-भूषा की रचना तथा वेश-भूषा धारण करने के स्थान को 'नेपथ्य' कहते हैं। एक अन्य आचार्य के अनुसार कुशीलव के कुटुम्बीजन अर्थात् पात्र जहाँ पर अभिनयोचित वेश-भूषा को धारण कर अभिनय के लिए तैयार होते हैं, उसे 'नेपथ्यगृह' कहते हैं—

'नेपथ्यकुटुम्बस्य गृहं नेपथ्यमुच्यते'।

द्वार

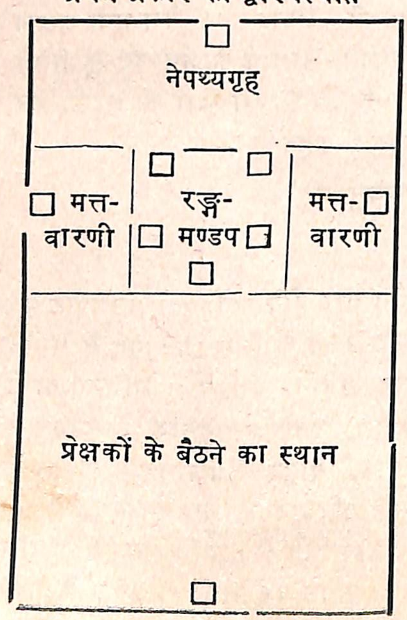
भरत के अनुसार नाट्यमण्डप में तीन द्वार होने चाहिए। रङ्गपीठ पर प्रवेश के लिए नेपथ्यगृह में दो द्वार और जन-प्रवेश के लिए प्रेक्षागृह में सामने की ओर एक द्वार। इस प्रकार तीन द्वार बनाने चाहिए। अभिनवगुप्त ने नाट्यमण्डप में चार द्वारों की कल्पना की है। उनके मतानुसार नेपथ्यगृह से रङ्गपीठ पर पात्रों के प्रवेश के लिए दो द्वार, बाहर से प्रेक्षागृह में जनता के प्रवेश के लिए एक द्वार तथा नटों एवं उनके परिवार के लिए नेपथ्यगृह के पृष्ठ भाग में एक द्वार। इस प्रकार कुल चार द्वार होते हैं। डॉ० मनकद ने पाँच द्वारों की परिकल्पना की है। नेपथ्यगृह से रङ्गपीठ पर पात्रों के प्रवेश के लिए

दो द्वार, मत्तवारणी और रङ्गपीठ के विभाजक दीवार में दोनों ओर दो द्वार तथा जनता के प्रवेश के लिए एक द्वार—कुल पाँच द्वार होते हैं।

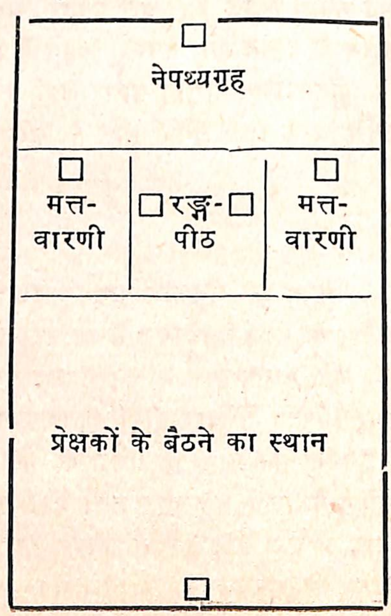
मेरे विचार से नाट्यमण्डप में छः द्वार होने चाहिए, किन्तु आवश्यकतानुसार इससे भी अधिक द्वार बनाये जा सकते हैं। नेपथ्यगृह से रङ्गपीठ पर पात्रों के आगम और निर्गम के लिए दोनों ओर दो द्वार बनाने चाहिए, जिनमें से एक द्वार पात्रों के प्रवेश के लिए और दूसरा द्वार पात्रों के निर्गम के लिए होगा। इसके अतिरिक्त मत्तवारणी से रङ्गमञ्च पर प्रवेश के लिए दोनों ओर दो द्वार तथा बाहर से नटों एवं उनके परिवार के नेपथ्यगृह में प्रवेश के लिए पीछे की ओर एक द्वार और आगे की ओर जनता के प्रवेश के लिए एक द्वार बनाने चाहिए। इस प्रकार ये छः द्वार होते हैं। इनके अतिरिक्त बाहर से मत्तवारणी में प्रवेश के लिए दोनों ओर दो द्वार और बनाये जा सकते हैं। किन्तु इतने द्वार ही पर्याप्त नहीं है, आवश्यकतानुसार इनसे भी अधिक द्वार बनाये जा सकते हैं।

इनके अतिरिक्त अन्य प्रकार से भी छः द्वारों की कल्पना की जा सकती है। नेपथ्यगृह से मत्तवारणी में प्रवेश के लिए दो द्वार, मत्तवारणी से रङ्गमञ्च पर प्रवेश एवं निर्गम के लिए दोनों ओर दो द्वार, बाहर से नेपथ्यगृह में अभिनेताओं के प्रवेश के लिए पृष्ठभाग में एक द्वार और बाहर से प्रेक्षागृह में जनता के प्रवेश के लिए सामने की ओर एक द्वार। इस प्रकार कुल छः द्वार होते हैं। यह परिकल्पना अधिक वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक प्रतीत होती है।

प्रथम प्रकार की द्वार-स्थिति



द्वितीय प्रकार की द्वार-स्थिति



स्तम्भ-स्थापन—भरत ने चतुरस्र नाट्यमण्डप के भीतर चौबीस स्तम्भों का विधान वर्णित किया है। भरत के अनुसार प्रथम रङ्गपीठ में चारों कोनों पर चार स्तम्भ स्थापित करे, फिर चारों कोनों के स्तम्भों के भीतर की ओर चार हाथ की दूरी पर एक स्तम्भ खड़ा करे। इनके अतिरिक्त रङ्गपीठ और मत्तवारणी के बीच में दोनों ओर दो स्तम्भ खड़ा करे। इस प्रकार दस स्तम्भ होते हैं।

इसके नाट्यशिल्पी नाट्यमण्डप के भीतर छः स्तम्भ और खड़ा करे। नेपथ्यगृह और रङ्गपीठ के दोनों ओर नेपथ्यगृह से आठ-आठ हाथ की दूरी पर एक-एक स्तम्भ स्थापित करे, फिर उस स्तम्भ से आठ-आठ हाथ की दूरी पर एक-एक स्तम्भ खड़ा करे और फिर उस स्तम्भ से आठ-आठ हाथ की दूरी पर एक-एक स्तम्भ और खड़ा करे। इस प्रकार उत्तर में तीन स्तम्भ और दक्षिण में तीन स्तम्भ कुल छः स्तम्भ होते हैं।

इसके बाद आवश्यकतानुसार आठ और स्तम्भों की स्थापना करे। प्रेक्षकों के बैठने के ३२×१६ हाथ के स्थान में आठ-आठ हाथ के अन्तर पर आठ और स्तम्भ स्थापित करे। इस प्रकार चतुरस्र नाट्यमण्डप में कुल चौबीस स्तम्भ स्थापित करने चाहिए। विकृष्ट नाट्यमण्डप में इससे अधिक और त्र्यस्र नाट्यमण्डप में इससे कम स्तम्भ स्थापित करने चाहिए।

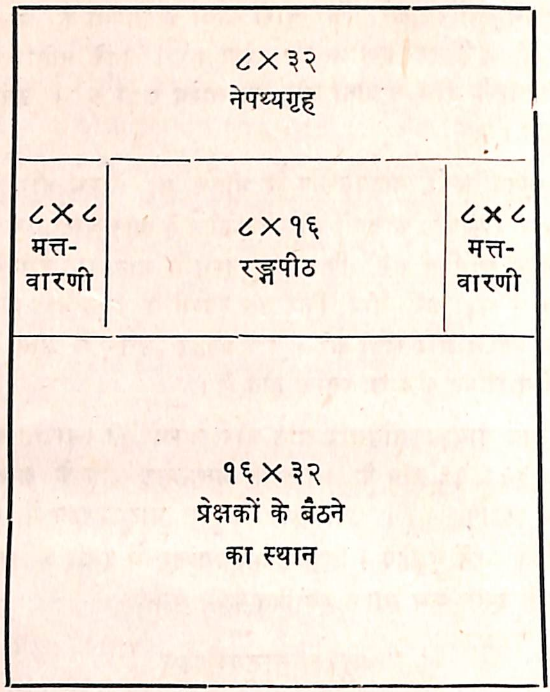
चतुरस्र नाट्यमण्डप

भरत के अनुसार चतुरस्र नाट्यमण्डप ३२ हाथ लम्बा और बत्तीस हाथ चौड़ा होता है। इसकी लम्बाई और चौड़ाई दोनों बराबर होती है। चतुरस्र समतल भूमि का रस्सी से विभाजन करके चारों ओर पक्की ईंटों से मजबूत दीवाल बनायी जाती है। फिर वर्गाकार चतुरस्र नाट्यमण्डप में चौबीस स्तम्भों की स्थापना होती है और प्रेक्षकों के बैठने के लिए सोपानाकृति आसन बनाना चाहिए। इनके अतिरिक्त विकृष्ट नाट्यमण्डप के निर्माण में जो-जो विधियाँ, लक्षण एवं माङ्गलिक विधि-विधान बताये गये हैं, उन विधि-विधानों को चतुरस्र नाट्यमण्डप के निर्माण में भी करना चाहिए।

भरत के अनुसार चतुरस्र नाट्यमण्डप के निर्माण के लिए प्रथम भूमि को रस्सी से नापकर ३२×३२ हाथ की समतल वर्गाकार भूमि के चारों ओर पक्की ईंटों से दीवाल बनानी चाहिए। फिर उसे ३२×१६ हाथ के दो भागों में विभाजित करें। आगे के आधे भाग ३२×१६ हाथ के क्षेत्र में प्रेक्षकों के बैठने के लिए आसनों की व्यवस्था करे। शेष ३२×१६ हाथ भूमि को पुनः दो भागों में विभाजित करे। मध्य के ३२×८ हाथ के भाग के दोनों ओर ८×८ हाथ की मत्तवारणियाँ बनाए और बीच में १६×८ के क्षेत्र में रङ्गपीठ की रचना करे। रङ्गपीठ के पीछे बचे हुए ३२×८ हाथ के

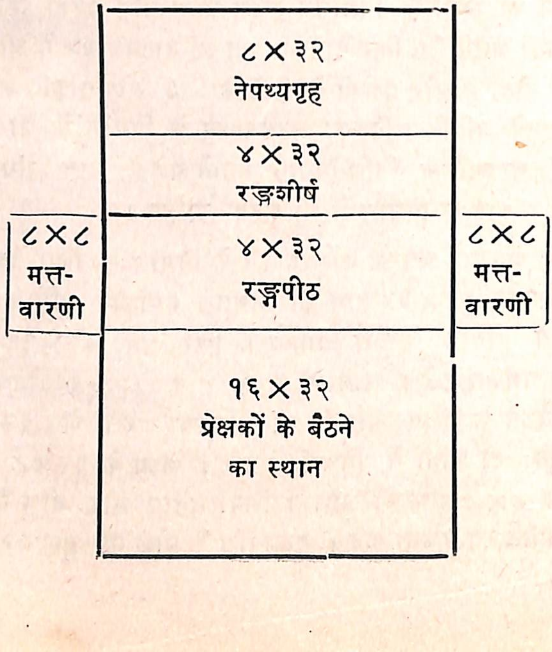
१. चतुरस्र (वर्गाकार) नाट्यगृह

३२ × ३२ हाथ



२. चतुरस्र (वर्गाकार) नाट्यगृह

३२ × ३२ हाथ

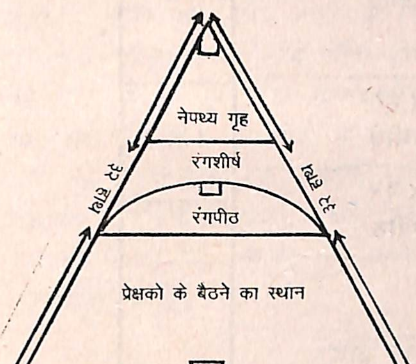


क्षेत्र में नेपथ्यगृह की रचना करे। इस प्रकार चतुरस्र वर्गाकार नाट्यमण्डप बनाना चाहिए।

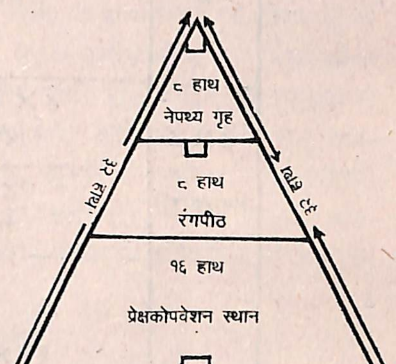
त्र्यस्र नाट्यमण्डप

भरत के अनुसार त्र्यस्र नाट्यमण्डप त्रिकोण होता है और उसके बीच में त्रिकोण ही रङ्गपीठ होता है। त्र्यस्र नाट्यमण्डप में एक द्वार नेपथ्यगृह में पात्रों के प्रवेश के लिए होता है और दूसरा द्वार नेपथ्यगृह से रङ्गपीठ पर पात्रों के प्रवेश के लिए होता है। इसके अतिरिक्त जनता के प्रवेश के लिए सामने की ओर एक द्वार बनाना चाहिए। इस प्रकार कुल तीन द्वार होते हैं। पाठभेद के अनुसार नेपथ्यगृह में पश्चिम दिशा के कोण में एक द्वार अभिनेताओं के प्रवेश के लिए, दूसरा द्वार नेपथ्यगृह से रङ्गमञ्च पर पात्रों के प्रवेश के लिए और दो द्वार जनता के प्रवेश के लिए दोनों कोनों पर बनाने चाहिए। इस प्रकार कुल चार द्वार होते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार त्र्यस्र नाट्यमण्डप में मत्तवारणी नहीं होती।

चतुरस्र नाट्यमण्डप में भित्ति एवं स्तम्भों के निर्माण के सम्बन्ध में जो विधियाँ बताई गई हैं, वे सब विधियाँ त्र्यस्र नाट्यमण्डप के निर्माण में भी प्रयुक्त होनी चाहिए।



भरत एवं अभिनव गुप्त के अनुसार त्र्यस्र नाटचमण्डप का स्वरूप



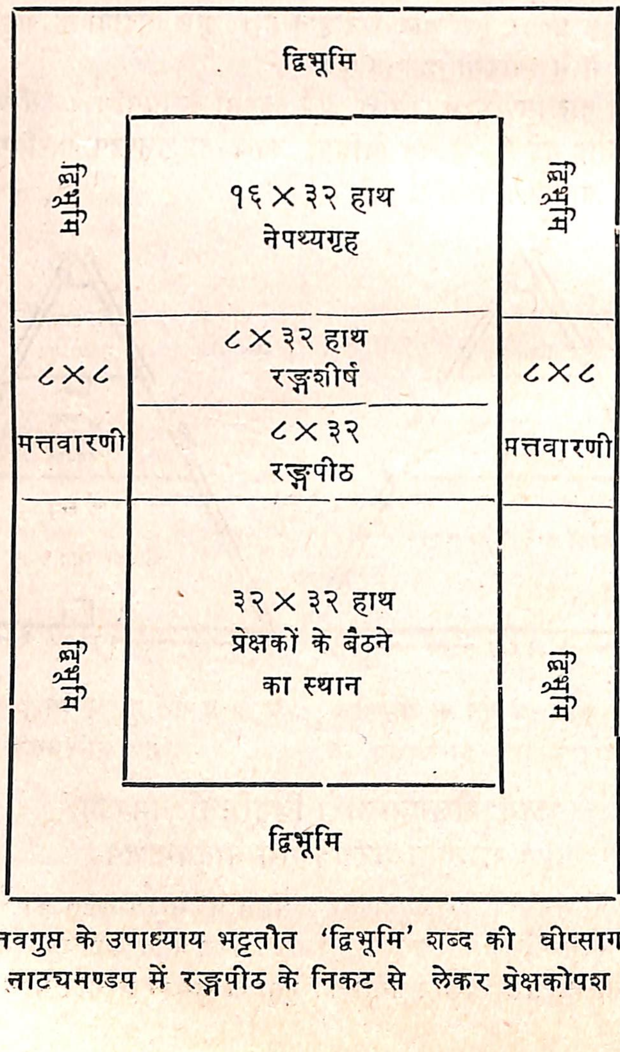
अन्य मतानुसार त्र्यस्र नाटचमण्डप का स्वरूप

'कार्यः शैलगुहाकारो द्विभूमिर्नाट्यमण्डपः'
शैलगुहाकार द्विभूमि नाट्यमण्डप

भरत के अनुसार 'शैलगुहाकार' 'द्विभूमि' नाट्यमण्डप की रचना करनी चाहिए। अभिनवगुप्त के अनुसार जिस प्रकार पर्वत की गुहा में शब्द प्रतिध्वनित होता है, उसी प्रकार पर्वत की गुहा के समान आकार वाले नाट्यमण्डप

में उच्चरित शब्द प्रतिध्वनित होते हैं। अतः नाट्यमण्डप का भीतरी भाग शैलगुहाकार होना चाहिए।

अभिनवगुप्त ने 'द्विभूमि' शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में कई मत प्रस्तुत किये हैं। प्रथम मत के अनुसार रंगपीठ के ऊपर एवं नीचे की भूमि को 'द्विभूमि' कहते हैं। दूसरे मत के अनुसार मत्तवारणी के प्रमाण के अनुसार नाट्यमण्डप के चारों ओर दूसरी दीवार बनाकर देवालयों के प्रदक्षिणा-मार्ग के समान जो दूसरी भूमि बनायी जाती है, उसे 'द्विभूमि' कहते हैं। तीसरे मत के अनुसार मण्डप के ऊपर एक और रङ्गमण्डप की रचना होती है, उसे 'द्विभूमि' कहते हैं। चतुर्थ मत के अनुसार 'शैलगुहाकारो द्विभूमिः' में अकार का प्रश्लेष मानकर 'शैलगुहाकारोऽद्विभूमिः' इस प्रकार पदच्छेद कर 'अद्विभूमि' शब्द का अर्थ एकमञ्जिला समतल भूमि होती है।



अभिनवगुप्त के उपाध्याय भट्टतौत 'द्विभूमि' शब्द की वीप्सागर्भ व्याख्या करते हैं। नाट्यमण्डप में रङ्गपीठ के निकट से लेकर प्रेक्षकोपश के द्वार तक

क्रमशः नीची, फिर ऊँची — इस प्रकार निम्नोन्नत (नीची-ऊँची) दो प्रकार की सोपानाकृति आसन-प्रणाली की रचना होती है। ये आसन क्रमशः रङ्ग-पीठ की ऊँचाई के समान होते हैं। इस द्विभूमि सोपानाकृति आसन-प्रणाली से सामाजिक परस्पर एक-दूसरे को आच्छादित नहीं करते और मण्डप का आकार भी शैलगुहाकृति हो जाता है और शब्दों की स्थिरता भी बनी रहती है तथा उच्चरित पाठ्य भी प्रतिध्वनित होते हैं।

नन्दिकेश्वर ने अभिनय एवं नृत्य की समग्र दृष्टि के साथ प्रेक्षागृह की भी कल्पना की है। उन्होंने प्रेक्षागृह को 'सभा' के नाम से अभिहित किया है। उनकी दृष्टि से सभा के लिए एक सभापति एवं मन्त्री का होना आवश्यक था। सभाध्यक्ष को समस्त कलाओं में निपुण, श्रीसम्पन्न, विवेकशील, संगीत-विद्या में निपुण, यशस्वी, सर्वज्ञ, रसिक, सदाचारी, शीलवान्, दयालु, हाव-भावों का ज्ञाता एवं अभिनय में कुशल होना चाहिए। सभाध्यक्ष के अतिरिक्त सभा के लिए एक मन्त्री की नियुक्ति होनी चाहिए, जो मेधावी, भाषण-कला में निपुण, यशस्वी, हाव-भावों का ज्ञाता, गुण-दोषविवेचक, नीतिनिपुण, सहृदय एवं प्रसाधन-कला में रुचि रखने वाला हो।

सभामण्डप में सभापति को पूर्व की ओर मुख करके बैठना चाहिए और सभापति के दोनों ओर मन्त्रियों, कवियों और मित्रजनों को बैठना चाहिए। सभा में सामने की ओर रङ्गमञ्च पर अभिनय-प्रदर्शन का आयोजन होना चाहिए। रङ्गमञ्च के मध्य नर्तक और उसके समीप नर्तक को स्थित होना चाहिए, उसके दाहिनी ओर तालधारी और उसके दोनों ओर मृदङ्ग-वादकों को बैठना चाहिए। उन दोनों के मध्य गीतकार और गीतकार के पास स्वर-कार का स्थान होता था। नर्तकी सुन्दरी, युवति, कमनीया, विशालनेत्रा, नृत्यगीतवाद्यादिकलाकुशला, सरसा एवं बुद्धिमती होनी चाहिए। इसके अति-रिक्त नर्तकी को देश, भाषा, वेश तथा लोक-व्यवहार आदि के औचित्य का ज्ञान होना चाहिए।

पुष्पाञ्जलि

नन्दिकेश्वर के अनुसार रङ्गभूमि की अधिष्ठातृ देवी की वन्दना करने के पश्चात् नर्तक-नर्त्तकी विघ्न-बाधाओं को दूर करने के लिए, प्राणियों की रक्षा और देवताओं को प्रसन्न करने के लिए, सामाजिकों की ऐश्वर्यवृद्धि और नायक एवं अन्य पात्रों के श्रेयस् के लिए तथा नाट्य-विधि की सफलता के लिए पुष्पाञ्जलि अर्पित करे। नन्दिकेश्वर के अनुसार नाट्य एवं नृत्य के आदि, मध्य और अन्त में पुष्पाञ्जलि-विधान करना चाहिए। पुष्पाञ्जलि-विधान में प्रथम दिक्पालों की पूजा करके शिव, पार्वती, विघ्नेश, स्कन्द एवं सप्त मातृकाओं को पुष्पांजलि अर्पित करे। लक्ष्मी और विष्णु को लतापुष्प, सरस्वती और ब्रह्मा को कमलपुष्प और दिक्पालों को मन्दार, पारिजात, बिल्व, दूर्वादल, चम्पक,

कदम्ब, इन्दीवर, करवीर, जपापुष्प, कुमुद, मल्लिका, जाति, बकुल, कमल, कुन्द एवं धतूर आदि पुष्पों से पुष्पाञ्जलि अर्पित करे।

नाट्य रस-सृष्टि का वह सागर है, जहाँ पर विभिन्न कलाएँ एवं उनसे सम्बन्धित विभिन्न रुचियाँ सरिता-सरोवर की भाँति उमड़ कर एकत्र होती हैं और उसी में समा जाती हैं। यही कारण है कि अभिनेता और विभिन्न रुचि रखने वाले विभिन्न वर्गों एवं वर्णों के लोगों को एक साथ एक ही स्थान पर समान रूप से रस—आनन्द प्राप्त होता है। शारदातनय का कथन है कि 'लोगों की विभिन्न रुचि एवं उनके विभिन्न स्वभावों के आधार पर नाटक की रचना की जाती है, जिसका जो शिल्प, व्यवसाय, शृङ्गार, चेष्टा आदि है और जिसकी वाणी जैसी है, उसे वही चीज नाटक में मिल जाती है। यही कारण है कि कामुक, विदग्ध, सेठ, विरागी, शूर, ज्ञानी, वयोवृद्ध, रसिक, अज्ञ, बालक एवं स्त्रियाँ सभी नाटक में अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त करते हैं। क्योंकि नाटक में उन्हें अपनी-अपनी रुचि का आनन्द मिलता है। तरुण लोग भोग-विलास की बातों में, कुशल-जन नीति की बातों में, सेठ धन-अर्जन की चर्चा में, विरागी मोक्ष के विषय में, शूर बीभत्स, रौद्र और युद्ध की बातों में, वृद्ध धर्मकथाओं की चर्चा में, अज्ञ, बालक और स्त्रियाँ हँसी-लजाक की बातों तथा वेश-भूषा के विषय में और विद्वान् पुरुष सभी प्रकार की बातों में आनन्द (रस) प्राप्त कर सन्तुष्ट होते हैं'[1]।

महाकवि कालिदास ने भी कहा है कि भिन्न-भिन्न रुचि के लोगों के लिए नाटक एक ऐसा साधन है जिसमें सबको एक-सा आनन्द मिलता है[2]। इससे स्पष्ट है कि अभिनय के द्वारा विभिन्न रुचि रखने वाले सभी प्रकार के लोगों के हृदय में आनन्द की जो लहर उत्पन्न होती है वही 'रस' है। इसीलिए अभिनय के सफल प्रदर्शन के लिए रङ्गमञ्च की कल्पना की गई है, जहाँ पर अभिनीत दृश्य को देखकर सभी प्राणी प्रफुल्लित होते हैं। अतः नाट्य के सफल प्रदर्शन के लिए तथा सभी वर्ग के लोगों को सुखपूर्वक रसानुभूति कराने की दृष्टि से रङ्गशाला का निर्माण आवश्यक है।

---

१. भावप्रकाशन, पृ० २२७।

२. नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्।

(मालविकाग्निमित्र, प्रथम अङ्क)

परिशिष्ट १

सन्दर्भ-ग्रन्थसूची

१. अग्निपुराण : व्यास; गुरुमण्डल ग्रन्थमाला, कलकत्ता (१९५७)।

२. अग्निपुराणोक्तं काव्यालङ्कारशास्त्रम् : डॉ० पारसनाथ द्विवेदी; सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी (१९८५)।

३. अथर्ववेद : सायणभाष्य; निर्णयसागर, बम्बई (१९३९)।

४. अनर्घराघव : मुरारि; निर्णयसागर, बम्बई (१९३९)।

५. अभिज्ञानशाकुन्तलम् : डॉ० पारसनाथ द्विवदी; श्रीराम मेहरा एण्ड कम्पनी, अस्पताल रोड, आगरा (१९९१)।

६. अभिज्ञानशाकुन्तल : राघवभट्ट; निर्णयसागर, बम्बई (१९५८)।

७. अभिनयदर्पण : डॉ० एम० एम० घोष; कलकत्ता (१९३४)।

८. अभिनवभारती (१–४ भाग) : अभिनवगुप्त; गायकवाड़ ओरियण्टल-सीरिज, बड़ौदा (१९३४, १९५४, १९५६, १९६४)।

९. अमरकोश : अमरसिंह; निर्णयसागर, बम्बई (१९४०)।

१०. अर्थशास्त्र : कौटिल्य; गङ्गा पुस्तकालय, वाराणसी।

११. अष्टाध्यायी : पाणिनि; चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी।

१२. उज्ज्वलनीलमणि : रूपगोस्वामी, निर्णयसागर, बम्बई (१९३२)।

१३. उत्तररामचरित : भवभूति, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी (१९७१)।

१४. ऋग्वेद : सायणभाष्य; निर्णयसागर, बम्बई (शकसंवत् १८१०)।

१५. एकावली : विद्यानाथ, बम्बई सं० सी० (१९०२)।

१६. ऐतरेय ब्राह्मण : ए० बी० कीथ, निर्णयसागर, बम्बई (१९०९)।

१७. कल्पद्रुमकोष : गायकवाड़ ओरियण्टल सीरिज, बड़ौदा।

१८. कामसूत्र (जयमंगला टीका) वात्स्यायन, चौखम्बा संस्कृत सीरिज; वाराणसी (१९६०)।

१९. काव्यादर्श : दण्डी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी (१९५८)।

२०. काव्यानुशासन : हेमचन्द्र, महावीर जैनविद्यालय, बम्बई (१९३८)।

२१. काव्यप्रकाश : डॉ० पारसनाथ द्विवेदी, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा (१९८६)।

२२. काव्यप्रकाश : झलकीकर-वामनाचार्य, भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीटयूट, पूना (१९३३)।

२३. काव्यमीमांसा : राजशेखर, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी (१९६४)।

२४. काव्यालङ्कार : भामह, चौखम्बा सं० सी० वाराणसी (१९२८)।

२५. काव्यालङ्कार : रुद्रट, निर्णयसागर, बम्बई (१९३३)।
२६. काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति : वामन, काव्यमाला, बम्बई (१८९५)।
२७. काशिकावृत्ति : जयादित्य, चौखम्बा सं० सी० वाराणसी।
२८. किरातार्जुनीय : भारवि, चौखम्बा सं० सी० वाराणसी (१९३९)।
२९. कुट्टनीमत : दामोदरगुप्त, काशी (१९६१)।
३०. कुमारसम्भव : कालिदास, निर्णयसागर (१९३३)।
३१. कूर्मपुराण : गुरुमण्डल ग्रन्थमाला कलकत्ता, (१९६१)।
३२. कौशीतकी ब्राह्मण : ए० बी० कीथ; आनन्दाश्रम, पूना (१९११)।
३३. गाथासप्तशती : हाल; काव्यमाला, बम्बई (१८९९)।
३४. गौतमधर्मसूत्र : उमेशचन्द्र पाण्डेय, चौ० सं० सी० वाराणसी।
३५. छान्दोग्योपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर।
३६. जातकमाला : आर्यशूर, काशी (१९३७)।
३७. तर्कसंग्रह : हरिहर शास्त्री, वाराणसी।
३८. तैत्तिरीयसंहिता : सायणभाष्य।
३९. दत्तिलम् : दत्तिल; संगीत कार्यालय, हाथरस (१९६०)।
४०. दशरूपक (अवलोक टीका) : धनञ्जय; चौखम्बा, वाराणसी (१९७३)।
४१. ध्वन्यालोक : आनन्दवर्धन; निर्णयसागर, बम्बई (१९११)।
४२. ध्वन्यालोकलोचन : अभिनवगुप्त; निर्णयसागर, बम्बई।
४३. नन्दिकेश्वरकाशिका : नन्दिकेश्वर; चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, (१९७२)।
४४. नाटकलक्षणरत्नकोश : सागरनन्दी; चौ० सं० सी० वाराणसी (१९७२)।
४५. नाट्यदर्पण : रामचन्द्र-गुणचन्द्र; परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली (१९८६)।
४६. नाट्यशास्त्र : डॉ० पारसनाथ द्विवेदी; सं० सं० विश्वविद्यालय (१९९२)।
४७. नाट्यशास्त्र (सं०) : भरत; काव्यमाला संस्करण, बम्बई (१९४२)।
४८. नाट्यशास्य (सं०) : पं० बटुकनाथ शर्मा, चौ० सं० सी० वाराणसी (१९२९)।
४९. नाट्यशास्त्र : बाबूलाल शुक्ल; चौखम्बा संस्कृत संस्थान, हिन्दी अनुवाद १–३ भाग, वाराणसी (१९७२, १९७८, १९८३)।
५०. नाट्यशास्त्र : १–३ भाग, पं० मधुसूदन शास्त्री; काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (१९७०, १९७५, १९८३)।

५१. नाट्यशास्त्र (१–७ अध्याय : डॉ० रघुवंश; मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली (१९६४) ।
५२. नाट्यशास्त्र (अंग्रेजी अनुवाद) : एम० एम० घोष; रायल एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता (१९५०) ।
५३. नाट्यशास्त्रसंग्रह : के० वासुदेव शास्त्री; सरस्वती महल लाइब्रेरी, तंजौर (१९५३) ।
५४. नाट्यसर्वस्वदीपिका : आदिभरत; प्राच्यविद्यामन्दिर, पूना ।
५५. नारदीय शिक्षा : नारद; मैसूर (१९४६) ।
५६. निरुक्त : यास्क; चौ० सं० सी० वाराणसी (१९५२) ।
५७. नृत्तरत्नावली : जयसेनापति; राजकीय प्राच्य पुस्तकालय, मद्रास (१९६५) ।
५८. नृत्याध्याय : अशोकमल्ल, इलाहाबाद (१९६९) ।
५९. पद्मपुराण : व्यास; गुरुमण्डल ग्रन्थमाला, कलकत्ता (१९६२) ।
६०. पाणिनीयशिक्षा : पाणिनि, कलकत्ता (१९३८) ।
६१. पातञ्जल-महाभाष्य : पतञ्जलि; निर्णयसागर, बम्बई (१९३७) ।
६२. प्रतापरुद्रयशोभूषण (रत्नापण टीका) : विद्यानाथ, बम्बई (१९०१) ।
६३. बालरामायण : राजशेखर; जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता (१८८४) ।
६४. बृहद्देशी : मतङ्ग; संगीत-कार्यालय, हाथरस ।
६५. ब्रह्मवैवर्त्तपुराण : व्यास; गुरुमण्डल ग्रन्थमाला, कलकत्ता (१९५५) ।
६६. भट्टिकाव्य (जयमंगला टीका) : भट्टि, निर्णयसागर बम्बई (१९०६) ।
६७. भरतकोष : प्रो० रामकृष्णकवि, पूना (१९६१) ।
६८. भरतभाष्य : नान्यदेव; भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टीटयूट, पूना ।
६९. भरतार्णव : नन्दिकेश्वर; सरस्वती महल, तंजौर (१९५७) ।
७०. भरतार्णव : नन्दिकेश्वर; चौखम्बा, वाराणसी (१९७८) ।
७१. भागवतपुराण : व्यास; गीताप्रेस, गोरखपुर ।
७२. भारतीय नाट्यपरम्परा और अभिनयदर्पण : संवर्त्तिका प्रकाशन, इलाहाबाद (१९६७) ।
७३. भावप्रकाशन : शारदातनय; गायकवाड़ ओ० सी० बड़ोदा, (१९३०) ।
७४. मत्स्यपुराण : व्यास; गुरुमण्डल ग्रन्थमाला, कलकत्ता (१९५४) ।
७५. मनुस्मृति : कुलूकभट्ट; निर्णयसागर, बम्बई (१९३९) ।
७६. मनुस्मृति : मन्वर्थमुक्तावली, चौखम्बा, वाराणसी (१९५३) ।
७७. महाभारत (नीलकण्ठी व्याख्या) : चित्रशाला प्रेस, पूना (१९२९) ।

७८. मानसार : पी० के० आचार्य; आक्सफोर्ड (१९३३)।
७९. मार्कण्डेयपुराण : व्यास; गुरुमण्डल, कलकत्ता (१९६२)।
८०. मालतीमाधव : भवभूति; निर्णयसागर बम्बई (१९०५)।
८१. मालविकाग्निमित्र : कालिदास, निर्णयसागर, बम्बई (१९१२)।
८२. मुद्राराक्षस : विशाखदत्त, कलकत्ता।
८३. मृच्छकटिक : शूद्रक; चौखम्बा, वाराणसी (१९५५)।
८४. याज्ञवल्क्यस्मृति : निर्णयसागर, बम्बई (१९२६)।
८५. रघुवंश : कालिदास; निर्णयसागर, बम्बई (१९२९)।
८६. रत्नावली : श्रीहर्ष; निर्णयसागर, बम्बई (१९३०)।
८७. रसगङ्गाधर : पण्डितराज जगन्नाथ; निर्णयसागर, बम्बई (१९३९)।
८८. रसार्णवसुधाकर : शिङ्गभूपाल; त्रिवेन्द्रम् सं० सीरिज (१९१६)।
८९. राजप्रश्नीय : मलयगिरि; आगमोदय समिति (१९२५)।
९०. राजतरङ्गिणी : कल्हण; बम्बई (१९८२)।
९१. रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण : डॉ० पारसनाथ द्विवेदी, वाराणसी।
९२. लघुशब्देन्दुशेखर : नागेशभट्ट; चौ० सं० सी० (१९५४)।
९३. लिङ्गपुराण : व्यास; गुरुमण्डल, कलकत्ता (१९६१)।
९४. वक्रोक्तिजीवित : कुन्तक; कलकत्ता ओ० सीरिज (१९२९)।
९५. वाक्यपदीय : भर्तृहरि; चौ० सं० सी० वाराणसी (१९३७)।
९६. वाचस्पत्यम् : ताराचन्द्र भट्टाचार्य; चौखम्बा, वाराणसी।
९७. वाजसनेयिसंहिता : चौखम्बा, वाराणसी।
९८. वायुपुराण : व्यास; गुरुमण्डल ग्रन्थमाला (१९५९)।
९९. वाल्मीकीय रामायण : निर्णयसागर, बम्बई (१९२४)।
१००. विक्रमोर्वशीय : कालिदास; निर्णयसागर, बम्बई (१९४२)।
१०१. विष्णुधर्मोत्तरपुराण : गायकवाड़, बड़ौदा (१९५८)।
१०२. विष्णुपुराण : व्यास; गीताप्रेस, गोरखपुर।
१०३. वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी : भट्टोजिदीक्षित; निर्णयसागर, बम्बई (१९६१)।
१०४. व्यक्तिविवेक : महिमभट्ट; चौ० सं० सी० वाराणसी (१९३६)।
१०५. शतपथब्राह्मण : सायणभाष्य, बम्बई (१९४०)।
१०६. शब्दकल्पद्रुम, १-५ भाग : राजा राधाकान्तदेव; मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली (१९६१)।
१०७. शिल्परत्न : त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरिज।
१०८. शुक्लयजुर्वेद : सायणभाष्य; निर्णयसागर, बम्बई (१९२९)।
१०९. शृङ्गारप्रकाश : भोज, मद्रास (१९४९)।
११०. श्रीमद्भगवद्गीता : तिलक, पूना।

१११. सरस्वतीकण्ठाभरण : भोज; निर्णयसागर, बम्बई (१९३४) ।
११२. सामवेद : सातवेलकर; स्वाध्याय मण्डल, पूना (१९६३) ।
११३. साहित्यदर्पण : विश्वनाथ; चौखम्बा, वाराणसी (१९५७) ।
११४. सिलप्पादिकारम् : आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी (१९३९) ।
११५. संगीतदर्पण : दामोदर; संगीत कार्यालय, हाथरस ।
११६. संगीतमकरन्द : नारद, गायकवाड ओ० सी० बड़ौदा (१९२०) ।
११७. संगीतपारिजात : अहोवल; संगीतकार्यालय, हाथरस (१९४७) ।
११८. संगीतरत्नाकर १–४ भाग : शाङ्गर्देव; अड्यार लाइब्रेरी (१९४३, १९४९, १९५१, १९५३) ।
११९. संगीतराज : कुम्भ, काशी हि० वि० वि० वाराणसी ।
१२०. संगीतसुधाकर : हरपाल, मद्रास ।
१२१. हरिवंशपुराण : गीताप्रेस गोरखपुर ।
१२२. हिन्दी अभिनवभारती : विश्वेश्वर, हि० अ० प०; दि० वि० वि० दिल्ली ।

हिन्दी के सहायक सन्दर्भ ग्रन्थ

१. अभिनयदर्पण : देवदत्तशास्त्री, किताब महल, इलाहाबाद (१९५६) ।

२. आचार्य नन्दिकेश्वर और उनका नाट्य साहित्य : डा० पारसनाथ द्विवेदी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी (१९८७) ।

३. आचार्य भरत : डा० शिवशरण शर्मा, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ एकादमी (१९७७) ।

४. नाटचकला : डा० रघुवंश, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली (१९६१) ।

५. प्राचीन भारत में संगीत : डा० धर्मावती, भारतीय विद्याभवन, वाराणसी (१९६७) ।

६. भरत और भारतीय नाट्यकला : डा० सुरेन्द्रनाथ दीक्षित, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली (१९७०) ।

७. भरत का संगीत सिद्धान्त : आचार्य वृहस्पति, हिन्दी समिति, लखनऊ (१९५१) ।

८. भारतीय नाट्यशास्त्र और रङ्गमञ्च : डा० रामसागर त्रिपाठी, अशोक प्रकाशन, दिल्ली (१९७१) ।

९. भारतीय दर्शन : डा० पारसनाथ द्विवेदी, श्रीराम मेहरा एण्ड कम्पनी आगरा (१९७८) द्वितीय संस्करण ।

१०. भारतीय नाट्यसिद्धान्त : उद्भव और विकास, डा० रामजी पाण्डेय, राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, (१९८२) ।

११. भारतीय नाट्य : स्वरूप और परम्परा, राधावल्लभ त्रिपाठी, सागर विश्वविद्यालय (१९८८)।

१२. भारतीय संगीत का इतिहास : (पराञ्जपे), चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी (१९६९)।

१३. रङ्गमञ्च : सर्वदकन्द, श्रीराम मेहरा एण्ड कम्पनी, आगरा।

१४. वैदिक साहित्य का इतिहास : डा० पारसनाथ द्विवेदी, चौखम्बा सुरभारती, वाराणसी (१९८३)।

१५. शारदातनय का भावप्रकाशन : विवेचनात्मक अध्ययन, डा० शशि तिवारी, आगरा (१९८४)।

१६. संगीत-चिन्तामणि : आचार्य बृहस्पति, संगीत कार्यालय, हाथरस (१९६६)।

१७. संगीतशास्त्र : के० वासुदेव शास्त्री, सूचना विभाग लखनऊ (१९५८)।

१८. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास : काणे, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी (१९६६)।

१९. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास : एस० के० दे, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी पटना (१९७३)।

२०. संस्कृत नाटक : ए० बी० कीथ, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली (१९८७)।

२१. संस्कृत नाट्यकला : डा० रामलखनशुक्ल, मोतीलाल बनारसीदास (१९७०)।

२२. संस्कृत नाट्य-सिद्धान्त : डा० रमाकान्त त्रिपाठी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी (१९६९)।

२३. संस्कृत साहित्य का इतिहास : पोद्दार, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।

२४. स्वतन्त्र कलाशास्त्र : डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी (१९६७)।

२५. हिन्दी नाट्य : उद्भव और विकास, डा० दशरथ ओझा, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली (१९६१)।

२६. हिन्दू गणितशास्त्र का इतिहास : दत्त और सिंह, हिन्दी समिति, लखनऊ (१९५६)।

अंग्रेजी के सहायक सन्दर्भ ग्रन्थ

1. Ancient Indian Theatre : Dr. R. Mankad. Charutra Prakashan, Vallabhavidyanagar. Oxford (1950).

2. Aspects of Sanskrit Literature : S. K. De.; K. L. Mukhopadhyaya, Culcutta, (1959)

3. Classical Sanskrit Literature : A. B. Keith, London. (1936).

4. Contribution to the History of the Hindu Drama : M. M. Ghosh, K. L. Mukhopadhyay, Calcutta (1958)

5. A Critical Survey of the Ancient Indian Theatre : Prof. D. Subba Rao. Appendix 6, G. O. C. N. S. Vol. Ist. 2nd edition.

6. Drama in Sanskrit Literature : R. V. Jagirdar, M. A. Landon. Popular Book Depot, Bombay–7 (1947)

7. History of Sanskrit Literature : S. K. Dey, Calcutta University (1947)

8. History of Sanskrit Poetics : Motilal Banarasidass Varanasi. (1961)

9. History of Sanskrit Poetics (in 2Vols) : Sushil Kumar De, Calcutta (1960)

10. Mirror of Gesture (Translated in to Engligh) : By Ananda K. Coomaraswami & D. Gopalakrishna Aiyer. E. Weyre New, York (1936)

11. Number of Rasas : V. Raghvan, Adyar Library, Adyar (1940)

12. Natya Shastra : Manmohan Ghosh, Asiatic Society of Bengal (1950)

13. Sanskrit Poetics : Silva Lave (1912)

14. Studies on Some Concepts of Alankar Shastra : V. Raghvan, Adyar Library, Adyar. (1942)

15. Types of Sanskrit Drama : Mankad, University Prakashan Mandir, D. Karavadu (1930)

परिशिष्ट २

शब्दानुक्रमणिका

घ

प

य

ख

परिशिष्ट ३

शुद्धि-निर्देश

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७	३	काव्यविशेष	काव्यविशेष से
८	२४	ज्ञान	गान
१६	२३	तुम्वरु	तुम्बुरु
१६	२९	तुम्बुरेणेदमुक्तम्	तुम्बुरुणेदमुक्तम्
१९	२६	कौशिक	कैशिक
३७	१४	नन्दिम्	नन्दिन्
४६	४	भरत-नृत्यम्	भरत-नाटचम्
४६	२२	छुआ-छिटका	छुआ-छिरका
४८	८	करन में	करने में
४८	११	नन्दिकेश्चर	नन्दिकेश्वर
४८	१६	भावप्रकाश	भावप्रकाशन
४८	२६	नन्दिकेश्चर	नन्दिकेश्वर
५४	२४	का	को
६१	२	आदि भरत	आदिभरत
६६	८	नाक	नाम
८०	१६	त्र्यसुताल	त्र्यस्रताल
८२	७	बृहद्देशी	बृहद्देशी
८३	२९	परिणामवाद अभिव्यक्तिवाद	परिणामवाद एवं अभिव्यक्तिवाद
८४	२४	गौड़िमा	गौड़िका
९१	२१	दासकर्म	दारुकर्म
९२	२२	काकू	काकु
९३	१	छत्तीसवें	छब्बीसवें
९३	२	इसमें	इसी अध्याय में
९३	९	तद्वाद्यों	ततवाद्यों
९७	९	प्राप्य	प्राप्त
९८	२८	कहा है	कहना है
१०२	१	याज्ञवस्वय	याज्ञवल्क्य
१०३	६	इसकी भूमिका के लेखक	इस ग्रन्थ के लेखक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११०	२	अग्निपुराण	अमरकोश
११०	७	काव्यादर्श	काव्यप्रकाशादर्श
११३	१	समय को	सयमको
११३	२९	नामोल्लेख न करना	नामोल्लेखपूर्वक उनके मत का निरूपण किया है और अग्निपुराण का नामोल्लेख न करना
१२३	४	भावि	भाणी
१२४	१४	तृप्ति	सृष्टि
१२७	२	सन्देश	सन्देश, निर्देश, अतिदेश
१२९	१	सम्बन्धि	सम्बन्धी
१३३	१५	विष्णधर्म	विष्णुधर्म
१३४	१०	दृष्टचाभिनय	दृष्टचभिनय
१३४	१०-११	दृष्टचाभिनय	दृष्टचभिनय
१३४	१२	शिरोभिनय	शिरोऽभिनय
१३५	१२	सर्पशीष	सपशीर्ष
१४३	४	कस्यां	कट्यां
१५१	२१	शब्दार्थालङ्कृती	शब्दार्थावलङ्कृती
१५३	२१	काव्य में	काव्य के सम्बन्ध में
१५४	२३	अभिजन्य	अभिधा जन्य
१५४	३१	तमस् अभिभूत	तमस् को अभिभूत
१६०	१०	दो सौ वर्ष	दो सौ वर्ष बाद
१६०	१०	उत्तरार्द्ध	पूर्वार्द्ध
१६२	५	गूढ़पाद्	गूढ़पाद
१६३	१७	विहि बोधा	विहित बोधा
१६६	२३	अङ्ग	अङ्गों
१६९	२८	आठ लम्बे	आठ हाथ लम्बे
१७०	१	षड्दारक	षड्दारुक
११७	२	किया	किया है।
१८५	२१	नृत्य	नृत्त
१८६	४	यहाँ से	यहाँ
१८९	१३	वास्तूत्थापन	वस्तूत्थापन

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१९१	२२	वृत्त	वृत्ति
१९२	२४	स्वरूप	अपना स्वरूप
१९४	२४	रसास्वाद	रसास्वादन
१९६	८	अभिधान-शक्ति	अभिधाशक्ति
२०६	२५	प्रश्चाङ्गाभिनय	पश्चाङ्गाभिनय
२१५	४	ग्राम वसा	ग्राम वसा
२१६	९	काव्यादर्श	काव्यप्रकाशादर्श
२२०	१४	मद	मति
२२०	१४	भास	त्रास
२२३	१	मेद्यक	भेद्यक
२२३	५	शुद्ध	मार्ग
२२३	८	वाणि	पाणि
२२४	२२	परिजावक	पारिजातक
२२९	१७	झांस	झांझ
२३०	१२	आरत्रिक	आरात्रिक
२३०	१६	निभुग्न	निर्भुग्न
२४२	१९	पोषितपतिक	प्रोषितपतिका
२४२	२५	सहायिका	सहायिकाएँ
२४५	५	मुम्यडि	मुम्मुडी
२४५	१०	अरुमल पेरुमल	अरुलाल-पेरूमल
२४६	१९	काढयवेम	काटयवेम
२४६	२१	काढयवेम	काटयवेम
२४६	२१	काढ़यनूपति	काटयभूपति
२४६	२३	काढयवेम	काटयवेम
२५८	५	'स्व'—'पर' भेद	'स्व' और 'पर' का भेद
२६०	१४	रचना की	रचना
२६१	३	लोचनव्याञ्जन	लोचन व्याख्याञ्जन
२७१	१०	यामाओ	यात्राओं
२७१	१९	यामाओं	यात्राओं
२७१	२३	यामाओं	यात्राओं
२७३	९	नाटका	नाटक
२८०	१७	प्रचलिता	प्रचलित
२८४	११	कंस	कंसं
२८५	२	ग्रन्थिक	ग्रन्थिक के द्वारा

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२८६	२३	नाटचकाल	नाटचकला
२८८	३२	रामक्रीड़	रामाक्रीड़
२८९	२	अभिनवतत्त्व	अभिनय-तत्त्व
३०५	१	इसका	इसका नायक
३०५	१३	दूति	दूती
३०७	२९	उनकी	उन
३१०	२५	पांचस सन्धियाँ	पांच सन्धियाँ
३२०	११	दूसरे अङ्क मेंकरें	दूसरे अङ्क में प्रवेश करें
३२४	३	नायिक	नायिका
३४५	२१	होता है	होते हैं
३४६	२०	एक से प्रकाश्य	एक काव्यविशेष से प्रकाश्य
३४६	२३	पर्यवसान	पर्यवसान होने से
३५०	१	सहजानंद	सहजानन्द
३५३	३	हर्षपाल पर्यवसायी	हर्षफलपर्यवसायी
३६८	८	अभिवगुप्त	अभिनवगुप्त
३७५	७	आर्द्रतास्थायीभावात्मक	आर्द्रतास्थायीभावात्मक स्नेह रस
३७७	१३	वस्तुत	वस्तुतः
३८०	२९	करुण	रौद्र
३८३	५	निमित्तहेतु	निमित्त, हेतु
३८३	२०	मा क्रन्द	आक्रन्द
३८७	३	जगुप्सा	जुगुप्सा
३९६	१८	आनन्यन्ति	आनन्दयति
३९७	२६	दसपदा	दशपदा
४१५	२	अस्रा	त्र्यस्रा
४१७	३	उन्होंने	भरतार्णव में
४१७	५	किये हैं	किये गये हैं
४१७	७	किया है	किया गया है ।
४१७	८	किये हैं	किये गये हैं ।
४२९	४	अध्यधिका	अध्यर्धिका
४२९	५	अरुद्वृत्ता	ऊरूद्वृत्ता
४२९	८	भुजङ्गभासिता	भुजङ्गत्रासिता
४३४	२२	वेश-भूषा किये हुए	वेश-भूषा धारण किये हुए

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४३८	१	प्रत्येक स्थिति	प्रत्येक की स्थिति
४३८	७	नन्दिकेश्वर को	नन्दिकेश्वर को दिया
४३८	१५	बतायी गई है	अङ्गहारों की निष्पत्ति बतायी गयी है।
४३९	१४	वह एक	उसकी एक
४४३	९	संचरी	सञ्चारी
४५१	१३	रङग शीर्ष	रङ्गशीर्ष
४७६	५	सर्वदकन्द	सर्वदानन्द

